M.A./M.Sc. GE-02

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

भौतिक भूगोल

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

भौतिक भूगोल

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

अध्यक्ष

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

संयोजक/समन्वयक

विषय समन्वयक / सलाहकार

प्रोफेसर (डॉ.)एस.सी. कलवार
पूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, भूगोल विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)

सदस्य सचिव

डॉ. अशोक शर्मा
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

सदस्य

1. **प्रोफेसर (डॉ.) संतोष शुक्ला**
   प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,
   सामान्य एवं व्यावहारिक भूगोल विभाग
   एच.एस. गौर विश्वविद्यालय, सागर (मध्य प्रदेश)
2. **डॉ. जे.के. जैन**
   पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,
   भूगोल विभाग
   जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
3. **डॉ. मनोज गौतम**
   वरिष्ठ व्याख्याता,
   भूगोल विभाग
   राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोटा(राज.)
4. **प्रोफेसर (डॉ.) एन.एल. गुप्ता**
   पूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,
   भूगोल विभाग
   मोहनलाल सुखड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर
5. **डॉ. बी.एल. शर्मा**
   विभागाध्यक्ष, भूगोल विभाग
   राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोटा

सम्पादन एवं पाठ्यक्रम लेखन

संपादक

प्रोफेसर एच.एस. शर्मा
पूर्व अधिष्ठाता, विज्ञान संकाय
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर(राज.)

लेखक

1. **डॉ. एम.एल. शर्मा**
   प्राचार्य
   श्री भवानी निकेतन स्नातकोत्तर महाविद्यालय(छात्र)
   सीकर रोड, जयपुर(राज.)
2. **डॉ. अजय कुमार शर्मा**
   वरिष्ठ व्याख्याता, भूगोल विभाग
   राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय अजमेर(राज.)
3. **प्रोफेसर आर.के. राय**
   पूर्व अधिष्ठाता, पर्यावरणीय विज्ञान
   पूर्वोत्तर विश्वविद्यालय, शिलाँग(मेघालय)
4. **डॉ. ओ.पी. छीपा**
   उप-प्राचार्य
   राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय बूंदी(राज.)
5. **डॉ. विनोद भारद्वाज**
   वरिष्ठ व्याख्याता, भूगोल विभाग
   राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय चिमनपुरा(शाहपुरा),जयपुर(राज.)
6. **डॉ. के.के. शर्मा**
   पूर्व प्राचार्य
   राजकीय लोहिया स्नातकोत्तर महाविद्यालय
   चुरू(राज.)
7. **डॉ. आर.पी. शर्मा**
   वरिष्ठ व्याख्याता, भूगोल विभाग
   स्नातकोत्तर कला महाविद्यालय
   अलवर (राज.)
8. **डॉ. विनय कुमार**
   वरिष्ठ व्याख्याता, भूगोल विभाग
   राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय अजमेर(राज.)

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो.(डॉ.) नरेश दाधीच	**प्रो. (डॉ.) एम.के. घड़ोलिया**	**योगेन्द्र गोयल**
कुलपति	निदेशक	प्रभारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा	**अकादमिक**	**पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग**

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल
सहायक उत्पादन अधिकारी,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

उत्पादन-पुनः मुद्रण : अक्टूबर, 2011 ISBN NO- 13/978-81-8496-036-5

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

व. म. खु. वि., कोटा के लिये कुलसचिव व. म. खु. वि., कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

अनुक्रमणिका

इकाई संख्या		इकाई	पृष्ठ संख्या
इकाई - 1	:	पृथ्वी की उत्पत्ति	7–28
इकाई - 2	:	पृथ्वी की आन्तरिक संरचना	29–42
इकाई - 3	:	भूसन्तुलन	43–53
इकाई - 4	:	महाद्वीपों एवं महासागरों की उत्पत्ति	54–74
इकाई - 5	:	पृथ्वी की हलचलें	75–97
इकाई - 6	:	भूकम्प एवं ज्वालामुखी	98–125
इकाई - 7	:	चट्टानें	126–155
इकाई - 8	:	नदी एवं उसके कार्य	156–201
इकाई - 9	:	हिमानी, वायु, भूमिगत जल तथा सामुद्रिक लहरों द्वारा निर्मित भू-आकार	202–248
इकाई - 10	:	वायुमण्डल का संगठन एवं संरचना	249–257
इकाई - 11	:	सूर्यताप, तापमान एवं ऊष्मा संतुलन	258–281
इकाई - 12	:	वायुमण्डलीय दाब तथा पवनें, आर्द्रता एवं वर्षा	282–319
इकाई - 13	:	वायु राशियाँ	320–339
इकाई - 14	:	जलवायु के प्रकार: कोपेन तथा थॉर्न्थवेट के वर्गीकरण	340–358
इकाई - 15	:	महासागरीय जल का तापमान तथा लवणता	359–379
इकाई - 16	:	महासागरीय तली के उच्चावच एवं निक्षेप	380–418
इकाई - 17	:	महासागरीय जल का परिसंचरण: ज्वारभाटा तथा धाराएँ	419–448
इकाई - 18	:	प्रवाल भित्तियाँ तथा द्वीप	449–467

परिचयात्मक

"**वृहत् भौतिक भूगोल**" पुस्तक का लेखन विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालय स्तर के प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा किया गया है । सभी विद्वानों के सार्थक प्रयास से यह कृति उन पाठकों की जिज्ञासाओं के अनुरूप प्रमाणित होगी जो भौतिक भूगोल के तत्वों एव रहस्यों को जानना, समझना एवं हृदयग्राह्य करना चाहते हैं ।

वर्तमान समय में भौतिक भूगोल के जटिल रहस्यों को जानने में एवं समझने का जो विश्वव्यापी अभियान चल रहा है, विद्वान लेखकों ने इस पुस्तक में इन जटिलताओं को सरल भाषा, समग्रता, प्रभावशीलता एवं वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर रोचक शैली में प्रस्तुत किया है । इस पुस्तक में लेखकों ने शैक्षिक उपादेयता का भी विशेष ध्यान रखा है ।

पुस्तक को 18 इकाइयों में विभाजित किया गया है, जिनमें भौतिक भूगोल के विविध पहलुओं पर गहन, सांगोपांग एवं तथ्यात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । भौतिक भूगोल के विभिन्न मण्डलों जैसे स्थलमण्डल, जलमण्डल एवं वायुमण्डल - के परिवर्तनों की पुर्नरचना वैज्ञानिक आधार पर की गई है । भौतिक तथ्यों को विस्तार से समझाने का सफल प्रयास विभिन्न इकाईयों के लेखकों ने किया है । भौतिक भूगोल के व्यावहारिक पक्ष को समझना आज के परिवर्तित पर्यावरण की परिस्थितियों में सामयिक आवश्यकता हो गया है ।

लेखकों ने पुस्तक को सुन्दर कलेवर प्रदान करने एवं सुग्राह्य बनाने के लिए यथोचित मानचित्र एवं रेखाचित्रों का उपयोग किया है । ऐसा विश्वास है कि पाठ्य पुस्तक के रूप में यह कृति भौतिक भूगोल के विद्यार्थियों के लिए पूर्णत : विषय-संगत एवं तथ्यात्मक जानकारी प्रस्तुत करने में सार्थक सिद्ध हो सकेगी जिससे वे भौतिक भूगोल के रहस्यों को समझकर शैक्षिक उन्नयन की प्रामाणिकता प्राप्त कर सकेंगे ।

इकाई 1 : पृथ्वी की उत्पत्ति (Origin of the Earth)

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 सौर्य मण्डल एवं उसकी विशेषताएँ

1.3 पृथ्वी की उत्पत्ति के सिद्धान्तों का परिचय

1.4 एक तारक परिकल्पनाएँ

- 1.4.1 काण्ट की वायव्य राशि परिकल्पना
- 1.4.2 लाप्लास की निहारिका परिकल्पना

1.5 द्वैतारक परिकल्पनाएँ

- 1.5.1 जेम्स जीन्स की ज्वारीय परिकल्पना
- 1.5.2 चैम्बरलिन व मोल्टन की ग्रहाणु परिकल्पना
- 1.5.3 वाइज़ैकर की परिकल्पना
- 1.5.4 रसैल की द्वैतारक परिकल्पना

1.6 नवीन परिकल्पनाएँ

- 1.6.1 ऑल्फवैन की विद्युत चुम्बकीय परिकल्पना
- 1.6.2 ऑटो श्मिड की अन्तर –तारक धूलि परिकल्पना
- 1.6.3 होयल व लिटिलटन की नवतारा परिकल्पना
- 1.6.4 रॉसगन की विखण्डन परिकल्पना
- 16.5 बैनर्जी की सैफीड परिकल्पना
- 1.6.6 विकासवादी या महाविस्फोटक परिकल्पना

1.7 सारांश

1.8 शब्दावली

1.9 संदर्भ ग्रन्थ

1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.0 उद्देश्य (Objective)

- इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ सकेगें -
- सौर्यमण्डल की विशेषताएँ
- पृथ्वी की उत्पत्ति संबंधी परिकल्पनाओं का वर्गीकरण,
- पृथ्वी की उत्पत्ति संबंधी विभिन्न वर्गों की परिकल्पनाओं के प्रमुख तथ्य।

1.1 प्रस्तावना (Introduction)

ब्रह्माण्ड अनेक विलक्षणताओं से भरा है। इसके अनेक गूढ़ रहस्य छिपे हुए है। इन रहस्यों में पृथ्वी सहित विभिन्न ग्रहों की उत्पत्ति भी सम्मिलित है। यह ऐसा विषय है जिसके बारे में प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अत: अनेक वैज्ञानिक/ खगोलविदों ने इस विषय में कल्पनाएँ की है। यदपि इन्हें वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित किया गया है, तथापि इनमें कोई कमियाँ है। इन परिकल्पनाओं को कुछ वर्गो में विभाजित करके प्रत्येक वर्ग की प्रमुख परिकल्पनाओं को कुछ इस में सम्मिलित किया गया है।

1.2 सौर्यमण्डल एवं उसकी विशेषताएँ (Solar System and Its characteristics)

ब्रह्माण्ड अत्यन्त रहस्यमय है जिसके विषय में जानने के लिए मानवीय विज्ञान होना स्वाभाविक है। इनकी अनेक विशेषताएँ है। ब्रह्माण्ड असीमित व अपरिमित है। इसमें तारे, नक्षत्र, ग्रह, सौर्य परिवार, आकाशगंगाऐं आदि हैं। इनमे से हमारा एक सौर्य परिवार भी है, जैसे की चित्र 1.1 में दर्शाया गया है। ये सभी ग्रह अपने उपग्रह के साथ सूर्य की परिक्रमा करते है। सौर्य परिवार के कई संरचनात्मक गुण यह इंगित करते है की इस परिवार में सम्मिलित सभी ग्रहों की उत्पत्ति एक ही समय एवं समान पदार्थों से हुई है। अत: सौर्य परिवार की सम्बन्धी परिकल्पनाएँ पृथ्वी की उत्पत्ति के संदर्भ में लागू हूटी है। सौर्य परिवार की उत्पत्ति किन विषय में समय–समय पर कई परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की गई । इनमें से कोई भी परिकल्पना सर्वमान्य नहीं है। इनके विषय में विस्तृत विवरण सिये जाने से पूर्व सौर्यमण्डल की कुछ विशेषताओं की जानकारी होनी चाहिए, जो नियमानुसार है -

1. सभी ग्रह भिन्न - भिन्न आकार के है। किन्तु इनमें एक आश्चर्यजनक व्यवस्था भी देखने को मिलती है । मध्यस्थ ग्रहों का आकार सबसे बड़ा तथा दोनों ओर उनका आकार छोटा होता जाता है। खगोल विधि ग्रहों के आकार की इस व्यवस्था को **'सिगार आकृति'** कहते है।
2. हमारे सौर्य परिवार के ग्रहों को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। **प्रथम वर्ग में आन्तरिक ग्रह (Inner or Terrestrial Planets)** आते है। चित्र संख्या 1.1 देखिये, इस वर्ग में

बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल और क्षुद्र ग्रह आते हैं । ये ग्रह अपेक्षाकृत छोटे हैं । इनका घनत्व भी अधिक है । इनकी परिभ्रमण गति कम है । इनके कोई उपग्रह नहीं हैं अथवा बहुत कम उपग्रह हैं, जैसे पृथ्वी के एक व मंगल के दो उपग्रह हैं । **द्वितीय वर्ग में बाहा ग्रह (outer Planets)** आते हैं । इस वर्ग में बृहस्पति, शनि, अरुण, वरुण व यम सम्मिलित हैं । आंतरिक ग्रहों की अपेक्षा बाह्य ग्रहों का आकार बड़ा है । इनका घनत्व कम है । इनकी परिभ्रमण गति अधिक है। इनके उपग्रह भी अधिक हैं ।

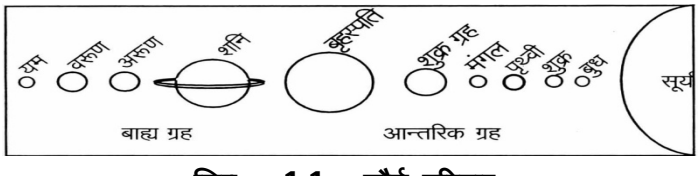

चित्र – 1.1 : सौर्य परिवार

3. सभी ग्रहों के अक्ष (Axis) अपने कक्ष –तल (Orbital Plane) पर झुके हुए हैं । किन्तु विभिन्न ग्रहों के अक्षों का अपने कक्ष–तल पर झुकाव भिन्न–भिन्न है ।

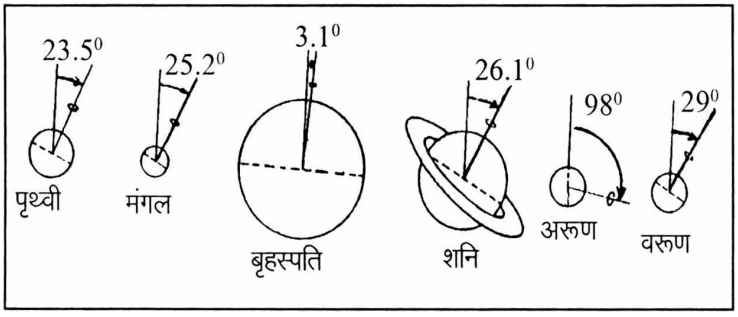

चित्र – 1.2 : ग्रहों के अक्ष का झुकाव

4. सभी ग्रह अपने इन अक्षों पर **परिभ्रमण** (Rotation) करते हैं । इस गति को घूर्णन भी कहते हैं । सभी ग्रहों व उपग्रहों की परिभ्रमण गति भिन्न –भिन्न है ।
5. सभी ग्रह सूर्य की परिक्रमा घड़ी की सूई के प्रतिकूल दिशा में करते हैं ।
6. सभी ग्रहों के पथ लगभग वृत्ताकार अथवा दीर्घवृताकार (Elliptical) हैं ।
7. आकार व द्रव्यमान (Mass) की दृष्टि से सभी ग्रह सूर्य की तुलना में बहुत छोटे हैं । सौर्य परिवार के कुल द्रव्यमान का लगभग 98 प्रतिशत भाग सूर्य में केन्द्रित है ।
8. सौर्य परिवार में **कोणीय संवेग (Angular Momentum)** का वितरण विशेष प्रकार का है। यांत्रिकी (Mechanics) में किसी पिण्ड का कोणीय संवेग उसके द्रव्यमान व वेग (Velocity) का प्रतिफल (द्रव्यमान x वेग = mv) होता है । किसी केन्द्र की परिक्रमा करते हुए पिण्ड का कोणीय संवेग उसके द्रव्यमान, वेग व उसकी कक्षा (Orbit) के अर्द्ध व्यास के प्रतिफल (अर्थात mvR) के बराबर होता है । कोणीय संवेग के सर क्षण सिद्धान्त के अनुसार अन्तरिक्ष में किसी एकाकी तंत्र में कुल कोणीय संवेग समान रहता है । किन्तु सौर्य परिवार में कोणीय

संवेग का वितरण समान नहीं है । तालिका– 1.1 में सौर्य परिवार के विभिन्न सदस्यों का कोणीय संवेग दिया गया है । इस तालिका में सूर्य व अन्य ग्रहों के कोणीय संवेग की तुलना करने पर ज्ञात होगा कि कुल कोणीय संवेग का केवल 1.7 प्रतिशत भाग ही सूर्य में समाविष्ट है । शेष 98.3 प्रतिशत भाग सौर्य परिवार के ग्रहों में केन्द्रित है । इसके विपरीत सौर्य परिवार के कुल द्रव्यमान का 98 प्रतिशत भाग सूर्य में केन्द्रित है ।

तालिका– 1.1 : कोणीय संवेग

सौर्य परिवार के सदस्य	कोणीय संवेग
बुध	0.03
शुक्र	0.69
पृथ्वी	1.00
मंगल	0.13
बृहस्पति	725.00

शनि		294.00
अरुण		64.00
वरुण		95.00
यम	लगभग	1.00
सूर्य	लगभग	20.00
सौर्य परिवार का योग		**1200.85**

बोध प्रश्न– 1

1. सौर्य परिवार के द्रव्यमान का कितना प्रतिशत भाग अर्श में केन्द्रित है?

   .....

   .....

2. सौर्य परिवार के कुल कोणीय संवेग का 98.3 प्रतिशत भाग किसमें केन्द्रित है?

   .....

   .....

3. सौर्य परिवार के ग्रहों को किन दो वर्गों में विभाजित किया जाता है?

   .....

   .....

4. आन्तरिक ग्रहों के नाम बताइये ।

   .....

   .....

1.3 पृथ्वी की उत्पत्ति सम्बन्धी परिकल्पनाओं का परिचय (Introduction of Hypotheses of the Origin of Earth)

पृथ्वी की उत्पत्ति के विषय में अभी तक कोई सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं है । यह विषय अभी तक रहस्यमय बना हुआ है । इसलिये इस विषय में अनेक परिकल्पनाएँ दी गई हैं । उपर्युक्त विशेषतायें ही सौर्य परिवार की उत्पत्ति के विषय में दी गई परिकल्पनाओं का आधार हैं । अत: इन्हीं विशेषताओं के परिकल्पनाओं में परिकल्पनाओं के गुण–दोषों की समीक्षा की जाती है । इन परिकल्पनाओं को तीन मुख्य वर्गों में बांटा जा सकता है –

1. एक तारक परिकल्पनाएँ (One Star hypotheses) ।
2. द्वैतारक परिकल्पनाएँ (Binary hypotheses) ।
3. नवीन परिकल्पनाएँ (Modern hypotheses) ।

1.4 एक तारक परिकल्पनाएँ (One Star hypotheses)

जिन परिकल्पनाओं में सौर्य परिवार की उत्पत्ति एक तारे से मानी जाती है, उन्हें **एक तारक परिकल्पनाएँ** कहा जाता है । इन परिकल्पनाओं के अनुसार सौर्य परिवार की उत्पत्ति एक क्रमिक विकास प्रक्रिया (Gradual evolutionary process) का परिणाम है । काण्ट, लाप्लास, रोशे, लॉकियर आदि विद्वानों की परिकल्पनाएँ इस वर्ग में सम्मिलित की जाती हैं ।

1.4.1 काण्ट की वायव्य–राशि परिकल्पना (Gaseous Hypothesis of Kant)

काण्ट ने सन् 1755 में पृथ्वी की उत्पत्ति सम्बन्धी परिकल्पना का प्रतिपादन किया । काण्ट के अनुसार प्रारम्भ में असंख्य आद्य पदार्थ (Primordial matter) के कण ब्रह्माण्ड में फैले हुए थे । ये सभी आद्य कण गुरुत्वाकर्षण के कारण आपस में टकराने लगे । इन कणों के टकराने से ताप उत्पन्न हुआ । ताप से द्रव तथा द्रव से ये कण गैसीय अवस्था में परिवर्तित हो गये । गैसीय पुंज केन्द्रित हो जाने पर परिभ्रमण करने लगा । अधिकाधिक आद्य कणों के एकत्रित होते रहने से इस पुंज का आकार बढ़ता गया । उनकी मान्यता थी कि गैसीय पुंज का आकार बढ़ने के साथ –साथ उसकी परिभ्रमण गति में वृद्धि होने लगी । परिणामस्वरूप एक स्थिति यह आई कि परिभ्रमण गति बढ़ जाने से गुरुत्वाकर्षण बल (Gravitational force) की अपेक्षा अपकेन्द्रीय बल अधिक बढ़ गया । इस बल के अधिक बढ़ने से गैसीय पुंज के मध्यवर्ती भाग में उभार पैदा होने लगा । उभार के बढ़ते जाने से एक–एक करके छल्ले बनने लगे (चित्र– 1.3) । इस प्रक्रिया में नौ गोलाकार छल्ले बने जो कि निहारिका (Nebula) के रूप में अलग हो गये (चित्र– 1.4) । इससे नौ ग्रह तथा इसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति से इनके उपग्रह बने और जो अवशिष्ट बचा वह सूर्य बना। इस प्रकार सौर्य परिवार की रचना हुई। इसलिये काण्ट ने कहा था – "मुझे पदार्थ दो, मैं पृथ्वी की उत्पत्ति कर दिखलाऊंगा।" (Give me matter, and I will show you how to make a word of it).

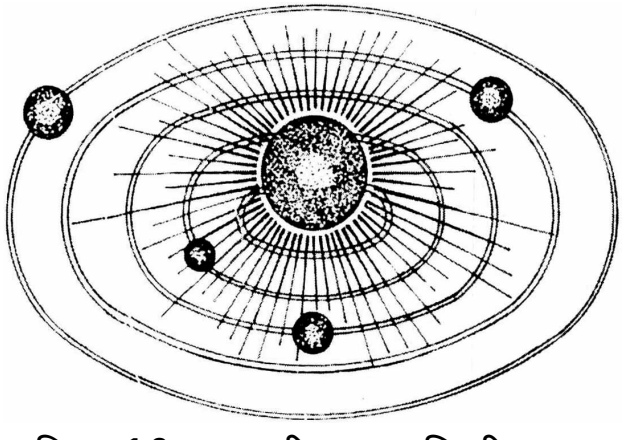

चित्र – 1.3 : काण्ड की वायव्य राशि परिकल्पना

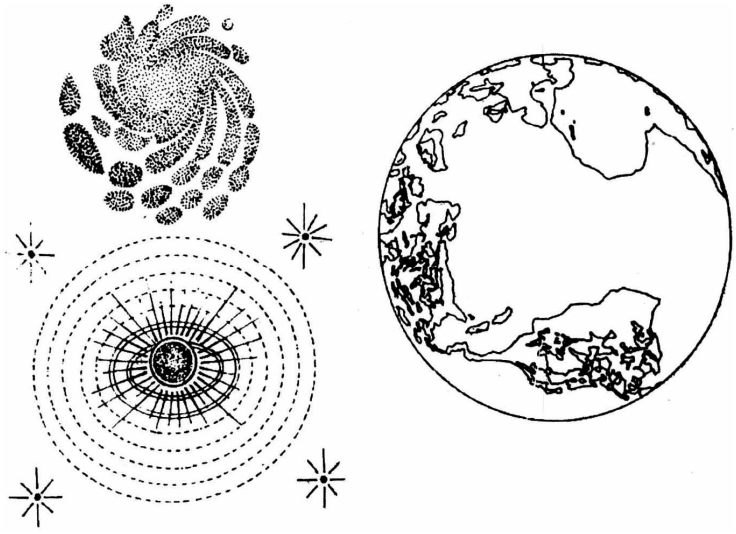

चित्र – 1.4 : वायव्य राशि महापिण्ड से पृथ्वी की उत्पत्ति

आलोचना

1. काण्ट ने इस विषय में कुछ नहीं बताया कि आद्य कणों की उत्पत्ति कैसे हुई ।
2. काण्ट के अनुसार आद्य कण गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण आपस में टकराने लगे । यह शक्ति पहले कहाँ थी और बाद में कैसे प्रकट हो गई? यह प्रश्न अनुत्तरित है ।
3. गतिक–विज्ञान के अनुसार आद्य कणों के आपस में टकराने से उनमें परिभ्रमण गति पैदा नहीं हो सकती है
4. काण्ट की यह मान्यता भी कि गैसीय पुंज का आकार बढ़ने के साथ –साथ उसकी परिभ्रमण गति में वृद्धि होने लगी, गतिक –विज्ञान के नियमों के विपरीत है ।

1.4.2 लाप्लास की निहारिका परिकल्पना (Nebular Hypothesis of Laplace)

लाप्लास से पूर्व काण्ट ने निहारिका परिकल्पना (Nebular Hypothesis) दी थी । लाप्लास ने काण्ट की परिकल्पना के संशोधित रूप को अपने विचारों का आधार बनाया । लाप्लास (Laplace) फ्रांसीसी ज्योतिष थे । उन्होंने अपनी पुस्तक **विश्व व्यवस्था की व्याख्या (Exposition of the World System)** के माध्यम से सर 1796 में सौर्य परिवार की उत्पत्ति के विषय में अपनी परिकल्पना प्रतिपादित की । उन्होंने सौर्य परिवार की उत्पत्ति की प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरण में परिभ्रमण करती हुई एक अत्यन्त उष्ण एवं गैसीय राशि अथवा निहारिका की कल्पना की थी । उन्होंने अपनी परिकल्पना में निहारिका की उत्पत्ति के विषय में कुछ भी नहीं कहा । लाप्लास ने काण्ट की परिकल्पना के इस अंश को हटा दिया कि आद्य पदार्थों की टकराहट से उनमें ताप व गति उत्पन्न हुई । इस संशोधन से लाप्लास ने अपनी परिकल्पना को कोणीय संवेग के संरक्षण सिद्धान्त सम्बन्धी आलोचना से बचा लिया ।

लाप्लास के अनुसार यह उष्ण एवं गैसीय निहारिका सूर्य के केन्द्र से वरूण के परिक्रमण मार्ग से भी काफी अधिक विस्तृत थी । गुरुत्वाकर्षण एवं ताप हास के कारण यह निहारिका सिकुड़ने

लगी जिससे इसके व्यास में कमी होती गई । व्यास में कमी होते जाने के कारण परिभ्रमण गति एवं अपकेन्द्रीय बल में वृद्धि होने लगी । एक स्थिति ऐसी आई कि भूमध्यरेखीय उभार (Equatorial Bulge) में गुरुत्वाकर्षण व अपकेन्द्रीय बल बराबर हो जाने से भारहीनता हो गई। परिणामस्वरूप सिकुड़ती हुई निहारिका के भारहीन भूमध्यरेखीय उभार से क्रमशः एक के बाद एक वलय पृथक होती गई (चित्र संख्या - 1.5) । इन वलयों के ठंडा होने से ग्रहों का निर्माण हुआ । वलय के ठंडा होने से पूर्व उनसे उप–वलय भी इसी प्रक्रिया के द्वारा अलग हुई, जिनके ठंडा होने से उपग्रहों का निर्माण हुआ । निहारिका का शेष भाग सूर्य के रूप में विद्यमान रह गया है । इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि लाप्लास ने सूर्य सहित सौर्य मण्डल के सभी ग्रहों की उत्पत्ति एक ही पदार्थ से मानी थी ।

इस परिकल्पना में कई विशेषतायें हैं । शनि ग्रह के चारों ओर पाई जाने वाली इस परिकल्पना की पुष्टि का एक सशक्त प्रमाण है । इसके अतिरिक्त अन्तरिक्ष में कई निहारिकाएँ विद्यमान हैं जो लाप्लास के मत की पुष्टि करती हैं । परिक्रमणशील पिण्ड के व्यास में कमी होने से उसकी परिभ्रमण गति में वृद्धि होती है । लाप्लास का यह मत गति विज्ञान के नियमों के अनुकूल है। सब ग्रहों की रचना में एक जैसा तत्वों की उपस्थिति भी लाप्लास की परिकल्पना को सही प्रमाणित करती है ।लाप्लास के अनुसार सभी ग्रह गैसीय वलय के ठण्डा होने से बने हैं । इनका ऊपरी भाग तो ठोस हो गया किन्तु भीतरी भाग अब भी तरल अवस्था में है ।भूतल पर चित्र 1.5 : लाप्लास के अनुसार भीतरी भाग अब वलयों का पृथक होना ज्वालामुखी उद्गार से निकलने वाले तरल लावा से भी लाप्लास की परिकल्पना की पुष्टि होती है।

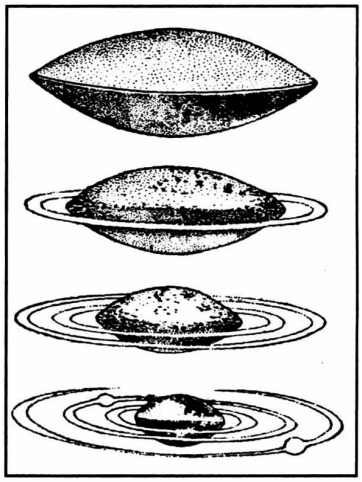

चित्र–1.5 : लाप्लास के अनुसार वलयों का पृथक होना

इन गुणों के कारण लाप्लास की परिकल्पना एक शताब्दी से अधिक अवधि तक मान्य रही । सांख्यिकी, भौतिकी, खगोल भौतिकी एवं ऊष्मा गतिकी आदि विज्ञानों के विकास के साथ–साथ लाप्लास की परिकल्पना में कई कमियाँ उजागर होने लगी जिनके आधार पर इस परिकल्पना की निम्नानुसार आलोचनाएँ की गईं ।

आलोचना

1. यद्यपि लाप्लास ने अपनी परिकल्पना को गतिक विज्ञान सम्बन्धी आलोचनाओं से तो बचा लिया, किन्तु उन्होंने उष्ण व गतिशील निहारिका की उत्पत्ति के विषय में कुछ नहीं बताया। यह उनकी परिकल्पना की कमजोरी है ।
2. लाप्लास की परिकल्पना में यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि निहारिका से केवल नौ वलय ही क्यों पृथक हुई । इससे कम या अधिक क्यों नहीं?
3. मोल्टन (Moulton) के मतानुसार वलयों के ठण्डा होने से ग्रह जैसे पिण्ड बनना सम्भव नहीं है । उन्होंने बताया कि ऊष्मा गतिकी के नियमों के अनुसार ऐसी स्थिति में ग्रहों के वर्तमान स्वरूप से भिन्न अपेक्षाकृत छोटे ग्रह बनेंगे ।

4. आलोचकों का मानना है कि यदि सूर्य निहारिका का अवशिष्ट भाग है तो उसमें भी भूमध्यरेखीय उभार होना चाहिए, जो नहीं है ।
5. लाप्लास की परिकल्पना द्वारा सूर्य व ग्रहों के मध्य कोणीय संवेग के वितरण की विसंगति स्पष्ट नहीं हो पाती है । कुल कोणीय संवेग का 1.7 प्रतिशत सूर्य में एवं शेष 98.3 प्रतिशत भाग ग्रहों में समाविष्ट होने का स्पष्टीकरण इस परिकल्पना में नहीं मिलता ।
6. कई भूगर्भशास्त्री प्रारम्भिक अवस्था में पृथ्वी को ठोस मानते हैं । अत: वे लाप्लास की परिकल्पना के इस तथ्य से असहमत हैं कि ग्रह क्रमशः गैसीय व तरल रूप से ठोस अवस्था में परिवर्तित हुए।
7. यदि ग्रहों का आकार घूमती हुई निहारिका से हुआ है तो उसके शेष बचे भाग (सूर्य) को आकार घट जाने के कारण सबसे तीव्र गति से परिभ्रमण करना चाहिये, लेकिन ऐसा नहीं है।
8. अनेक उपग्रह अपने ग्रहों की परिक्रमण दिशा से विपरीत दिशा में परिक्रमा करते हैं । इसका स्पष्टीकरण इस परिकल्पना में नहीं मिलता है ।

1.5 द्वैतारक परिकल्पनाएँ (Binary Hypotheses)

दो तारों से सौर्य परिवार की उत्पत्ति मानने वाली परिकल्पनाओं को द्वैतारक परिकल्पनाएँ कहा जाता है । इस वर्ग की अधिकांश परिकल्पनाओं का प्रतिपादन बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ था । इस समय तक काफी नये तथ्यों की जानकारी हो चुकीं थी । जेम्स जीन्स, चैम्बरलिन – मोल्टन, वाइज़ैकर, जैफ्रीज, रसैल आदि वैज्ञानिकों की परिकल्पनाएँ इस वर्ग में सम्मिलित की जाती हैं ।

1.5.1 जेम्स जीन्स की ज्वारीय परिकल्पना (Tidal Hypothesis of James Jeans)

जेम्स जीन्स ने सौर्य परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ज्वारीय परिकल्पना सन् 1919 में प्रतिपादित की थी । उनके अनुसार सूर्य अपने वर्तमान आकार से काफी बड़ा गैस का गोला था। सूर्य से भी कई गुना बड़ा एक तारा अपने पथ पर चलता हुआ सूर्य के निकट से गुजरा । जैसे– जैसे यह तारा निकट आने लगा, सूर्य के बाह्य भाग में ज्वार उठने लगा । इस तारे के सूर्य के निकटतम आने तक यह ज्वार प्रबल हो गया । सिगार के आकार का यह ज्वारीय फिलामैण्ट करोड़ों किलोमीटर लम्बाई में विस्तृत था । भ्रमणशील तारे के निकटस्थ आने पर यह फिलामैण्ट सूर्य से अलग हो गया, किन्तु तब तक यह तारा अपने पथ पर आगे बढ़ चुका था (चित्र संख्या– 1.6) । अत : यह फिलामैण्ट न तो तारे के साथ जा सका और न ही पुन : सूर्य से मिल सका । गुरुत्वाकर्षण प्रभाव में यह फिलामैण्ट सूर्य की परिक्रमा करने लगा । फिलामैण्ट की द्रव्य राशि में गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से एवं घनीभूत होने से गाँठें या ग्रन्थियाँ पड़ने लगी । ग्रंथिल फिलामैण्ट ही घनीभूत होकर विभिन्न ग्रहों में परिणित हो गया । ज्वारीय प्रभाव से निसृत फिलामैण्ट दोनों सिरों पर संकरा एवं बीच में अधिक फैला हुआ था । इसलिए इस फिलामैण्ट के घनीभूत होने से बनने वाले ग्रह भी दोनों सिरों पर छोटे एवं मध्य में बड़े आकार के बने (चित्र संख्या - 1.1) । ठीक उसी प्रकार सूर्य की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण ग्रहों से

उपग्रह बने । ग्रहों की द्रव्य राशि पर सूर्य की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण जो लघु ज्वारीय फिलामैण्ट उत्पन्न हुए उनसे उपग्रहों की उत्पत्ति हुई । जिन ग्रहों के दो से अधिक उपग्रह हैं, उनमें भी मध्यस्थ उपग्रह बड़े एवं दोनों सिरों की ओर छोटे उपग्रह स्थित हैं ।

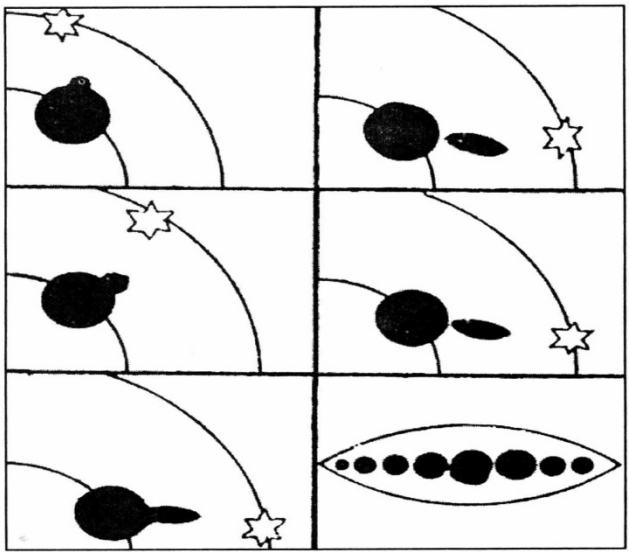

चित्र–1.6 : जेम्स जीन्स की ज्वारीय परिकल्पना

विशेषताएँ

इस परिकल्पना में कई विशेषताएँ हैं, जिनके कारण यह परिकल्पना काफी लम्बे समय तक मान्य रही–

1. सौर्य परिवार के ग्रहों को एक रेखा में व्यवस्थित किया जाये तो चित्र संख्या 1.1 के अनुसार बड़े ग्रह मध्य भाग में एवं दोनों सिरों पर छोटे ग्रह स्थित हैं । ग्रह –व्यवस्था की इस सिगार जैसी आकृति के कारण इस परिकल्पना की पुष्टि होती है ।
2. जेम्स जीन्स की ज्वारीय परिकल्पना की दूसरी विशेषता यह है कि ग्रहों की भाँति उपग्रहों की भी सिगार जैसी वितरण व्यवस्था इसकी पुष्टि करती है ।
3. छोटे ग्रहों को ठंडा होने में अपेक्षाकृत कम समय लगा । अत: इनके या तो उपग्रह नहीं हैं या बहुत कम हैं । इसके विपरीत बड़े ग्रह अधिक लम्बे समय तक गर्म रहे । इसलिए उनके उपग्रह अधिक संख्या में हैं । यह इस परिकल्पना की तीसरी विशेषता है।
4. इस परिकल्पना में सभी ग्रहों की उत्पत्ति सूर्य से निःसृत फिलामैण्ट से होने की कल्पना की गई है । इस एतथ्य की पुष्टि सभी ग्रहों की संरचना में समान पदार्थ के योगदान से होती है । अत: यह इस परिकल्पना की चौथी विशेषता है ।
5. यह परिकल्पना इस तथ्य का तर्कसंगत स्पष्टीकरण देने में समर्थ है कि सभी ग्रह समकालीन हैं । इस परिकल्पना के अनुसार सभी ग्रहों का निर्माण सूर्य से अलग हुए फिलामैण्ट से एक साथ ही हुआ था । यह इस परिकल्पना की पाँचवीं विशेषता है ।

आलोचना

1. आलोचकों के अनुसार अन्तरिक्ष में तारों की पारस्परिक दूरियाँ बहुत अधिक हैं । उनके इतना निकट आने की सम्भावना नहीं है कि तारे की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण सूर्य से बहुत बड़ी मात्रा में द्रव्य राशि फिलामैण्ट के रूप में अलग हो जाये ।
2. इस परिकल्पना में कोणीय संवेग के वितरण की विसंगति का स्पष्टीकरण भी नहीं मिलता है ।
3. कुछ वैज्ञानिकों की मान्यता है कि सूर्य से अलग हुए गैसीय फिलामैण्ट का शीतल होकर ग्रहों में परिणित होना सम्भव नहीं है । बल्कि उतने उच्च तापमान वाली स्थिति के कारण उसे तो अन्तरिक्ष में विलीन हो जाना चाहिए था ।
4. रसैल के अनुसार सौर्य परिवार के बराबर विस्तृत फिलामैण्ट का सूर्य से अलग होना सम्भव नहीं है ।

1.5.2 चैम्बरलिन व मोल्टन की ग्रहाणु परिकल्पना (Planetesimal Hypothesis of Chamberlin and Moulton)

इस परिकल्पना के अनुसार ग्रहों की उत्पत्ति ग्रहाणुओं से हुई है । चैम्बरलिन की मान्यता थी कि ब्रह्माण्ड में प्रारम्भ में दो विशाल तारे थे, एक सूर्य और दूसरा साथी विशाल तारा । आरम्भ में' सूर्य का आकार वर्तमान सूर्य से बहुत बड़ा था तथा इसका एक साथी तारा (Star) भी था । साथी तारा

अपने विशाल पथ पर घूम रहा था (चित्र संख्या– 1.7) । घूमते –घूमते जब वह सूर्य के अधिक समीप पहुँच गया तब विशाल तारे की आकर्षण शक्ति के कारण सूर्य के धरातल से बहुत सा पदार्थ छोटे–छोटे कणों के रूप में उस विशाल तारे की ओर खिंच गया । इसी पदार्थ को उन्होंने ग्रहाणु कहा । सूर्य के धरातल से निकला पदार्थ घूमते हुए तारे में नहीं मिल सका क्योंकि जब तक पदार्थ निकला तब तक तारा अपने पथ पर आगे बढ़ गया, और यह पदार्थ तारे की गुरुत्वाकर्षण शक्ति की सीमा से दूर रह गया । इस स्थिति में ये ग्रहाणु सूर्य की परिक्रमा करने लगे । ये ग्रहाणु छोटे –बड़े सभी आकार के थे । बड़े ग्रहाणुओं ने केन्द्रक (Nucleus) का काम किया और छोटे ग्रहाणुओं को अपनी ओर आकर्षित कर लिया । धीरे – धीरे बड़े ग्रहाणुओं का आकार बढ़ता गया और वे ग्रहों के रूप में निर्मित हो गए ।

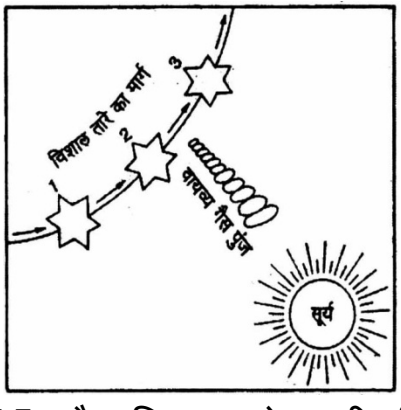

चित्र – 1.7 : चैम्बरलिन तथा मोल्टन की परिकल्पना

आलोचना

1. जैफ्रीज़ ने इस परिकल्पना की आलोचना करते हुए बताया कि सूर्य के धरातल से निकले पदार्थ से इतने बड़े –बड़े ग्रहों का निर्माण नहीं हो सकता ।

2. ग्रहाणुओं के परस्पर टकराने से केन्द्रकों के आकार में वृद्धि की बात विश्वसनीय नहीं है ।

1.5.3 वाइजैकर की परिकल्पना (Weitzacker's Hypothesis)

जर्मन वैज्ञानिक वाइज़ैकर ने सौर्यमण्डल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सर 1943 में एक नवीन परिकल्पना प्रतिपादित की । वाइजेकर के अनुसार सौर्यमण्डल की उत्पत्ति अन्तरिक्ष में फैले हुए गैस एवं धूल के बारीक कणों के घनीभूत होने से हुई है । अन्तरिक्ष में आज भी ऐसी कई निहारिकाएँ पायी जाती हैं जो गैस व धूल के बादल जैसी लगती हैं । वाइज़ैकर के अनुसार किसी समय सूर्य एक निहारिका रूपी बादल में प्रविष्ट हो गया । ये निहारिकाऐं अत्यधिक विस्तीर्ण होती हैं जिनसे इनमें सूर्य का प्रवेश होना सम्भव है । कालान्तर में सूर्य के गुरुत्वाकर्षण के कारण विसरित निहारिका का गैसीय पदार्थ सूर्य के चारों और फैल गया (चित्र संख्या– 1.8) । यह पदार्थ कुल ग्रहों के द्रव्यमान से सौ गुना अधिक था । सूर्य के साथ यह पदार्थ भी तीव्र गति से घूमने लगा इस अवधि में धूल के कण घनीभूत होते रहे जिससे पिण्डों का निर्माण हुआ । यह कार्य लगभग 10 करोड़ वर्षों तक जारी रहा तथा इनसे ग्रहों एवं उपग्रहों का निर्माण हुआ ।

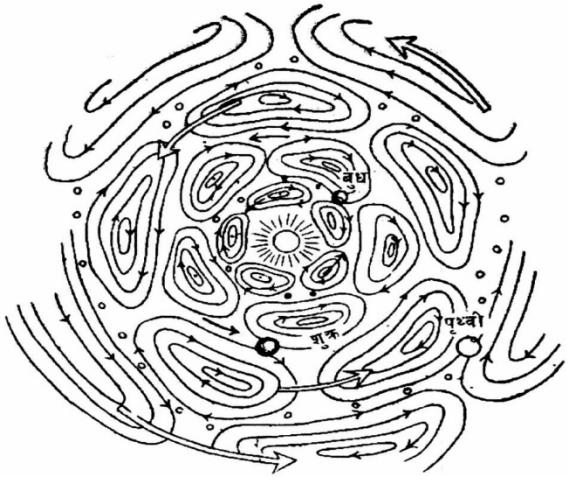

चित्र– 1.8 : मोतियों के प्रत्येक हार में पाँच भ्रमिल क्षेत्र

आलोचना

1. इस परिकल्पना की मुख्य कमी यह है कि अनेक खगोलविद इस तथ्य से सहमत नहीं हैं कि सभी ग्रहों के द्रव्यमान के बराबर अन्तरिक्ष में छितरे हुए धूलकण घनीभूत हो सकते हैं ।
2. ग्रहों के निर्माण के लिये वाइज़ैकर द्वारा अनुमानित अवधि भी खगोलविदों के अनुसार अव्यावहारिक है ।

1.5.4 रसैल की द्वैतारक परिकल्पना (Binary Star Hypothesis of Russel)

रसैल ने युग्म –तारा परिकल्पना का प्रतिपादन किया । ब्रह्माण्ड में विद्यमान अनेक युग्म तारे इस परिकल्पना की पुष्टि करते हैं । बहुत पहले सूर्य का एक साथी तारा था जो सूर्य के चारों ओर परिक्रमा कर रहा था । कुछ समय पश्चात एक विशालकाय तारा सूर्य के साथी तारे के समीप आया, जिसके कारण साथी –तारे में विशाल ज्वार उठा (चित्र संख्या - 1.9) । रसैल की मान्यता थी कि ज्वार उठने के लिये सूर्य के साथी तारे तथा यात्री तारे के मध्य लगभग 45 से 65 लाख किमी. की दूरी रही होगी । साथी तारे से उठा हुआ ज्वारीय पदार्थ सूर्य के गुरुत्वाकर्षण में आकर उसकी परिक्रमा करने लगा । इस पदार्थ के घनीभवन से ही ग्रह बने । इन ग्रहों के पारस्परिक गुरुत्वाकर्षण के कारण ग्रहों से पदार्थ निकलकर उनके उपग्रह बन गये होंगे । इस तरह युग्म तारे की कल्पना करके तथा सूर्य के स्थान पर साथी तारे से पदार्थ निसृत कराकर ग्रहों तथा पृथ्वी की उत्पत्ति मानकर रसैल ने सूर्य तथा ग्रहों के बीच की वर्तमान दूरी तथा उनके कोणीय संवेग का वैज्ञानिक स्तर पर समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया ।

आलोचना

1. रसैल ने साथी तारे से निकले पदार्थ से ग्रहों की उत्पत्ति की कल्पना की थी, किन्तु इसका स्पष्टीकरण नहीं दिया कि सूर्य के साथी तारे के अवशिष्ट भाग का क्या हुआ?
2. उन्होंने यह भी नहीं बताया कि विशालकाय तारे के अपने पथ पर आने जाने पर सभी ग्रह सूर्य की परिक्रमा क्यों करने लग गये?

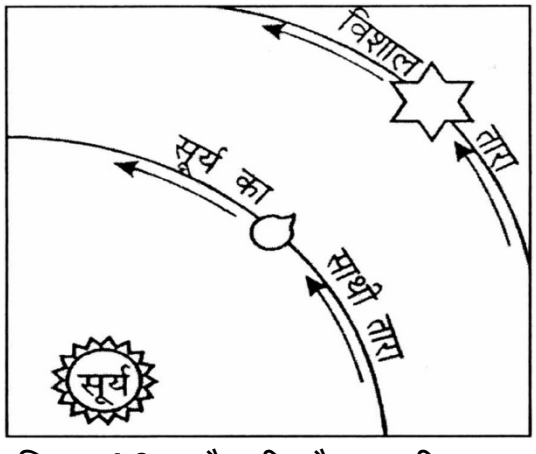

चित्र – 1.9 : रसैल की द्वैतारक परिकल्पना

बोध प्रश्न–2

1. लाप्लास ने किस वर्ग की परिकल्पना प्रतिपादित की?

   .....

   .....

2. ज्वारीय परिकल्पना किसने प्रतिपादित की?

   .....

.....

3. लाप्लास ने अपनी परिकल्पना को गतिक नियमों की आलोचना से किस प्रकार बचाया था?

.....

.....

4. काण्ट ने सौर्य परिवार की उत्पत्ति किससे मानी है?

.....

.....

5. जेम्स जीन्स ने सूर्य से निकले ज्वारीय पदार्थ को क्या नाम दिया?

.....

.....

1.6 नवीन परिकल्पनाएँ (New Hypotheses)

पिछली शताब्दी में तीसरे दशक के बाद सौर्य परिवार की उत्पत्ति के बारे में नवीन तथ्यों पर आधारित कई परिकल्पनाएँ प्रतिपादित की गई ।

1.6.1 ऑल्फवैन की विद्युत चुम्बकीय परिकल्पना (Electro–Magnetic Theory of Alfven)

ऑल्फवैन ने सर 1942 में विद्युत चुम्बकीय शक्ति के द्वारा सौर्य परिवार की उत्पत्ति को समझाया । ऑल्फवैन के अनुसार सूर्य का यह चुम्बकीय क्षेत्र आदिकाल में वर्तमान की अपेक्षा कई हजार गुना अधिक रहा होगा । ऑल्फवैन की धारणा है कि सूर्य पहले बड़ी तेजी से परिभ्रमण कर रहा था । तीव्र गति से परिभ्रमण करता हुआ सूर्य परमाणुओं के एक मेघ में जा पहुँचा । इस मेघ के अणु विद्युत की दृष्टि से तटस्थ थे । ये अणु सूर्य के चुम्बकीय प्रभाव में आकर सूर्य की परिक्रमा करने लगे । इस मेघ का विस्तार वर्तमान समस्त ग्रहों के कुल फैलाव के बराबर था । अणुओं के परस्पर टकराने से ये आयनीकृत हो गये । इसलिए सूर्य उनका अपहरण नहीं कर सका । इन अणुओं के एकत्रित होने से विभिन्न ग्रह व उपग्रह बने । इस परिकल्पना में भी अनेक कमियाँ हैं ।

1.6.2 ऑटो श्मिड की अन्तर –तारक धूलि परिकल्पना (Otto Schmidt's Inter Stellar Dust Hypothesis)

रूसी वैज्ञानिक ऑटो श्मिड ने सर 1943 में अपनी अन्तर –तारक धूलि परिकल्पना प्रतिपादित की । उनके मतानुसार ब्रह्माण्ड में गैस एवं धूलि कणों के बादल इधर –उधर बिखरे हुए हैं । ऑटो श्मिड ने इन्हीं से सौर्य परिवार के ग्रहों की उत्पत्ति की कल्पना की है । गैस व धूलि कणों के विषय में उन्होंने बताया कि इनकी उत्पत्ति तारों से निसृत परमाणुओं के घनीभूत होने से हुई है । ऑटो श्मिड की मान्यता है कि पहले से मौजूद सूर्य ने ऐसे ही एक गैसीय एवं धूलिकणों के पुंज को अपनी गुरुत्वाकर्षण शक्ति द्वारा आकर्षित कर लिया । इस पुंज से धीरे-धीरे ग्रहों का निर्माण हुआ ।

ऑटो श्मिड के सहयोगी वैज्ञानिक लेविन ने ग्रहों की निर्माण प्रक्रिया में तीन प्रेरक कारक बताये हैं । ये तीन कारक हैं – गुरुत्वाकर्षण शक्ति, यान्त्रिक या भौतिक ऊर्जा (Mechanical Energy) का ऊष्मा (Heat) में परिवर्तन एवं भौतिक–रासायनिक शक्तियाँ (Physico–Chemical) । ऑटोश्मिड के अनुसार प्रारम्भ में भ्रमणशील पुंज में उपलब्ध गैस एवं धूलिकण अत्यन्त अव्यवस्थित रूप से सूर्य की परिक्रमा कर रहे थे । पुज के चपटा होने के साथ –साथ इन कणों के परिक्रमण मार्ग अधिक व्यवस्थित एवं भूमध्य रेखीय तल के समानान्तर होने लगे। गुरुत्वाकर्षण शक्ति के प्रभाव में यह पुंज अपने भूमध्य रेखीय तल की ओर चपटा तश्तरीनुमा भी होने लगा था । गैस एवं धूलिकणों के बादल में धूलिकणों की मात्रा अधिक होती थी । भारी होने के कारण धूलिकण भूमध्यरेखीय तल की ओर अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में एकत्रित होते गये एवं घनीभूत होकर एक विशाल चपटी तश्तरी का रूप ले लिया । पुँज के चपटा हो जाने से उसमें उपलब्ध गैस व धूलिकणों की पारस्परिक दूरियाँ कम होती गई जिससे उनमें टकराहट होने लगी । गैस के कणों की टकराहट प्रत्यास्थ (Elastic) होती है । इससे उनकी गति मन्द नहीं होने पाती है तथा वे धीमी गति से घनीभूत होते हैं । इसके विपरीत धूलिकणों की टकराहट अप्रत्यास्थ (Non–elastic) होती है । धूलिकणों के घनीभूत होने से उनका एकत्रण होने लगा । ये प्रारम्भिक एकत्रण ग्रहों के भ्रूण सिद्ध हुए । परिपक्व होते –होते ये भ्रूण क्षुद्रग्रहों (Asteroids) के रूप में विकसित होते गये । सूर्य की परिक्रमा करते हुए ये क्षुद्रग्रह अन्य छोटे पिण्डों व कणों को आत्मसात करते रहे । इस प्रकार धीरे – धीरे उन्होंने वर्तमान ग्रहों का रूप ले लिया । ग्रह – निर्माण के इस क्रम को चित्र संख्या – 1.10 में प्रदर्शित किया गया है ।

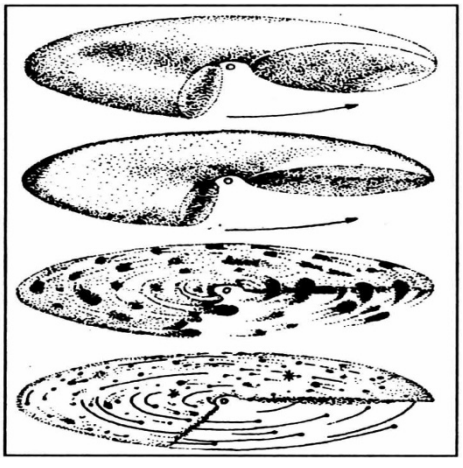

चित्र – 1.10 : घनीभवन से भ्रूण बनते हुए

ग्रह निर्माण की प्रक्रिया के उपरान्त भी गैस व धूलिकणों के पुंज का काफी पदार्थ अपरिपक्व अवस्था में बचा था । ये पदार्थ भी कालान्तर में घनीभूत होकर उपग्रह के रूप में अपने निकटस्थ ग्रह की परिक्रमा करने लगे । इस प्रकार विभिन्न उपग्रहों का निर्माण हुआ ।

विशेषताएँ

1. यह परिकल्पना ग्रहों के समकालीन होने को प्रमाणित करती है । इससे यह परिकल्पना अधिक लोकप्रिय हुई ।

2. ऑटोश्मिड ने बताया कि जब गैस व धूलिकण तश्तरी के रूप में संगठित हो गये तो सूर्य की किरणें उन्हें भेद कर अधिक दूर तक नहीं जा सकती थी । अत: तश्तरी के सूर्योन्मुखी भाग में भारी तत्वों वाले ग्रह बने । ये आन्तरिक ग्रह हैं – बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल (चित्र संख्या 1.1) । इनकी संरचना में लोहा, निकिल, सिलिका, एल्यूमिनियम आदि की अधिकता है । इसके विपरीत तश्तरी के सूर्य विमुखी भाग के बाह्य ग्रह बृहस्पति, शनि, अरुण, वरुण व यम अपेक्षाकृत हल्के तत्वों से बने हैं ।
3. टोश्मिड ने बताया कि गैस व धूलिकणों तथा पारस्परिक टकराव के कारण उनकी परिक्रमण गति का सामान्यीकरण हो गया । इसके परिणामस्वरूप ग्रहों के परिक्रमण पथ लगभग वृत्ताकार अथवा दीर्घ वृत्ताकार बने हैं ।
4. ऑटो श्मिड ने ग्रहों के बीच की दूरियाँ का स्पष्टीकरण देते हुए बताया है कि भिन्न –भिन्न गति व परिमाण वाले ग्रह अलग – अलग दूरियों पर ही संगठित होंगे ।
5. इस परिकल्पना से कोणीय संवेग के वितरण में विसंगति का स्पष्टीकरण भी मिल जाता है, क्योंकि सूर्य व ग्रहों की रचना भिन्न परिस्थितियों व घटकों से हुई है ।
6. इसी प्रकार ऑटो श्मिड की परिकल्पना से द्रव्यमान के वितरण की भिन्नता भी स्पष्ट हो जाती है ।

आलोचना

(i) गैस व धूलिकणों से निर्मित बादल की उपस्थिति से कई वैज्ञानिक सन्तुष्ट नहीं हैं ।

(ii) सैफ्रोनोव ने आपत्ति की है कि अन्तरिक्ष में तारों की अत्यधिक दूरी के कारण सूर्य द्वारा गैस व धूलिकणों के बादल को आकर्षित करना सम्भव नहीं लगता है ।

1. इस परिकल्पना के अनुसार ग्रहों की प्रारम्भिक अवस्था शीतल एवं ठोस मानी गई है । इस तथ्य से कई भूगर्भशात्री सहमत नहीं हैं क्योंकि वे इसकी प्रारम्भिक अवस्था को क्रमशः गैसीय व तरल मानते हैं ।

1.6.3 होयल व लिटिलटन की नवतारा परिकल्पना (Nova Hypothesis)

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के दो गणितज्ञों – फ्रैड होयल (F.Hoyle) तथा लिटिलटन (Lyttleton) ने अपनी परिकल्पना का प्रतिपादन 1939 में किया । इनकी परिकल्पना परमाणु भौतिकी (Nuclear Physics) से सम्बन्धित है । ग्रहों के निर्माण में अधिकांशतः भारी तत्वों (heavy elements) का योगदान है । इनकी मात्रा ग्रहों में 98 प्रतिशत से अधिक है, किन्तु तारों के निर्माण में मुख्य तत्व हाइड्रोजन है । इसकी मात्रा ग्रहों में 1 प्रतिशत से भी कम है । होयल और लिटिलटन ने बताया कि हाइड्रोजन के जलने से भी भारी तत्वों की उत्पत्ति होती है । किन्तु सूर्य जैसे साधारण तारे द्वारा हाइड्रोजन से केवल हीलियम की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है । भारी तत्वों के निर्माण के लिये हाइड्रोजन के जलने की क्रिया अधिक ऊँचे तापमान पर होना आवश्यक है । अधिक ऊँचा तापमान केवल अधिनव (Supernova) तारों में पाया जाता है । **कोई तारा तभी अधिनवतारा बनता है जब उसमें जलने योग्य आवश्यक हाइड्रोजन तत्व नहीं बचता ।** ऊष्मा और ऊर्जा का स्रोत हाइड्रोजन ही है । हाइड्रोजन हीलियम में परिणित होकर

ऊष्मा और ऊर्जा उत्पन्न करता है । हाइड्रोजन की कमी हो जाने पर पर्याप्त मात्रा में ऊर्जा उत्पन्न करने के लिए तारे को संकुचित होना पड़ता है । संकुचन के कारण तारे की घूर्णन – गति बहुत बढ़ जाती है । तीव्र घूर्णन से अपकेन्द्रीय बल बढ़ता है जिस कारण प्रारम्भ में तारे का बाहरी हल्का पदार्थ और बाद में भारी तत्व बाहर फेंके जाते हैं । ब्रह्माण्ड में भारी तत्वों की उत्पत्ति इसी अवस्था के अन्तर्गत सम्भव है ।

भारी पदार्थ दूर फैंक दिये जाने के पश्चात केन्द्र में दिव्य ज्योति दिखाई पड़ती है जो कि सूर्य से कई लाख गुनी अधिक होती है । इतनी ज्योति वाले तारों को **नवतारा (Nova)** नाम दिया गया है । होयल व लिटिलटन के अनुसार ग्रहों की रचना एक अधिनव तारे में विस्फोट के कारण हुई है । उनके अनुसार युग्म तारों में से एक तारा सूर्य और दूसरा अधिनव तारा था । दोनों तारों में मध्य दूरी सूर्य और बृहस्पति की दूरी के बराबर थी । विस्फोट के कारण अधिनव तारा काफी मात्रा में पदार्थ को बाहर फेंकता है । होयल के अनुसार यह पदार्थ सूर्य की दिशा में फैंका गया, जो कि सूर्य ने आकर्षित कर लिया । वह पदार्थ ही ग्रहों में संगठित हो गया ।

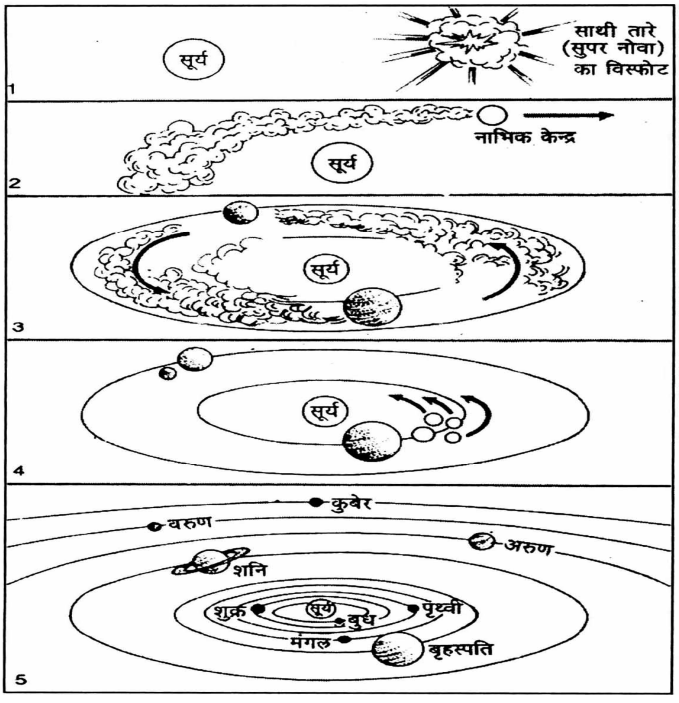

चित्र – 1.11 : होयल तथा लिटिलटन की नवतारा परिकल्पना

आलोचना

इस परिकल्पना की सबसे प्रमुख कमी यह है कि इसमें इस तथ्य का स्पष्टीकरण नहीं दिया गया कि तारा–युग्म की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ।

1.6.4 रासगन की विखण्डन परिकल्पना (Fission Hypothesis of Ross Gun)

यह परिकल्पना भी युग्म तारे पर आधारित है । उनके अनुसार उनमें से एक तारा अस्थिर हो कर विखण्डित हो जाता है । कोणीय संवेग के संरक्षण नियम के अन्तर्गत सिकुड़ते हुए तारे की घूर्णन गति बढ़ जाती है । घूर्णन गति बहुत तीव्र होने से तारा अस्थिर होकर विखण्डित हो

सकता है। रॉसगन ने विखण्डन सिद्धान्त को आधार बनाकर निसृत पदार्थ को काफी दूरी तक फैंके जाने का औचित्य बताया । इस परिकल्पना के अनुसार जिस समय एक यात्री तारा (Intruding star) सूर्य के साथी के निकट आया, उस समय साथी तारा अधिक घूर्णन के कारण विखण्डित होने की अवस्था में था । वह अपने पदार्थ पर नियन्त्रण लगभग खो चुका था। अत: तीसरे तारे के गुरुत्वाकर्षण से उत्पन्न ज्वारीय पदार्थ काफी दूर तक छिटक गया लेकिन यह निसृत पदार्थ सूर्य के गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र में आ गया क्योंकि इतने समय में भ्रमणकारी तीसरा तारा सूर्य से दूर जा चुका था । उनकी मान्यता थी कि निर्माणावस्था में ग्रह तरल अवस्था में रहे होंगे । शीतल होकर ये ग्रह संकुचित होने लगे । इसके फलस्वरूप बढ़ी हुई परिभ्रमण गति के कारण उपग्रहों का निर्माण हुआ ।

आलोचना

1. इस परिकल्पना में युग्म तारे की प्रारम्भिक परिभ्रमण गति को स्पष्ट नहीं किया गया है ।
2. यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है कि ग्रहों के निर्माण के पश्चात् तारे का अवशेष शून्य में किस प्रकार लुप्त हो गया ।
3. यह भी नहीं बताया गया है कि नवनिर्मित ग्रह विखण्डित तारे के गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से किस प्रकार मुक्त होकर सूर्य की परिक्रमा करने लगे ।
4. ब्रह्माण्ड में तारों के विस्तार से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक तारा एक दूसरे से काफी दूरी पर स्थित है । सूर्य से निकटतम तारा एक्का सैन्चौरी (After Centuary) 4.3 प्रकाश वर्ष की दूरी पर है । अत: कोई भी तारा सूर्य की आयु में उसके इतना निकट नहीं आ सकता ।

1.6.5 बैनर्जी की सैफीड परिकल्पना (Cepheid Hypothesis of Banerjee)

ब्रह्माण्ड में डेल्टा सैफी (Delta Cephei) तारे को देखकर डॉ. ए.सी. बैनर्जी को सैफीड (Cepheid) परिकल्पना प्रस्तुत करने की प्रेरणा सन् 1942 में मिली । अन्तरिक्ष में कुछ तारे फैलते –सिकुड़ते रहते हैं । इसे तारों का स्पन्दन (Pulsation) कहते हैं तथा ऐसे तारों को सैफीड चर (Cepheid variable) कहते हैं । अन्तरिक्ष में तारा समूह में सैफीड तारे भी होते हैं । इनकी चमक में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है । सैफीड के प्रकाश में ऐसा व्यवस्थित परिवर्तन उनमें फैलाव –संकुचन के कारण होता है । एक बार ऐसे ही सैफीड के निकट से एक भ्रमणशील (Intruding) विशाल तारा गुजरा । भ्रमणशील तारे के गुरुत्वाकर्षण प्रभाव से सैफीड में स्पन्दन बढ़ गया । इस कारण भ्रमणशील तारे ने सैफीड का काफी पदार्थ अपनी ओर आकर्षित कर लिया । इसी पदार्थ के घनीभूत होने से ग्रहों का निर्माण हुआ । सैफीड की शेष राशि सूर्य के रूप में रह गई, जिसके चारों ओर ग्रह परिक्रमा करने लगे । भ्रमणशील तारा तब तक अपने मार्ग पर काफी दूर जा चुका था ।

1.6.6 ब्रह्माण्ड की विकासवादी या महाविस्फोटक परिकल्पना (Evolutionary or Big Bang Hypothesis of the Universe)

इस सिद्धान्त को बेल्जियम विद्वान लिमैत्रे (Limaitre) ने प्रस्तुत किया । इस सिद्धान्त में यह कल्पना की गई कि – प्रारम्भ में ब्रह्माण्ड में सारा पदार्थ एक अत्यन्त सघन एवं विशालकाय

आद्य–पदार्थ (Primordial Matter) में रूप में स्थित था, जिसमें भीषण विस्फोट होने के कारण ब्रह्माण्ड में स्थित पदार्थ के कण अन्तरिक्ष में छितरा गये जिनसे वर्तमान ब्रह्माण्ड की रचना हुई है । हॉयल महोदय ने भी ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के बारे में कुछ नये तथ्यों के आधार पर विकासवादी सिद्धान्त से सहमति प्रकट की ।

(Tata Institute of Fundamental Research, TIFR) के भारतीय विद्वान डॉ. गोविन्द स्वरूप एवं विजय कपाही भी 'बिग बेंग ' सिद्धान्त पर कार्य कर रहे हैं । उनके' अनुसार लगभग 20 बिलियन वर्ष पूर्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति आद्य पदार्थ से निर्मित एक विशालकाय आग के गोले (Fire Ball) के भीतर महाविस्फोट से हुई ।

संयुक्त राज्य अमेरिका में 'बिंग बेंग ' की दशाओं को उत्पन्न करने के लिए एक मॉडल तैयार किया गया है । बर्कले के वैज्ञानिकों ने भी अन्तरिक्ष में माइक्रो तरंग विकिरण का अध्ययन करने के लिए हीलियम बैलून का प्रयोग करते हुए 'बिंग बेंग ' सिद्धान्त का ही समर्थन किया है।

जेनेवा में स्थित यूरोपीय नाभिकीय अनुसंधान केन्द्र (CERN) में भी इस सिद्धान्त पर एक प्रयोग किया जा रहा है, जिसमें अनेक देशों के 5000 से अधिक वैज्ञानिक अनुसंधान में महाविस्फोटक सिद्धान्त की दशाएँ उत्पन्न करने में प्रयत्नशील हैं ।

महाविस्फोटक सिद्धान्त का वैज्ञानिक परीक्षण 10 सितम्बर 2008 को फ्रांस एवं स्विटजरलैण्ड की सीमा के पास जमीन से 100 मीटर नीचे दुनिया का सबसे महंगा (4.4 अरब पांउड) और शक्तिशाली वैज्ञानिक परीक्षण किया गया है । जिसका नाम 'सुपर एक्सपेरिमेन्ट' दिया गया है । इस एक्सपेरिमेन्ट में दुनिया के वैज्ञानिक धरती से 100 मीटर 'द लार्ज हैड्रान कोलाइडर (एल. एच सी.) नामक 27 कि मी. लम्बी एक मशीन के जरिये बिग को या ब्रह्माण्ड के पैदा होने की स्थिति को प्रयोगशाला में जीवंत करना चाहते है । (चित्र– 1.12) मशीनों में कुछ खराबी आने के कारण कुछ समय के लिए इस प्रयोग को रोक दिया गया है । जब यह परीक्षण फिर से शुरू होगा तो अणु विध्वंसक एक तरह से टाइम मशीन बन जाएगा, जिससे इन सवालों के जवाब मिलेंगे :

- ब्रह्माण्ड के जन्म के वक्त क्या मौजूद था?
- कुछ पदार्थों का द्रव्यमान क्यों नहीं होता?
- डार्क मेटर की प्रकृति क्या है?
- क्या अन्तरिक्ष का कोई ऐसा आयाम है जो अब भी हमारी पहुँच से बाहर है?

इससे यह पता चल पायेगा कि जब ब्रह्माण्ड अस्तित्व में आया था तब क्या हुआ था

से काम करेगी 'बिग बेंग मशीन'

लार्ज हैड्रोन कोलाइडर (एलएचसी) 27 किलोमीटर के एक रिंग में प्रोटोन्स के दो बीम्स छोड़ेगा । ये बीम्स लाइट 99.99 फीसदी स्पीड पर आपस में टकराएगी । इसके 9300 मैग्नेट्स–271

डिग्री सेंटिग्रेड तापमान के बीच पार्टिकल्स को वैक्युम में गाइड करेंगे । इससे कुछ क्षण के लिए वैसी ही स्थिति बनेगी जैसी 14 अरब साल पहले ब्रह्माण्ड के जन्म व बिग–बैंग के समय थी ।

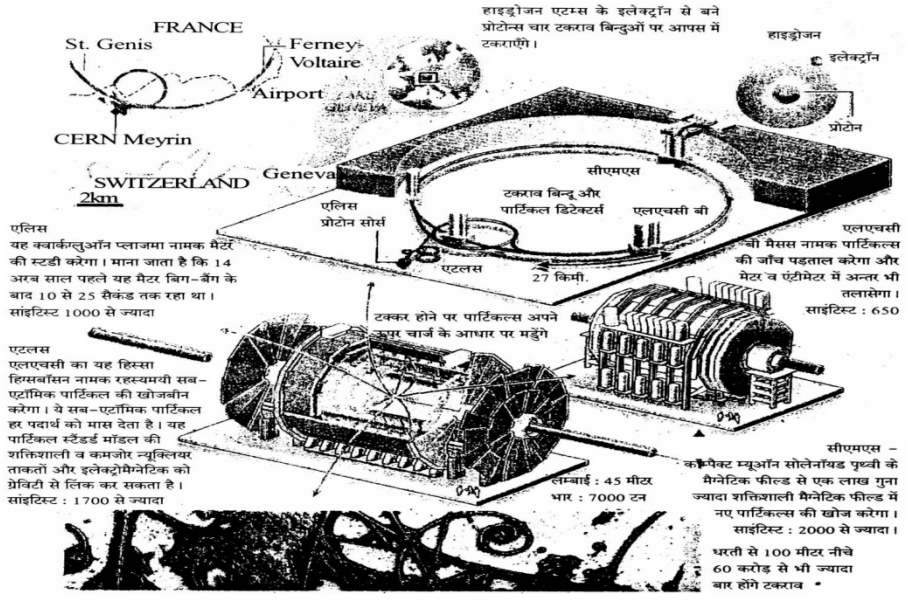

चित्र– 1.12 : बिग बैंग मशीन की कार्य प्रणाली

बोध प्रश्न – 3

1. ऑल्फवैन ने सौर्य परिवार की उत्पत्ति से सम्बन्धित कौन सी परिकल्पना दी थी?

   .....

   .....

2. अन्तरतारक धूलि परिकल्पना किसने प्रस्तुत की?

   .....

   .....

3. होयल व लिटिलटन की परिकल्पना का नाम बताइये ।

   .....

   .....

4. सैफीड तारा क्या होता है?

   .....

   .....

5. महाविस्फोटक सिद्धान्त के वैज्ञानिक परीक्षण का प्रथम प्रयास कब किया था?

   .....

   .....

1.7 सारांश (Summary)

1. सौर्य परिवार की सिगार जैसी आकृति है जिसके मध्य में बड़े व किनारों पर छोटे ग्रह स्थित हैं।
2. सौर्य परिवार के ग्रहों के दो वर्ग हैं – (अ) आन्तरिक ग्रह – (बुध, शुक्र, पृथ्वी व मंगल), छोटा आकार व कम उपग्रह युक्त ; (ब) बाह्य ग्रह – (बृहस्पति, शनि, अरुण, वरुण व यम), बड़ा आकार व अधिक उपग्रह युक्त।
3. सौर्य परिवार के कुल द्रव्यमान का 98 प्रतिशत एवं कुल कोणीय संवेग का केवल 1.7 प्रतिशत सूर्य में तथा शेष ग्रहों में समाहित ।
4. काण्ट व लाप्लास की एक तारक निहारिका परिकल्पना–निहारिका से पृथक हुई वलयों के शीतल होने से ग्रहों व उपग्रहों का निर्माण ।
5. काण्ट व लाप्लास की परिकल्पना में कमियाँ – उष्ण व गतिशील निहारिका की उत्पत्ति, केवल नौ वलय पृथक होने, ऊष्मा गतिकी नियमों के विरूद्ध ग्रहों के निर्माण, सूर्य में भूमध्यरेखीय उभार के अभाव, कोणीय संवेग के वितरण की विसंगति आदि के कारण इस परिकल्पना से अस्पष्ट ।
6. जेम्स जीन्स की परिकल्पना (द्वैतारक) ज्वारीय परिकल्पना–एक अन्य निकट आते हुए तारे के गुरुत्वाकर्षण के कारण सूर्य से अलग हुए फिलामैण्ट से ग्रहों की उत्पत्ति ।
7. जेम्स जीन्स की परिकल्पना में कमियाँ –अन्तरिक्ष के किसी तारे का इतना निकट आना, सौर्य परिवार के आकार के फिलामैण्ट का अलग होना, उस फिलामैण्ट के ठण्डा होने से ग्रहों का बनना आदि कई वैज्ञानिकों द्वारा असम्भव माने गये ।
8. चैम्बरलिन –मोल्टन ने ग्रहाणु परिकल्पना का प्रतिपादन किया ।
9. नवीन परिकल्पनाओं में ऑल्फवैन की विद्युत चुम्बकीय परिकल्पना प्रमुख है ।
10. ऑटोश्मिड की अन्तर – तारक धूलि परिकल्पना – गैसों व धूलिकणों से युक्त पुंज पर गुरुत्वाकर्षण, यान्त्रिक तथा भौतिक – रासायनिक शक्तियों के प्रभाव के कारण कणों के एकत्रण से ग्रहों का निर्माण ।
11. ऑटो श्मिड की परिकल्पना में कमियाँ – गैस व धूलिकणों के पुंज से कई वैज्ञानिक असहमत, सैफ्रोनोव द्वारा गुरुत्वाकर्षण प्रभाव से कणों के घनीभवन पर आपत्ति, ठोस प्रारम्भिक अवस्था पर आपत्ति आदि ।
12. होयल – लिटिलटन, रॉसगन, बैनर्जी की तथा विकासवादी या महाविस्फोटक परिकल्पनाएं भी नवीनतम जानकारियों पर आधारित हैं ।

1.8 शब्दावली (Glossary)

- **कोणीय संवेग (Angular Momentum) :** द्रव्यमान, वेग तथा ग्रह की कक्षा के अर्द्धव्यास का प्रतिफल ।
- **आद्य पदार्थ (Primordial Matter) :** प्रारम्भिक पदार्थ ।

- **फिलामैण्ट (Filament) :** जेम्स जीन्स के अनुसार सूर्य के तल से निकला हुआ ज्वारीय पदार्थ ।

- **ग्रहाणु (Planetesimals):** चैम्बरलिन – मोल्टन के अनुसार सूर्य के तल से निकले हुए छोटे–छोटे कणों का समूह ।
- **नवतारे (Nova) :** सूर्य से कई लाख गुना अधिक दिव्य ज्योति वाले तारे ।
- **सैफीड (Cepheid) :** स्पन्दनशील तारे

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference Books)

1. Strahler, A.N.: **Introduction to Physical Geography**, John Wiley & Sons, New York, 1992.

2. Holmes, Arthur: **Principle of Physical Geology**, Thomas Nelson & Sons, New York, 1986.

3. मामोरिया व जोशी: भौतिक भूगोल, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2007

4. Steers, J.A.: **Unstable Earth**, Cambridge Uni. Press, London, 1989.

5. Hussain, Majid: **Fundamentals of Physical Geography**, Rawat Publication, Jaipur, 2004.

6. सिंह, सविन्द्र: **भूआकृति विज्ञान**, वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर, 2007

7. भल्ला व अग्निहोत्री: **भौतिक भूगोल**, कुलदीप पब्लिकेशन्स, जयपुर

8. दैनिक भास्कर, (दैनिक समाचार पत्र), जयपुर दिनांक 9 सितम्बर, 2008 पृ. 18

1. 10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1. 98 प्रतिशत
2. सौर्य परिवार के ग्रहों में
3. 3 आन्तरिक व बाह्य ग्रह
4. 4 बुध, शुक्र, पृथ्वी व मंगल ।

बोध प्रश्न – 2

1. एक तारक वर्ग
2. जेम्स जीन्स
3. 3 गतिशील निहारिका की कल्पना करके
4. आद्य पदार्थों के कणों से
5. फिलामैण्ट

बोध प्रश्न – 3

1. विद्युत चुम्बकीय परिकल्पना

2. ऑटोश्मिड ने
3. नवतारा परिकल्पना
4. स्पन्दनशील तारा
5. 10 सितम्बर, 2008

1.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सौर्य परिवार की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये ।

2. एक तारक परिकल्पनाओं का आलोचनात्मक वर्णन कीजिये ।

3. द्वैतारक परिकल्पनाओं का आलोचनात्मक वर्णन कीजिये ।

4. सौर्य परिवार की उत्पत्ति से सम्बन्धित आधुनिक मत क्या हैं?

इकाई 2 : पृथ्वी की आन्तरिक संरचना (Interior of the Earth)

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के प्रमाण

- 2.2.1 निहित स्रोत
- 2.2.2 आकस्मिक संचलन
- 2.2.3 उल्कापात

2.3 आंतरिक संरचना

- 2.3.1 स्वैस का वर्गीकरण
- 2.3.2 डेली का वर्गीकरण
- 2.3.3 होम्स का वर्गीकरण
- 2.3.4 वान - डर - ग्राट का वर्गीकरण
- 2.3.5 जैफ्रीज़ का वर्गीकरण

2.4 नवीन मान्यता

2.5 सारांश

2.6 शब्दावली

2.7 संदर्भ ग्रंथ

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

2.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ सकेंगे -

- पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के विषय में सीमित जानकारियों के कारण जान सकेंगे ।
- प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण से परे होने के कारण इस विषय में जुटाये गये साक्ष्यों को जान सकेंगे।
- विभिन्न विद्वानों द्वारा पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के विषय में सुझाये गये वर्गीकरण की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

2.1 प्रस्तावना (Introduction)

भूगर्भ दृष्टिगोचर नहीं होता है । इसलिये इसके विषय में विभिन्न प्रमाणों के आधार पर अनुमान लगाये जाते हैं । इन अनुमानों के आधार पर अनेक विद्वानों ने अपने – अपने ढंग से इसका विवरण दिया है । यद्यपि यह विवरण प्रथम दृष्टया काफी भिन्न प्रतीत होता है, तथापि उनमें आधारभूत समानता भी निहित है ।

2.2 पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के प्रमाण (Evidence of Earth's Interior)

पृथ्वी का ऊपरी भाग तो दृष्टिगोचर होता है तथा स्थलाकृत्तियों का अध्ययन आसानी से किया जा सकता है । किन्तु पृथ्वी की आन्तरिक संरचना आज भी एक रहस्य है क्योंकि भूगर्भ अगोचर तथा प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण से परे है । अभी तक धरातल पर तेल के लिये कुआं अधिकतम 6 किलोमीटर गहरा खोदा गया है । जबकि धरातल से पृथ्वी के केन्द्र की दूरी 6378 किलोमीटर है । इस दूरी के सामने उक्त कुएं की गहराई नगण्य है, जो हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा है । यद्यपि पृथ्वी की आन्तरिक संरचना का विषय भूगर्भशास्त्री के अध्ययन क्षेत्र में आता है, किन्तु भूगोल में भी इसका अध्ययन इसलिये आवश्यक है कि पृथ्वी की स्थलाकृत्तियाँ भूगर्भिक गतिविधियों पर बहुत कुछ निर्भर करती हैं । अत : पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के विषय में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करने के प्रयास निरन्तर किये जाते रहे हैं । इन प्रयासों के अन्तर्गत इस विषय पर प्रकाश डालने वाले कई प्रमाण जुटाये गये हैं । इन्हें तीन मुख्य वर्गो में विभाजित किया जा सकता है –

1. निहित स्रोत (Inherent Sources)
   (अ) तापमान (Temperature)
   (ब) घनत्व (Density)
   (स) दबाव (Pressure)

2. आकस्मिक संचलन (Sudden Movements)
   (अ) ज्वालामुखी क्रिया (Volcanic Activity)
   (ब) भूकम्पविज्ञान (Seismology)

3. उल्कापात (Meteorites)

2.2.1 निहित स्रोत (Inherent Sources)

(अ) तापमान : अनेक वैज्ञानिक तथ्यों से यह प्रमाणित हो चुका है कि भूगर्भ में गहराई के साथ–साथ तापमान बढता जाता है । (चित्र – 2.1) यह वृद्धि दर 10 सैल्शियस प्रति 32 मीटर है इस दर से 50 कि. मी. की गहराई पर ही तापमान 15000 सैल्शियस हो जाता है । इतने उच्च तापमान पर कोई भी पदार्थ ठोस अवस्था में नहीं रह सकता। ज्वालामुखी उद्गार से निकलने वाला लावा 50 किलोमीटर से कम गहराई से ही आता है । इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि पृथ्वी का आन्तरिक भाग अत्यन्त उष्ण अवस्था में है । यदि गहराई के साथ तापमान का आकलन किया जाये तो 2900 कि.मी. की गहराई पर तापमान 25000 सैल्शियस होना चाहिये । परन्तु ऐसी स्थिति में पृथ्वी का अधिकांश भाग तरल होता जो कि पूर्णतःसही नहीं है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गहराई के साथ तापमान में तापमान वृद्धि दर कम होती जाती है ।

अत: पृथ्वी के आन्तरिक भाग में तापमान की स्थिति निम्न प्रकार से अनुमानित की गई है -

(1) दुर्बलतामण्डल (Asthenosphere) आंशिक रूप से द्रव अवस्था (molten) है । 100 कि.मी. की गहराई पर तापमान लगभग 1500 सैल्शियस है ।

(2) 700 कि.मी. की गहराई पर 1900 सैल्शियस तापमान की गणना की गई है ।

(3) सीमा अर्थात 2900 किमी. की गहराई पर तापमान 37000 सैल्शियस आंका गया

(4) भूकेन्द्र के निकट तापमान 4300 सैल्शियस अनुमानित किया गया है ।

पृथ्वी के आन्तरिक भाग में ऊर्जा का स्रोत मुख्य रूप से रेडियो सक्रिय पदार्थ तथा गुरुत्व बल का तापीय ऊर्जा में परिवर्तन है ।

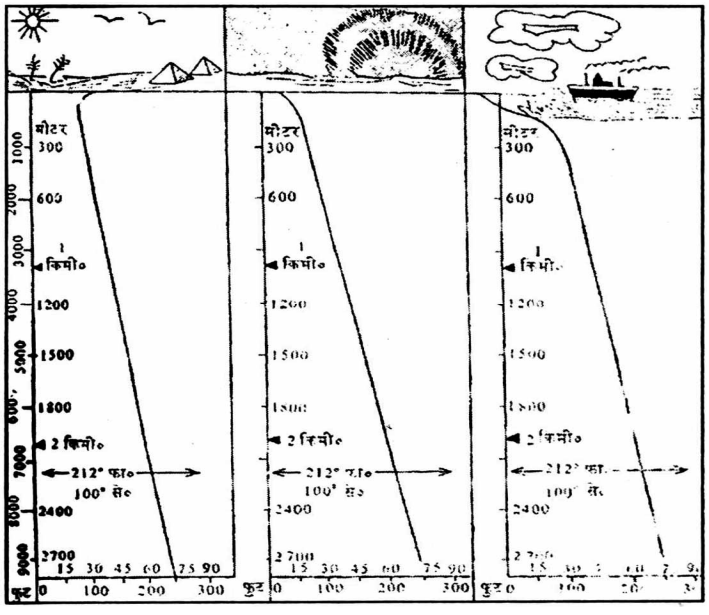

चित्र – 2.1 : मरुस्थलों, ध्रुवों तथा समुद्रों के नीचे गहराई के अनुसार ताप – वृद्धि की दर का समान होना ।

(ब) **घनत्व (Density)** : सम्पूर्ण पृथ्वी का औसत घनत्व 5.5 है । जबकि धरातल की ऊपरी चट्टानों का घनत्व 2.7 है । (चित्र – 2.2) इस तथ्य से पता चलता है कि पृथ्वी के केन्द्रीय भाग का घनत्व अधिक होगा । विशेषज्ञों द्वारा अनुमान लगाया गया है कि पृथ्वी के भीतरी भाग का घनत्व 11 से भी अधिक है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पृथ्वी का भीतरी भाग अत्यधिक भारी पदार्थों से, मुख्यतः धात्विक (metallic) पदार्थों से बना है । ऐसा माना जाता है कि पृथ्वी का केन्द्रीय भाग या भूक्रोड़ (Core) निकल –लौह –मिश्रण (Nickel iron mixture) है।

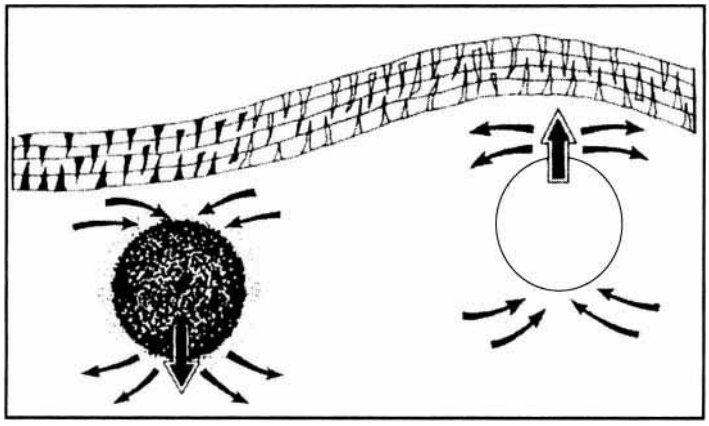

चित्र – 2.2 : घनत्व की भिन्नता के कारण उठाव एवं धंसाव

(स) दबाव (Pressure) : उपरोक्त बढ़ते तापमान की दर के अनुसार एक निश्चित गहराई के बाद भूगर्भ की शैलों का ठोस रूप में रहना सम्भव प्रतीत नहीं होता । किन्तु प्रमाण इसके पक्ष में नहीं हैं, क्योंकि पृथ्वी एक ठोस पिण्ड की भांति व्यवहार करती है । भूगर्भशास्त्रीयों का मानना है कि गहराई की ओर ऊपरी दबाव बढता जाता है जिसके कारण शैलों का द्रवणांक भी बढ जाता है । अत: भूगर्भ में तापमान उच्च होते हुए भी अत्यधिक दबाव के कारण शैलें ठोस अवस्था में ही हैं । भूगर्भिक घटनाओं के फलस्वरूप चट्टानों के खिसकने के कारण दबाव कम होने से शैलें पिघल जाती हैं । इससे ज्वालामुखी –क्रिया उत्पन्न होती है ।

ऊपरी परतों की चट्टानें भूगर्भ की ओर दबाव डालती हैं । इस आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि आन्तरिक भाग पर पदार्थों का दबाव प्रति वर्ग सेण्टीमीटर 3,200 टन है । इस आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भूक्रोड़ की चट्टानों पर सर्वाधिक दबाव पड़ता होगा । इसी कारण वहाँ सर्वाधिक घनत्व पाया जाता है । किन्तु आधुनिक प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि चट्टानों में एक सीमा के आगे उनका घनत्व नहीं बढ़ सकता, चाहे दबाव कितना ही बढ़ जाये ।

2.2.2 आकस्मिक संचलन (Sudden Movements)

(अ) ज्वालामुखी क्रिया (Volcanic Activity) : ज्वालामुखी क्रिया के फलस्वरूप पृथ्वी के आन्तरिक भाग में तरल मैग्मा तथा धरातल पर तप्त तरल लावा प्रवाहित होता है । इस आधार पर कुछ भूगर्भशास्त्रियों का अनुमान है कि पृथ्वी के आन्तरिक भाग में कम से कम एक ऐसी परत है जो हमेशा द्रव अवस्था में रहती है । इसी को वे मैग्मा भण्डार (Magma Chamber) कहते हैं, जहाँ से मैग्मा के रूप में धरातल पर तप्त तरल लावा प्रकट होता है । किन्तु कई भूगर्भशास्त्री इसे व्यावहारिक नहीं मानते हैं । उनका मानना है कि ऊपरी चट्टानों के अत्यधिक दबाव के कारण कोई भी हिस्सा तरल नहीं रह सकता । संभवतः अचानक ताप बढ़ने तथा चट्टानों का दबाव घटने के कारण आन्तरिक भाग का कुछ हिस्सा पिघल जाता है और ज्वालामुखी क्रिया के द्वारा बाहर निकल आता है ।

(ब) भूकम्प विज्ञान (Seismology): भूकम्प विज्ञान की प्रगति ने पृथ्वी की आन्तरिक संरचना का ज्ञान प्राप्त करने में बहुत सहायता पहुँचाई है । भूकम्प विज्ञान में भूकम्प की तरंगों और उनकी गतियों का अध्ययन किया जाता है । भूकम्पीय तरंगों का सिद्धान्त यह है कि उनकी गति हल्के घनत्व के माध्यम में धीमी और अधिक घनत्व के माध्यम में तेज होती है । अर्थात् माध्यम का घनत्व जितना ही अधिक होगा, तरंगों की गति भी उतनी ही अधिक होगी । इस गुण के कारण भूकम्पीय तरंगों के विश्लेषण से हमें अनेक जानकारियाँ मिलती हैं । **भूकम्प मूल (Focus)** से तीन प्रकार की तरंगें चलती हैं । (चित्र – 2.3)

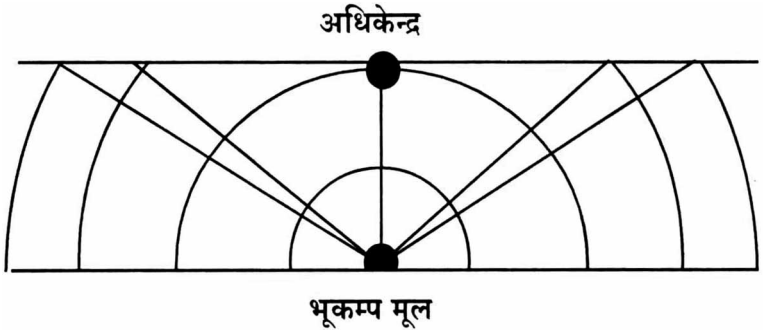

चित्र – 2.3 : भूकम्प मूल व अधिकेन्द्र

(1) प्राथमिक / अनुदैर्ध्य / **सम्पीडनात्मक तरंगें (Primary / Longitudinal / Compressional Waves) :** इन्हें **P – तरंगें (P–Waves)** भी कहते हैं । चित्र – 2.4) इनका संचरण वेग सबसे अधिक अर्थात 8 से 10 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड तक होता है । ये भूकम्प मूल से प्रारम्भ होकर पृथ्वी के ठोस, और गैसीय सभी प्रकार के पदार्थों को पार करती हुई भूपृष्ठ पर सबसे पहले पहुँचती हैं । ये तरंगें शैलों में सम्पीडन के कारण उत्पन्न होती हैं । इन तरंगों के शैलों में से गुजरने पर शैल कणों में कम्पनी (Vibration) होता है । यह कम्पन तरंगों की दिशा में आगे- पीछे होता है (चित्र संख्या 2.4) । आगे – पीछे होने कारण इसे, **धक्के की तरंगें या क्षतिजीय तरंगें (Push Waves or Longitudinal Waves)** भी कहते हैं । ये ठोस भाग में अत्यधिक तेजी से सरल रेखा में चलती । इनकी ध्वनि तरंगों के समान होती है ।

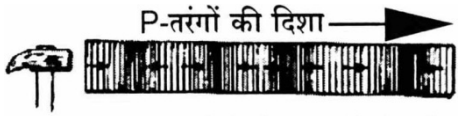

चित्र–2.4 : तरंगों में शैल कणों की गति

(2) द्वितीयक / आड़ी / गौण तरंगें (Secondary / Transverse / Distortional Waves) : इन्हें **S–तरंगों (S–Waves)** के नाम से भी जाना जाता है (चित्र – 2.5) ये जल तरंगों प्रकाश तरंगों के समान व्यवहार करती हैं क्योंकि इनमें कणों की गति तरंग की दिशा के समकोण पर है । इनकी उत्पत्ति शैलों पर पड़ने वाले अपरूपण

चित्र–2.5 : S– तरंगों में शैल कणों की गति

बल (Shear Force) के कारण होती है । इनकी गति लगभग पाँच कि लोमीटर प्रति सैकण्ड होती है । ये सिर्फ ठोस माध्यम से ही गुजर सकती हैं । ये तरल अथवा गैसीय पदार्थ से होकर नहीं गुजर सकती। ये तरंगें भूकम्प मूल – S– तरंगों की दिशाएँ चित्र - 2.5: S - तरंगों में शैल कणों की गति से 1030 से 1430 के कोण के मध्य धरातल पर नहीं पहुँच पाती । इसे S – तरंगों का छाया क्षेत्र कहते हैं (चित्र - 2.5) । इस कारण भूगर्भशास्त्री अनुमान लगाते हैं कि भू–क्रोड का कुछ भाग द्रव अवस्था में होना चाहिये, जहां से इन तरंगों के मार्ग में परावर्तन के कारण यह छाया क्षेत्र बनता है। शैल कणों में तरंगों की दिशा से लम्बवत गति होने के कारण इनसे भूकम्प प्रभावित क्षेत्र में अधिक क्षति होती है । धीमी गति के कारण भूपृष्ठ पर ये तरंगें P– तरंगों की अपेक्षा कुछ देर से पहुँचती हैं ।

(3) धरातलीय / दीर्घ पृष्ठीय तरंगें (Surface / Long Surface Waves) : इन्हें **L-तरंगें (L–Waves)** भी कहते हैं । धरातल पर चलने के कारण इन्हें धरातलीय तरंगें कहते है । इनका संचरण वेग सबसे कम अर्थात लगभग 3 किलोमीटर प्रति सैकेण्ड लगभग होता है। ये भूकम्प अधिकेन्द्र (Epicentre) से उत्पन्न होकर धरातल पर ही चलती हैं । ये तरंगें ऊँची – नीची पूरी सतह को पार करती है, अत: धरातल पर ये तरंगें सबसे लम्बा मार्ग तय करती हैं । इसलिये इन्हें **दीर्घपृष्ठीय तरंगें (Long Surface Waves)** भी कहते हैं । ये अत्यधिक प्रभावशाली तरंगें होती हैं । धरातल पर इनका प्रभाव काफी अधिक होता है ।

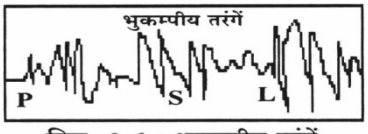

चित्र–2.6 : भूकम्पीय तरंगें

यदि भूगर्भ की संरचना एक समान होती तो भूकम्पीय तरंगों का संचरण वेग और मार्ग सभी स्थानों पर समान व सीधा होता । किन्तु इनके अध्ययन से पता चलता है कि वास्तव में ऐसा नहीं है ।

भूकम्पीय तरंगों से पृथ्वी के आन्तरिक भाग की निम्नलिखित विशेषताएँ उभरती हैं –

1. भूकम्पमूल से गहराई की ओर चलकर अधिकेन्द्र तक पहुँचने वाली तरंगें लम्बी दूरी के बावजूद अपेक्षाकृत कम समय लेती हैं । इससे सिद्ध होता है कि गहराई की ओर शैलों के घनत्व में वृद्धि होती जाती है ।
2. यदि भूगर्भ में शैल संरचना समान होती तो भूकम्पीय तरंगों का मार्ग सीधा होता । किन्तु वास्तव में भूकेन्द्र की ओर इनके मार्ग उत्तल हो जाते हैं अथवा मुड़ जाते हैं । इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि भूगर्भ में विभिन्न संरचनाओं की परतें पाई जाती हैं तथा इनमें कुछ परतें द्रव अथवा अर्द्ध–द्रव अवस्था में हो सकती हैं ।

2.2.3 उल्कापात (Meteorites)

उल्कापात से हम सभी परिचित हैं । उत्कापिण्ड (metorites) सौर्य परिवार के ही भाग हैं, जो ग्रहों की उत्पत्ति के समय अलग होकर अन्तरिक्ष में फैल गये थे । उल्काओं की रचना में

निकल और लोहा पाया जाता है । अत: सौर्य–परिवार की सदस्या पृथ्वी में भी चुम्बकत्व का गुण इसके आन्तरिक भाग में निकल –मिश्रित लोहे के कारण बताया जाता है ।

बोध प्रश्न – 1

1. भूगर्भ के विषय में अभी तक प्रामाणिक जानकारियों का अभाव क्यों है?
   .....
   .....
2. भूगर्भ की जानकारी प्रदान करने वाले आकस्मिक संचलन के स्रोत कौन से हैं?
   .....
   .....
3. कौन सी भूकम्पीय तरंगें सभी प्रकार के पदार्थों से होकर गुजर सकती हैं?
   .....
   .....
4. दीर्घ पृष्ठीय तरंगें कौन सी होती है?
   .....
   .....

2.3 आन्तरिक संरचना (Interior Structure)

विभिन्न विद्वानों ने इन तथ्यों के आधार पर पृथ्वी के आन्तरिक भाग की तीन परतें बताई हैं। इनमें स्वैस (Success), डेली (Daly), होम्स (Holmes), वान डर ग्राक्ट (Van–der–Gracht), जैफ्रीज़ (Jeffreys) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । इनमें से स्वैस का वर्गीकरण अधिक लोकप्रिय है ।

2.3.1 स्वैस का वर्गीकरण (Classification of Success)

स्वैस के अनुसार पृथ्वी की ऊपरी परत तलछट (Sediments) से निर्मित है । इसमें परतदार शैलों की अधिकता है । इसकी गहराई व घनत्व बहुत कम है । इसकी शैलों के घनत्व का औसत 2.7 है । इसके निर्माण में सिलिका, फैल्सपार तथा अभ्रक के रवेदार कणों की अधिकता होती है । इसके नीचे स्वैस ने पृथ्वी की आन्तरिक संरचना की तीन परतें मानी हैं (चित्र – 2.7) ।

1. **सियाल (Sial)** : इसकी विशिष्ट संरचना के कारण इस परत का नामकरण सियाल हुआ है। इसके निर्माण में सिलिका (Silica) व एल्यूमिनियम (Alluminium) की अधिकता होती है। अत: इस परत को (Sial) कहते हैं इस परत में शैलों का घनत्व 2.7 से 2.9 तक पाया जाता है । इस परत में ग्रेनाइट व नीस शैलों की प्रधानता होती है । इन शैलों में अम्लीय (Acidic) अंश अधिक होता है । स्वैस के अनुसार महाद्वीपों का निर्माण इन्हीं शैलों से हुआ है । इस परत की गहराई 50 से 300 किलोमीटर तक आंकी गई है ।

2. **सीमा (Sima) :** सिलिका (Silica) तथा मैगनीशियम (Magnesium) से निर्मित होने के कारण इस परत का नाम सीमा (Sima) रखा गया है । इस परत में बैसाल्ट व गैब्रो शैलों की प्रधानता पाई जाती है । इसमें शैलों का घनत्व 2.9 से 4.7 तक पाया जाता है । यह परत महाद्वीपों के निचले भाग में विस्तृत है तथा महासागरीय तली का निर्माण भी सीमा से हुआ है । स्वैस की मान्यता थी कि सियाल से निर्मित महाद्वीप सीमा पर तैर रहे हैं । ज्वालामुखी उद्गारों से । निकलने वाले लावा का स्रोत यही परत होती है ।

चित्र - 2.7 : स्वैस के अनुसार पृथ्वी की आन्तरिक परतें

3. **निफे (Nife)** : इसके निर्माण में निकिल (Nickel) तथा लोहे (Ferrous) की अधिकता होती है । इसलिये इस परत को निफे (Nife) कहा जाता है । इसकी संरचना में इन भारी खनिजों का मिश्रण पाया जाता है । अत: इसका औसत घनत्व 11 से अधिक है । लोहे की अधिकता के कारण इस परत में चुम्बकीय गुण पाया जाता है । इस परत का विस्तार दो हजार किलोमीटर से भूकेन्द्र तक है । अर्थात इस परत का व्यास चार हजार तीन सौ किलोमीटर से अधिक है । उनकी मान्यता थी कि धरातल से पृथ्वी के केन्द्र की ओर कुछ सकेन्द्रीय (Concentric) छल्ले हैं, जिनका घनत्व गहराई की ओर बढ़ता जाता है ।

2.3.2 डेली का वर्गीकरण (Classification of Daly)

डेली ने घनत्व की भिन्नता के आधार पर भूगर्भ की तीन परतें बताई हैं –

1. **बाह्य परत (Outer Zone) :** इस परत का घनत्व 3 तथा गहराई लगभग 1, 600 किलोमीटर मानी गई है । यह परत मुख्यतः सिलिकेट से निर्मित है ।
2. **मध्यवर्ती परत (Intermediate Zone) :** बाह्य परत के नीचे मध्यवर्ती परत है । इसका घनत्व 4.5 से 9 तक तथा गहराई 1,280 किलोमीटर तक मानी गई है । इसमें लौह तत्वों की प्रधानता है ।
3. **केन्द्रीय परत (Central Zone) :** मध्यवर्ती परत के नीचे केन्द्रीय परत है। इसका घनत्व 11.6 माना गया है। यह परत केन्द्र के चारों ओर 3,520 किलोमीटर के घेरे में फैली हुई है। केन्द्रीय परत को उन्होंने ठोस रूप में माना है।

2.3.3 होम्स का वर्गीकरण (Classification of Holmes)

होम्स ने भूगर्भ की दो परतें बताई (चित्र –2.8) हैं –

1. **भूपर्पटी (Crust) :** उन्होंने इसका निर्माण पूरी सियाल परत एवं सीमा के ऊपरी भाग से माना है।
2. **अधोस्तर (Substratum) :** सीमा का निचला भाग एवं निफे इस परत में सम्मिलित माना गया है।

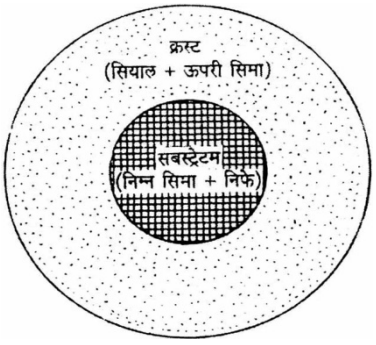

चित्र - 2.8 : होम्स के अनुसार पृथ्वी की आन्तरिक परतें

2.3.4 वान डर ग्राट का वर्गीकरण (Classification of Van–der–Gracht's)

वान डर ग्राट ने भूगर्भ की संरचना स्पष्ट करने के लिये चार परतें बताई हैं –

1. **बाह्य सियाल पर्पटी (Outer Sialic Crust) :** इसका घनत्व 2.75 से 2.9 के मध्य अनुमानित किया गया है । स्थल के नीचे इसकी गहराई 60 कि.मी. तक तथा महासागरों के नीचे 10 से 20 कि.मी. तक आंकी गई है ।
2. **आन्तरिक सिलिकेट व मैण्टल (Inner Silicate and Mantle) :** इसका घनत्व 3.0 से 4.75 तक माना गया है । इसकी गहराई 60 से 1, 140 किलोमीटर तक है ।
3. **सिलिकेट तथा मिश्रित धातु परत (Layer of Silicate and Mixed Minerals) :** इसका घनत्व 4.75 से 5.0 तक माना गया है । इसकी गहराई 1, 140 से 2, 900 किलोमीटर मानी गई है ।
4. **धात्विक नाभि (Metallic Nucleus) :** इसका घनत्व 11 माना गया है । इसकी गहराई 2, 900 किलोमीटर से भूकेन्द्र तक मानी गई है ।

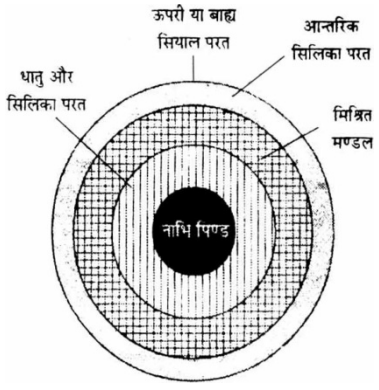

चित्र – 2.9 : वान–डर–ग्राक्ट के अनुसार पृथ्वी के आन्तरिक भाग की परतें

2.3.5 जैफ्रीज़ का वर्गीकरण (Classification of Jeffereys)

जैफ्रीज़ ने भूगर्भ की चार परतें बताई हैं –

1. **बाह्य परत (Outer Layer) :** इसका निर्माण परतदार शैलों से हुआ है ।
2. **द्वितीय परत (Second Layer)** : इसकी संरचना में मुख्यतः ग्रेनाइट का योगदान है।
3. **मध्यवर्ती परत (Intermediate Layer)** : इसकी संरचना में डायोराइट / थैचीलाइट की प्रधानता है ।
4. **निचली परत (Lower Layer) :** इसकी संरचना में उन्होंने पैरीडोटाइट, इ्यूनाइट, इक्लोजाइट आदि की प्रधानता मानी है ।

2.4 नवीन मान्यता (Modern Concepts)

भूकम्पीय तरंगों की गति तथा उनके मार्ग के वैज्ञानिक अध्ययन एवं विश्लेषण के आधार पर पृथ्वी की आन्तरिक संरचना को तीन वृहत् मण्डलों – क्रस्ट, मैण्टल तथा भूक्रोड़ में बाँटा गया है । भूकम्पीय तरंगों की गति में अन्तर के आधार पर इन तीन मण्डलों के उपविभाजन भी किये गये है –

1. **भूपर्पटी (Crust) :** पृथ्वी की बाह्य परत भूपर्पटी कहलाती है । इसकी गहराई महाद्वीपों के नीचे 50 कि.मी. तथा महासागरों के नीचे 5 कि.मी. मानी गई है । भूकम्पीय तरंगों की गति में अन्तर के आधार पर इसे दो उपभागों में विभक्त किया जाता है ।
   - (**अ**) **ऊपरी पर्पटी (Upper Crust)**: इसका घनत्व 2.8 है एवं इसका निर्माण ग्रेनाइट चट्टानों से हुआ है । इसमें P– तरंगों की गति 6 कि.मी. प्रति सैकेण्ड होती है । पर्वतीय क्षेत्रों में ग्रेनाइट की परत का अस्तित्व काफी गहराई तक होता है जबकि महासागरों में यह तली के निकट तक ही सीमित रहती है ।
   - (**ब**) **निचली पर्पटी (Lower Crust)**: इसका घनत्व 3.0 है । इस परत में P – तरंगों की गति 6.9 किमी. प्रति सैकेण्ड रहती है । महासागरीय बेसिनों का निर्माण बैसाल्टिक शैलों से हुआ है जो मोहोरोविसिक असांतत्य तक विस्तृत है ।

2. मैण्टल (Mantle) : भूपर्पटी के निचले आधार पर भूकम्पीय लहरों की गति में अचानक वृद्धि हो जाती है । अत: भूपर्पटी के निचले भाग तथा ऊपरी मैण्टल के मध्य एक असम्बद्धता उत्पन्न हो जाती है । मोहोरोविसिक महोदय ने 1909 में इस असम्बद्धता की खोज की । अत: इसे मोहोरोविसिक असम्बद्धता या मोहो – असम्बद्धता / असांतत्य कहते हैं। भूकम्पीय तरंगों की गति के आधार पर इसको दो उपभागों में बांटा गया है –

(अ) ऊपरी मैण्टल (Upper Mantle): पर्पटी के निचले भाग एव ऊपरी मैण्टल के मध्य मोहो–असम्बद्धता क्षेत्र से इसकी गहराई 1000 कि.मी. तक है । इसमें 100 से 200 कि.मी. की गहराई में भूकम्पीय लहरों की गति थोड़ी मन्द हो जाती है । इसीलिये इसे निम्न गति का मण्डल (Zone of low Velocity) भी कहते हैं । भूकम्पीय लहरों के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि अधिकांश भूकम्पों की उत्पत्ति मैण्टल में लगभग 650 कि.मी. की गहराई पर होती है ।

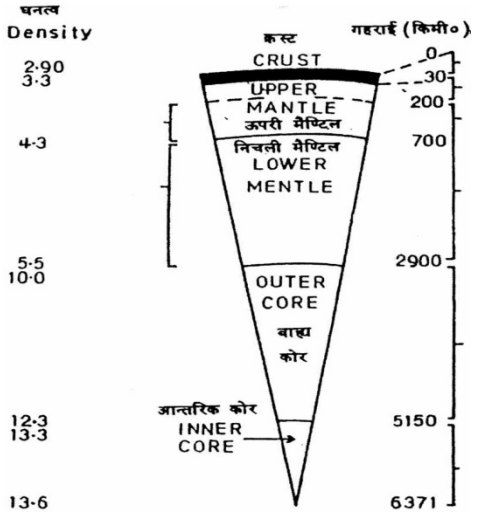

चित्र - 2. 10 : 1International Union of Geodesy and Geophysics के शोध विवरणों के आधार पर पृथ्वी के आन्तरिक भाग के विभिन्न मण्डलों, उनकी गहराई तथा घनत्व का आरेख द्वारा प्रदर्शन ।

(ब) निम्न मैण्टल (Lower Mantle): इसकी मोटाई 1900 कि.मी. मानी जाती है । दूसरे शब्दों में मोहो – असम्बद्धता से 1000 से 2900 कि.मी. की गहराई तक यह विद्यमान है । इसका घनत्व 4.5 से 8.0 के मध्य है । इस भाग में S– तरंगों के व्यवहार से इसका ठोस अवस्था में होना प्रमाणित होता है ।

3. भूक्रोड़ (Core) : इसका विस्तार पृथ्वी की सतह से 2900 कि.मी. नीचे से लेकर भूकेन्द्र तक है । इस परत की मोटाई 3471 कि.मी. है । इसका घनत्व 8 से 11 के मध्य पाया जाता है । यहाँ P– तरंगों की गति 13.6 कि.मी. प्रति सैकेण्ड तक हो जाती है । भूकम्पीय तरंगों के व्यवहार में अचानक परिवर्तन होने से निष्कर्ष निकाला जाता है कि भूक्रोड़ के दो उपभाग हैं –

(अ) बाह्य भूक्रोड़ (Outer Core): इसका विस्तार 2900 कि.मी. की गहराई से 5150 कि.मी. की गहराई तक है । इसमें P– तरंगें प्रवेश नहीं कर पाती हैं । इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि यह परत तरल अवस्था में होनी चाहिये ।

(ब) आन्तरिक भूक्रोड़ (Inner Core): इसकी मोटाई 1221 कि.मी. है अर्थात यह परत 5150 से 6371 कि.मी. की गहराई तक विस्तृत है । इसमें P–तरंगों की गति पुन: तेज हो जाती है जिससे यह निष्कर्ष निकालता है कि यह परत ठोस अवस्था में है ।

बोध प्रश्न – 2

1. स्वैस ने सियाल परत का नामकरण कैसे किया?
   .....
   .....
2. डेली ने किस परत को सिलिकेट से निर्मित माना?
   .....
   .....
4. होम्स ने भूगर्भ को किन परतों में विभाजित किया?
   .....
   .....
4. मोहोअसांतत्य की खोज किस आधार पर हुई?
   .....
   .....

2.5 सारांश (Summary)

1. प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण से परे होने के कारण पृथ्वी की आन्तरिक संरचना की सीमित जानकारी ।
2. आन्तरिक संरचना के विषय में जानकारी हेतु जुटाये गये स्रोत – (अ) निहित स्रोत – तापमान, घनत्व, दबाव (ब) आकस्मिक संचलन–ज्वालामुखी क्रियाएं ,भूकम्पविज्ञान (स) उल्कापात ।
3. स्वैस का वर्गीकरण – (अ) ऊपरी परत–परतदार शैल, घनत्व 2.7 (ब) सियाल, सिलिका व एल्यूमिनियम निर्मित, अम्लीय, ग्रेनाइट व नीस शैलें, घनत्व 2.75 से 2.9, गहराई 50 से 300 किलोमीटर (स) सीमा–सिलिका व मैग्नीशियम निर्मित, बैसाल्ट व गैब्रो शैलें, घनत्व 2.9 से 4.7 गहराई 1000 से 2000 किलोमीटर (द) निफे – केन्द्रीय परत, निकल व लौह निर्मित, चुम्बकीय, घनत्व 11 से अधिक, गहराई 2000 किलोमीटर से भूकेन्द्र तक ।
4. डेली ने तीन, होम्स ने दो, वान डर ग्राट ने चार, जैफ़ीज़ ने चार परतों में भूगर्भ की संरचना का वर्णन भिन्न – भिन्न नामों के अन्तर्गत किया ।
5. नवीनतम मान्यता के अनुसार पृथ्वी के आन्तरिक भाग का वर्गीकरण भूपर्पटी, मैण्टल व भूक्रोड़ के रूप में भी किया जाता है ।

2.6 शब्दावली (Glossary)

- **भूकम्प मूल :** भूगर्भ में जिस स्थान पर भूकम्प की उत्पत्ति होती है ।
- **अधिकेन्द्र :**भूकम्प मूल के निकटस्थ एवं ठीक ऊपर धरातल पर स्थित स्थान ।
- **मोहोअसांतत्य :** पर्पटी के निचले भाग तथा मैण्टल के ऊपरी भाग की सीमा पर असम्बद्धता का तल या रेखा।

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference Book)

1. Strahler A.N: Introduction to Physical Geography, John Wiley & Sons New York, 1992.

2. Holmes, Arthur: Principles if Physical Geology, Thomas Nelson & Sons, New York, 1986.

3. मामोरिया व जोशी : भौतिक भूगोल, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2007.

4. Steers, J.A.: Unstable Earth, Cambridge Uni, Press, London, 1989.

5. Hussain, Majid: Fundamentals of Physical geography, Rawat Publication, Jaipur, 2004.

6. सिंह, सविन्द्र. भूआकृति विज्ञान, वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर, 2007

7. भल्ला व अग्निहोत्री : भौतिक भूगोल, कुलदीप पब्लिकेशन्स, जयपुर

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1. भूगर्भ के अगोचर होने के कारण
2. ज्वालामुखी क्रिया व भूकम्प विज्ञान
3. P– तरंगें
4. L– तरंगें

बोध प्रश्न – 2

1. सिलिका व एल्यूमिनियम की प्रधानता के कारण
2. बाह्य परत को
3. भूपर्पटी व अधोस्तर
4. इस सीमा पर भूकम्पीय तरंगों में अचानक व्यवहार परिवर्तन के कारण ।

2.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के विषय में घनत्व व तापमान के आधार पर क्या जानकारी मिलती है?
2. पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के स्रोतों का वर्णन कीजिये ।
3. पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के विषय में स्वैस का वर्गीकरण दीजिये ।

4. पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के विषय में नवीन जानकारियों पर आधारित वर्गीकरण दीजिये।

इकाई 3 : भूसन्तुलन (Isostasy)

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 भूसन्तुलन संकल्पना का प्रादुर्भाव
3.3 प्रमुख पीरभाषाऐं
3.4 भूसन्तुलन से सम्बन्धित विभिन्न मत
3.5 भूसन्तुलन एक सतत प्रक्रिया
3.6 सारांश
3.7 शब्दावली
3.8 संदर्भ ग्रन्थ
3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर
3.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

3.0 उद्देश्य (Objective)

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ सकेंगे –

भूसन्तुलन का अर्थ एवं इस संकल्पना का प्रादुर्भाव,

- विभिन्न स्थलाकृतियों के घनत्व की भिन्नता,
- गुरुत्व विसंगति,
- स्थलाकृतियों के घनत्व एवं उनकी ऊँचाई–नीचाई में सम्बन्ध,
- स्थलाकृतियों के नीचे भूगर्भ में उनकी गहराई के सन्दर्भ में भिन्न पीरकल्पनाएँ,
- क्षतिपूर्ति तल की संकल्पना
- भूसन्तुलन की व्यावहारिकता ।

3.1 प्रस्तावना (Introduction)

धरातल पर फैली हुई अनेकों स्थलाकृतियाँ जैसे पर्वत, पठार, मैदान, घाटियाँ, महासागरीय तली के विभिन्न स्वरूप आदि में अन्तर्जात एवं बाह्यजात बलों के प्रभाव से निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। फिर भी ये स्थलाकृतियाँ न केवल भूतल पर स्थिर हैं बल्कि संतुलित भी हैं । विद्वानों ने इस स्थिति को भू–सन्तुलन या समस्थिति (Isostasy) का नाम दिया है । परिभ्रमण व परिक्रमण करती हुई पृथ्वी पर स्थित उच्च व निम्न क्षेत्रों (पर्वत, पठार, मैदान, झील, महासागरीय गर्त आदि) के बीच भौतिक अथवा यान्त्रिक स्थिरता की दशा को भू–सन्तुलन अथवा समस्थिति कहते हैं ।

3.2 भूसन्तुलन संकल्पना का प्रादुर्भाव (Beginning of the Concept of Isostasy)

भूसन्तुलन का विचार विद्वानों के मस्तिष्क में उस समय आया जब सर्वप्रथम 1735–45 की अवधि में फ़्रान्सीसी विद्वान पियरे बुगैर (Pierre Buguer) ने एण्डीज पर्वत की चिम्बरैज़ो चोटी के उत्तर व दक्षिण दोनों ओर भूसर्वेक्षण किया तथा उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन्होंने पाया कि एण्डीज की चिम्बरैज़ो चोटी साहुल को उम्मीद से बहुत कम मात्रा में आकर्षित कर रही है । काफी विचार के बाद उनका मत बना कि एण्डीज पर्वतों का गुरुत्वाकर्षण इन पर्वतों के द्वारा प्रदर्शित पिण्ड की अपेक्षा काफी कम है । पियरे बुगैर के इस मत से ही भूसन्तुलन संकल्पना का प्रतिपादन हुआ । ऐसी ही विसंगतियाँ विश्व के अन्य भागों में भी सर्वेक्षणों से प्राप्त हो रही थी । लगभग एक शताब्दी बाद 1859 में गंगा–सिन्ध के मैदान में हिमालय के पास अक्षांशों का निर्धारण करते समय सर्वेयर जनरल सर जॉर्ज एवरेस्ट के सामने भी ऐसी ही गुरुत्व की विसंगति की समस्या आई । पुनः सर 1859 में हिमालय के दक्षिण में गंगा–सिन्ध के मैदान में स्थित कल्याण व कल्याणपुर नामक दो स्थानों का प्राट के निर्देशन में भूगणितीय सर्वेक्षण किया जा रहा था । कल्याण हिमालय के निकट (96 कि.मी.) स्थित है तथा कल्याणपुर, कल्याण से दक्षिण में 599 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है (चित्र– 3.1) । इन दोनों स्थानों के अक्षांशीय अन्तर निर्धारण हेतु त्रिभुजीकरण एवं खगोलीय विधियों द्वारा किये गये माप के निम्न परिणाम प्राप्त हुए –

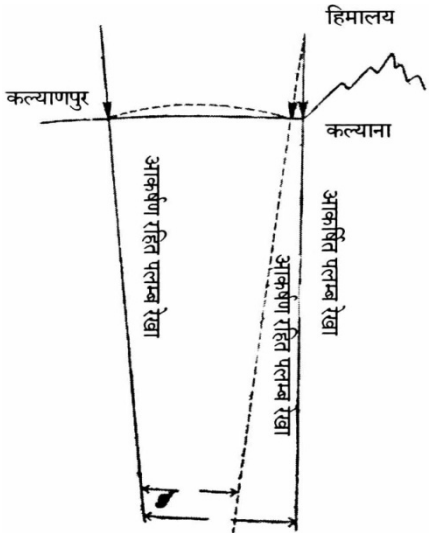

चित्र - 3.1 : प्लम्ब रेखा का आकर्षण

त्रिभुजीकरण विधि द्वारा	5^0 23' 42.294''
खगोलीय विधि द्वारा	5^0 23' 37.58''
अन्तर	5.236''

जब प्राट ने हिमालय की निकटता के कारण साहुल रेखा पर उसके आकर्षण गणना शैलों के औसत घनत्व 2.7 के बराबर मानकर दुबारा की तो कल्याण व कल्याणपुर के मध्य का अन्तर

15.885 " आया । यह माप (15.885") इस आधार पर प्राप्त हुआ कि हिमालय की उच्च श्रेणियों में संग्रहीत अतिरिक्त पदार्थ साहुल रेखा पर अतिरिक्त गुरुत्वाकर्षण प्रभाव डाल रहा होगा । किन्तु प्राप्त परिणामों से यह स्पष्ट हो गया कि हिमालय में संग्रहीत यह अतिरिक्त सामग्री आशानुकूल गुरुत्वाकर्षण प्रभाव नहीं डाल रही है । तभी तो प्राप्त अन्तर केवल 5.236" ही था, जबकि 15.885" होना चाहिये था । इससे यह स्पष्ट हो गया कि साहुल रेखा का कम झुकाव हिमालय में आकर्षण की कमी के कारण था । इस विसंगति के समाधान हेतु दो विकल्प उभरकर आये –

(i) हिमालय पर्वत की शैलों का घनत्व उतना (2.7) नहीं है जितना माना गया ।

(ii) हिमालय पर्वत में संग्रहीत अतिरिक्त पदार्थ का सन्तुलन उसके नीचे कम घनत्व वाले पदार्थ से होता है। इस प्रकार (i) प्रथम विकल्प से प्रेरित होकर कुछ विद्वानों का यह मत बना कि हिमालय पर्वत अंशतः अथवा पूर्णतः : खोखले हैं । इस कारण पर्वतों का भार व घनत्व कम होता है । लेकिन यह सुझाव अधिक समय तक मान्य नहीं रहा । (ii) दूसरे विकल्प के सन्दर्भ में निष्कर्ष निकालते हुए यह माना गया कि पृथ्वी के आन्तरिक भाग में एक ऐसा क्षतिपूर्ति तल है जिसके नीचे घनत्व समान रहता है । केवल इस तल के ऊपर ही अन्तर पाया जाता है । अत: इस तल के सहारे समस्त भूस्वरूप बराबर भार रखते हैं । परिणामस्वरूप यह अवधारणा बनी कि जितनी ही छोटी स्थलाकृति होगी, उतना ही घनत्व अधिक होगा तथा जितनी ही बड़ी स्थलाकृति होगी, घनत्व उतना ही कम होगा । इस प्रकार ऊँचाई व चट्टानों के घनत्व में ऋणात्मक सहसम्बन्ध माना गया । धरातल के सभी स्थलाकृतिक स्तम्भ भूगर्भ में किसी गहराई पर समान दबाव डालते हैं, जिसे क्षतिपूर्ति तल कहा गया । इसी व्यवस्था के कारण गतिशील पृथ्वी पर विभिन्न स्थलाकृतियों के मध्य 'भूसन्तुलन ' की स्थिति बनी रहती है । इस विचारधारा के अन्तर्गत भूसन्तुलन को परिभाषित करने एवं विभिन्न अवधारणाएँ विकसित करने को प्रोत्साहित किया ।

3.3 प्रमुख परिभाषाऐं (Main Definitions)

'भूसन्तुलन'' के अंग्रेजी रूपान्तरण Isostasy शब्द की उत्पत्ति यूनानी भाषा के **आइसो (Iso)** और **स्टैसिओस (Stasios)** से मिलकर बना है । **आइसोस्टैसिओस (Isostasios)** से अभिप्राय समान खड़ा होना या **समस्थिति (Equal Standing or Eqipoise)** है । इस शब्द का उपयोग सर्वप्रथम सन् 1889 में अमेरिका के भूगर्भशास्री डी. ए. डटन (D.A. Dutton) ने किया।

डटन महोदय ने बताया कि पृथ्वी तल के विभिन्न स्थलाकृत्तियों के नीचे पाये जाने वाले पदार्थ का भार समान होगा। उनका मत था कि ऊँचे उठे हुए भागों का घनत्व कम तथा निचले भागों का घनत्व अधिक होता है । इसी कारण सभी भू–आकारों का भार अधःस्तर में एक रेखा पर

समान होता है । इस समभार तल को उन्होंने **'समदाबतल '(Level of uniform Pressure)** या **'सन्तुलन तल' (Isostatic)** या **'क्षतिपूर्ति तल' (Level of compensation)** कहा ।

आर्थर होम्स ने स्पष्ट किया कि " धरातल पर पाये जाने वाले विभिन्न स्थलाकृतिक स्तम्भों यथा पर्वत, पठार, मैदान के मध्य पाई जाने वाली सन्तुलित स्थिति को भूसन्तुलन कहते है । जे .ए. स्टीयर्स ने इसे पीरभाषित करते हुए लिखा है कि "धरातल जहाँ कहीं भी सन्तुलित है, वहाँ समान धरातल के नीचे समान भार होता है ।

3.4 भूसन्तुलन से सम्बन्धित विभिन्न मत (Various Views about Isostasy)

प्राट का मत (Pratt's View)

प्राट ने कल्याण व कल्याणपुर के अक्षांशों के निर्धारण हेतु भूज्यॉमितीय (Geodetic survey) सर्वेक्षण के दौरान गुरुत्व के प्रेक्षित और अवकलित (Anomaly in observed and calculated values of gravity) मानों में पाई गई विसंगति की समस्या का निराकरण करने हेतु अपने विचार प्रस्तुत किये । उनका मत था कि भू पटल के सभी भू–भाग समान घनत्व वाले नहीं हैं । पर्वतों का घनत्व पठारों से कम, पठारों का मैदानों से कम तथा मैदानों का घनत्व सागरीय तली से कम होता है । इससे यह तात्पर्य है कि ऊँचे भूखण्डों का घनत्व कम और निचले भूखण्डों का घनत्व अधिक होता है । अर्थात ऊँचाई तथा घनत्व में विपरीत या नकारात्मक सहसम्बन्ध होता है । प्राट ने अपने विचारों को अधिक स्पष्ट करते हुए बताया कि क्षतिपूर्ति तल (Level of compensation) के ऊपर विभिन्न

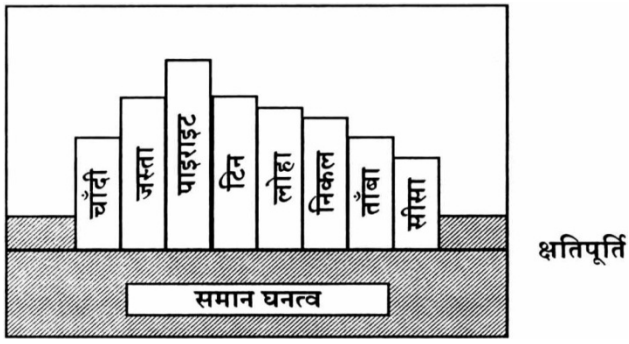

चित्र - 3.2 : प्राट के अनुसार भूसन्तुलन की स्थिति

भूखण्डों की शैलों के घनत्व में भिन्नता होती है जबकि इसके नीचे समान घनत्व रहता है । इस प्रकार प्राट का मत **समान गहराई किन्तु विभिन्न घनत्व वाले स्तम्भ** (Columns of uniform depth with varying density) पर केन्द्रित रहा । प्राट ने अपने विचारों की पुष्टि हेतु एक प्रयोग किया । विभिन्न आकार व घनत्व की धातुओं के समान भार वाले टुकड़ों को पारे के बर्तन में तैराने पर पाया कि ये सभी टुकड़े समान गहराई तक पारे में डूबे हुए हैं किन्तु घनत्व की भिन्नता के कारण ये टुकड़े पारे की सतह से विभिन्न ऊँचाइयों पर निकले हुए हैं ।

कम घनत्व वाली धातु के टुकड़े अधिक ऊँचाई तक व अधिक घनत्व वाली धातु के टुकड़े कम ऊँचाई तक उभरे हुए थे । इसी प्रकार विभिन्न घनत्व वाले पर्वत, पठार, मैदान आदि भूभाग अधःस्तर (Substratum) में समान गहराई तक धंसे हुए हैं तथा क्षतिपूर्ति तल पर समान भार रखते हैं । इसके नीचे सभी भूभागों का घनत्व समान होता है । इसे चित्र संख्या 3.2 में दर्शाया गया है ।

सर जॉर्ज एयरी का मत (Sir George Airy's view)

एयरी का मत आर्कमिडीज के तैरने के सिद्धान्त पर आधारित था । आर्कमिडीज के सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओं के घनत्व व आयतन परस्पर सम्बन्धित होते हैं । जो पदार्थ किसी द्रव में जितना डूबा होता है, वह अपने आयतन के अनुपात में उतना ही द्रव हटा देता है । इसे स्पष्ट करने के लिये उन्होंने एक हिमखण्ड (Iceberg) का उदाहरण दिया । बर्फ का घनत्व 0.9 होता है । अत : पानी पर तैरते समय हिमखण्ड का 1/9 भाग पानी के ऊपर रहता है । और 8/9 भाग पानी में डूबा रहता है । उनके मतानुसार ऐसे ही स्थल के उठे हुए भूभाग अपनी ऊँचाई की अपेक्षा नौ गुना अधः स्तर में डूबे होने चाहिये । इस प्रकार यारी ने हिमालय के कम आकर्षण का समाधान प्रस्तुत किया कि उसके नीचे पदार्थों का घनत्व अधिक न होने के कारण हिमालय अपेक्षित गुरुत्वाकर्षण प्रभाव नहीं डाल सका । एयरी ने अपनी संकल्पना को एक प्रयोग के द्वारा समझाने का प्रयास किया । उन्होंने समान घनत्व किन्तु विभिन्न ऊँचाई वाले तांबे के टुकड़ों को पारे भरे बेसिन में डुबो दिया । ये टुकड़े आकार व आयतन की असमानता के कारण भिन्न –भिन्न गहराई तक डूब गये । जो टुकड़े अधिक ऊँचे थे वे अधिकतम गहराई तक धंसे और जो टुकड़े कम ऊँचे थे वे कम गहराई तक पारे में धंसे । उसने लकड़ी के विभिन्न आकार के टुकड़ों को लेकर भी अपने मत की पुष्टि की । इस प्रकार एयरी ने निष्कर्ष निकाला कि विभिन्न भू–स्तम्भों का घनत्व समान होता है, किन्तु धरातल पर तथा अध:स्तर में क्रमशः उनकी ऊँचाई व गहराई भिन्न–भिन्न होती है । इस तथ्य के सन्दर्भ में उनका मत 'समान **घनत्व किन्तु भिन्न गहराई वाले स्तम्भ'** (Columns of uniform density with varying depth) पर केन्द्रित था (चित्र - 3.3) । उनके मतानुसार पर्वत काफी गहराई तक अपनी लम्बी जड़ से अधःस्तर के अधिक घनत्व वाले भाग को हटा (Displace) देते हैं । परिणामस्वरूप ऊँचे उठे भू–भागों के नीचे काफी गहराई तक हल्के पदार्थों का विस्तार होता है । पठार की जड़ पर्वतों की तुलना में कम गहरी होती है, मैदानों की उससे कम, सागरीय तली की सबसे कम गहरी होती है । अत: ऊँचे उठे भाग तथा निचले भाग एक साथ सन्तुलित होकर सन्तुलन तल (Line of Equilibrium) समान भार डालते हैं ।

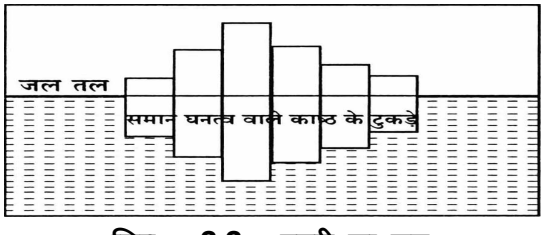

चित्र – 3.3 : एयरी का मत

किन्तु आलोचक भूगर्भशास्त्रियों की धारणा है कि यदि एयरी के मत को सही मान लिया जाये तो हिमालय पर्वत की जड़ें लगभग 8848 x 9 x 79,632 मीटर गहरी होनी चाहिये। जबकि धरातल से प्रति 32 मीटर की गहराई पर 1^0सेल्शियस तापमान बढ़ जाता है। इस दर के अनुसार उस गहराई पर धरातलीय तापमान से 27000^0 सेल्शियस तापमान अधिक होगा। आलोचकों के अनुसार इस तापमान पर कम घनत्व वाली शैलें ठोस अवस्था में नहीं रह सकती। इस आधार पर एयरी का सिद्धान्त भ्रामक प्रतीत होता है।

एयरी और प्राट के विचारों की तुलना (Comparison of Airy and Pratt's Views)

1. प्राट ने विभिन्न भू–भागों जैसे पर्वत, पठार, मैदान, सागरीय तली आदि का घनत्व भिन्न–भिन्न माना है, जबकि एयरी इन्हें समान घनत्व वाला मानता है।
2. प्राट के अनुसार विभिन्न भू–भाग समान गहराई (क्षतिपूर्ति तल) तक जाते हैं जबकि एयरी के अनुसार भू–भागों की जड़ें शैलों के घनत्व के अनुसार विभिन्न गहराई तक जाती हैं।

बोध प्रश्न – 1

1. Isostasy शब्द की उत्पत्ति किस भाषा के किस शब्द से हुई?

   .....

   .....

3. भूसन्तुलन किसे कहते है?

   .....

   .....

4. प्राट के मत की केन्द्रीय संकल्पना क्या है?

   .....

   .....

5. एयरी के मत की केन्द्रीय संकल्पना क्या है?

   .....

   .....

हेफोर्ड तथा बोवी के मत (Views of Hayford and Bowie)

अमरीकी विद्वानों हेफोर्ड तथा बोवी के मत प्राट के विचारों से समानता रखते हैं । हेफोर्ड के अनुसार विभिन्न भू–भागों का घनत्व उनकी ऊँचाई के अनुसार भिन्न–भिन्न होता है । उन्होंने बताया कि अधोस्तर में लगभग 100 कि.मी. की गहराई पर क्षतिपूर्ति तल पाया जाता है जहाँ गुरुत्व विसंगति नहीं पायी जाती है । इस तल के ऊपर घनत्व में अन्तर पाया जाता है तथा नीचे की तरफ घनत्व समान रहता है । इस तल के ऊपर कम घनत्व वाले भूखण्डों की ऊँचाई अधिक तथा अधिक घनत्व वाले भूखण्डों की ऊँचाई कम रहती है । इस तथ्य को चित्र– 3.4 से स्पष्ट किया गया है ।

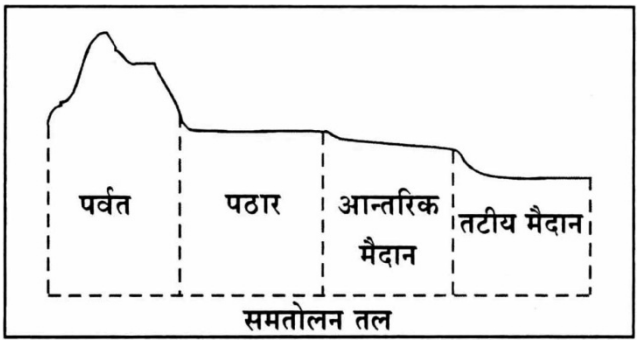

चित्र– 3.4 : विभिन्न भूखण्डों का क्षतिपूर्ति तल पर समभार

स्पष्ट है कि जो भूखण्ड/भूस्तम्भ ऊँचे हैं वे हल्के पदार्थों से बने हैं तथा जो भूखण्ड नीचे हैं वे अपेक्षाकृत भारी पदार्थों से बने हैं । इस व्यवस्था से सभी भू–स्तम्भों का भार समतोल तल पर समान रहता है ।

इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिये बोवी ने एक प्रयोग किया । उन्होंने विभिन्न धातुओं जैसे लोहा, तांबा, सीसा, जस्ता, टिन, चांदी, पाइराइट तथा निकिल के बराबर मोटाई तथा असमान लम्बाई के आठ टुकड़े लिए । उन्हें पारे से भरे बर्तन में तैराने पर सभी टुकड़ों का निचला तल समान था जबकि पारे के ऊपर उन टुकड़ों के घनत्व की भिन्नता के कारण ऊँचाईयाँ भिन्न – भिन्न थी । इस प्रकार इस प्रयोग से उन्होंने स्पष्ट किया कि समान क्षेत्रफल के नीचे समान भार होता है (Equal mass under equal surface area) । इस प्रयोग से यह सिद्ध किया गया कि विभिन्न आयतन और विभिन्न घनत्व वाले स्तम्भ क्षतिपूर्ति तल पर एक दूसरे से संतुलित रहकर स्थिर अवस्था में रहते हैं (चित्र 3.5) ।

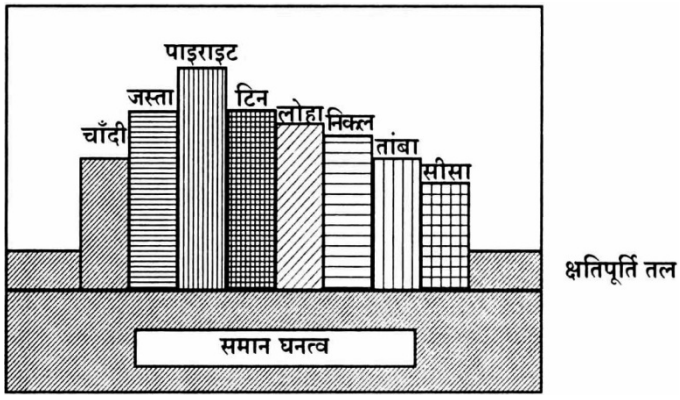

चित्र – 3.5 : बोवी का प्रयोग

हेफोर्ड व बोवी के मतों की भी निम्नानुसार आलोचना की गई

1. उन्होंने क्षतिपूर्ति तल की गहराई 100 किलोमीटर मानी थी । इतनी गहराई पर भूखण्डों की जड़ें अपनी मूलावस्था में विद्यमान नहीं रह सकती क्योंकि पृथ्वी के आन्तरिक भाग में गहराई के साथ ताप में वृद्धि होती जाती है । अत: 100 किलोमीटर की गहराई पर पाये जाने वाले उच्च तापमान की परिस्थितियों में शैलों का ठोस अवस्था में रहना सम्भव नहीं है ।

2. हेफोर्ड व बोवी के अनुसार सभी भूस्तम्भ उर्ध्वाधर अवस्था में हैं, जबकि शैलों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि इनमें क्षैतिज स्तरीकरण पाया जाता है ।

जोली का मत (Joly's View)

जोली ने हेफोर्ड व बोवी के क्षतिपूर्ति तल की अवधारणा का खण्डन करते हुए बताया कि यह तल एक रेखा न होकर लगभग 16 कि.मी. मोटी परत है । इसे उन्होंने क्षतिपूर्ति कटिबन्ध (Zone of Compensation) कहा । इस परत में विभिन्न घनत्व वाले भू–स्तम्भों का निचला तल एक समान न होकर भिन्न–भिन्न होता है । उनकी मान्यता थी कि सियाल रूपी महाद्वीप तथा उसके विभिन्न भू– स्तम्भ इस परत में जलीय सन्तुलन (Hydrostatic equilibrium) बनाये हुए तैर रहे हैं । इस प्रकार जौली ने तैरने के सिद्धान्त (Low of floatation) के आधार पर समतोलन मत की व्याख्या की । उन्होंने बताया कि जब कोई वस्तु पानी पर तैरती है तो वह अपने भार के बराबर पानी को हटा देती है । इस प्रकार जौली व एयरी के मतों में समानता पाई जाती है ।

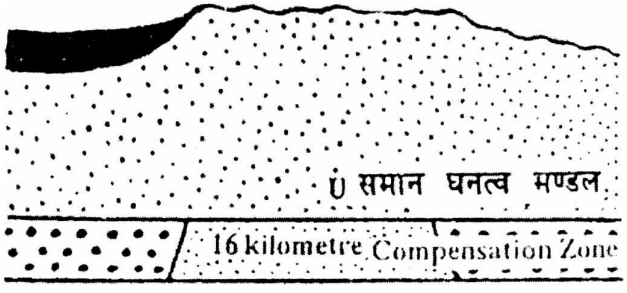

चित्र – 3.6 : सन्तुलन की स्थिति (क्षति–पूर्ति मण्डल) जौली के आधार पर

आर्थर होम्स का मत (Views of Arthur Holmes)

एयरी के समान ही होम्स का भी यह मत था कि ऊँचे उठे हुए भू–भाग न केवल हल्के पदार्थों से निर्मित हैं बल्कि अपने सन्तुलन को बनाये रखने के लिये इनका अधिकांश भाग अधोस्तर में गहराई तक डूबा रहता है । होम्स ने भूकम्पीय तरंगों के प्रमाणों के आधार पर पृथ्वी की संरचना कई परतों से

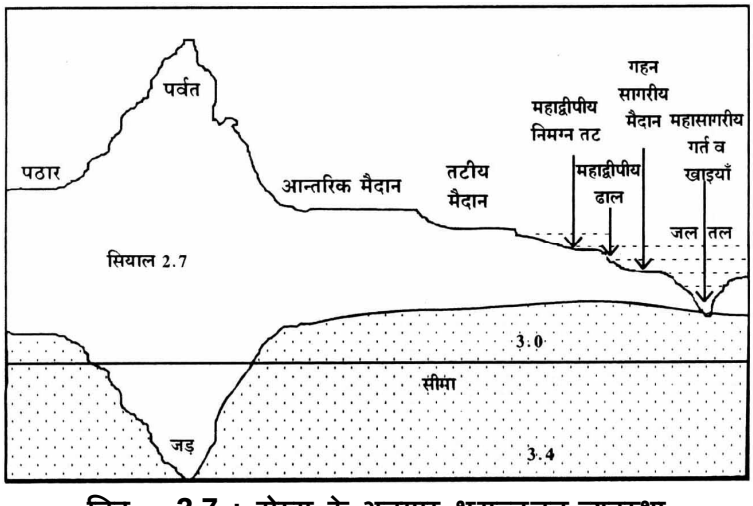

चित्र – 3.7 : होम्स के अनुसार भूसन्तुलन व्यवस्था

निर्मित बताते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि ऊँचे उठे हुए भू–भाग कम घनत्व वाली शैलों से निर्मित हैं । इसलिये पर्वतों के नीचे सियाल की परत 40 कि.मी. या अधिक गहरी होती है, जबकि मैदानों के नीचे 1० या 12 कि.मी. तथा सागरीय तलों के नीचे सियाल की परत बहुत पतली अथवा अनुपस्थित होती है । इस प्रकार होम्स का यह स्पष्ट मत रहा कि जो भू–भाग ऊँचे उठे हुए हैं, उनकी स्थिरता व सन्तुलन के लिये उनके नीचे अधिक गहराई तक कम घनत्व वाला पदार्थ पाया जाता है तथा निम्न भू –भागों के नीचे अधिक घनत्व वाला पदार्थ पाया जाता है । इस तथ्य को उन्होंने चित्र 3.7 के अनुसार स्पष्ट किया था ।

बोध प्रश्न - 2

1. प्राट व एयरी के मतों में दो अन्तर बताइये ।

   .....

   .....

2. प्राट व एयरी के समान मत व्यक्त करने वाले एक –एक विद्वानो के नाम बताइये।

   प्राट.....एयरी.....

3. जलीय सन्तुलन से क्या तात्पर्य है?

   .....

   .....

4. किस विद्वान ने क्षतिपूर्ति तल को रेखा न मानकर एक परत के रूप में माना है ।

   .....

   .....

3.5 भूसन्तुलन: एक सतत प्रक्रिया (Isostasy: A Continuous Process)

भूसन्तुलन एक आकस्मिक प्रक्रिया न होकर एक सतत प्रक्रिया है । इसका प्रमुख कारण यह है कि पृथ्वी पर सदैव परिवर्तनकारी शक्तियाँ क्रियाशील रहती हैं । इनके कारण असन्तुलन उत्पन्न होता रहता है । इसके प्रभाव को शून्य करने के लिये भूसन्तुलन की प्रक्रिया भी सदैव चलती रहती है ।

पृथ्वी पर सदैव दीर्घकालीन एवं आकस्मिक (अल्पकालिक) भूगर्भिक घटनाएँ होती रहती हैं । इनके फलस्वरूप महाद्वीप, महासागर, द्वीप, पर्वत, पठार, मैदान, घाटियाँ आदि जैसे प्रथम व द्वितीय श्रेणी की स्थलाकृतियाँ बनती रहती हैं, भूकम्प व ज्वालामुखी की घटनाएँ भी होती रहती हैं । इन सभी स्थलाकृतियों पर अनावृतीकरण की शक्तियाँ निरन्तर क्रियाशील रहती हैं, जिससे तृतीय श्रेणी के भू–आकार बनते रहते हैं । अपरदनकारी साधन अरबों टन तलछट काटकर अन्यत्र निक्षेप करते रहते हैं । इस सम्पूर्ण घटनाक्रम में कहीं भार कम होता रहता है तथा कहीं भार बढ़ता रहता है । इस प्रकार से उत्पन्न असन्तुलन की स्थिति का भूसन्तुलन

समायोजन (Isostatic adjustment) भी निरन्तर चलता रहता है, इसी प्रक्रिया में हिमालय की ऊँचाई अब भी धीरे –धीरे बढ़ रही है । कभी –कभी अन्य पर्यावरणीय शक्तियाँ भी भूसन्तुलन की व्यवस्था को अव्यवस्थित कर देती हैं । उदाहरण के लिए प्लीस्टोसीन युग में महाद्वीपीय हिमानीकरण (Continental glaciation) के कारण यूरेशिया तथा उत्तरी अमेरिका का अधिकांश भाग हिमाच्छादित हो गया था । हिम चादर के भार के कारण इन क्षेत्रों का अधिकांश भाग नीचे धसक गया था । परन्तु हिमयुग समाप्त होने के साथ ही हिम का बढ़ा भार पुन: कम होने लगा । अत: पुन: भूसन्तुलन समायोजन हेतु स्कैन्डेनेविया तथा फिनलैण्ड का अधिकांश भाग 300 मीटर तक ऊँचा उठ गया है तथा प्रति वर्ष अब भी धीरे–धीरे ऊँचा उठ रहा है । ग्रेट ब्रिटेन तथा स्कैण्डेनेविया के उभरे हुए बीच (Raised beaches) भी इसके प्रमाण हैं । इसी प्रकार बोथनिया की खाड़ी का प्रदेश भी हिमयुग के हिमाभार से मुक्त होने के फलस्वरूप ऊपर उठ रहा है । वर्तमान में ग्रीनलैण्ड और अण्टार्कटिका महाद्वीप हिमावरण का भार वहन किये हुए हैं । अत: वे इस बोझ से नीचे धँस रहे हैं । ऐसे ही मिसिसिपी नदी के मुहाने के निकट निरन्तर निक्षेपण के कारण वहाँ की तलहटी धँस रही है ।

3.6 सारांश (Summary)

पृथ्वी एक गतिशील ग्रह है । यह परिभ्रमण के साथ –साथ परिक्रमण भी करती है । इसके धरातल पर अत्यन्त विषम स्थलाकृतियाँ पाई जाती हैं । एक ओर एवरैस्ट जैसी ऊँची चोटी तो दूसरी ओर मिण्डानाओ गर्त आश्चर्यचकित होने को बाध्य करते हैं कि इस भ्रमणशील पृथ्वी पर ये विषम स्थलाकृतियाँ किस प्रकार सन्तुलित रहती हैं? इन्हीं जिज्ञासाओं के चलते गंगा–सतलज के मैदान व विश्व के अन्य क्षेत्रों में भूसर्वेक्षण की प्रक्रिया में गुरुत्व–विसंगतियाँ पाई गई, जिनसे यह प्रमाणित किया जाने लगा कि धरातल पर विभिन्न स्थलाकृतिक स्तम्भों के नीचे आनुपातिक गहराई तक अपेक्षाकृत कम घनत्व की शैलें पाई जाती हैं, जो ' क्षतिपूर्ति तल ' पर समान भार डालती हैं । डटन ने सर्वप्रथम इस प्रक्रिया को भूसन्तुलन (Isostasy) कहा तथा बाद में इस सन्दर्भ में अनेक विद्वानों ने अपने – अपने मत प्रस्तुत किये । बाद में यह भी प्रमाणित हुआ कि भूसन्तुलन की प्रक्रिया एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है ।

3.7 शब्दावली (Glossary)

- **भूसन्तुलन:** विभिन्न स्थलाकृतिक स्तम्भों के मध्य भौतिक अथवा यान्त्रिक स्थिरता की स्थिति ।
- **गुरुत्व–विसंगति :** खगोलीय तथा भूज्यॉमितीय सर्वेक्षणों से प्राप्त परिणामों में अन्तर ।
- **क्षतिपूर्ति तल :** वह तल जिस पर विभिन्न स्थलाकृतिक स्तम्भ समान भार डालते हैं ।
- **जलीय सन्तुलन :** जोली के अनुसार सियाल रूपी स्थलाकृतिक स्तम्भों का 'क्षतिपूर्ति परत' में सन्तुलित अवस्था में तैरना ।
- **भूसन्तुलन समायोजन :** पृथ्वी पर परिवर्तनकारी शक्तियों द्वारा उत्पन्न असन्तुलन को पुन : सन्तुलित अवस्था में लाने की सतत प्रक्रिया ।

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Strahler A.N: **Introduction to Physical Geography**, John Wiley & Sons New York, 1992.

2. Holmes, Arthur: **Principles if Physical Geology,** Thomas Nelson & Sons, New York, 1986.

3. मामोरिया व जोशी : **भौतिक भूगोल,** साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2007.

4. Steers, J.A.: **Unstable Earth**, Cambridge Uni, Press, London, 1989.

5. Hussain, Majid: **Fundamentals of Physical geography**, Rawat Publication, Jaipur, 2004.

6. सिंह, सविन्द्र. **भूआकृति विज्ञान**, वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर, 2007

7. भल्ला व अग्निहोत्री : **भौतिक भूगोल,** कुलदीप पब्लिकेशन्स, जयपुर

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1. ग्रीक भाषा के Isostasios से ।
2. विभिन्न स्थलाकृतियों के मध्य भौतिक या यान्त्रिक स्थिरता ।
3. 'समान गहराई किन्तु भिन्न घनत्व वाले स्तम्भ ' ।
4. 'समान घनत्व किन्तु भिन्न गहराई वाले स्तम्भ ' ।

बोध प्रश्न – 2

1. प्राट ने क्षतिपूर्ति तल समतल किन्तु एयरी ने असमान तल माना; प्राट ने क्षतिपूर्ति तल के ऊपर समान घनत्व की शैलें, किन्तु एयरी ने असमान घनत्व की शैलें माना ।
2. प्राट के समान मत हेफोर्ड व बोवी तथा एयरी के समान मत जोली ने दिये ।
3. सियाल रूपी स्थलाकृतिक स्तम्भों का ' क्षतिपूर्ति परत ' में सन्तुलित होकर तैरना ।
4. जोली ने ।

3.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भूसन्तुलन किसे कहते हैं तथा इस अवधारणा का रूपात कैसे हुआ?

2. भूसन्तुलन विषयक विभिन्न मतों की व्याख्या कीजिये ।

3. भूसन्तुलन एक सतत प्रक्रिया क्यों व कैसे है?

इकाई 4 : महाद्वीपों एवं महासागरों की उत्पत्ति (Origin of Continents and Oceans)

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 महाद्वीपों तथा महासागरों की उत्पत्ति

- 4.2.1 चतुष्फलक परिकल्पना
- 4.2.2 वेगनर का महाद्वीप विस्थापन का सिद्धान्त
- 4.2.3 प्लेट विवर्तनिकी

4.3 सारांश

4.4 शब्दावली

4.5 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

4.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप समझ सकेंगे ।

- स्थल एव जल के वितरण की विशेषताएँ,
- महाद्वीपों तथा महासागरों की उत्पत्ति,
- चतुष्फलक परिकल्पना
- वेगनर का महाद्वीपीय विस्थापन का सिद्धान्त,
- प्लेट विवर्तनिकी ।

4.1 प्रस्तावना (Introduction)

जिस प्रकार पृथ्वी की उत्पत्ति की समस्या जटिल एवं विवादास्पद है उसी प्रकार से महासागरों की उत्पत्ति की समस्या कम जटिल नहीं है । पृथ्वी को प्रमुख रूप से दो भागों में बाटा जा उत्पत्ति के बाद पृथ्वी की आन्तरिक भूगर्भिक हलचलों के कारण सबसे पहले महाद्वीपों और महासागरों की उत्पत्ति हुई है । अत: महाद्वीपों और महासागरों के विस्तार, उत्पत्ति एव विकास के संबंध में अनेक भूवेत्ताओं ने अपने अलग – अलग मत प्रस्तुत किये हैं और उन्हें प्रमाणित करने के लिये अनेक तथ्यों का सहारा लिया है।

स्थल एवं जल के वितरण की विशेषतायें : अगर आप पृथ्वी के ऊपर जल और स्थल का वितरण देखें तो पता चलता है कि पृथ्वी के कुल क्षेत्रफल के लगभग 71 प्रतिशत भाग पर महासागर एव समुद्र है और शेष 29 प्रतिशत भाग में स्थल के रूप में महाद्वीप फैले हैं ।

अगर ग्लोब को गौर से देखें तो पायेंगे कि उत्तरी गोलार्द्ध का 19.4 प्रतिशत भाग स्थल के रूप में है और दक्षिणी गोलार्द्ध का केवल 18.6 प्रतिशत भाग स्थल है । अर्थात दोनों गोलार्द्धों में जल का विस्तार स्थल भाग से अधिक है । ग्लोब पर जल थल के वितरण को देखें तो पता चलता है कि उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल भाग 75 प्रतिशत भाग विषुवत रेखा के उत्तर में स्थित है। इसके विपरीत दक्षिणी गोलार्द्ध में जलीय भाग की अधिकता है । अत: उत्तरी गोलार्द्ध को स्थल गोलार्द्ध (Land Hemisphere) और दक्षिणी गोलार्द्ध को जल गोलार्द्ध (water Hemisphere) कहते हैं । किन्तु इस सामान्य व्यवस्था के विपरीत उत्तरी ध्रुव सह में है और दक्षिणी ध्रुव स्थल (एंटार्टिका) पर है ।

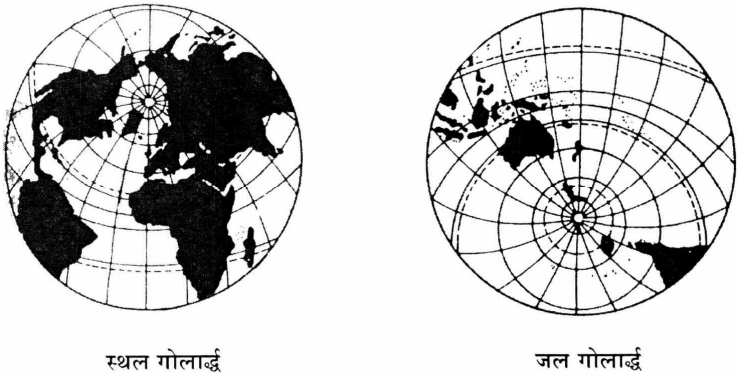

चित्र 4.1 : स्थल गोलार्द्ध एवं जल गोलार्द्ध की स्थिति

स्थल भाग और जल भाग के वितरण को देखें तो पता चलता है कि महासागरों और महाद्वीपों की आकृति त्रिभुजाकार है । महाद्वीपों के आधार (Base) उत्तर आर्कटिक सागर के सहारे हैं तथा शीर्ष (Apex) दक्षिण की ओर हैं। स्थल भाग के विपरीत महासागरों का आधार दक्षिण में और शीर्ष (Apex) उत्तर में पाये जाते हैं। उत्तरी ध्रुव के पास जल भाग का विस्तार है जबकि दक्षिणी ध्रुव के पास स्थल भाग का विस्तार है (चित्र–य 2) । स्थल और जल के वितरण की एक ओर विशेषता जल और स्थल भाग एक दूसरे के विपरीत स्थित हैं। (Antipodal Position) एंटार्टिका महादेश आर्कटिक महासागर के विपरीत स्थित है आस्ट्रेलिया उत्तरी आर्कटिक सागर के विपरीत स्थित है। स्थल भागों का लगभग 95 प्रतिशत भाग सागर के विपरीत मिलता है।

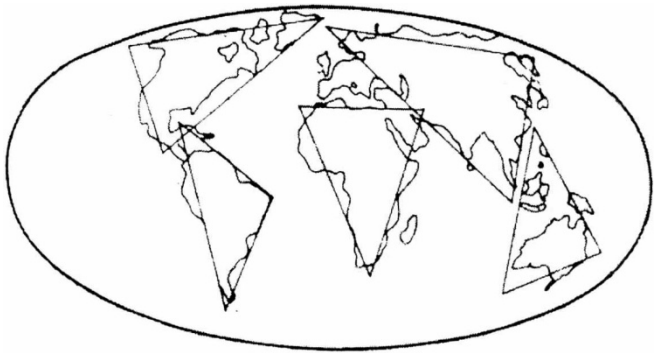

चित्र – 4.2 : महाद्वीपों की त्रिभुजाकार आकृति में स्थिति

4.2 महाद्वीपों तथा महासागरों की उत्पत्ति

महाद्वीपों तथा महासागरों की उत्पत्ति के संबंध में अनेक मत प्रतिपादित किये गये हैं । जिनमें से मुख्य मतों का विवरण दिया जा रहा है –

लार्ड केल्विन का मत (Lord Kelvin's views) : लार्ड केल्विन का मत था कि पृथ्वी के निर्माण की आरंभिक अवस्था में ही संकुचन के समय ही ऊँचे तथा नीचे भागों का निर्धारण हो गया था । इस प्रकार ऊपर स्थित स्थलीय भाग महाद्वीप बने तथा निचले भाग में महासागर का जन्म हुआ ।

लेपवर्थ (Lapwarth) का मत है कि महाद्वीप तथा महासागर पृथ्वी के धरातल पर बड़े पैमाने पर वलन (folding) की प्रक्रिया से बने हैं और स्थल अपनति (Anticline) तथा धंसे हुये भाग अभिनति (Syncline) प्रदर्शित करते हैं । लेपवर्थ ने महाद्वीपों पर फैले हुये वलन तथा विभिन्न महासागरों की तली का अध्ययन करने के बाद उपर्युक्त मत का प्रतिपादन किया है । लेपवर्थ के अनुसार उत्तरी अमेरिका वलन की क्रिया से प्रभावित एक उभरा हुआ आ अवनतीय भाग ही है जिसके दोनों किनारों पर अवनती भाग (Anticlinal Part) स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होते हैं । महाद्वीप का मध्य भाग निचला मैदानी भाग अभिनति के रूप में है । उत्तर अमेरिका तथा दक्षिण अमेरिका एवं यूरोप तथा अफ्रीका के बीच आंध्र महासागर नीचे धंसा हुआ एक अभिनतीय भाग ही है । इस परिकल्पना में भी अनेक त्रुटियां हैं । यह विश्वास करना कि केवल तापी हास तथा संकुचन के कारण बड़े पैमाने पर वलन की क्रिया का होना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है ।

4.2.1 चतुष्फलक परिकल्पना (Tetrahedral Hypothesis)

महाद्वीपों तथा महासागरों के विन्यास में एक व्यवस्था तथा सममिति (Summary) के आधार पर एक सिद्धांत 1874 ई. में लूथियन ग्रीन ने अपनी चतुष्फलक की परिकल्पना (Tetrahedral hypothesis) को प्रतिपादित किया इस परिकल्पना में उसने यह बतलाया कि जल थल के वितरण में एक चतुष्फलक का विन्यास है । चतुष्फलक एक त्रिमितीय (three dimensional) आकृति है जो चार समबाहु त्रिभुजों के योग से बनती है । ग्रीन ने अपने सिद्धांत का प्रतिपादन ज्यामिती के दो तथ्यों के आधार पर किया है । लूथियन ग्रीन ने परिकल्पना की कि पृथ्वी एक ऐसे चतुष्फलक के समान है जो अपने शीर्ष पर खड़ा है ऐसी स्थिति में चतुष्फलक के चार चपटे पार्श्वों पर चार महासागर पाये जाते है! चित्र 4.3 में ऊपरी क्षैतिज पार्श्व (Upper horizontal face) पर आर्कटिक महासागर का विस्तार है और क्षैतिज किनारों पर उन स्थल खण्डों का जो आर्कटिक महासागर के चारों ओर एक मेखला बनाते हैं तीन खड़े किनारों (vertical edges) पर उत्तर से दक्षिण महाद्वीप फैले हैं । एक पर उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका है दूसरे पर यूरोप तथा अफ्रीका और तीसरे पर एशिया तथा आस्ट्रेलिया है। निचले शीर्ष पर दक्षिण ध्रुव स्थित है जिसके चारों ओर अंटार्कटिका महाद्वीप फैला हुआ है इन्हीं चार शीर्ष बिन्दुओं के स्थिर भूखण्डों से विस्तृत होकर वर्तमान महाद्वीपों का निर्माण हुआ है । लीथियन ग्रीन की परिकल्पना का आधार उस समय की विचारधारा था कि पृथ्वी धीरे–धीरे

ठण्डी हो रही है तथा सिकुड़ती जा रही है । अत: पृथ्वी की ऊपरी सतह जो पहले ठण्डी हो चुकी है वह भीतरी सिकुड़ते भाग के साथ ठीक–ठीक बैठ नहीं पाती है और कहीं ऊँचा और कहीं नीचा हो गया है । अर्थात ऐसी स्थिति में धरातल की आकृति ऐसी बनती है कि आयतन (Volume) कम होते हुये भी क्षेत्रफल अधिक होता है । यह एक प्राकृतिक नियम है कि एक गोले (Sphere) की जिसका कि आयतन के अनुपात में तल का क्षेत्रफल सबसे कम होता है और वह गोला एक चतुष्फलक का रूप धारण करने की प्रवृत्ति होती है । जे.ड्ल्यु ग्रेगरी (J.W.Gregory) ने चतुष्फलक की परिकल्पना को ऊपर बताये गये जल थल के वितरण की विशेषताओं की सहायता से और भी सही ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है । परन्तु अब परिकल्पना को कोई मान्यता नहीं मिली है । गणित के सिद्धांतों के अनुसार चतुष्फलक जैसी आकृति, पृथ्वी जैसे विशाल आकार को गुरुत्व संतुलन (Gravitational equillibirum) में नहीं रख सकती है । यदि पृथ्वी चतुष्फलक की आकृति की प्रवृत्ति दिखलाये भी तो चतुष्फलक के किनारों तथा कोनों का भार इतना अधिक होगा कि वे फिर तुरंत बैठ जायेगी और पृथ्वी फिर संतुलित गोले की आकृति में लौट आयेगी ।

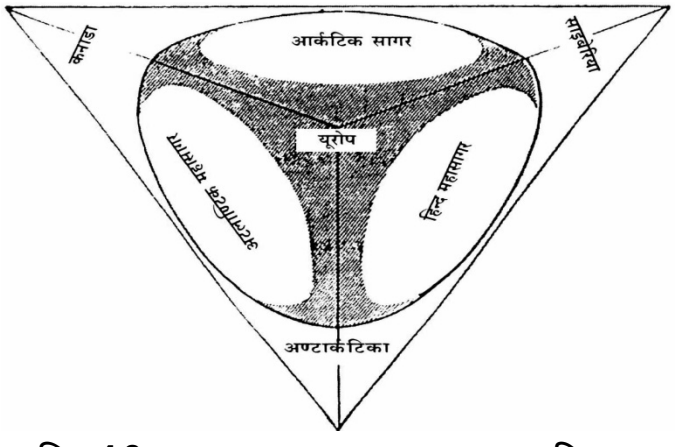

चित्र–4.3 : चतुष्फलक पर जल तथा थल का वितरण

चूंकि संकुचन के समय पृथ्वी का बाह्य तथा आन्तरिक परतों के बीच अन्तर आ गया था इसलिये चतुष्फलक के रूप में आते समय गुरुत्वाकर्षण की शक्ति के कारण ऊपरी परत वाली परत पर ध्वस्त (collapse) होने लगी अथवा नीचे की ओर बैठने लगी । या हम यों कह सकते हैं कि ऊपरी भूपटल निचले चतुष्फलक रूपी पृथ्वी के चपटे चार भागों में चार महासागरों का निर्माण हुआ इन पर जल का भराव इसलिये कि ये सपाट दबे हुये भाग किनारे वाले भागों की अपेक्षाकृत नीचे थे । किनारे तथा कोनों वाले भागों पर महाद्वीपों का निर्माण हुआ ।

इस परिकल्पना के अनुसार तथा स्थल का वर्तमान वितरण पूर्णरूप से समझाया जा सकता है चतुष्फलक इस रूप में है कि उसका उत्तरी भाग चपटा है तथा शेष तीन सपाट भाग दक्षिण में एक बिन्दु पर मिलते हैं । इस प्रकार उत्तरी समतल भाग (Plane Face) पर उत्तरी ध्रुव सागर (North Arctic sea) है तथा शेष तीन चपटे भागों में प्रशान्त महासागर, आन्ध्र महासागर तथा हिन्द महासागर का विस्तार है । इसी प्रकार महासागर से ऊपर उठे हुये चार कोणात्मक किनारे वाले भागों के सहारे क्रमशः उत्तरी व दक्षिणी अमेरिका यूरोप व अफ्रीका

एशिया तथा आस्ट्रेलिया और अंटार्कटिका महाद्वीप फैले हैं । इस प्रकार उत्तरी ध्रुव के पास जल तथा दक्षिणी ध्रुव के पास स्थल का भाग का होना प्रमाणित होता है । चार सपाट भागों के सहारे महासागरों की स्थिति तथा किनारों (Edges) के सहारे महाद्वीपों का होना जल थल की प्रतिध्रुवस्थ स्थिति (Antipodal–arrangement) को प्रमाणित करता है ।

मूल्यांकन

यद्यपि "चतुष्फलक परिकल्पना" से महासागरों तथा महाद्वीपों की कई समस्याओं पर प्रभाव पड़ता है फिर भी परिकल्पना में कुछ मूलभूत समस्याओं का उत्तर ठीक से नहीं मिलता है और इस कारण इस परिकल्पना को वर्तमान समय में मानना उचित प्रतीत नहीं होता है । इस परिकल्पना के अनुसार चतुष्फलक रूपी पृथ्वी शीर्ष बिन्दु पर रुकी है । इस प्रकार एक शीर्ष बिन्दु पर परिभ्रमण करती हुई चतुष्फलक के रूप में पृथ्वी का संतुलन कदापि स्थापित नहीं हो सकता है । पृथ्वी अपनी धुरी पर इतनी तेजी से परिभ्रमण करती है कि गोल भू–मंडल चतुष्फलक के रूप में सिकुड़कर नहीं बदल सकता है । अर्थात इस परिकल्पना का मूल आधार प्रमाणित नहीं होता है ।

बोध प्रश्न– 1

1. पृथ्वी के क्षेत्रफल के कितने प्रतिशत भाग पर महासागर एवं समुद्र है ।
   .....
   .....
2. उत्तरी गोलार्ध का कितने प्रतिशत भाग स्थल का है ।
   .....
   .....
3. उत्तरी गोलार्ध में भूमध्यरेखा के उत्तर में कितने प्रतिशत स्थल भाग है ।
   .....
   .....
4. चतुष्फलक की क्या आकृति है ।
   .....
   .....

4.2.2 वेगनर का महाद्वीप विस्थापन का सिद्धान्त (Continental Drift– Theory of Wegener)

सर 1912 ई. में वेगनर ने अपने प्रसिद्ध महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त (Theory of Continental Drift) को प्रतिपादित किया। इस सिद्धान्त के द्वारा स्थल तथा जल के वितरण की अनेक समस्याओं पर प्रकाश पड़ता है। महाद्वीपों के आकार पर्वत श्रेणियों के विस्तार चट्टानों एवं जीवाश्मों के वितरण आदि को देखकर यह विचार बना कि पृथ्वी के इतिहास में महाद्वीप अपने वर्तमान स्थान पर नहीं थे बल्कि महाद्वीपों का विस्थापन हुआ है। महाद्वीपों के प्रवाहित

होने की संभावना का सुझाव फ़्रान्सीसी विद्वान साइडर ने 1858 में दिया था 1908 में टेलर तथा सन 1910 में अल्फ्रेड वेगनर ने स्वतंत्र रूप से अलग–अलग इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया इसके पूर्व 1882 में फिसर ने भी इस विचार को रखा था। वेगनर ने इस सिद्धान्त के पक्ष में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये किन्तु प्रथम महायुद्ध (1914–18) के कारण यह सिद्धान्त बहुत से वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित नहीं कर सका।

अल्फ्रेड वेगनर जर्मनी के एक प्रसिद्ध जलवायु वेत्ता थे । वेगनर के सामने मूलभूत समस्या थी जलवायु संबंधी परिवर्तन। भूमण्डल पर अनेक क्षेत्रों में ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनके आधार पर यह ज्ञात होता है कि एक ही स्थान पर जलवायु में समय–समय पर अनेक परिवर्तन हुये हैं। संसार के मध्यवर्ती अक्षांशों के ठण्डे प्रदेशों में कोयले का पाया जाना यह प्रमाणित करता है कि कार्बोनिफेरस युग में वहां की जलवायु ऊष्ण और आर्द्र थी और वहाँ की प्राकृतिक वनस्पति घने जंगल के रूप में थी जिससे कालान्तर में कोयले का निर्माण हुआ। इसके विपरीत भारत, दक्षिण आस्ट्रेलिया, ब्राजील तथा दक्षिण अफ्रीका में जहां जलवायु अभी ऊष्ण है कार्बोनिफेरस युग में ठंडी जलवायु और हिमाच्छादन के प्रमाण भी मिलते हैं। इससे यह जान पड़ता है कि या तो जलवायु कटिबन्धों का स्थानान्तरण हुआ है और यदि जलवायु कटिबंध स्थिर रहे हैं तो स्थल भागों का स्थानान्तरण हुआ है जो अधिक सही प्रतीत होता है।

महाद्वीप विस्थापन के प्रमाण

वेगनर ने अपने मत के पक्ष में विभिन्न क्षेत्रों से अनेक प्रमाण इकट्ठे किये और इन प्रमाणों के आधार पर कल्पना की कि कार्बोनिफेरस युग में संसार के सभी महादेश एक साथ एकत्रित थे और एक महान स्थलखण्ड के रूप में उपस्थित थे। वेगनर ने इस महान स्थलखण्ड का नाम पेन्जिया (Pangaea) रखा है । (चित्र - 4.4) आस्ट्रेलिया अंटार्कटिका प्रायमहाद्वीप, भारत, अफ्रीका तथा दक्षिण अमेरिका मिलकर एक स्थल खण्ड का दक्षिणी भाग (Southern Block) बनाते थे । जिसे अन्य प्रमाणों के आधार पर भू–वैज्ञानिकों ने गोंडवाना लैण्ड (Gondwana Land) का नाम दिया । उत्तरी अमेरिका, यूरोप तथा एशिया इस स्थलखण्ड का उत्तरी भाग बनाते हैं जिसे लोरेशिया (Lourasia or Angaraland) कहते हैं। इन दोनों स्थलखण्डों के बीच एक लम्बा और सकरा छिछला सागर था जिसका नाम टेथिस सागर (Tethys Sea) कहते हैं। इस प्रकार पेन्जिया चारों तरफ से एक विस्तृत जलभाग से घिरा हुआ था ।

जब महाद्वीपों के विस्थापन के संबंध में विवाद चल रहा था तब विस्थापन के अनेक प्रमाण इकट्ठे किये गये । महाद्वीपों के आकार, भूवैज्ञानिक तथा संरचनाओं में समानतायें खोजी गईं इनमें सबसे महत्वपूर्ण हैं दक्षिणी अमेरिका के आकार का अफ्रीका से गिनी की खाड़ी में जुड़ जाने की स भावना । अर्थात अटलांटिक महासागर के दोनों किनारे यदि जोड़े जायें तो वह एक महाद्वीप बन जायेंगे । अर्थात ऐसा प्रतीत होता है कि अटलांटिक के दोनों ओर के स्थल टूटकर अलग हो गये हैं । इसे विद्वानों ने जगसाफिट (Jagsawfit) कहा है । इसी प्रकार उत्तरी पश्चिमी आस्ट्रेलिया भारत में तथा उत्तरी अमेरिका यूरोप तथा ग्रीनलैण्ड में जोड़े जा सकते हैं ।

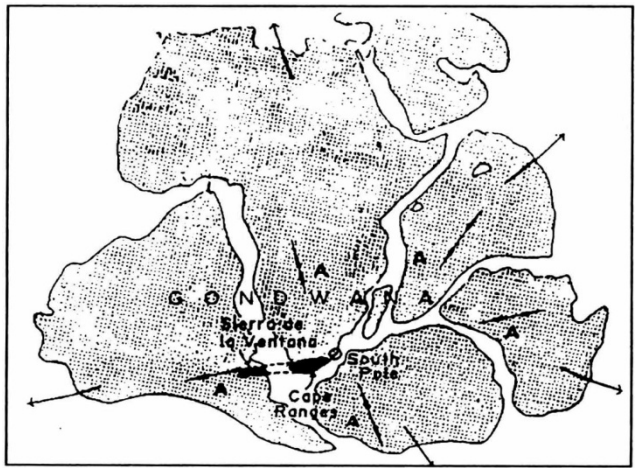

चित्र – 4.4 : वेगनर का विस्थापन सिद्धान्त

अटलांटिक महासागर के दोनों किनारों पर भू–वैज्ञानिक चट्टान समूहों के वितरण की समानता एक महत्वपूर्ण प्रमाण हैं जैसे कार्बोनिफेरस युग की कोयले की परतें दक्षिण अमेरिका, अफ्रीका तथा भारत में पाई जाती हैं । यह समानता उनमें पाये जाने वाले जीवाश्मों में भी मिलती है जिनमें जानवरों एवम् वनस्पति के जीवाश्म हैं साथ ही प्राचीन पर्वत मालायें भी अटलांटिक के दोनों किनारों पर मिलती हैं ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे एक ही पर्वत माला के हिस्से हों जो टूटकर अलग हो गये हैं ।

विस्तृत अध्ययन से पता चलता है कि अनेक ऐसे जीव हैं जो एक भाग से दूसरे भाग तक पहुँच सकते हैं । इससे यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में ये महाद्वीप आपस में जुड़े रहे होंगे । आन्ध्र महासागर के दोनों तटों पर चट्टानों में पाये जाने वाले जीवावशेष (Fossils) तथा वनस्पतियों के अवशेषों में पर्याप्त समानता पाई जाती है । उत्तरी अमेरिका के पूर्वी भाग तथा यूरोप के पश्चिमी तटीय भागों में कोयले की चट्टानें पाई जाती हैं तथा दोनों भागों में कोयले की चट्टानें समान हैं इन चट्टानों में वनस्पति क्रम में भी समानता पाई जाती है । प्राचीन पर्वत मालायें भी अटलांटिक महासागर के दोनों किनारों पर एक समान पाई जाती हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे एक ही पर्वतमाला के हिस्से हों जो टूटकर अलग हो गये हैं ।

कार्बोनिफेरस युग की डिलाइट निक्षेपण सर्वप्रथम 1857 में भारत में पहचाना गया था । उसके बाद यह निक्षेपण दक्षिणी आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अमेरिका एव ब्राजील में भी मिला । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस युग में दक्षिण का महाद्वीप गोंडवाना लैण्ड हिम युग से प्रभावित हुआ होगा जबकि उस समय उत्तर के महाद्वीप लारेशिया में ऊष्ण जलवायु थी । इस हिमयुग के अन्य प्रमाण भी दक्षिणी अमेरिका में भी मिले हैं । जैसे हिम से अपर्दित शिलायें रोशे मोन्टनों शिलाओं में कटे हुए वेसिन ड्रमलिन या हिम के द्वारा दूर दराज से लाई शिलायें टिलाइट निक्षेपणों में भी ऐसी चट्टानें मिलती है जो दूर से लाई गई हैं ।

भूगणितीय प्रमाणों (Evidences of Geodesy) के आधार पर यह ज्ञात हुआ है कि ग्रीनलैण्ड निरन्तर 30 कि.मी. प्रति वर्ष की गति से पश्चिम की ओर खिसक रहा है । क्योंकि उत्तरी अमेरिका और ग्रीनलैण्ड के बीच की दूरी में अन्तर आ रहा है ।

पुरा चुम्बकीय आंकड़े

वेगनर ने सन् 1922 में पुरा चुम्बकीय तथ्यों की बात को तो कहा परन्तु उस समय तक चट्टानों में चुम्बकीय अध्ययन नहीं हो सके थे । लेकिन 60 के दशक में बड़े पैमाने में चट्टानों के पुरा चुम्बकीय अध्ययन हुये । महाद्वीपों एव महासागरों की तलहटी में अनेक चट्टानें चुम्बकीय थी और कणों की दिशा चुम्बकीय उत्तर दक्षिण की ओर हो गई थी । एक बार यह दिशा होने के बाद उसके विस्थापन पर भी प्रारंभिक चुम्बकीय दिशा बनी रही । इस प्रकार एक विशेष युग की चट्टानों के बनने के समय चुम्बकीय ध्रुवों की स्थिति जानी जा सकी । जब विभिन्न कालों में ध्रुव की स्थिति का मान चित्रण किया गया तो पता चला कि ध्रुवों के संदर्भ में महाद्वीपों की क्या स्थिति थी । इससे यह ज्ञात करने में मदद मिली कि महाद्वीपों का विस्थापन किस दिशा में हुआ है ।

महाद्वीप विस्थापन

उपर्युक्त साक्ष्यों एव प्रमाणों के आधार पर अल्फ्रेड वेगनर ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि कार्बोनिफेरस युग (400–450 म yrs back) में सभी स्थल भाग एक पिण्ड पेन्जिया के रूप में विद्यमान थे जो बाद में महाद्वीपीय प्रवाह के कारण पेन्जिया का विभंजन (Disruption) हो गया था जिससे विभिन्न स्थल भाग एक दूसरे से अलग होकर वर्तमान रूप में स्थित हैं । खोजों के द्वारा यह संभावना व्यक्त की गई कि दक्षिणी अमेरिका तथा अफ्रीका लगभग 250 मिलियन वर्ष पूर्व टूटकर अलग हुये । (चित्र 4.5)

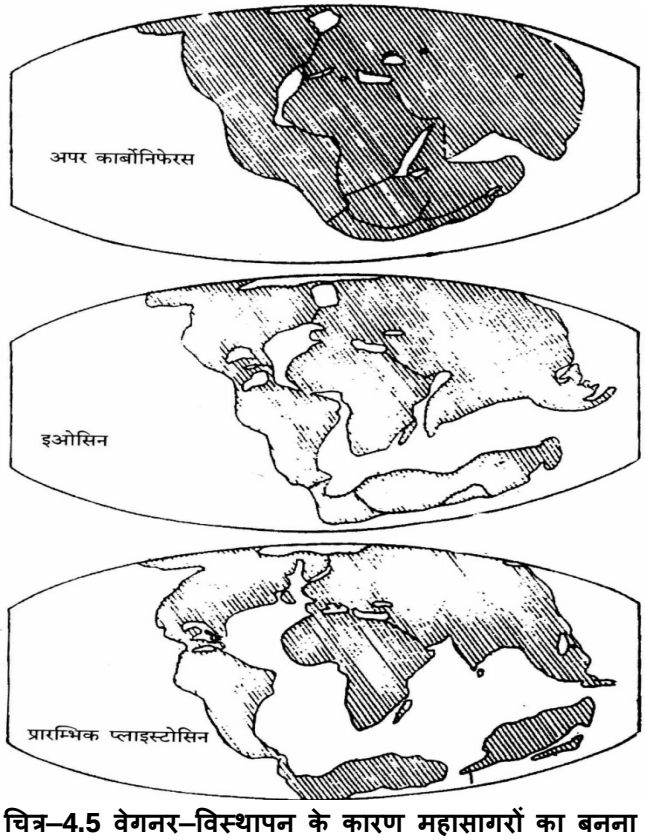

चित्र–4.5 वेगनर–विस्थापन के कारण महासागरों का बनना

प्रवाह सिद्धान्त की प्रक्रिया (Mechanism of Theory)

विभिन्न अध्ययनों से एकत्रित प्रमाणों के आधार पर वेगनर ने अपने "प्रवाह सिद्धान्त" द्वारा अनेक समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया है । वेगनर ने एक विशाल महाद्वीप जिसका नाम उन्होंने पेन्जिया (Pangaea) दिया, में आज के सभी महाद्वीप जुड़े हुए थे । चट्टानों की बनावट के आधार पर पृथ्वी को तीन प्रकार के पदार्थों से बनी मानते हैं । महाद्वीप अपेक्षाकृत हल्के पदार्थों सियाल (Sail–Silica and aluminia) के बने है सखी तलहटी की चट्टानें अपेक्षा भारी पदार्थ की बनी हैं जिसे सिमा कहते (Sima–Silica–magnesia) हैं । एवं पृथ्वी का भीतरी भाग नीफे (Nife–Nickle iron) के हैं । इस प्रकार सियाल के बने महाद्वीप पृथ्वी की सतह पर एक जगह एकत्रित हो पैंजिया (Pangaea) के रूप में उपस्थित था इसमें उत्तर का महाद्वीप लारेशिया और दक्षिण का महाद्वीप गोंडवाना लैण्ड नाम दिया गया । इनके बीच में टेथिस सागर उपस्थित था । गोंडवाना लैण्ड आज की तुलना में दक्षिण ध्रुव के निकट केन्द्रित था तथा दक्षिण अफ्रीका इस ध्रुव के निकट था ।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि मेसोजोइक काल में दक्षिण महाद्वीप टूटने लगा इसके उपरान्त उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका टूटकर अलग हुये तथा वे पश्चिम की ओर विस्थापित हुये । इसी तरह अफ्रीका भारत तथा आस्ट्रेलिया विस्थापित हुये एवं बीच में हिन्द महासागर बना इसी तरह उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका एवं अफ्रीका और यूरोप के बीच अटलांटिक सागर बना । (चित्र - 4.6) ।

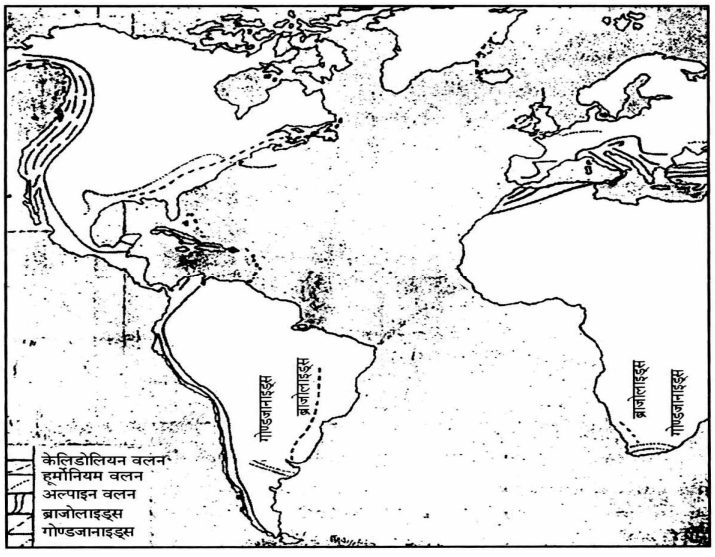

चित्र – 4.6 : अटलांटिक महासागर के दोनों तटों के पर्वतों के पर्वत–क्रमों में समता

वेगनर ने अपने प्रवाह सिद्धान्त द्वारा अनेक समस्याओं को सुलझाने की कोशिश की है इस सिद्धान्त में प्रत्येक प्रवाह में स्थल भाग के प्रवाह तथा स्थानान्तरण (Movement and displacement of Land Masses) के लिये कुछ न कुछ शक्ति का उल्लेख किया गया है परन्तु यह एक ऐसा बिन्दु है जिसको वेगनर ठीक से साबित नहीं कर सके । इस सिद्धान्त के

विरूद्ध सबसे बड़ी आलोचना यह है कि वेगनर ने महाद्वीपीय प्रवाह के लिए जिन शक्तियों का उल्लेख किया है वे शक्तियाँ सर्वथा असमर्थ हैं । महाद्वीपों का पश्चिम की ओर प्रवाह का कारण वेगनर ने चन्द्रमा और सूर्य की ज्वारीय शक्ति (Tidal force) बतलाया है किन्तु यह प्रवाह तभी संभव है जब यह ज्वारीय शक्ति वर्तमान शक्ति से कई लाख गुना अधिक हो । क्योंकि स्थल के प्रवाह के लिये शक्ति का अभाव सा जान पड़ता है । विषुवत रेखा की ओर प्रवाह उत्पन्न करने वाली शक्ति भी अपर्याप्त जान पड़ती है ।

बहुत से वैज्ञानिक यह प्रश्न भी उठाते हैं कि पेंजिया का टूटना मिसोजोइक काल में ही क्यों प्रारंभ हुआ । इसके पहले टूटना क्यों शुरू नहीं हुआ । उनका मत है कि यदि महाद्वीपीय विस्थापन गुरुत्वाकर्षण के कारण हुआ तो यह पृथ्वी के प्रारंभिक इतिहास में क्यों नहीं हुआ?

दूसरी आपत्ति यह उठाई गई है कि यदि महाद्वीपीय भाग बिना किसी रूकावट के सिमा के तैरते थे तो यह कैसे संभव है कि पश्चिम दिशा में प्रवाहित होते हुये सियाल के किनारों में (Sima) वलन पैदा कर सके । अर्थात विस्थापन सिद्धान्त विधि से राकी तथा एन्डीज पर्वतों का निर्माण संभव प्रतीत नहीं होता है । होम्स का मत है कि ऐसा संभव है कि प्रवाह के कारण तटीय तलछटी चट्टानें पर्वतों में बदल जायें और समुद्र तल की चट्टानों ने मुड़कर पर्वतों का निर्माण ' वेगनर ने महाद्वीपीय प्रवाह का समय एवं दिशा पर ठीक तरह से प्रकाश नहीं डाला है । वेगनर अनुसार महाद्वीपों का विस्थापन कार्बोनिफेरस युग के बाद प्रारंभ होता है इसके पहले पेंजिया किस कारण से स्थिर रहा । वेगनर ने कार्बोनिफेरस युग के पहले के संबंध में कुछ भी नहीं कहा है ।

इस प्रकार यदि सभी पहलू पर विचार करें तो वेगनर का सिद्धान्त पूर्ण रूप से सही साबित नहीं है । फिर भी इस सिद्धान्त से अनेक भौगोलिक एवं भू–वैज्ञानिक समस्याओं को सुलझाने में मदद मिली है । समय के साथ नए अनुसंधानों ने इस सिद्धांत की पुष्टि की है । आधुनिकतम विचार प्लेट विवर्तनी (Plate Tectonic) का प्रतिपादन किया गया है । इस सिद्धांत के अनुसार पृथ्वी की सतह से करीब 200 कि.मी. की गहराई के मेटल में जो संवाहनिक धाराएं चल रहीं हैं उसके कारण समुद्र तली के पर्पटी के हिस्से या प्लेट्स एक दूसरे से टकराती हैं एवं महाद्वीपों के किनारे पर भीतर की मुड़ जाती हैं और पृथ्वी के भीतर गर्म लावा में मिल जाती हैं । जबकि पर्पटी की दरारों के निकट पिघला लावा भूगर्भ पर जम जाता है इसके कारण नवीन पर्पटी का निर्माण होता है । इस प्रकार पर्पटी के विस्थापन से महाद्वीपों का विस्थापन होता है ।

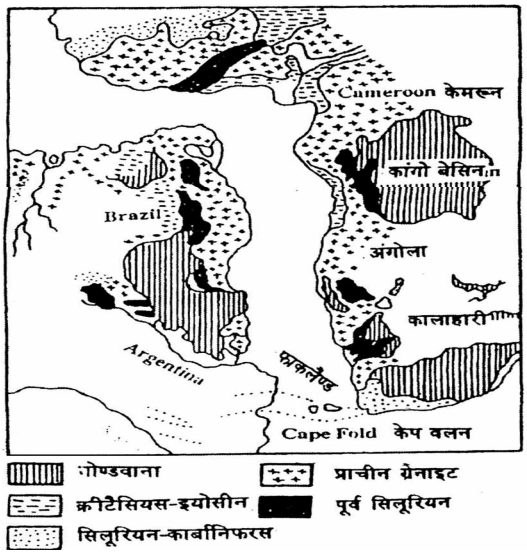

चित्र – 4.7 : द. अमेरिका के पूर्वी तथा अफ्रीका के पश्चिमी तट में भूगर्भिक समता ।

समय, समय पर प्रतिपादित विभिन्न विचारों के आधारों पर वैज्ञानिक यह मानते हैं कि पृथ्वी के भूगर्भिक इतिहास में महाद्वीपों का विस्थापन होता रहा है । समय के साथ नई, नई खोजों से विस्थापन के संबंध में नए प्रमाण मिल रहे हैं और वर्तमान समय में महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धांत पहले से अधिक के मान्य है।

बोध प्रश्न –2

1. वेगनर ने महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त किस सर में प्रतिपादित किया?

   .....

   .....

2. अल्फ्रेड वेगनर एक प्रसिद्ध..... वेत्ता थे ।

   .....

   .....

3. महान स्थलखंड का क्या नाम रखा?

   .....

   .....

4. पेंन्जिया को दक्षिणी महाद्वीपों के समूह को क्या नाम दिया था?

   .....

   .....

5. सभी स्थल भाग एक पिण्ड पेंन्जिया के रूप में किस युग में जुड़े थे?

   .....

.....

4.2.3 प्लेट विवर्तनिकी (Plate Tectonics)

महासागरों की तली पर विस्तारण (Sea–floor Spreading), पुराचुम्बकत्व (Paleomagnetism), ज्वालामुखी व भूकम्प की क्रियाओं, आणविक स्रोतों आदि से सम्बन्धित नवीनतम जानकारियों ने महाद्वीपों व महासागरों की उत्पत्ति से सम्बन्धित एक नई संकल्पना को जन्म दिया, जो प्लेट विवर्तनिकी के नाम से विख्यात हुई ।

4.2.3.1 अर्थ तथा व्याख्या

स्थलमण्डल के दृढ़ व कठोर पिण्डों को प्लेट (Plate) कहा गया है । स्थलमण्डल (Lithosphere) के अन्तर्गत भूपर्पटी (Crust) तथा उसके नीचे स्थित मैंटल (Mantle) का ऊपरी भाग सम्मिलित । यह स्थलमण्डल दृढ़ व कठोर प्लेटों का एक समुच्चय है जिसके नीचे दुर्बलतामण्डल (Asthenosphere) स्थित है । इन प्लेटों की मोटाई लगभग 100 किलोमीटर आंकी गई है । सभी भूगर्भिक गतिविधियाँ इन प्लेटों के पार्श्वों (Margins) पर होती हैं । भूगर्भिक क्रियाओं को विवर्तनिकी कहा जाता है । अत: **प्लेटों के उद्भव, प्रकृति व गतियों की सम्पूर्ण प्रक्रिया एवं उसके परिणाम प्लेट विवर्तनिकी (Plate Tectonics) कहलाते हैं ।** स्ट्रैलर ने भी इस विषय में लिखा है कि प्लेट विवर्तनिकी प्लेटों के धीरे–धीरे कमजोर दुर्बलतामण्डल (Asthenosphere) पर फिसलने (Glide) की क्रिया है ।

प्लेट विवर्तनिकी के दो आधारभूत पहलू हैं – (1) महाद्वीपीय विस्थापन एवं (2) महासागरीय तली का विस्तारण । इन दोनों ही पहलुओं में क्षैतिज गति निहित है । वैगनर के महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धान्त से केवल यही तथ्य प्लेट विवर्तनिकी में लिया गया है ।

2.4.2 प्लेटों के प्रकार

इस परिकल्पना में प्लेटों को दो वर्गो में विभाजित किया गया है – (1) महाद्वीपीय प्लेटें (Continental Plates) एवं (2) महासागरीय प्लेटें (Oceanic Plates) । जिस प्लेट में सम्पूर्ण या अधिकांश भाग स्थली होता है, वह महाद्वीपीय प्लेट कहलाती है । जिस प्लेट में पूर्ण रूपेण अथवा अधिकांश भाग महासागरीय तली का सम्मिलित होता है, वह महासागरीय प्लेट कहलाती है।

2.4.3 प्रमुख प्लेटें

ग्लोबीय स्तर पर छ: बड़ी प्लेटें बताई गई हैं । कुछ भूगोलवेत्ताओं ने अमेरिकी प्लेट को दो भागों में बांटकर (उत्तरी अमेरिकी व दक्षिणी अमेरिकी) इनकी संख्या सात बताई है । इन्हें चित्र संख्या 4.8 में दर्शाया गया है । इसी प्रकार इनके उपविभाजन के द्वारा उपप्लेटों की संख्या कुछ भूगर्भशास्त्रियों ने 14 व कुछ ने 20 बताई है । यहाँ 6 मुख्य प्लेटों का ही वर्णन दिया जा रहा है –

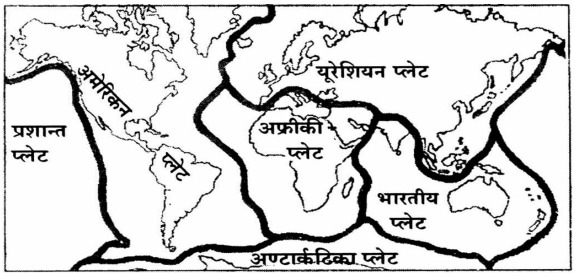

चित्र - 4.8 : विश्व की प्रमुख प्लेटें

1. **अमेरिकन प्लेट (American Plate) –** इसके अन्तर्गत उत्तरी व दक्षिणी अमेरिका की महाद्वीपीय पर्पटी (Continental Crust) एवं पूर्व की ओर मध्य अटलाण्टिक कटक तक फैली महासागरीय पर्पटी (Oceanic Crust) सम्मिलित हैं । अमेरिकन प्लेट एक इकाई के रूप में पश्चिम की ओर गतिमान है इसके परिणामस्वरूप अमेरिकी महाद्वीपों के पूर्वी किनारों पर कोई विवर्तनिकी हलचलें नहीं होती । यह प्लेट अमेरिका महाद्वीपों के पश्चिमी तट तक विस्तृत है एवं प्रशान्त महासागरीय प्लेट से मिलती है ।
2. **प्रशान्त प्लेट (Pacific Plate) –** पूर्वी प्रशान्त कटक (East Pacific Rise) से पश्चिम की ओर सारे प्रशान्त महासागर पर फैली यह एक मात्र ऐसी प्लेट है जो पूर्णरूप से महासागरीय पर्पटी से निर्मित है । अमेरिकन प्लेट के साथ अभिसारी सीमान्त होने के कारण इस प्लेट को नीचे धंसने के लिये बाध्य होना पड़ता है ।
3. **अफ्रीकी प्लेट (African Plate) –** यह प्लेट पूर्व में भारतीय , दक्षिण में अण्टार्कटिका, पश्चिम में मध्य अटलाण्टिक कटक व उत्तर में यूरेशियन प्लेटों के मध्य स्थित एक मिश्रित (महाद्वीपीय व महासागरीय) प्लेट है ।
4. **यूरेशियन प्लेट (Eurasian Plate) –** यह एक मात्र ऐसी प्लेट है जो अधिकांशतः महाद्वीपीय पर्पटी से निर्मित है । यह प्लेट पूर्व में द्वीपीय चापों , दक्षिण में आल्प्स – हिमालय पर्वतीय क्रम एवं पश्चिम में मध्य अटलाण्टिक कटक तक विस्तृत है ।
5. **भारतीय प्लेट (Indian Plate) –** इसके अन्तर्गत भारतीय उपमहाद्वीप व ऑस्ट्रेलिया की स्थलीय पर्पटी तथा हिन्दमहासागर एवं प्रशान्त महासगार की दक्षिणी – पश्चिमी महासागरीय पर्पटी सम्मिलित की जाती है ।
6. **अण्टार्कटिका प्लेट (Antarctica Plate) –** इसका विस्तार अण्टार्कटिका महाद्वीप के चारों ओर मध्यमहासागरीय कटकों तक है । अण्टार्कटिका प्लेट का अधिकांश भाग हिमाच्छादित है ।

भूपर्पटी की इन दृढ़ एवं कठोर प्लेटों का समुच्चय दुर्बलतामण्डल के अस्थिर एवं कमजोर क्षेत्र के ऊपर उठ कर दायें – बायें पार्श्वों की और प्रसारित होता रहता है जिसके प्रभाव से प्लेटों में हलचल होती रहती है । ये हलचलें प्लेटों के पार्श्व (Margins) पर होती हैं । अत: प्लेट विवर्तनिकी में प्लेटों के पार्श्व क्षेत्र अथवा सीमान्त ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण होते हैं । इन पार्श्वों पर ही सभी विवर्तनिकी हलचलें जैसे – भूकम्प व ज्वालामुखी प्रक्रियाएं, पर्वतनिर्माण, वलन, भ्रंशन आदि होती हैं । अत: प्लेट पार्श्वों या सीमान्तों की व्याख्या अलग से आवश्यक है ।

4.2.4 प्लेट पार्श्व या सीमान्त (Plate Margins)

1. **अपसारी पार्श्व या सीमान्त (Divergent Margins) –** ये वे पार्श्व हैं जहाँ से दो प्लेटें एक –दूसरे से विपरीत दिशा में गति करती हैं । अत: वे इस गति के द्वारा एक दूसरे से दूर हटती रहती हैं (चित्र संख्या 4.9) । इनके दूर हटते रहने से जो रिक्त स्थान बनाता है, उसमें मुग्धा बाहर निकलकर लावा के रूप में जमा होता रहता है । स्पष्ट हैं कि ऐसे सीमान्तों पर ज्वालामुखी क्रिया (Volcanism) अधिक होती है । यह भी स्पष्ट है कि दोनों प्लेटों के एक दूसरे से दूर हटने एवं उसके परिणामस्वरूप हुए रिक्त स्थानों पर लावा जमा होते रहने से वहाँ क्षेत्रीय विस्तार होता है इसलिये ऐसे पार्श्वों को रचनात्मक पार्श्व (Constructive margins) अथवा संवर्धनकारी पार्श्व (Accreting margins) भी कहते हैं । अटलाण्टिक कटक पर ऐसे ही पार्श्व मिलते हैं । वहाँ हो रहे क्षेत्रीय विस्तार को महासागर – तलीय विस्तारण (Sea floor Spreading) कहते हैं । ऐसे क्षेत्रों में ज्वालामुखी क्रिया के कारण कई बार द्वीप बन जाते हैं । मध्य अटलाण्टिक कटक में सर्टसे (Surtsey) द्वीप इसी प्रकार 14 नवम्बर 1963 को बना था ।

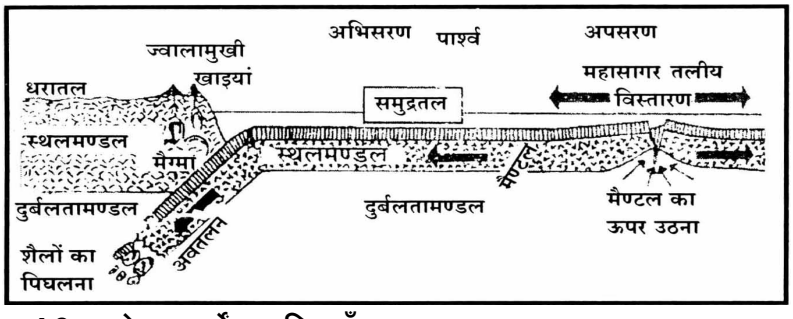

चित्र - 4.9 : प्लेट पार्श्वों पर क्रियाएँ

2. **अभिसारी पार्श्व या सीमान्त (Convergent margins) -** ये वे पार्श्व हैं जिनमें दो प्लेटें एक दूसरे की ओर गति करती हैं । एक - दूसरे की ओर गति करने के कारण उनका अभिसरण (Convergence) होता है । अभिसरण के कारण एक प्लेट दूसरी के ऊपर चढ़ जाती है तथा दूसरी प्लेट का नीचे की ओर धंसान या अवतलन होता है, अत: इस पेटी को अवतलन मेखला (Zone of Subduction) कहा जाता है (चित्र - 4.10) । अवतलित प्लेट का अग्रभाग मैंटल में प्रवेश करने पर वहाँ की ऊष्मा के कारण पिघल जाते हैं, अत: इसे **भंजक (Destructive)** या **क्षीणकारी पार्श्व (Consuming margins)** भी कहते हैं । अभिसारी पार्श्व पार खाइयाँ (Trenches) होती हैं जिनसे होकर अवतलित प्लेट का पिघला हुआ पादर्थ पुनः बाहर निकालकर ज्वालामुखियों, ज्वालामुखी -

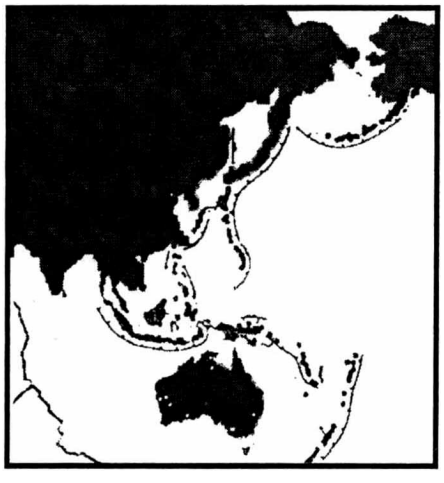

चित्र - 4.10 : द्वीपीय चाय

श्रृंखलाओं (Volcanic Chain) तथा द्वीपीय चापों (Island arcs) का रूप धारण कर लेता है । प्रशान्त महासागरीय प्लेट के पश्चिमी पार्श्व पर अल्यूशियन, क्यूराइल, जापान, मिणडानाओ, मैरियाना आदि खाइयाँ हैं, जिनके समीप कई द्वीपीय चाप (Island Arcs) हैं (चित्र - 4.10)।

3. पारवर्ती पार्श्व (Transcurrent Margins)– जब किसी भ्रंश के सहारे दो प्लेटें भिन्न दिशाओं में सरकती (Slide) हैं तो उसे परवर्ती पार्श्व कहते हैं (चित्र –4.11) । प्लेटों की इसी गति से न तो क्षेत्रीय संवर्धन (accretion) और न ही भंजन (destruction) होता है। इसे **अपरूण सीमान्त** (Shear Margins) भी कहते हैं ।

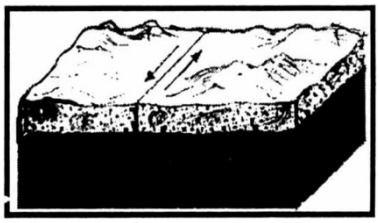

चित्र - 4.11 : परवर्ती पार्श्व

उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी भाग में सैन एण्ड्रियास (San Andreas) भ्रंश के सहारे दो उप – प्लेटों का परवर्ती सीमान्त ही है । जनवरी 2001 में गुजरात में आये भूकम्प के अध्ययन से कुछ भूगर्भशास्त्रियों ने निष्कर्ष निकाला है कि उस क्षेत्र में भारतीय प्लेट की दो उप – प्लेटों के मध्य ऐसा ही सीमान्त है ।

पार्श्वों पर हलचलों के कारण

प्लेट विवर्तनिकी के लिये किसी चालक बल अथवा यान्त्रिकी (Driving Mechanism) की आवश्यकता होती है । यह बल मैंटल में प्रवाहित संवाहनिक धाराओं (Convectional Currents) के रूप में बताया गया है । चित्र संख्या 2.15 में सम्पूर्ण मैंटल को घेरे हुए संवाहन क्रिया का एक प्रतिमान (Model) दर्शाया गया है । मध्य महासागरीय कटकों के क्षेत्र में भीतर से मैग्मा का ऊपर आना एवं अभिसारी पार्श्व पर एक प्लेट का नीचे धंसकर मैंटल में पहुँचना इस संवहन तंत्र की मुख्य गतिविधियाँ हैं । प्लेटों के एकदम नीचे संवहन तरंगों का प्रवाह (चित्र – 4.12) उन्हें क्षितिजीय गति देता है । कुछ भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार यह संवाहन क्रिया केवल दुर्बलतामण्डल तक ही सीमित है (चित्र - 4.13) । कुछ अन्य भूगर्भशास्त्रियों ने एक भिन्न प्रतिमान (चित्र – 4. 14) देते हुए बताया है कि दुर्बलतामण्डल में गति प्लेटों में गति के बिल्कुल विपरीत होती है । इस पहलू पर उनका कहना है कि नीचे धंसते हुए सीमान्त अपने गुरुत्वाकर्षण बल के द्वारा स्वयं गतिमान होंगे ।

चित्र–4.12: सम्पूर्ण मैण्टल में संवाहन धाराएँ

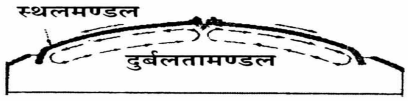

चित्र–4.13 : दुर्बलतामण्डल तक सीमित संवहन धाराए

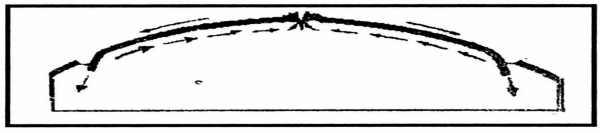

चित्र–4.14 : संवाहन धाराओं की प्लेटों से विपरीत गति

संवाहनिक धाराओं की उत्पत्ति के लिये आवश्यक ऊर्जा स्रोत के विषय में भी मत भिन्नताएं हैं रेडियो सक्रिय पदार्थ जनित ऊर्जा के विषय में अधिकांश भूगर्भशास्त्री सहमत हैं ।

2.4.5 प्लेट विवर्तनिकी के प्रभाव

1. **महासागर तलीय विस्तारण (Sea -floor Spreading)** – इस संकल्पना का प्रस्तुतीकरण सर्वप्रथम हैरी हैस (Harry Hess) ने सन् 1960 में किया । मध्य महासागरीय कटक की शैलों में पुराचुम्बकत्व (Paleomagnetism) के शोध ने उनकी इस संकल्पना को जन्म दिया । अपसारी पार्श्व पर प्लेटें एक दूसरे से विपरीत दिशा में गति करती हैं । इस कारण मध्य महासागरीय कटक में हुए रिक्त स्थान में नीचे से संवाहन क्रिया द्वारा लावा ऊपर आकर जमा हो जाने से नई शैलों की उत्पत्ति होती है । यह प्रक्रिया निरन्तर चलते रहने से नई शैल पर्पटी बनती रहती है । परिणामस्वरूप महासागरीय तली का विस्तारण होता रहता है ।

   वास्तव में मध्य महासागरीय कटकों से महासागरीय तली का विस्तारण होता है, इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिये पुराचुम्बकीय अध्ययन किये गये । चुम्बकीय धाराऐं निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं, किन्तु उनका क्रम बदलता रहता है । अत: मध्य महासागरीय कटकों में लावा के बाहर निकलकर शीतल पर्पटी में परिवर्तन होने की प्रक्रिया में शैलों पर उस समय प्रचलित चुम्बकत्व के काल की गणना की जा सकती है । मध्य महासागरीय कटकों के भ्रंश से दोनों ओर समान मात्रा में तली का प्रसारण ही नहीं बल्कि समानान्तर चुम्बकत्व के प्रभाव की धारियाँ भी अध्ययन में पाई गई हैं । पुराचुम्बकत्व की ये धारियाँ महासागरीय तली के निरन्तर प्रसारित होते रहने की प्रतीक हैं (चित्र – 4.15) । तली के विस्तारण की गति सभी स्थानों पर समान नहीं रही है । यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि तली के विस्तारण की दर मध्य महासागरीय कटक के एक ओर की ही विस्तारण दर होती है । अत: यदि यह कहा जाये कि किसी सागरतली की विस्तारण दर दो से.मी. प्रतिवर्ष है तो इसका अर्थ होगा कि वहाँ कुल प्रसारण 2 + 2 = 4 से.मी. हुआ है । नवीनतम खोजों से जानकारी मिली है कि प्रशान्त महासागर में अधिकतम विस्तारण दर 6 से 9 से.मी. प्रतिवर्ष (अत: कुल विस्तारण 12 से 18 से.मी. प्रतिवर्ष) है । हिन्द महासागर में यह दर 1.5 से 3 से.मी. तथा अटलाण्टिक महासागर में दो सेण्टीमीटर प्रतिवर्ष है ।

   इस प्रकार इन अध्ययनों से महाद्वीपों व महासागरों की अस्थिरता की संकल्पना भी प्रमाणित होती है । यह इस बात का स्पष्ट संकेत है कि महाद्वीप व महासागरीय बेसिन सदा से गतिशील रहे हैं । इस तथ्य को स्वीकारने पर महाद्वीपीय विस्थापन की विचारधारा को प्लेट विवर्तनिकी संकल्पना से पुन: बल मिला है ।

चित्र– 4.15 : विभिन्न चरणों में पुराचुम्बकत्व की धारियाँ

2. महाद्वीपीय विस्थापन (Continental Drift)– पुराचुम्बकत्व (Paleomagnetism) व महासागर तलीय विस्तारण से सम्बन्धित नवीनतम खोजों से यह सिद्ध हो चुका है कि महाद्वीप व महासागरीय बेसिन कभी भी स्थिर व स्थाई नहीं रहे हैं । इन खोजों के आधार पर पिछले बीस करोड़ वर्ष की ही अवधि में महाद्वीपीय विस्थापन से सम्बन्धित जानकारियाँ उपलब्ध हुई हैं । लेकिन वैज्ञानिकों ने ऐसी तकनीकें विकसित कर ली हैं जिनके द्वारा इसके पूर्व की अवधि के लिये भी महाद्वीपों व महासागरों की स्थिति का पुनर्गठन (Reconstruction) किया जा सके । ऐसे ही पुनर्गठन का प्रयास वैलेण्टाइन व मूर्स (Valentine & Moors) ने किया । उनके अनुसार 70 करोड़ वर्ष पूर्व एक विशाल भूखण्ड था जिसे पैन्जिया प्रथम (Pangea II) कहा गया । पचास से साठ करोड़ वर्ष पूर्व भूगर्भ से आने वाली तापीय संवाहन धाराओं के कारण उसमें भ्रंशन व विस्थापन हुआ । आज से 20 – 30 करोड़ वर्ष पूर्व ये विस्थापित भूभाग प्लेट विवर्तनिकी के कारण पुन: मिल गये जिससे पैन्जिया द्वितीय (Pangea II) बना । इसे एक प्रतिमान के रूप में चित्र - 4.16 द्वारा दर्शाया गया है । इसके पश्चात पुन: विस्थापन होने लगा एवं पैन्जिया द्वितीय से भ्रंशित स्थलखण्ड वर्तमान महाद्वीपीय विन्यास तक विस्थापित होते रहे हैं । लगभग 8 करोड़ वर्ष पूर्व भारतीय प्लेट के टिथीस सागर को संकुचित करते हुए यूरेशियन प्लेट की ओर बढने के साथ –साथ हिन्द महासागर बनने लगा । लगभग इसी समय अफ्रीकन प्लेट से अलग होकर ऑस्ट्रेलियन – अण्टार्कटिकन प्लेट के दक्षिण की ओर विस्थापित होने से हिन्द महासागर का विस्तार होने लगा था । डीज व होल्डन (Dietz & Holden) ने भी महाद्वीपों के 20 करोड़ वर्ष पूर्व के इतिहास को पुनर्गठित करते हुए प्लेट विवर्तनिकी के आधार पर 65 लाख वर्ष आगे तक की स्थिति को चित्रित किया है (चित्र - 4.17 से 4.22 तक) ।

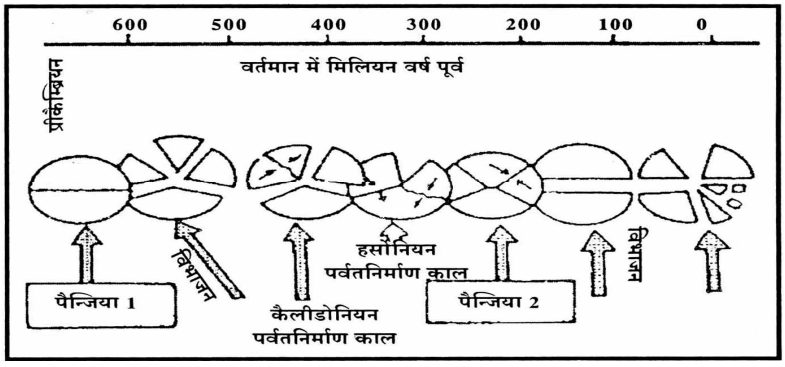

चित्र – 4.16 :पैन्जिया के विस्थापन व पुनर्गठन की प्रक्रिया का प्रतिमान (वैलेन्टाइन व मूर्स के आधार पर)

3. अन्य प्रभाव – प्लेट विवर्तनिकी के कई अन्य प्रभाव भी हैं जिनका विवरण इस इकाई में अन्य बिन्दुओं के वर्णन में आ चुका है । पर्वत निर्माण, भूकम्प, ज्वालामुखी क्रिया, द्वीपीय चापों (Island arcs/ Festoons) का निर्माण (चित्र - 4.13) आदि ऐसे अन्य प्रभाव हैं ।

जिन प्लेट पार्श्वों पर दरार घटियाँ हैं वे चौड़ी होती जा रही है । लाल सागर व अदन की खाड़ी में विस्तारण की दर 1 से.मी. प्रतिवर्ष है । कैलिफोर्निया की खाड़ी का भी विस्तारण हो रहा है ।

इस प्रकार निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि महाद्वीपीय विस्थापन अब एक सच्चाई है जिसको अधिकांश भूगर्भशास्त्री एवं भूवैज्ञानिक मानने लगे हैं । विवाद मुख्यतः इस बिन्दु पर है कि विस्थापन के लिये सक्षम नोदकबल (Propelling Force) कौन सा है । नवीनतम खोजों ने तापीय संवाहन धाराओं की इस सन्दर्भ में विश्वसनीयता को पुनर्जीवित किया है । खोज कार्य निरन्तर जारी है और सम्भव है कि विशिष्ट जानकारियाँ भूगर्भिक गूढ़ सन्दर्भों को अधिक स्पष्ट कर सकेगी ।

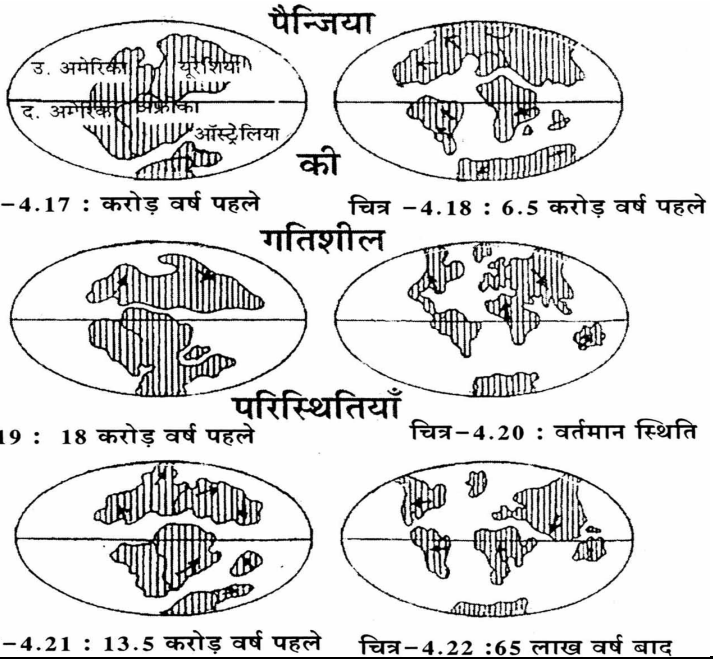

चित्र–4.17 : करोड़ वर्ष पहले

चित्र –4.18 : 6.5 करोड़ वर्ष पहले

चित्र–4.19 : 18 करोड़ वर्ष पहले

चित्र–4.20 : वर्तमान स्थिति

चित्र–4.21 : 13.5 करोड़ वर्ष पहले

चित्र–4.22 :65 लाख वर्ष बाद

बोध प्रश्न – 3

1. प्लेट शब्द का प्रयोग सबसे पहले किसने किया था?

   .....

   .....

2. पृथ्वी कुल कितनी बड़ी प्लेटों की बनी हैं?

   .....

   .....

3. प्रत्येक प्लेट की मोटाई लगभग कितनी है?

   .....

   .....

4. मेंटल का ऊपरी भाग अत्यन्त गर्म तथा तरल अवस्था में है इसका नाम क्या है?

.....

.....

5. प्लेट प्रति वर्ष कितने से.मी. स्थानान्तरित होती है?

.....

.....

4.3 सारांश (Summary)

पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद पृथ्वी की आन्तरिक भूर्गभिक हलचलों के कारण सबसे पहले महाद्वीपों और महासागरों की उत्पत्ति हुई है । पृथ्वी के कुल क्षेत्रफल के लगभग 71 प्रतिशत भाग पर महासागर एवं समुद्र है और 29 प्रतिशत भाग में स्थल के रूप में महाद्वीप फैले है । 1874 ई. में लूमियन ग्रीन ने अपनी चतुष्फलक की परिकल्पना को प्रतिपादित किया । उसने यह बताया कि जल, थल के वितरण में एक चतुष्फलक का विन्यास है चतुष्फलक के चार चपटे पार्श्वों पर चार महासागर पाये जाते है ऊपरी क्षैतिज पार्श्व पर आर्कटिक महासागर का विस्तार है ।

सन् 1912 ई. में वेगनर ने अपने प्रसिद्ध महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त को प्रतिपादित किया । वेगनर के अनुसार पृथ्वी के इतिहास में महाद्वीप अपने वर्तमान स्थान पर नहीं थे बल्कि महाद्वीपों का विस्थापन हुआ है । ऐसे प्रमाण मिले है जिनके आधार पर यह ज्ञात होता है कि एक ही स्थान पर जलवायु में समय–समय पर परिवर्तन हुए है । और स्थल भागों का स्थानान्तरण हुआ है जो अधिक सही प्रतीत होता है । अनेक साक्ष्यों एवं प्रमाणों के आधार पर वेगनर ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि कार्बोनिफेरस युग में सभी स्थल भाग एक पिंड पेन्जिया के रूप में विद्यमान थे बाद में महाद्वीपीय प्रवाह के कारण पेन्जिया का विभाजन हो गया था जिससे विभिन्न स्थल भाग एक दूसरे से अलग होकर वर्तमान रूप में स्थित है

प्लेट विवर्तनिकी एक ऐसी संकल्पना है जिसमें समुद्र तल का विस्तार, महाद्वीपीय विस्थापन, भूपटली संरचना, ज्वालामुखी एवं भूकम्पीय क्रियाओं का भौगोलिक विस्तार आदि की व्याख्या इस परिकल्पना की सहायता से की जा सकती है । प्लेट शब्द का प्रयोग सबसे पहले डब्ल्यू. जे. मार्गन ने 1967 में किया था । पृथ्वी की पर्पटी एक समूची इकाई नहीं बल्कि वह कई प्लेटों में विभक्त है । प्रत्येक प्लेट की मोटाई 60 से 100 कि.मी. है अधिकांश प्लेटें महासागरी तथा महाद्वीपीय भूपटल द्वारा निर्मित है । प्लेटों का क्षेत्रफल बहुत अधिक है ये प्लेट एक दूसरे के सन्दर्भ में तथा पृथ्वी के घूर्णन –अक्ष के सन्दर्भ में बराबर गति में है ।

4.4 शब्दावली (Glossary)

- **वलन :** मोड़दार ।
- **अपनति :** स्थल भाग ऊपर उठे हुए है ।

- **प्रतिध्रुवस्थ स्थिति:** महासागरों की शीर्ष दक्षिण की और महाद्वीपों का आधार दक्षिण की ओर है ।
- **महाद्वीपीय विस्थापन :** महाद्वीप अपने पुराने स्थान से विस्थापित हुए है ।
- **जगसाफिट :** दक्षिण अमेरिका का उत्तरी भाग अफ्रीका से गिनी की खाड़ी में जुड़ जाने की सम्भावना ।
- **कार्बोनिफरस युग :** कोयला के बनने का युग ।
- **पुरा चुम्बकीय आंकड़े** : पुराने समय की चट्टानों में चुम्बकीय दिशा ।
- **एस्थेंनो सफियर :** मेंटल का ऊपरी भाग जो अत्यधिक गर्म है ।
- **चुम्बकीय असंगति :** चुम्बकीय रेखाओं में भिन्नता पाई गई ।
- **विनासी प्लेट सीमान्त :** जहाँ प्लेंटे एक दूसरे से टकराती है ।

4.5 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference Books)

1. शर्मा, एच. एस. एवं कुमार, प्रमीला : **भूआकृति विज्ञान**, म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल

2. दयाल, पी. :**भूआकृति विज्ञान**, शुक्ला बुक डिपो, पटना

3. सींग, सविन्द्र : भूआकृतिक विज्ञान, श्री शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2007

4. स्टीयर्स, जे. ए. : **अनस्टेबिल अर्थ (Unstable earth),** मेथ्यून एडं कम्पनी, इसेक्स स्ट्रीक्ट, लंदन, 1985

4.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1. 71%
2. 19.4%
3. 7.5%
4. एक त्रिमितीय आकृति

बोध प्रश्न – 2

1. 1912
2. जलवायु
3. पेन्जिया
4. गोंडवाना लैंड
5. कार्बोनिफेरस युग

बोध प्रश्न – 3

1. डब्ल्यू जे. मार्गन
2. 6 प्लेटे
3. 60 से 100 कि.मी.
4. एस्थेन्सेसफियर

5. 2 से 3 से.मी.

4.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. वेगनर के महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त का संक्षिप्त विवरण दीजिये ।

2. महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त के पक्ष में मुख्य प्रमाणों की विवेचना कीजिये ।

3. महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष में क्या तर्क हैं?

4. पेन्जिया क्या है? वर्तमान महाद्वीपीय खण्डों से इसका क्या संबंध है?

5. महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धान्त द्वारा महाद्वीपों एवं महासागरों की उत्पत्ति की व्याख्या कीजिये ।

6. प्लेट विवर्तनी सिद्धान्त के आधारों की विवेचना कीजिये एवं भूविज्ञान में इसकी महत्वता को स्पष्ट।

7. प्लेट विवर्तनी सिद्धान्त क्या है? इससे भूकम्पों तथा ज्वालामुखीयों के भौगोलिक वितरण को समझने में क्या मदद मिलती है?

8. भूपटल को कितनी प्लेटों में विभाजित किया गया है? प्लेट सीमा और प्लेट सीमान्त में क्या अन्तर है? प्लेट सीमान्त कितने प्रकार के होते हैं और उनका क्या महत्व है?

9. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये–

(अ) निम्न वेग प्रदेश

(ब) प्लेट टैक्टानिक्स की कार्यविधि

(स) रचनात्मक प्लेट सीमान्त

इकाई 5 : पृथ्वी की हलचलें (Earth Movements)

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 भूसंचलन के प्रकार

5.2.1 पर्वत निर्माणकारी संचलन

5.2.2 महादेश रचना संचलन

5.2.2.1 अधोमुखी संचलन

5.2.2.2 ऊपरमुखी संचलन

5.3 भ्रंशित स्थलाकृति

5.3.1 भ्रंशों का वर्गीकरण

5.3.1.1 सामान्य भ्रंश

5.3.1.2 सोपनी भ्रंश

5.3.1.3 व्युत्क्रम भ्रंश

5.3.1.4 नतिलम्बी

5.3.1.5 होर्स्ट

5.3.1.6 ग्रेबन

5.4 वलनों का वर्गीकरण

5.4.1 सममित

5.4.2 असममित

5.4.3 एक दिग्नात

5.4.4 समनत

5.4.5 पीरवलित

5.5 अकस्मात उत्पन्न होने वाली शक्तियाँ

5.6 कोबर, जेफ्रे, जोली एव होम्स के सिद्धान्त

5.6.1 कोबर का पर्वतीय निर्माणक भूसन्नति सिद्धान्त

5.6.7 जोली का रेडियो एक्टिवता सिद्धान्त

5.6.3 जेफ्रीज का तापी संकुचन सिद्धान्त

5.6.4 आर्थर होम्स का संवहन धाराओं का सिद्धान्त

5.7 सारांश

5.8 शब्दावली

5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

5.10 बोध प्रश्नों के उत्तर
5.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

5.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप समझ सकेंगे : –

- पृथ्वी पर विभिन्न स्थलरूपों का निर्माण. दो प्रकार की शक्तियों की परस्पर क्रियाओं द्वारा होता है,
- भूगर्भिक हलचलों का दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है,
- दीर्घकालिक भूगर्भिक हलचलें एवं आकस्मिक हलचलें,
- भ्रंशित स्थलाकृति,
- पर्वत निर्माण के सिद्धान्त, कोबर, जेफ्रे, जोली एवं होम्स ।

5.1 प्रस्तावना (Introduction)

पृथ्वी के धरातल पर पाये जाने वाले विभिन्न स्थल रूपों का निर्माण दो प्रकार की शक्तियों की परस्पर क्रियाओं द्वारा होता है इन शक्तियों में बाह्य तथा आन्तरिक शक्तियों को शामिल किया जाता है इनमें से एक वे शक्तियां है जिन्हें हम अनावृतीकरण की शक्तियाँ (Denudation agencies) कहते है ये शक्तियाँ बाह्य है और इनका सम्बन्ध वायुमंडल से है, इन शक्तियों को सम्मिलित रूप में बाह्य शक्तियाँ (External or Exogenetic forces) कहते है । बाह्य शक्तियों द्वारा उत्पन्न एवं विकसित भू– आकारों का अध्ययन ही भू – आकृति विज्ञान का मुख्य विषय क्षेत्र है आन्तरिक शक्तियों का सम्बन्ध भूगर्भ की आन्तरिक हलचलों से है आन्तरिक शक्तियों के द्वारा धरातल के स्थल रूप जैसे महाद्वीप, महासागर एवं पर्वतों का निर्माण होता है इन्हें हम अन्तर जात या आन्तरिक शक्तियाँ (Internal or Endogenetic forces) कहते है । जैसा कि अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि पृथ्वी बहुत ही अस्थिर है इसके प्रमाण विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त हुए है जिनसे यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी के विभिन्न भागों में भूगर्भिक हलचलें समय–समय पर होती रही है और इन हलचलों से महाद्वीपों, महासागरों, पर्वतों, पठारों आदि का निर्माण हुआ है अत: बाह्य शक्तियाँ आन्तरिक शक्तियों द्वारा उत्पन्न स्थलाकृतियों में निरंतर परिवर्तन लाती रहती है । इन्हीं अन्तर्जात शक्तियों के अंतर्गत भूगर्भिक हलचलें आती हैं ।

5.2 भूसंचलन के प्रकार (Types of Earth Movements)

भूगर्भिक हलचलों को दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है (अ) दीर्घकालिक हलचलें (slow or secular movements of upheaval and depression) और (ब) आकस्मिक हलचलें (sudden movements) जिनमें भूकम्प तथा ज्वालामुखी आते हैं । दीर्घकालिक संचलन के द्वारा विशाल भू– भाग धीरे धीरे ऊपर उठते हैं अथवा नीचे धंसते हैं इस प्रकार के उत्थापन (Elevation) तथा धंसन (Subsidence) के अनेक प्रमाण पृथ्वी के भिन्न भिन्न भागों में मिलते हैं । पृथ्वी की सतह पर जो परतदार चट्टानें पाई जाती हैं वे प्राय क्षैतिज (Horizontal)

परतों में मुख्य रूप से समुद्रों की तली पर जमा हुई थीं । इनमें से कुछ चट्टानों में सामुद्रिक जीवों के अवशेष (Marine Fossils) मिलते हैं भूगर्भिक हलचलों के प्रभाव से भूपटल की चट्टानें वलित, भ्रंसित एवं गुम्बदीय हो जाती हैं और इन्हीं संरचनाओं की पृष्ठ भूमि में बाह्य प्रक्रम तथा कारक अपनी अपनी भूमिका निभाते है बाह्य कारकों के कार्यों की गहनता विभिन्न प्रकार की संरचना पर निर्भर करती है भूगर्भिक हलचलें बाह्य प्रक्रम के विकास में व्यवधान (Interruption) भी पैदा करती हैं अत: भूपटल पर वितरित भूआकारों में सरलता के बजाय जटिलता पाई जाती है भूकम्प तथा ज्वालामुखी प्रतिदिन भूतल के किसी न किसी स्थान पर आते रहते है जो पृथ्वी के परिवर्तनशील स्वभाव को प्रमाणित करते हैं ।

स्थलाकृतियों के अध्ययन से पता चलता है कि भूतल तथा सागर तल दोनों परिवर्तनशील है । दीर्घकालिक संचलन की दिशा के अनुसार दो वर्गो में बाटा जाता है (1) लम्बबत् अथवा अरीय भूसंचलन (vertical or radial earth movements) तथा (2) क्षैतिज या स्पर्श रेखीय (Horizontal or tangential earth movements) उर्ध्वाधर संचलन में भूपटल का एक भाग ऊपर उठता है अथवा नीचे की ओर धंसता है इस तरह की क्रिया में चट्टानों की परत में मोड़ पैदा नहीं होते हैं ।

भूगर्भिक शक्तियों का वर्गीकरण

भूसंचलन के वर्गीकरण को हम नीचे दी हुई तालिका से समझ सकते हैं :

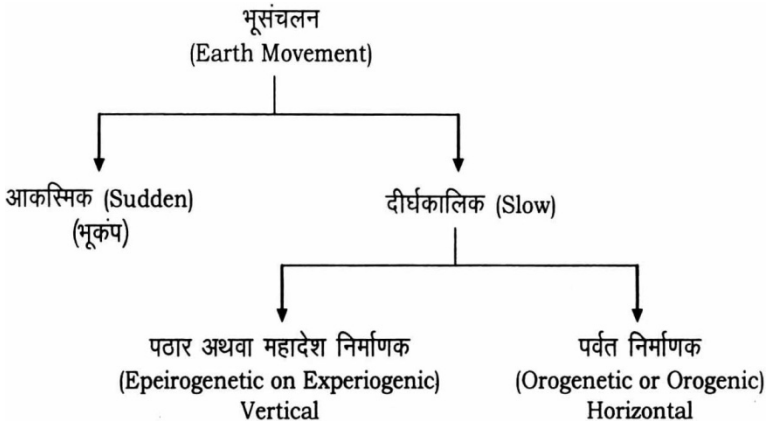

1. **अकस्मात् उत्पन्न होने वाली शक्तियाँ (Sudden Movement) :** भूकम्प (Earthquake), ज्वालामुखी क्रियाएँ (volcanicity), पर्वत निर्माणकारी शक्तियाँ (orogenic Movement), या स्पर्श रेखीय बल (Tengential Force), संकुचन कारी हलचलें (Compressional Movement), विस्तारकारक हलचलें (Tensional Movement), धीमी गति से उत्पन्न होने वाली शक्तियाँ (Secular Movement), महादेश रचना शक्तियाँ (Eperiogenetic Movement or Radial Forces) ।

महादेश निर्माणक अथवा उर्ध्वाधर संचलन (Epeirogenetic Or Vertical Movements) : इस प्रकार के संचलन की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें चट्टानों की परतों का तोड़ मरोड़ (coumpling of the strata) नहीं होता है परन्तु भू –पटल का कुछ भाग ऊपर उठ जाता है परतों में विक्षोभ (Disturbance) नहीं होता है इसी तरह यदि समुद्र तल का कोई भाग नीचे

की ओर धंस जाता है तो समुद्र की सतह नीचे हो जायेगी अर्थात समुद्र की सतह नीचे चली जायेगी । सभी महादेशों में इस प्रकार के भूसंचलन के प्रमाण मिलते हैं सभी क्षेत्रों में वर्तमान समुद्र की सतह से काफी ऊँचाई पर परतदार चट्टानें मिलती हैं जिनका निर्माण समुद्र में हुआ था इससे यह विश्वास होता है कि महादेश के ये भाग किसी समय समुद्र के भीतर थे और धीरे धीरे आन्तरिक बलों के कारण ऊपर उठे हैं अर्थात पृथ्वी के अधिकतर भाग धीमी गति से उत्पन्न होने वाले अन्तर – जातबलों से प्रभावित होते हैं इस प्रकार के संचलन का प्रभाव व्यापक होता है ।

5.2.1 पर्वत निर्माणकारी संचलन (Orogenetic Movements)

इस प्रकार के संचलन के प्रमाण सीमित क्षेत्रों में मिलते है और इस प्रकार के संचलन के सबसे अच्छे उदाहरण संसार के मोड़दार पर्वतों की श्रेणियाँ हैं । जिन भागों में आजकल पर्वत श्रेणियाँ पाई जाती हैं, वहाँ पर भूगर्भिक इतिहास में लम्बे तथा संकरे पानी के बेसिन रहे होंगे । इन्हीं बेसिन में निक्षेपित तलछट में पर्वत श्रेणियों का निर्माण हुआ है । भूगर्भिक इतिहास में इस प्रकार की हलचलें एक निश्चित समय के पश्चात होती रही हैं और उससे विभिन्न पर्वत मालाओं का निर्माण हुआ है । पर्वत निर्माण में प्राय: भिचाव (compression) की प्रधानता पाई जाती है । भिचाव बल के कारण चट्टानों में मोड़ (Folding) उत्पन्न होते हैं कभी–कभी यह भिचाव (compression) इतना विशाल होता है जिससे हिमालय तथा आल्पस जैसे मोड़दार पर्वतों का निर्माण हुआ है । यदि पृथ्वी पर पाये जाने वाले पर्वतों के वितरण तथा उनके भूगर्भिक इतिहास पर प्रकाश डालें तो स्पष्ट हो जाता है कि केम्ब्रीयन युग के पूर्व से एक निश्चित अवधि के बाद पर्वत निर्माणकारी हलचलें पृथ्वी के विभिन्न भागों में होती रही है ।

यद्यपि जिन पर्वतों का निर्माण केम्ब्रीयन युग से पूर्व हुआ था उनका समतलीकरण हो गया है, ऐसे क्षेत्रों में बहुचक्रीय स्थलाकृतियों के अवशेष देखे जा सकते हैं । राजस्थान का अरावली पर्वत तथा संयुक्तराज्य अमेरिका का अप्लेसियन पर्वत का उद्भव प्रीकेम्ब्रीयन युग में करीब करीब साथ साथ ही हुआ था । अरावली और अप्लेसीयन की तुलना में आल्पस हिमालय एवं एंडीज पर्वत मालायें भूगर्भिक इतिहास में काफी नवीन मानी जाती हैं इनका उद्भव टरसियरी युग का माना जाता है । राकी पर्वत माला को इन प्रकार की पर्वत मालाओं के बीच का माना जाता है । महाद्वीपों के विभिन्न भागों में होने वाली उठाव तथा धंसाव की क्रियाओं के उदाहरण स्पष्ट रूप से उनके समुद्री किनारों पर देखे जा सकते हैं ।

5.2.2 महादेश रचना संचलन (Epeirogenetic Movements)

पर्वत निर्माण कारी संचलन तथा महादेश संचलन में गहरा सम्बन्ध है । जिन भागों में पर्वत निर्माणकारी हलचलें होती रहती हैं । उन भागों के समीप महादेश रचना संचलन का प्रभाव देखा जा सकता है पृथ्वी के सभी महादेशों में उत्तोलन तथा धंसाव के उदाहरण देखे जा सकते हैं इस प्रकार के संचलन की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें चट्टानों की परतों का तोड़ मोड़ (crumpling of strata) नहीं होता है, किन्तु फिर भी कभी कभी भूपटल का कुछ भाग चौड़े तथा चपटे महराब (Arch) के रूप में ऊपर उठ जाता है परतों में विक्षोभ (disturbance) नहीं होता है किन्तु बीच का भाग कुछ अधिक ऊपर उठ जाता है जिसके कारण दोनों ओर हल्का

ढाल हो जाता है इस प्रकार के संचलन से सम्पूर्ण महादेश तक ऊपर उठ सकता है इसी प्रकार यदि समुद्रतल का कोई भाग नीचे की ओर धंस जाता है तो उससे समुद्र की सतह नीचे चली जायेगी और आसपास के स्थल भाग ऊपर उठ जायेंगे । सभी महादेशों में इस प्रकार के भूसंचलन के प्रमाण मिलते हैं सभी में वर्तमान समुद्र की सतह से काफी ऊँचाई पर वैसी परतदार चट्टानें मिलती हैं जिनका निर्माण समुद्र में हुआ था, इससे यह स्पष्ट है कि महादेश के ये भाग किसी समय समुद्र के भीतर थे, और धीरे–धीरे ऊपर उठे हैं यह भी देखा गया है कि कहीं कहीं ये परतदार चट्टानें पुरानी अपरदित चट्टानों (well eroded older rocks) के ऊपर जमीं हुई पाई जाती हैं इससे यह ज्ञात होता है कि समुद्र में निमग्न होने के पहले यह भाग एक स्थल भाग था । जिस पर अनावृत्तीकरण हो चुका था अर्थात इन भागों में पहले धंसन (Subsidence) हुआ है और फिर लम्बे समय के बाद उत्थापन (Elevation) हुआ है इस प्रकार के भूसंचलन में गति अत्यन्त धीमी होती है और महाद्वीप तथा पठार बनने में लाखों वर्ष का समय लगता है ।

5.2.2.1 अधोमुखी संचलन (Downward Movements)

समुद्री किनारों पर स्थित चट्टानों के तलछटों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि कभी ये क्षेत्र स्थल के भाग थे और अब समुद्र तल के नीचे धंस गये हैं क्रेटे द्वीप के पूर्वी भाग में प्रमाण मिलते है कि पुरानी इमारतें अब समुद्र में डूब गई हैं इसी प्रकार ब्रिटिश कोलम्बिया द्वीप जो पहले भूभाग का अंग था अब सह के नीचे धंसता जा रहा है । भारत के समुद्रीतट का अवलोकन कर धंसाव के उदाहरण दिये जा सकते हैं । पांडुचेरी के पास इस प्रकार के धंसाव की क्रिया देखी जा सकती है ।

5.2.2.2 ऊपरमुखी संचलन (Upward Movements)

धंसाव की क्रिया के बजाय उठाव कार्यों के प्रमाण समुद्र तटों पर स्पष्ट रूप से विद्यामान हैं पृथ्वी के विभिन्न भागों में समुद्री तटों पर स्थिति सीढ़ीनुमा वेदिकायें, खड़ी कगारें तथा उठे हुए बीचेज् (Raised Beaches) इन भागों के उठाव कार्य के द्योतक हैं । भारत के समुद्री किनारों से भी उठाव कार्य के कई प्रमाण दिये जा सकते हैं । भूगर्भिक हलचलों से उत्पन्न संरचनायें भूगर्भिक हलचलों या भूपटल विरूपणकारी हलचलों से सभी प्रकार की चट्टानें विकृत हो जाती है परंतु हलचलों का प्रभाव परतदार एवं रूपान्तरित चट्टानों पर विशेष रूप से पड़ता है । इन भूगर्भिक हलचलों से भूभाग की चट्टानें मुड़ जाती हैं तथा भ्रंशित हो जाती हैं इन हलचलों से भ्रंशित, गुम्बदीय तथा वलित संरचनाओं का उद्भव होता है ।

बोध प्रश्न– 1

1. अनावृतीकरण कीं शक्तियां किसे कहते हैं?

   .....

   .....

2. अकस्मात् उत्पन्न होने वाली शक्तियां क्या हैं?

   .....

.....

3. पर्वत निर्माण कारी संचलन किसे कहते हे?

.....

.....

4. ऊपर मुखी संचलन किसे कहते हे?

.....

.....

5.3 भ्रंशित स्थलाकृति (Faulted Landform)

अन्तरजात बलों के द्वारा भूपटल का एक भाग दूसरे भाग के सहारे स्थानान्तरित हो जाता है इस भूपटल विभंग को क्रिस्टल फ्रेक्चर (Crustal Fracture) कहा जाता है ।

भूपटल पर इस प्रकार का स्थानान्तरण अर्न्तरजात बल द्वारा उत्पन्न तनाव मूलक तथा सम्पीडन मूलक संचलनों के कारण होता है यदि तनाव की स्थिति सामान्य होती है तो भूपटल पर चटकने या दरारें पड़ जाती हैं किन्तु अपेक्षाकृत अधिक होती हैं तो चट्टानों का एक भाग दूसरे भाग के सहारे स्थानान्तरित होने लगता है तथा भूपटल विभंग होने लगता है । बारसेंस्टर ने स्पष्ट कहा है कि भ्रंश पृथ्वी पर एक विभंग या दरार होती है जिसके सहारे एक भाग दूसरे की अपेक्षा सरक जाता है किसी दरार के सहारे जब एक भाग दूसरे भाग की तुलना में स्थानान्तरित होता है तो वह स्थानान्तरण लम्बवत क्षैतिज चक्राकार तथा किसी भी रूप में हो सकता है ।

5.3.1 भ्रंशों का वर्गीकरण

भूपटल पर भ्रंश निर्माणकारी हलचलों की विभिन्नता के कारण निम्न प्रकार के भ्रंश निर्मित हो जाते हैं ।

5.3.1.1 सामान्य भ्रंश (Simple Fault)

जब शैलों में तनाव के कारण दरार उत्पन्न हो जाती है और तनाव सक्रिय रहता है तो भ्रंश रेखा के सहारे दोनों कगारों का संचलन होना प्रारम्भ हो जाता है तथा एक भाग नीचे धँस जाता है । इसे सामान्य भ्रंश कहा जाता है । इसमें प्राय: भ्रंश के दोनों किनारे विपरीत दिशा में खिसक जाते हैं ।

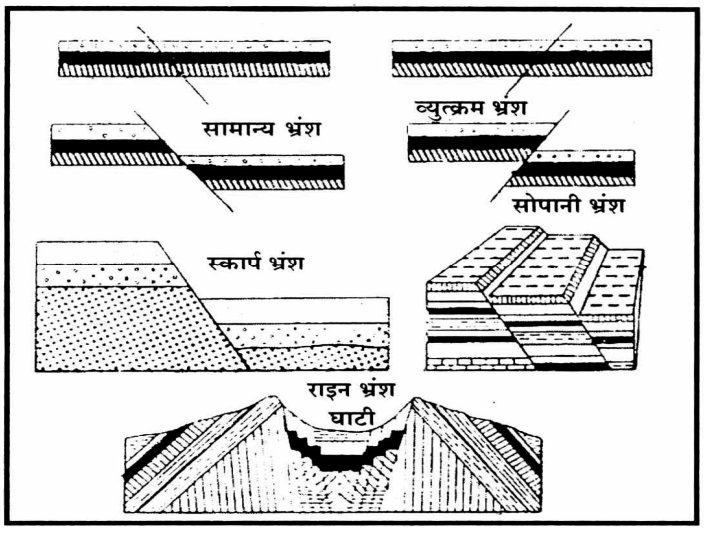

चित्र – 5.1 : भ्रंश के विभिन्न प्रकार

5.3.1.2 सोपनी भ्रंश (Step Fault)

जब किसी क्षेत्र में भ्रंशों का निर्माण इस तरह होता है कि सभी भ्रंशतल के ढाल एक ही दिशा में हों तो उसे सोपानी भ्रंश कहते हैं ।

5.3.1.3 व्युत्क्रम भ्रंश (Reverse Fault)

जब संचलन सम्पीडन के रूप में होता है तो चट्टानों के दोनों खण्ड दरार पड़ने से एक दूसरे के ऊपर चढ़ जाते हैं इस प्रकार के भ्रंश को व्युत्क्रम भ्रंश कहते हैं ।

5.3.1.4 नतिलम्बी (Strike Fault)

क्षैतिज दिशा में संचलन होने से जब भ्रंशतल के सहारे क्षैतिज गति होती है तो उसे नतलम्बी भ्रंश कहा जाता है ।

5.3.1.5 होर्स्ट (Horst)

होर्स्ट भूपटल का उत्क्षेपित खण्ड है जो भूभाग के अन्य खण्डों से ऊपर स्थित होता है जो बीच के खण्ड की तुलना में या तो स्थिर रूप से खड़े है या नीचे सरक जाते हैं ।

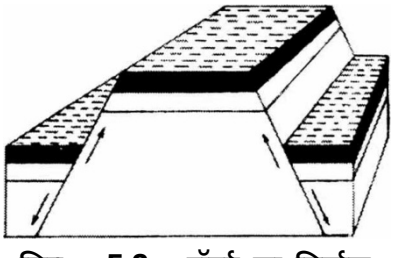

चित्र – 5.2 : हॉर्स्ट का निर्माण

5.3.1.6 ग्रेबन (Graben)

दो सामान्य भ्रंशों के बीच की द्रोणिका या गर्त को ग्रेबन कहा जाता हैं।

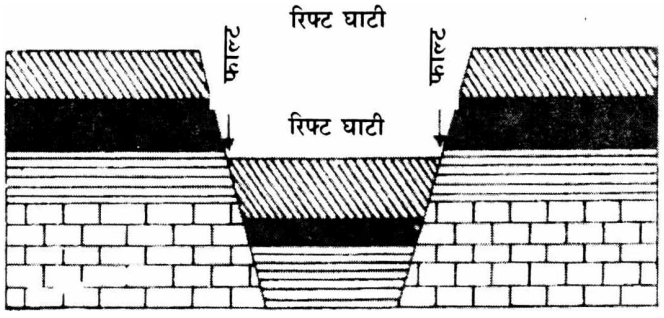

चित्र – 5.3 : रिफ्ट या दरार घाटी

बोध प्रश्न – 2

1. भ्रंशित स्थलाकृति किसे कहते है?

   .....

   .....

2. सामान्य भ्रंश किसे कहते है?

   .....

   .....

3. नतिलम्बी भ्रंश किसे कहते है?

   .....

   .....

4. होर्स्ट भ्रंश किसे कहते है?

   .....

   .....

5.4 वलनों का वर्गीकरण (Classification of Folds)

भूपटल पर वलनों की प्रकृति साधारणतः जटिल पाई जाती है इनकी प्रकृति चट्टानों की कठोरता व कोमलता तथा सम्पीडनात्मक शक्ति की गहनता पर निर्भर करता है उत्पत्ति के आधार पर बलनों को निम्न भागों में विभाजित किया है –

1. **सममित वलन (Symmetrical folds) – इस प्रकार के वलन में गुम्बदों का आकार सुडौल होता है** पार्श्ववर्ती ढाल एवं उनकी भुजाएँ समान होती है ।

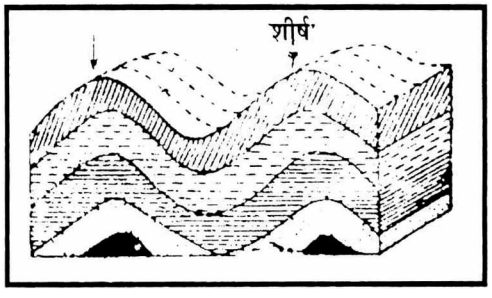

चित्र – 5.4 : सममित वलन

2. **असममित वलन (Asymmetrical folds)** – जिस वलन में गुम्बदों के पार्श्ववर्ती ढाल विभिन्न स्वभाव वाले होते हैं उसे असममित वलन कहते हैं । इस वलन की एक भुजा मन्द ढाल व साधारण झुकाव वाली तथा दूसरी भुजा तीव्र ढाल तथा कम दूरी वाली होती है।

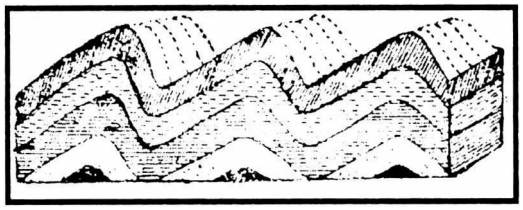

चित्र – 5.5 : असममित वलन

3. **एकनत वलन (Monoclinal folds)** – जिस वलन में एक ढाल समकोण तथा दूसरा ढाल मन्द होता है उसे एकनत वलन कहा जाता है।

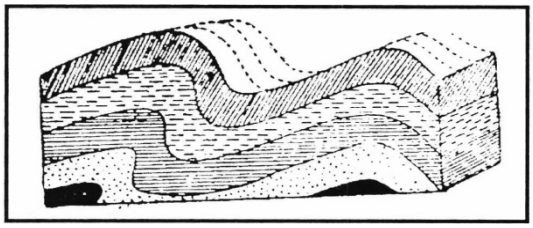

चित्र – 5.6 : एकनत वलन

4. **समनत वलन (Isoclinal folds) –** इस वलन में पार्श्ववर्ती भुजाएँ ऊर्ध्वाधर रूप में समानान्तर होती है । समान सम्पीडनात्मक बल के द्वारा इनका निर्माण होता है । इनकी भुजाएँ एक दूसरे के इतनी निकट होती है कि इनके टूटने की सम्भावना बनी रहती है ।

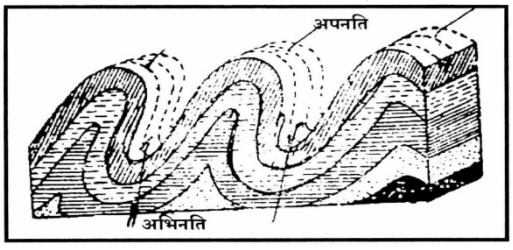

चित्र– 5.7 : समनत वलन

5. **परिवलित वलन (Recumbent folds) –** क्षैतिजवत् समानान्तर भुजाओं वाले वलन को परिवलित वलन की संज्ञा दी जाती है ।

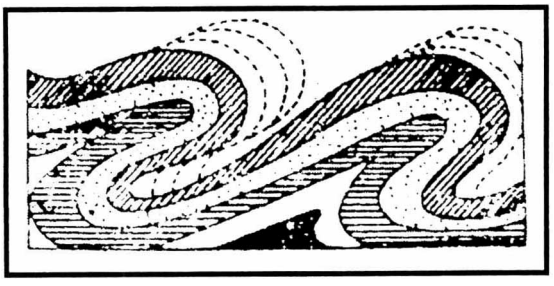

चित्र– 5.8 : परिवलित वलन

बोध प्रश्न – 3

1. उत्पत्ति के आधार पर वलन कितने प्रकार के होते हैं?

   .....

   .....

2. सममित वलन किसे कहते है?

   .....

   .....

3. एकनत वलन किसे कहते हैं?

   .....

   .....

4. परिवलित वलन किसे कहते हैं?

   .....

   .....

5.5 अकस्मात् उत्पन्न होने वाली शक्तियाँ

पृथ्वी पर परिवर्तन लाने वाली आन्तरिक शक्तियों में कुछ शक्तियाँ भूपटल पर अकस्मात् उत्पन्न होती हैं और उनके द्वारा अनेक भूदृश्यों का निर्माण होता है इस प्रकार की हलचलों से कई बार बहुत ही विनाशकारी परिवर्तन देखने को मिलते है इन अकस्मात् हलचलों का मुख्य कारण भूकम्प तथा ज्वालामुखी का उद्गार होता है, प्राय: देखा जाता है कि जब ज्वालामुखी का उद्गार होता है तो उससे भूभाग पर बहुत ही अकस्मात् परिवर्तन देखने को मिलते हैं । भूकम्प तथा ज्वालामुखी का विस्तार से अध्ययन भूकम्प और ज्वालामुखी वाले भाग (इकाई – 6) में किया गया है ।

5.6 कोबर, जोली, जेफ्रीज, होम्स एवं वेगनर के सिद्धान्त

5.6.1 कोबर का पर्वत निर्माणक भूसन्नति सिद्धान्त

जर्मन वैज्ञानिक एल. कोबर ने अपनी पुस्तक दि. लाइफ ऑफ द अर्थ (Der Bau Der Erde) में महाद्वीपों के निर्माण एवं पर्वतों के बनने की विस्तृत व्याख्या की है । कोबर का मत है कि पृथ्वी अपनी आद्य अवस्था से सिकुड़ती जा रही है । पृथ्वी में प्रारंभ में कुछ दृढ़ खण्ड (Kratogen) बने जो बहुत प्राचीन काल से पहचाने गये हैं । साइबेरिया, चीन, भारत, आस्ट्रेलिया, अण्टार्कटिका, ब्राजील, कनाडा तथा अफ्रीका के दृढ़ भूखण्ड (Rigid Mass) में भी मोड़ पड़े एवं चट्टानों का कायांतरण हुआ और इनके चारों और विकसित हुई भूसन्नतियों में पर्वत निर्माण हुआ जिससे कि दृढ़ खण्डों के आकार का विस्तार हुआ ।

कोबर के अनुसार जहाँ पर आज पर्वत दिखाई पड़ते हैं वहाँ पर प्रारंभ में जल क्षेत्र थे जिसे कोबर ने भूसन्नति या पर्वत निर्माण स्थल (Orogen) बताया है इन भूसन्नतियो में लंबे समय तक जलोढ का निक्षेपण होता रहा । जलपूर्ण भूसन्नतियों के चारों तरफ प्राचीन दृढ़ भूखण्ड (Rigid Masses– Kratogen) थे । यही दृढ़ भूखण्ड वर्तमान महाद्वीपों के विकास के प्रमुख आधारभूत तत्व थे भूसन्नति के दोनों दृढ़ भूखण्डों के एक दूसरे की ओर विस्थापन से भूसन्नति की जलज चट्टानों पर दबाव पड़ा जिससे उनमें मोड़ पड़े और पर्वतों का निर्माण हुआ । यह दृढ़ खण्ड पर्वतों के अग्रदेश (Fore Land) थे, लेकिन पर्वत दृढ़ खण्डों के सीमान्तों पर बने तथा मध्य पिंड (Median Mass) एक ऊँचे खंड के रूप में उठ गया जैसा कि (चित्र – 5.8) में दिखाया गया है हंगरी का मैदान, कोलोरैडो का, तिब्बत का पठार, आदि इसी तरह मध्य पिण्ड हैं । कोबर ने समस्त ग्लोब का अध्ययन किया है उसके विभिन्न भागों का उल्लेख किया है कोबर ने मेसोजोइक युग में उत्तरी तथा दक्षिणी प्रशान्त को अलग – अलग इकाई माना है जो कि मध्यवर्ती प्रशांत भूसन्नति (Mid Pacific– Geosyncline) द्वारा अलग होते थे ।

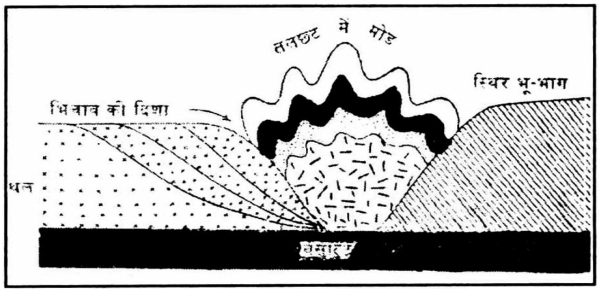

चित्र – 5.9 : दो दृढ़ भूखण्डों के बीच पर्वत का बनना

कोबर के सिद्धांत की विशेषता यह है कि उन्होंने भूसन्नति के दोनों किनारों के दृढ़ खण्डों के विस्थापन की बात की है स्वेस (Suess) ने केवल एक दृढ़ खण्ड के विस्थापन की बात की है, जबकि दूसरी ओर का भूखण्ड अपने स्थान पर स्थिर रहा । कोबर के अनुसार भूसन्नतियां विस्तृत एवं बड़े आकार की थी । जबकि डाना एवं हेग (Dana– Haug) ने संकरी लम्बी भूसन्नति की कल्पना की है ।

कोबर ने पर्वतीकरण की चक्रीय व्यवस्था का भी उल्लेख किया है अर्थात पर्वतों का निर्माण पृथ्वी के प्राचीन भूगर्भिक काल से ही चला आ रहा है कोबर ने छः वीभिन्न निर्माणकारी घटनाओं का उल्लेख किया है । जबकि अन्य भूवैज्ञानिकों ने चार प्रमुख पर्वतीकरण के युगों के विषय में बताया हैं कोबर के अनुसार प्रत्येक पर्वत निर्माण के समय एक ही प्रकार की घटनाओं के क्रम की पुनर्रावृत्ति हुई है । प्रत्येक पर्वत निर्माण में एक ही प्रकार की प्रक्रिया का अवलोकन किया है । जिस समय भूसन्नति के दोनों पार्श्व अथवा अग्रदेश एक दूसरे की ओर खिसकने लगे थे जिसके कारण भूसन्नति के अवसाद में वलन तथा मोड़ों का निर्माण हुआ है । कोबर के अनुसार पर्वत निर्माण के साथ ज्वालामुखी क्रिया चट्टानों का कायान्तरण तथा भ्रंश भी बनेंगे । पर्वत निर्माण की क्रिया दृढ़ भूखण्डों में नहीं होगी वहां केवल भ्रंश तथा रिफ्ट बनेंगे । पर्वतीकरण के समय ही अत्यधिक सम्पीड़न की क्रिया होती है । जिस कारण पर्वत की संरचना

में जटिलता आने लगती है । कोबर के अनुसार प्रत्येक पर्वत निर्माण के समय एक ही प्रकार की घटनाओं के क्रम की पुनर्रावृत्ति होती रही है । कोबर ने प्रत्येक पर्वतीकरण में एक सामान्य प्रक्रिया का अवलोकन किया है । अर्थात प्राय: प्रत्येक पर्वत निर्माण के पहले भूसन्नति का निर्माण होता है । जिसमें लगातार अवसादी निक्षेप तथा भूसन्नति की तली में तलछटीय भार के कारण अवतलन होता रहता है । अधिक तलछट के जमाव के बाद पर्वत मिर्माण का कार्य होता है । जिस समय भूसन्नति के दोनों पार्श्व या अग्रदेश एक दूसरे की ओर खिसकने लगते हैं और इससे भूसन्नति के अवसाद में वलन पड़ने से मोड़दार पर्वतों का निर्माण होता है ।

कोबर के विचार स्वेस से अलग है उन्होंने पर्वत निर्माण केवल एक पक्षीय क्रिया माना है जबकि कोबर ने द्विपक्षीय क्रिया माना है । स्वेस का मत था कि एक अग्रभूमि का दबाव पड़ा और दूसरे अग्र की तरफ वलन पड़ गये क्योंकि दूसरी अग्र भूमि स्थिर थी । कोबर का कहना है कि भूसन्नति के दोनों ओर भी अग्रभूमि ने दबाव डाला और एक दूसरे के सम्मुख दो समानान्तर श्रेणियां बनी जिसे कोबर ने रेन्डकेटेन (randkotten) का नाम दिया है । पर्वतों के निर्माण के बाद अपरदन का एक लम्बा काल रहा है जिसमें पर्वतों का अनाच्छादन (denudation) होता है। और धीरे – धीरे कट कर ये पेनिप्लेन में परिवर्तित हो जाते है ।

कोबर ने अपने विशिष्ट मध्यपिन्ड (Typical median mass) के आधार पर मोड़दार पर्वतों की संरचना को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । कोबर के अनुसार मध्य पिण्ड के आधार पर यूरोप के अल्पाइन पर्वत श्रंखला को भली – भाँति समझा जा सकता है । यूरोप के विकास के संबंध में कोबर का मत है कि रूसी दृढ क्षेत्र तथा स्कैंडिनेविया अग्रप्रदेश थे जिनके सहारे पर्वत निर्माण हुए और यूरोप का आकार बढ़ता गया । यहाँ कैलिडोनियन, हरसीनियन तथा अल्पाइन पर्वत निर्माण के काल एवं श्रेणियां पहचानी गई हैं । ब्रिटेन तथा स्कैन्डिनेविया की यूराल कारपेथियन श्रेणियाँ बनीं । कोबर के मत के अनुसार अंगारालैंड व गोंडवाना लैंड बीच में पर्वत निर्माण के कारण एक दूसरे से जुड़ गये । कोबर के विचार में पर्वतों की दिशा तथा स्थिति बहुत हद तक दृढ भूखण्डों की स्थिति से नियंत्रित होती है । कोबर के अनुसार अटलाटिंक रिज एक डूबी हुई पर्वत श्रेणी है । कोबर ने महासागरों की तलहटी को एक भूसन्नति माना है इनके सीमांतो पर भ्रंशन हुआ है या वहाँ डूबी हुई श्रेणियाँ है ।

कोबर ने संतुलन के सिद्धांत में भी विश्वास प्रकट किया है कोबर के अनुसार ऊँचे ऊँचे पर्वत इसलिए भूपटल पर टिके हुए हैं कि उनके नीचे गहराई तक कम घनत्व वाला पदार्थ मिलता है पृथ्वी की सिकुड़न से उत्पन्न क्षैतिज गति के कारण पर्वतों का निर्माण हुआ है इस क्रिया में एक स्थान पर अत्यधिक मात्रा में पदार्थ का संग्रह होता है इससे स्थलीय भाग का अवतलन होने लगता है और भूसन्नति का निर्माण हो जाता है इस प्रकार जमाव व धंसान होता रहता है तथा पर्वत निर्माण का चक्र चलता रहता है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कोबर ने अपने भूसन्नति सिद्धांत तथा मध्यपिण्ड की परिकल्पना द्वारा पर्वत निर्माण की व्याख्या करने का एक सफल प्रयास किया है ।

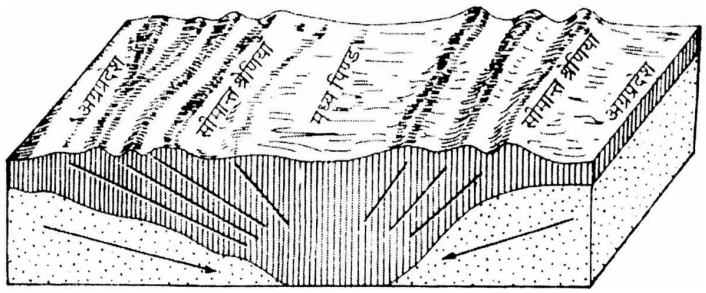

चित्र – 5.10 : कोबर के मध्य पिण्ड या भू – अभिनति

सिद्धान्त के अनुसार पर्वत निर्माण अवस्था

कोबर के पर्वत निर्माण सिद्धांत की आलोचना इस बात पर की गई है कि पृथ्वी की सिकुड़न से उत्पन्न संकुचन की शक्ति इतनी प्रबल नहीं हो सकती कि इससे हिमालय और आल्पस जैसे महान पर्वत मालाओं का निर्माण संभव हो सके । यह समस्या एक सामान्य समस्या है जिसका निराकरण किसी भी सिद्धान्त द्वारा अभी तक नहीं हो पाया है अर्थात कोबर द्वारा वलित पर्वत निर्माण का होना उचित नहीं जान पड़ता है । कोबर की यह धारणा है कि दो अग्रप्रदेश एक दूसरे की ओर खिसकते हैं और इससे उत्पन्न संपीडन बलों से वलन होता है, विवाद का विषय रहा है । कोबर के सिद्धांत के द्वारा पश्चिम –पूर्व दिशा में फैले पर्वत माला की व्याख्या तो होती है परन्तु उत्तर –दक्षिण दिशा में फैले हुए राकीज तथा एन्डीज पर्वत मालाओं की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण मुश्किल जान पड़ता है ।

5.6.2 जोली का रेडियो एक्टिवता सिद्धांत (Radio Activity Theory of Joly)

सामान्य परिचय : जोली ने अपने सिद्धांत का प्रतिपादन सन 1925 में अपनी पुस्तक (The surface history of the earth) में पृथ्वी की धरातल की विभिन्न स्थलाकृतियों तथा उनके आर्विभाव की समस्या के स्पष्टीकरण के लिए किया था । जोली के सिद्धांत को तापीय चक्र सिद्धांत (Theory of thermal cycle) अथवा रेडियो एक्टिवता सिद्धान्त कहते हैं । जोली का मुख्य उद्देश्य पृथ्वी पर महाद्वीपों के परिवर्तनों एवं पर्वत निर्माण को पृथ्वी में पाये जाने वाले रेडियो धर्मी तत्वों के विघटन एवं उष्मा उत्पन्न होने से जोड़ा है । उन्होंने इस क्रिया की दो अवस्थायें बताई हैं । रेडियो धर्मी तत्वों से उत्पन्न ऊष्मा के एकत्रण से सिमा (sima) जो कि बेसाल्ट है की परत इतनी गर्म हो जाती है कि वह पिघल कर तरल हो जाती है । खरी अवस्था वह है जब इस अतिरिक्त ऊष्मा का विकिरण हो जाता है एवं सिमा (sima) की तह पुन: कठोर हो जाती है । जोली का सिद्धान्त पृथ्वी का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करता है तथा पृथ्वी की आन्तरिक बनावट की वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या करता है तथापि पर्वत निर्माण की भी व्याख्या बहुत स्पष्ट ढंग से की गई है और महाद्वीपीय प्रवाह पर भी बल दिया गया है इस तरह यह सिद्धांत सरल तथा आधुनिकतम वैज्ञानिक तथ्यों एवं प्रमाणों पर आधारित है । जोली समस्थिति की संकल्पना (concept of isostasy) को स्वीकार करता है और मानते है कि महाद्वीप अपेक्षाकृत हल्के सियाल (sial) से बने है जिनका घनत्व 2.67 है और महासागरीय तली का निर्माण अपेक्षाकृत भारी पदार्थों अर्थात् सिमा (sima) से हुआ है जिसका घनत्व 3.0

है सियाल के बने महाद्वीप अधिक घनत्व वाले सिमा (बेसाल्ट) पर अवस्थित है । यदि सियाल और सिमा का घनत्व क्रमश: 2.67 और 3 है तो समस्थिति की संकल्पना के अनुसार सिमा के ऊपर सियाल का जितना भाग निकला हुआ है । उसका आठ गुना भाग सिमा के अन्दर डूबा होना चाहिए । सिमा अर्थात अध : स्तर (substratum) के ऊपर महाद्वीपों की औसत ऊँचाई के औसत आधार पर जोली ने सियाल °मोटाई लगभग 30 कि.मी. बताया है । किन्तु जहाँ धरातल पर पर्वत निर्माण हुआ है । वहाँ सिमा के अन्दर डूबे हुए सियाल की गहराई उसी अनुपात में अधिक होती है ।

जोली का कहना है पृथ्वी कि सभी चट्टानों में रेडियो धर्मी तत्व मिलते हैं । सिमा (sima) की तुलना में सियाल (sial) की चट्टानों में रेडियो सक्रिय पदार्थ अधिक हैं जोली का मत है कि धरातल से जितना भी ताप का ह्रास विकीरण (Radiation) द्वारा होता है उसकी क्षतिपूर्ति से अधिक ताप सियाल की चट्टानों की रेडियो ऐक्टीवता से प्राप्त हो जाता है । ऐसी स्थिति में सिमा से सियाल में ताप स्थानान्तरण की आवश्यकता नहीं होती है, अत: सिमा में रेडियो ऐक्टिवता से प्राप्त ताप का संचयन होता है और यह ताप इतना अधिक हो जाता है कि बेसाल्ट (Basalt) चट्टानें पिघलने लगती है ।

ऊपरी सियाल की पर्पटी में से कितनी ऊष्मा निकलती है इसकी गणना की जा सकती है । इसी प्रकार यदि सिमा को बेसाल्ट की प्रकृति का मानें तो उससे उत्पन्न ऊष्मा को भी नापा जा सकता है खदानों में बढ़ते तापमान से भी इसका अनुमान लगाया जा सकता है । जोली का कहना है कि सियाल की पर्पटी को यदि 30 कि.मी. मोटाई का मानें तो उसके निचले हिस्से में तापमान लगभग 1050° सेल्सियस होगा । बेसाल्ट का गलनांक 1150° सेल्सियस है ।

महासागरों की तलहटी में स्थिति भिन्न होगी यहां सियाल तट नहीं है अत: सिमा की तट में उत्पन्न ऊष्मा सागरों के जल से होती हुई बाहर निकल जायेगी । जोली ने गणितीय परिकलन के आधार पर बताया कि रेडियो ऐक्टिविता द्वारा पर्याप्त ताप के संचयन तथा प्राप्ति के लिये जो बेसाल्ट को गला सके 33 से 56 मिलियन वर्ष लग सकते हैं ।

इस प्रकार पृथ्वी के भीतरी भाग तरल होने पर कई महत्वपूर्ण एवं रोचक परिवर्तन होंगे । पर्पटी के निचले भाग के तरल होने से पृथ्वी का आकार बढ़ तो जायेगा साथ ही इस तरल पदार्थ में महाद्वीपीय स्थल धीरे – धीरे डूबने लगता है । महाद्वीपीय खण्डों के सिमा में डूबने के कारण महासागरीय जल महाद्वीपों के अपेक्षाकृत नीचे किनारों को ढक लेता है अर्थात महासागरीय तल का महाद्वीपीय किनारों पर अतिक्रमण होता है महासागरीय अतिक्रमण की अवस्था में तटों के पास छिछले समुद्रों में बड़ी मात्रा में तलछट का निर्माण होता है यही प्रक्रिया भूसन्नतियों के बनने को सिद्ध करती है यही जलज निक्षेपण होंगे जो बाद में पर्वत निर्माण के स्थल होंगे । यह सिद्धान्त पर्वत निर्माण के दो विशिष्ट प्रक्रमों क्षेतिज सम्पीडन (Horizontal Compression) तथा उर्ध्वाधर उत्थापन (Vertical uplift) पर बल देता है ।

इस सिद्धान्त के अनुसार पर्वतों का निर्माण मुख्य रूप से महाद्वीपों के किनारे (Continental margins) वाले भागों में होता है फिर सागर जितना बड़ा होगा उसके तल के सिकुड़ने से दबाव उतना ही अधिक होगा अत: उतना ही विस्तृत पर्वतों का निर्माण होगा । इस प्रकार एक सामान्य नियम प्रतिपादित किया जा सकता है कि सबसे बड़े पर्वत सबसे बड़े महासागर के सामने पाये जाते हैं यही सही भी प्रतीत होता है क्योंकि प्रशान्त महासागर के चारों ओर पर्वतों की एक विशाल श्रृंखला मिलती है । किन्तु अटलांटिक तट के समानान्तर पर्वतों की अनुपस्थिति अथवा आल्प्स –हिमालय पर्वत माला की स्थिति की सन्तोष जनक व्याख्या इस सिद्धान्त द्वारा नहीं हो पाती है ।

जोली का मानना है कि भूगर्भ के पिघलने और पुन: कठोर होने की प्रक्रिया पृथ्वी के इतिहास में एक चक्र के रूप में बार –बार होगी इससे पर्वत निर्माण भी बार –बार होगा । यह सही है कि पृथ्वी के इतिहास में पर्वत निर्माण कई बार हुआ है लेकिन यह लगभग समान अन्तराल से हुआ हो तो ऐसा प्रमाणित नहीं होता है । इस सिद्धान्त में प्रथमत: तर्क संगत प्रक्रिया बताई गई प्रतीत होती है । अर्थात पर्वत निर्माण का बार –बार होना पर्वतों का जलज चट्टानों से बनना एवं विशाल महासागरों के सम्मुख पर्वत श्रेणियों का पाया जाना सिद्धान्त के पक्ष में है ।

जोली के सिद्धान्त के सबसे बड़े आलोचक जेफ्रीज़ रहे हैं जो उनके विचारों से पूर्ण रूप से असहमत है । जेफ्रीज़ के अनुसार जोली द्वारा प्रस्तावित महाद्वीपीय भागों (Sial) की 30 कि.मी. की मोटाई अधिक प्रतीत होती है उन्होंने महाद्वीपों की मोटाई लगभग 16 कि.मी. बताई है । सिमा के तरल होने पर महाद्वीप पश्चिम की ओर स्थानान्तरित होंगे । ऐसे किसी महाशक्ति के प्रमाण नहीं मिलते हैं । जेफ्रीज़ के इस कथन को पूर्ण रूप से स्वीकार करना संभव नहीं हैं । जेफ्रीज का यह भी कहना है कि रेडियोधर्मी ऊर्जा के कारण यदि सिमा तरल हो जाती है तो उसके पुन: कठोर होने का कोई कारण नहीं है ।

वैज्ञानिकों ने यह भी आपत्ति उठाई है कि क्यों प्रशान्त तटीय एवं अटलांटिक तटीय पर्वतों की दिशा भिन्न है प्रथम उत्तर –दक्षिण फैले है जबकि दूसरे पूर्व से पश्चिम की ओर फैले हुए हैं अर्थात् पर्वत निर्माण के प्रक्रम को इस रूप में स्वीकार करना कठिन है ।

5.6.3 जेफ्रीज का तापीय संकुचन सिद्धान्त (Thermal Contraction Theory of Jeffreys)

सामान्य परिचय : जेफ्रीज ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (The earth, its origin, history and physical constitution) में अपने तापीय संकुचन सिद्धान्त का विस्तृत विवरण दिया है उन्होंने पर्वत निर्माण को पृथ्वी के ठंडी होने की प्रक्रिया से जोड़ा है । उनका मत है कि पृथ्वी ज्यों –ज्यों ठंडी हुई है वह सिकुड़ती गई और इसी प्रक्रिया में पर्वतों का निर्माण हुआ है । जेफ्रीज एक संकुचन वादी (contractionist) है और पृथ्वी में तापीय विघटन द्वारा उत्पन्न संकुचन से पर्वत निर्माण की व्याख्या करते हैं । उन्होंने इस प्रक्रिया को सेव के सूखने और उसके छिलकों में सिकुड़न पड़ने के द्वारा समझाया है उनका मानना है कि सेव का भीतरी भाग

सूखकर सिकुड़ता है तो उसका छिलका अलग नहीं होता और उसमें सिकुड़न पड़ जाती है इसी सिकुड़न के कारण (due to shrinkage) उत्पन संकुचन (Resultant contraction) द्वारा पर्वतों का निर्माण हुआ है ।

जेफ्रीज़ के परिकलन के अनुसार पृथ्वी के केन्द्रीय भागों में अर्थात पृथ्वी के केन्द्र से लेकर धरातल से 700 कि.मी. नीचे तक वाले भाग में ताप में कोई ह्रास नहीं होता है किन्तु पृथ्वी के ऊपरी 700 कि.मी. की गहराई तक की परतों में ताप में कमी होती है और पृथ्वी के ऊपरी भाग में प्रत्येक ऊपरी परत अपनी निचली परत की तुलना में अधिक तेजी से ठंडी होती है । और ऊपरी परत में निचली परत की अपेक्षा संकुचन अधिक होता है । दूसरी प्रकार का संकुचन पृथ्वी की परिभ्रमण की गति में कमी होने के कारण होता है । प्रारंभ में परिभ्रमण की गति तीव्र थी परन्तु वर्तमान समय में गति कम हो गई है । इसमें भी वह सिकुड़ रही है और उसका आयतन कम हो रहा है । इस कारण पृथ्वी के भूमध्य रेखीय परिधि (Equational circumstances) में संकुचन हुआ है । इससे पर्वत निर्माण में सहायता मिली है जेफ्रीज के सिद्धान्त का यह कमजोर पक्ष है अर्थात पृथ्वी के आयतन में इतनी कमी नहीं हो सकती कि पर्वतों का निर्माण हो ।

जेफ्रीज़ के अनुसार पृथ्वी के अन्दर कई परतें पाई जाती हैं जबसे पृथ्वी तरल अवस्था में आई तभी से उसका ताप ह्रास होने लगा जिससे पृथ्वी की ऊपरी परतें ठंडी होने लगी । पृथ्वी का ठंडा होना एक परत के बाद दूसरी परत के रूप में होता है । पृथ्वी के ठंडा होने से उसकी ऊपरी परत में सिकुड़न (Shrinkage) होती है इससे पृथ्वी के व्यास में कमी होती है ग्रेनाइट की दृढ़ता (Rigidity) को बाहरी भू–पटल की दृढ़ता का सूचकांक मानकर जेफ्रीज ने अनुमान लगाया कि पृथ्वी के भूवैज्ञानिक इतिहास में ऐसे पाँच अवसर आये हैं जब संचित संपीडन प्रतिबल चट्टानों के सामर्थ्य से अधिक हो गया और पर्वतों का निर्माण संभव हुआ । कई प्रमाणों के आधार पर तीन पर्वत निर्माण कालों की कल्पना की गई है । जेफ्रीज ने यह भी बताया है कि मुलायम तथा लचीली चट्टानों वाले भागों में पर्वत निर्माण अधिक सम्भव होता है ।

जेफ्रीज के अनुसार महासागरों के नीचे ठंडे होने की क्रिया महाद्वीपीय भागों की तुलना में अधिक है सागर तल के नीचे भारी चट्टानें हैं जो महाद्वीपीय चट्टानों से अधिक मजबूत हैं । इन दोनों कारणों से महासागरों से उत्पन्न क्षैतिज संपीडन बलों (Horizontal compressive) की दिशा महासागरों से स्थल भागों की ओर होगी इस विधि से पर्वतों का निर्माण तटीय भागों में सागरों के समान्तर हुआ है । इस क्रिया द्वारा पैसिफिक को घेरे पर्वत श्रृंखलाओं की व्याख्या सम्भव है परन्तु हिमालय तथा आल्पस की उत्पत्ति की व्याख्या इस क्रिया द्वारा सम्भव नहीं है ।

पर्वत निर्माण के लिये केवल संकुचन तथा संपीडन (Contraction and compression) ही पर्याप्त नहीं है उसमें उत्थापन की क्रिया भी आवश्यक है । जेफ्रीज महाद्वीपीय विस्थापन के खिलाफ है उनका मत है कि महासागर और महाद्वीप अपने स्थान पर लगभग स्थिर रहे हैं । वेगनर तथा अन्य वैज्ञानिक अब प्लेट विर्वतिनी के आधार पर पर्वतों के निर्माण को महाद्वीपीय विस्थापन से जोड़ते हैं परन्तु जेफ्रीज इस सिद्धान्त के एकदम विपरीत हैं । इसके बावजूद जेफ्रीज ने ध्रुवीय भ्रमण (movement of poles) का उल्लेख किया है इनके अनुसार भूगर्भिक

इतिहास में पृथ्वी की ध्रुवीय अक्ष रेखा (Polar axis) में पृथ्वी कक्ष (orbit) तल की तुलना में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए हैं । तापीय संकुचन के कारण छोटे – छोटे वलन और झुरियों (minor Folds and ninute puckers) के निर्माण की ही सम्भावना अधिक है न कि विस्तृत पर्वत निर्माण की क्रिया । टरसियरी युग में आल्पस एवं हिमालय पर्वतीकरण असंभव प्रतीत होता है क्योंकि इतने बड़े पैमाने पर संकुचन की क्रिया असम्भव प्रतीत होती है । इस प्रकार इस सिद्धान्त के विरूद्ध अनेक आपत्तियां है जिनका जेफ्रीज़ ठीक से निराकरण नहीं कर सके हैं और अब प्लेट विवर्तनी तथा प्रवाह विस्थापन सिद्धान्त अधिक मान्य है ।

5.6.4 आर्थर होम्स का संवहन धाराओं का सिद्धान्त (Convection Current Theory of Arthur Holmes)

आर्थर होम्स ने सन् 1928 – 29 में अपने संवहन धारा सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । आर्थर होम्स ने पर्वत निर्माणकारी क्रिया को पृथ्वी में पाये जाने वाले रेडियो धर्मी तत्वों (Radioactive elements) के द्वारा उत्पन्न ताप के कारण उत्पन्न संवहन धाराओं के चलने से जोड़ा है । इस सिद्धान्त में पर्वतीकरण से
सम्बन्धित ज्वालामुखी क्रिया तथा महाद्वीपीय प्रवाह पर भी प्रकाश डाला है । होम्स ने अधःस्तर (Substratum) में उत्पन्न संवहन धाराओं के द्वारा भूपटल या भूपर्पटी में भूसन्नतियों के बनने से पर्वतों के ऊपर उठने तक की स्थिति का वर्णन किया है और यह सिद्धान्त आधुनिक प्लेट विवर्तनी सिद्धान्त के बहुत नजदीक है ।

होम्स के अनुसार ठोस भूपटल (crust) और तल अधःस्तर (Substratum) का अन्तर बहुत महत्वपूर्ण है । भूपटल में ऊपरी परत स्थल (Sial) मध्यवर्ती परत सिमा (Sima) का ऊपरी भाग तथा पिघली परत का वह भाग जो रवेदार (crystalline) सम्मिलित है । इस परत के नीचे अधःस्तर (Substratum) है जो तरल और निचली परत द्वारा निर्मित है होम्स का सिद्धान्त अधःस्वर में संवहन धारा की संभावना पर आधारित है । अधःस्तर में संवहन धारा की उत्पत्ति का कारण वहां रेडियो सक्रिय (Radioactive) पदार्थों की उपस्थिति है । इन पदार्थों के विघटन (Disintegration) से उत्पन्न ताप के कारण अधःस्तर (substratum) तरल अवस्था में रहता है । और यहां संवहन धारायें उत्पन्न होती हैं । अधःस्तर से कहीं अधिक मात्रा में रेडियो सक्रिय पदार्थ भूपटल अर्थात पृथ्वी के ऊपरी भागों में मिलते हैं, किन्तु ऊपरी परतों से विकिरण (Radiation) तथा संचालन (Conduction) द्वारा ताप का ह्रास होता रहता है और वहां पर अधिक ताप संचित नहीं हो पाता है । भूपटल से विकिरण तथा संचालन द्वारा प्रतिवर्ष ताप ह्रास 60 कैलोरी प्रति वर्ग से.मी. होता है । यह ताप ह्रास ग्रेनाइट की 14 कि० मी० मोटी परत ग्रेनोडायोराइट (Granodiorite) की 16.5 कि. मी. मोटी परत बेसाल्ट अथवा गेब्रों की 52 कि. मी. मोटी परत तथा पेरिडोटाइट (Peridotite) की 60 कि. मी. मोटी परत में वर्तमान रेडियो सक्रिय पदार्थों के विघटन से उत्पन्न ताप के बराबर है । धरातल के समीपवर्ती परतों में रेडियो सक्रियता (Radioactivity) विशेष रूप से केन्द्रित है यह कह सकते हैं कि धरातल से औसत ताप हानि की पूर्ति 60 कि. मी. मोटी परत द्वारा उत्पन्न ताप से हो जाती है अर्थात

पृथ्वी की ऊपरी तथा मध्यवर्ती परतों में ताप का संचयन नहीं होता है यद्यपि अद्य :स्तर में रेडियो सक्रिय पदार्थ अपेक्षाकृत कम है फिर भी इनसे उत्पन्न ताप तथा अध:स्तर का मौलिक ताप दोनों मिलकर इतना अधिक हो जाता है कि इसमें संवहन धारायें उत्पन्न हो जाती है क्योंकि अध:स्तर से विकीरण अथवा संचालन द्वारा ताप का ह्रास नहीं होता है ।

विषुवत रेखा के पास भूपटल (crust) की मोटाई ध्रुवीय प्रदेशों से अधिक है अत: भूमध्यरेखीय प्रदेशों में रेडियो धर्मी पदार्थों से उत्पन्न ताप की अधिकता के कारण ताप प्रवणता (Temperature Gradient) ध्रुवीय क्षेत्रों की तुलना में अधिक है इसलिये विषुवत रेखा के नीचे उठने वाली संवहन धारायें और ध्रुवों पर नीचे की ओर जाने वाली धारायें पाई जाती हैं । विषुवतरेखा के पास ये धारायें उठकर भूपटल (Crust) के नीचे क्षैतिज अवस्था में प्रवाहित होकर ध्रुवों के पास नीचे की ओर जाती है । अत:स्तर अथवा पर्पटी के नीचे जहाँ यह धारायें ऊपर आकर क्षैतिज दिशा में चलेंगी वहां पर्पटी पर अत्यधिक खिचाव या तनाव रहेगा जहां ये धारायें भूगर्भ की ओर लौटेगी वहां अत्यधिक भिचा (compression) होगा । परिणामत: पर्पटी का ऊपरी हिस्सा भी धँसने लगेगा और वहां भूसन्नति बनेगी । जैसे – जैसे भूसन्नति में निक्षेपण होगा उससे तलहटी धँसती जायेगी और अधिक निक्षेपण के लिये स्थान बनता जायेगा । होम्स ने अपनी पुस्तक में संसार का मानचित्र देकर भूसन्नतियों के बनने और उन पर दबाव डालने वाले दृढ़ खंडों को दिखाया है ।

भूपटल के महाद्वीपीय खण्डों में महासागरीय भागों की तुलना में रेडियो सक्रिय पदार्थ अधिक पाये जाते हैं । इसलिये महाद्वीपों और महासागरों के नीचे एक ही गहराई पर तापमान महाद्वीपों के नीचे अधिक रहता है इसलिये महाद्वीपों के नीचे से उठने वाली धारायें अधिक तीव्र और सक्रिय होती है अत : महाद्वीपों के नीचे अधस्तर से उठने वाली संवहन धारायें पिघले पदार्थों को उपर उठाती हुई फिर सागर की ओर बहाकर ले जाती हैं । महासागरों के नीचे भी इसी प्रकार की किन्तु कम तीव्र धारायें उत्पन्न होती हैं जो महाद्वीपों के किनारे महाद्वीपों के नीचे बहने वाली धाराओं से मिलती हैं फिर नीचे की ओर प्रवाहित होती हैं । (चित्र 5.11) ।

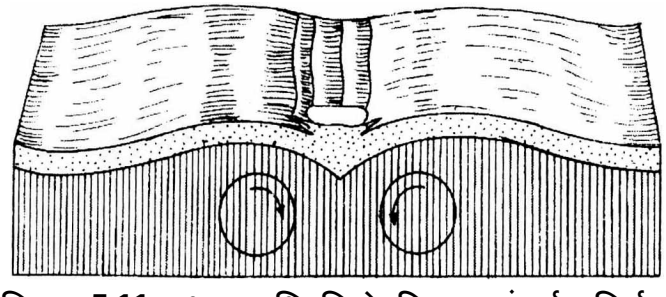

चित्र – 5.11 : भू – अभिनति के विकास एवं पर्वत निर्माण व्यवस्था पर आर्थर होम्स द्वारा प्रस्तुत प्रयोग

संवाहनिक धाराओं के कारण महाद्वीपों का टूटना एवं भू – अभिनति बनना

होम्स के अनुसार लोर शिया तथा गोंडवानालैण्ड के नीचे गर्भ से ऊपर की ओर संवाहनिक धारायें उठकर महाद्वीपों के सीमान्तों की ओर फैल गई । प्रशान्त महासागर तथा एशिया अमेरिका के तटों के निकट संवाहनिक धारायें मुड़कर भूगर्भ की ओर प्रवाहित हुई इससे सतह पर भूसन्नतियां तथा महासागरीय गर्त बने । यह विशाल तटीय प्रदेश पर्वत निर्माण का विशाल स्थल है एशिया के तट पर अनेक द्वीप समूह है जो पर्वत मालाओं के ऊपरी हिस्से है जो अनेक द्वीपों के उदाहरण है इससे ज्ञात होता है कि प्रदेश में संवाहनिक धारायें आज भी सक्रिय है (चित्र – 5.12) ।

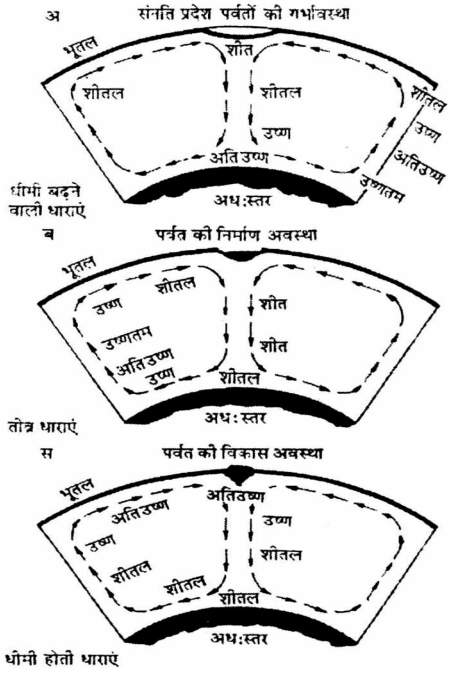

चित्र - 5.12 संवाहनिक धाराओं के कारण पर्वतों का बनना

महासागरों के नीचे भी इसी प्रकार की किन्तु कम तीव्र धारायें उत्पन होती है जो महाद्वीपों के किनारे महाद्वीपों के नीचे बहने वाली धाराओं से मिलती हैं और फिर नीचे की ओर प्रवाहित होती हैं । संवहन धाराओं की उत्पत्ति एक ही स्थान से नहीं होकर कई स्थानों से होती है और उत्पत्ति केन्द्र बदलते रहते हैं । संवहन धाराओं की प्रक्रिया एक स्थाई प्रक्रिया नहीं होती है बल्कि सामयिक होती है । जो कि वेगवती तथा क्षीण होने के बाद पुन : दूसरे केन्द्र से प्रारंभ होती है । होम्स का मत है कि प्रारंभ में एक लम्बे समय तक संवाहनिक धारायें मंद गति से चलती है । जैसे –जैसे पृथ्वी के भीतरी भाग का अत्यधिक गर्म तरल पदार्थ धरातल की ओर उठने वाली धाराओं के साथ ऊपर उठता है धाराओं की गति तेज हो जाती है उस समय अध: स्तर का ठंडा, भारी और ठोस पदार्थ भूगर्भ की ओर चलने वाली संवाहनिक धाराओं के साथ भूगर्भ में बैठ जाता है । यह क्रिया थोड़े समय के लिये होती है । जैसे –जैसे भूगर्भ का ठंडा पदार्थ बैठता जाता है और गर्म तथा हल्का पदार्थ अध:स्तर या पर्पटी के नीचे पहुँच जाता है संवाहनिक धाराओं की गति मंद हो जाती है ।

संवाहनिक धाराओं को पर्वत निर्माण की तीन अवस्थाओं से जोड़ा है पहले भूसंन्नतियां बनती हैं और लम्बे समय तक निक्षेपण होता रहता है जब संवाहनिक धाराओं की गति तीव्र होती है तब भूसन्नति के दोनों ओर के दृढ़ भूखंड भ्रंशित होकर भूसन्नति पर तीव्र दबाव डालते हैं । भूसन्नति की चट्टानों में मोड़ पड़ कर पर्वत निर्माण होता है जब संवाहनिक धाराऐं मंद हो जाती हैं दृढ़ खण्डों का दबाव कम हो जाता है तब समतोलन के कारण पर्वत ऊपर उठ जाते हैं । एक्लोजाइट जो दबाव के कारण बहुत नीचे चला गया था अधिक ताप के कारण पिघलकर फैल जाता है और ऊपर उठता है यह पर्वतों के उत्थान का काल है और उत्थान उस समय तक होता रहता है जब तक कि समस्थिति साम्यवस्था (Isostatic equillibirium) न हो जाय ।

होम्स ने यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि जहां दो प्रमुख संवाहनिक धारायें मिलती हैं वहां अन्य छोटी धारायें भी विकसित हो जाती हैं जिनके कारण वहां ज्वालामुखी फूटते हैं । प्रशान्त महासागर के तट पर यही कारण है कि ज्वालामुखी की पेटी पाई जाती है ।

1939 में ग्रिग्स ने अपने प्रयोगों द्वारा संवहन धारा सिद्धान्त द्वारा पर्वत निर्माण की सत्यता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है उन्होंने पृथ्वी के भूपटल और अध:स्तर का एक मॉडल तैयार किया जिसका निर्माण इन परतों में पाये जाने वाले पदार्थों से मिलते जुलते पदार्थों से किया गया था इस मॉडल में अध:स्तर में संवहन धारायें पैदा करने के लिये घूमने वाले ढोल (Rotating drums) बनाये गये । बेलनाकार ड्रम को घुमाकर चाही गई प्रक्रिया की गई इससे सतह पर जो आकृति बनी वह भूसन्नति और फिर पर्वत के समान ही बनी । जब ढोलों को धीरे – धीरे घुमाया गया तो मॉडल के ऊपरी पटल का नीचे उतरने वाली धाराओं द्वारा अवतलन (subsidence) होने लगा और जैसे जैसे इन ढोलों का परिभ्रमण (Rotation) तेज किया गया वैसे –वैसे अवरोही धाराओं द्वारा अवतलन तीव्र गति से होने लगा । और जब दोनों का परिभ्रमण धीमा कर दिया गया तो धंसा हुआ भाग फिर ऊपर उठने लगा । इस प्रकार ग्रिग्स ने अपने प्रयोगों द्वारा संवहन धाराओं की चक्रीय व्यवस्था की संपुष्टि की है इस प्रयोग के द्वारा महासागरों के मध्य की पर्वतमाला किनारे पाई जाने वाली नवीन बनती पर्पटी की बात भी स्पष्ट होती है ।

वेगनर ने महाद्वीपों के विस्थापन का मेन्टल में चलने वाली संवाहनिक धाराओं से जोड़ा है अब महाद्वीपीय विस्थापन एक कल्पना नहीं है वह वास्तविक तथ्य है । अब यह माना जाता है कि बेसाल्ट, इकोलाइट नामक भारी पदार्थ में बदलकर संवाहनिक धाराओं के साथ गर्भ में समा जाता है और महाद्वीप के विस्थापन के लिये स्थान बन जाता है ।

होम्स का सिद्धान्त रोचक है और इसके कुछ तथ्यों को मान्यता भी मिली है किन्तु यह ऐसे तथ्यों पर आधारित है जिनके विषय में हमारी जानकारी बहुत कम है । संवहन धाराओं की उपस्थिति के बारे में संदेह है और महाद्वीपों का विस्थापन संवहन धाराओं द्वारा हो सकता है यह असंभव प्रतीत होता है परन्तु यह सिद्धान्त पर्वत निर्माण की समस्या को समझने में नई दिशा प्रदान करता है । ताप संवहन प्रक्रम प्लेट विवर्तनीक संबंधी अध्ययनों से नई दिशा मिली है ।

बोध प्रश्न –4

1. कोबर के सिद्धान्त की क्या विशेषता है?

   .....

   .....

2. जोली का रेडियो धर्मीय सिद्धान्त क्या हैं?

   .....

   .....

3. जेफ्रीज का तापी संकुचन सिद्धान्त क्या हैं?

   .....

   .....

4. आर्थर होम्स का संवहन धाराओं का सिद्धान्त क्या है?

   .....

   .....

5.7 सारांश (Summary)

पृथ्वी के स्थल रूपों का निर्माण दो प्रकार की शक्तियों की परस्पर क्रियाओं द्वारा होता है । इन शक्तियों में आन्तरिक तथा बाह्य शक्तियों को शामिल किया जाता है । आन्तरिक शक्तियों के द्वारा धरातल के स्थल रूप जैसे महाद्वीप, महासागर एवं पर्वतों का निर्माण होता है । भूगर्भिक हलचलों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है । दीर्घकालिक हलचलें एवं आकस्मिक हलचलें । भूगर्भिक हलचलों के प्रभाव में भूपटल की चट्टानें वलित, भ्रंशित एंव गुम्बदीय हो जाती है । पर्वत निर्माणकारी संचलन तथा महादेश संचलन में गहरा सम्बंध है ।

अन्तर जाल बलों के द्वारा भूपटल का एक भाग दूसरे भाग के सहारे स्थानान्तरित हो जाता है इस भूपटल विमंग को क्रिस्टल फेक्चर कहते हैं । भूपटल पर भ्रंश निर्माणकार हलचलों की विभिन्नता के कारण अनेक प्रकार के भ्रंश निर्मित हो जाते है । इसी तरह वलन भी उत्पन्न हो जाते है ।

कोबर के अनुसार जहां पर आज पर्वत दिखाई पड़ते हैं वहाँ पर प्रारंभ में जल क्षेत्र थे जिसे कोबर ने भूसन्नति या पर्वत निर्माण स्थल बताया है । इन भूसन्नतियों में लम्बे समय तक जलोढ़ का निक्षेपण होता रहा है । जोली के सिद्धान्त को “तापीय चक्र सिद्धान्त" अथवा रेडियो धर्मीय सिद्धान्त कहते है । जोली का सिद्धान्त पृथ्वी का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करता है । जेफ्रीज ने अपने तापीय संकुचन सिद्धान्त में पर्वत निर्माण को पृथ्वी ज्यों–ज्यों ठंडी हुई है वह सिकुड़ती गई और इसी प्रक्रिया में पर्वतों का निर्माण हुआ है । आर्थर होम्स ने अपने संवहन धारा सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । होम्स ने पर्वत निर्माणकारी क्रिया को पृथ्वी में पाये जाने वाले रेडियो धर्मी तत्वों के द्वारा उत्पन्न ताप के कारण उत्पन्न संवहन धाराओं के चलने से जोड़ा है ।

5.8 शब्दावली (Glossary)

- **आन्तरिक शक्तियां :** वे शक्तियां जो पृथ्वी के आन्तरिक भाग में हलचल पैदा करती है।
- **उर्ध्वाधर संचलन :** इस क्रिया में भूपटल का कुछ भाग ऊपर उठ जाता है ।
- **पर्वत निर्माणकारी संचलन :** इस प्रकार के संचलन में मोड़दार पर्वतों का निर्माण हुआ है।
- **भ्रंशित स्थलाकृति :** अन्तरजात बलों के द्वारा भूपटल का एक भाग दूसरे भाग के सहारे स्थानान्तरित हो जाता है ।
- **व्युत्क्रम भ्रंश :** जब संचलन सम्पीडन के रूप में होता है तो चट्टानों के दोनों खंड दरार पड़ने से एक दूसरे के ऊपर जाते है ।
- **मध्य पिंड :** एक ऊँचे खंड के रूप में उठा हुआ भाग ।
- **तापीय चक्र सिद्धान्त :** पृथ्वी पर महाद्वीपों एवं पर्वत निर्माण में पाये जाने वाले रेडियो धर्मी तत्वों के विघटन एवं उष्मा उत्पन्न होने को कहते है ।
- **तापी संकुचन :** पृथ्वी के ठंडी होने से वह सिकुड़ती गई है ।
- **संवहन धारायें :** अद्य: स्तर में रेडियो सक्रिय पदार्थों के विघटन से उत्पन्न ताप के कारण संवहन धारायें उत्पन्न होती है ।

5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference Books)

1. शर्मा, एच. एस. एवं कुमार, प्रमीला : **भूआकृति विज्ञान**, म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल दयाल, पी. : **भूआकृति विज्ञान,** शुक्ला बुक डिपो, पटना

2. सिंह, सविन्द्र **भूआकृति विज्ञान,** श्री शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2007

3. स्टीयर्स, जे. ए. : **अनस्टेबिल अर्थ (Unstable Earth),** मेथ्यू एडं कम्पनी, इसेक्स स्ट्रीट, लंदन, 1985

4. होम्स, आर्थर: **भौतिक भूविज्ञान** के सिद्धान्त, इंगलिस लेंगुयेज बुक सोसाइटी, हांगकांग

5.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1. ये शक्तियां बाह्य है ओर इनका सम्बंध वायुमंडल से होता है ।
2. भूकम्प तथा ज्वालामुखी आते हैं ।
3. पृथ्वी की सतह के नीचे भूगर्भिक हलचलों से पर्वतों का निर्माण हुआ है ।
4. जब धरातल का उठाव उपर की ओर होता है ।

बोध प्रश्न – 2

1. आन्तरिक बलों के द्वारा भूपटल का एक भाग दूसरे भाग के सहारे स्थानान्तरित हो जाता है ।

2. जब भूपटल का सामान्य स्थानान्तर हुआ हो और दोनों भूखण्ड विपरीत दिशाओं में सरक गये हो ।
3. क्षैतिज दिशा में संचलन होने से जब भ्रंशतल के सहारे क्षैतिज गति होती है ।
4. होर्स्ट भूपटल का उत्क्षेपित खण्ड है जो भूभाग के अन्य खण्डों से ऊपर स्थित होता है।

बोध प्रश्न – 3

1. उत्पत्ति के आधार पर बलन मुख्य रूप से पांच प्रकार के होते है ।
2. सममित वलन में गुम्बदों का आकार सुडौल होता है तथा पार्श्ववर्ती ढाल एवं उनकी भुजाएँ समान होती है ।
3. जिस वलन में एक ढाल समकोण तथा दूसरा ढाल मन्द होता है ।
4. क्षेतिजवत् समानान्तर भुजाओं वाले वलन को परिवलित वलन कहते हैं ।

बोध प्रश्न – 4

1. जहाँ आज पर्वत दिखाई पड़ते है वहाँ पर प्रारंभ में जल क्षेत्र थे जिसे कोबर ने भूसन्नति या पर्वत निर्माण स्थल बताया है ।
2. पृथ्वी पर महाद्वीपों के परिवर्तनों रख पर्वत निर्माण को पृथ्वी में पाये जाने वाले रेडियो धर्मी तत्वों के विघटन रख उष्मा उत्पन्न होने से है ।
3. जेफ्रीज ने पर्वत निर्माण को पृथ्वी के ठंडे होने की क्रिया से जोड़ा है ।
4. होम्स ने पर्वत निर्माण की क्रिया को पृथ्वी में पाये जाने वाले रेडियो धर्मी तत्वों से उत्पन्न ताप के कारण उत्पन्न संवहन धाराओं से होता है ।

5.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. पर्वत निर्माण क्रिया के संदर्भ में भूसन्नति संकल्पना की मान्यता की व्याख्या कोई एक उदाहरण देकर कीजिये ।

2. पर्वतों का निर्माण भूसन्नति से हुआ है । इस कथन की व्याख्या हिमालय अथवा आल्पस के विशेष सन्दर्भ में कीजिये ।

3. भूसन्नति क्या है? मोड़दार पर्वतों के निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं की व्याख्या कीजिये ।

4. पर्वत निर्माण सम्बंधी निम्नलिखित में से किसी एक सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये ।

(अ) जोली का रेडियो धर्मीय सिद्धान्त ।

(ब) जेफ्रीज का तापीय संकुचन सिद्धान्त ।

(स) होम्स का संवहन धाराओं का सिद्धान्त ।

5. भूसंचालन से क्या समझते हैं? भूसंचलन के विभिन्न प्रकारों को समझाकर लिखिये ।

इकाई 6 : भूकम्प एवं ज्वालामुखी (Earth quakes and Volcanoes)

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 भूकम्पों का वर्गीकरण तथा उत्पत्ति के कारण

- 6.2.1 सामान्य भूकम्प
- 6.2.2 मध्यम भूकम्प
- 6.2.3 गहरे भूकम्प

6.3 भूकम्पों की उत्पत्ति के आधार

- 6.3.1 ज्वालामुखी भूकम्प
- 6.3.2 भूपटल भ्रंश भूकम्प
- 6.3.3 पाताली भूकम्प

6.4 भूकम्प आने के कारण

- 6.4.1 भारी सागरीय भूकम्प
- 6.4.2 चूने की चट्टानों के क्षेत्र में गुफाओं की छत घसकने
- 6.4.3 भूस्थलन के कारण भी सामान्य भूकम्प
- 6.4.4 पर्वतीय भाग में हिमखंड नीचे की ओर खिसकने
- 6.4.5 मानव निर्मित अणुबमों के विस्फोट से उत्पन्न भूकम्प

6.5 भूकम्प का विश्व वितरण

- 6.5.1 भारत में भूकम्प क्षेत्र

6.6 भूकम्पों के प्रभाव

6.7 ज्वालामुखी

- 6.7.1 ज्वालामुखी उद्‌गार से निकले पदार्थ
- 6.7.2 ज्वालामुखियों का वर्गीकरण
  - 6.7.2.1 क्रियाशील ज्वालामुखी
  - 6.7.2.2 मृत ज्वालामुखी

6.8 ज्वालामुखी का वर्गीकरण उनके उद्‌गार के स्वरूप के आधार पर

- 6.8.1 हवाई प्रकार के ज्वालामुखी
- 6.8.2 स्ट्राम्बोलियन प्रकार के ज्वालामुखी
- 6.8.3 वलकेनियन प्रकार के ज्वालामुखी
- 6.8.4 बेसुवियन प्रकार के ज्वालामुखी
- 6.8.5 पीलियन प्रकार के ज्वालामुखी

6.9 ज्वालामुखी के उद्‌गार के कारण
6.10 ज्वालामुखी का विश्व वितरण
6.10.1 प्रशान्त महासागरीय पेटी
6.10.2 मध्य महाद्‌वीपीय पेटी
6.10.3 आन्ध्र महासागरीय पेटी
6.10.4 अन्य ज्वालामुखी क्षेत्र
6.11 ज्वालामुखी क्रिया द्‌वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ
6.11.1 केन्द्रीय उद्‌गार द्‌वारा निर्मित स्थलरूप
6.11.2 नीचे धंसे स्थल भाग
6.11.3 ज्वालामुखी पठार
6.12 सारांश
6.13 शब्दावली
6.14 संदर्भ ग्रंथ
6.15 बोध प्रश्नों के उत्तर
6.16 अभ्यासार्थ प्रश्न

6.0 उद्देश्य (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरांत आप समझ सकेगें कि :

- भूकम्प क्या होते है,
- भूकम्पों का वर्गीकरण,
- भूकम्प आने का कारण,
- भूकम्प का विश्व वितरण,
- ज्वालामुखी उद्‌गार क्या होता है,
- ज्वालामुखियों का वर्गीकरण,
- ज्वालामुखी का विश्व वितरण,
- ज्वालामुखी क्रिया द्‌वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ ।

6.1 प्रस्तावना (Introduction)

जब भूपटल पर कम्पन होता है तो हम उसे भूकम्प की संज्ञा देते है । भूकम्प मानव के लिये एक विनाशकारी घटना है जब किसी क्षेत्र में भूपटल पर कम्पन होता है तो क्षण मात्र में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं । सभी लोग भूकम्प को पृथ्वी की सतह पर कम्पन से समझते हैं । यदि हम पूरी पृथ्वी को लें तो यह पता चलता है कि किसी न किसी भाग में हर दो तीन घंटे में भूकम्प आते रहते है किन्तु इनमें से अधिकांश अल्पकालीन एवं बहुत धीमें होते हैं जिनको कभी कभी महसूस भी नहीं कर पाते है । इस तरह के भूकम्पों का अनुभव केवल ग्रहणशील यंत्रों के द्‌वारा ही कर पाते है । तीव्र भूकम्प लम्बे अन्तराल से आते हैं । तीव्र भूकम्प में कम्पन की

लहरे तालाब या समुद्र के पानी की लहरों के समान पृथ्वी की सतह पर चलती है ये लहरे ऊपर उठती और नीचे गिरती हुई आगे बढ़ती है जिनके कारण पृथ्वी की सतह पर कम्पन होता है और घर, पेड़ आदि हिलने लगते है । 26 जनवरी 2004 की कच्छ गुजरात भूकम्प की घटना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

जिस प्रकार तालाब या समुद्र के शांत जल में पत्थर का टुकड़ा फेंकने से गोलाकार लहरें केन्द्र से चारों तरफ बाहर की तरफ फैलती है । जैसे –जैसे लहरे केन्द्र से दूर होती जाती है इनकी शक्ति तथा तीव्रता में कमी होती जाती है । भूकम्प का प्रभाव प्राय : दो रूपों में देखा जाता है। (1) उत्पत्ति केन्द्र से लहरें चारों तरफ को प्रवाहित होती है जिनका प्रभाव क्षैतिज होता है । (2) अधिक तीव्रता होने के कारण धरातलीय भागों में ऊपर नीचे की तरफ लम्बवत रूप में फैलाव होने लगता है इस तरह के भूकम्प बहुत अधिक विनाशकारी होते हैं । भूकम्प का जहाँ सर्वप्रथम अर्विभाव होता है उसे "भूकम्प मूल (Focus) कहते है । जहाँ सर्वप्रथम लहरों का अनुभव होता है उसे भूकम्प केन्द्र (Epicentre) कहते है (चित्र– 61अ) ।

सिस्मोग्राफ (Seismograph) एक यंत्र होता है जिसमें भूकम्प अंकित होता है । यह यंत्र इतना ग्रहणशील (Sensitive) होता है कि हजारों कि.मी. दूर हुए भूकम्प को अथवा समीप के अत्यंत हल्के भूकम्प को भी अंकित कर लेता है इसलिये इससे तुरंत ही यह पता चल जाता है कि लगभग कितने कि.मी. दूर एवं किस दिशा में किस तीव्रता के भूकम्प का पता चल जाता है (चित्र– 6.1ब) ।

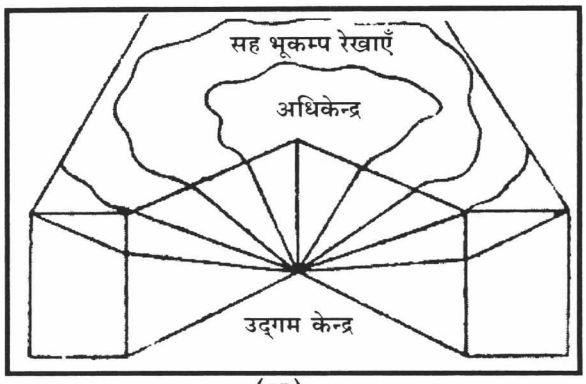

(अ)

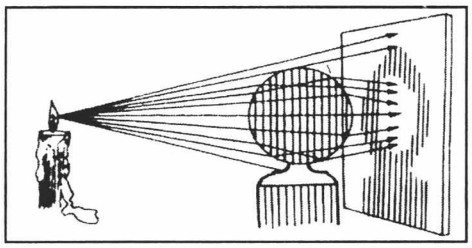

(ब)

चित्र –6.1 : (अ) उद्गम केन्द्र व अधिकेन्द्र एवं (ब) भूकम्पमापी (सिस्मोग्राफ)

ज्वालामुखी भूमध्य के उस छिद्र (Vent) का नाम है जिसका संबंध पृथ्वी के आन्तरिक भाग से होता है । अर्न्तभौमिक क्रियाओं (Endogenic activities) में ज्वालामुखी का फूटना एक महत्वपूर्ण क्रिया है । ज्वालामुखी क्रिया को प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है । ज्वालामुखी के छिद्र का संबंध आन्तरिक भाग से है । इस भाग में गर्म लावा, राख, गर्म गैसें आदि उपस्थित है, जो कभी कभी अन्दर अधिक दबाव के कारण ज्वालामुखी के रूप में पिघला हुआ पदार्थ निकलने लगता है इस क्रिया को ज्वालामुखी उद्‌गार (Eruption) कहते है । ज्वालामुखी उद्‌गार कभी कभी शान्त रूप में या जोरदार विस्फोट के साथ होता है । ज्वालामुखी विस्फोट के स्थान पर धरातल की ठोस चलने टूट–टूट कर हवा में अधिक ऊँचाई तक फिक जाती हैं, विस्फोट के समय जल वाष्प के रूप में गीला पदार्थ अनेक गैसों के गुबार के रूप में निकलता है । और वह क्षेत्र जहां ज्वालामुखी फूटते है वहाँ वायुमंडल राख, धुआँ तथा गैसों से भर जाता है ।

6.2 भूकम्पों का वर्गीकरण तथा उत्पत्ति के कारण (Classification) भूकम्पों को उनके उत्पत्ति, स्थान की गहराई के अनुसार निम्नलिखित तीन भागों में बांटा जाता है ।

6.2.1 सामान्य भूकम्प (Normal Earthquake)

उत्पत्ति स्थल की गहराई 0 से 50 किमी. तक होती है ।

6.2.2 मध्यम भूकम्प (Intermediate Earthquake)

उत्पत्ति स्थान की गहराई 50 से 250 किमी. तक होती है ।

6.2.3 गहरे भूकम्प (Deep focus Earthquake)

उत्पत्ति स्थल की गहराई 250 से 750 किमी. तक होती है ।

अधिकांश भूकम्प प्रथम श्रेणी में आते है और उनके उत्पत्ति केन्द्र की गहराई प्राय : 20 से 25 किमी. से कम होती है ।

6.3 भूकम्पों की उत्पत्ति के आधार (Bases of Earth quakes origin)

भूकम्पों को हम उनकी उत्पत्ति के कारणों के आधार पर तीन प्रमुख भागों में बाँट सकते है ।

6.3.1 ज्वालामुखी भूकम्प (Volcanic Earthquake)

इस प्रकार के भूकम्प मुख्य रूप से ज्वालामुखी क्षेत्रों में पाये जाते है । जब ज्वाला–मुखीय विस्फोट होता है तो गर्म लावा तथा गैसें भूगर्भ से बाहर निकलने के लिये जोर से कोशिश करती हैं और बड़ी तेजी से ऊपर आती हैं इनके झटके से भूपटल में कम्पन होने लगता है । ज्यादातर भूकम्प या तो उद्‌गार (Eruption) के पहले होता है या उद्‌गार के साथ साथ । ज्वालामुखी से उत्पन्न भूकम्प प्राय : तीव्र नहीं होते हैं और उनकी तीव्रता का अनुभव सीमित

क्षेत्रों में होता है । परन्तु इन भूकम्पों की तीव्रता ज्वालामुखी के निकटवर्ती क्षेत्र में अधिक होती है ।

6.3.2 भूपटल भ्रंश भूकम्प (Tectonic Earthquake)

ये भूकम्प आकस्मिक भूसंचलन (Sudden earth movement) के कारण होते हैं । भूपटल में प्राय : 5 से 25 किमी. तक की गहराई में चट्टानों के टूटने और उनके भ्रंशतल (Fault plane) पर ऊपर नीचे खिसकने से आकस्मिक भूसंचलन होता है और भूपटल पर कम्पन्न होने लगता है, ऐसे भूकम्पों को भ्रंशमूलक भूकम्प (Tectonic earthquake) कहते हैं । विश्व के अधिकांश भूकम्प इसी वर्ग में आते है इस प्रकार के भूकम्प की तीव्रता में अलग अलग स्थानों पर भिन्नता पाई जाती है । यही कारण है कि अधिकांश भूकम्प नवीन मोड़दार पर्वतों की पेटी में आते रहते हैं । इसी प्रकार अफ्रीका की दरार घाटी में भी अनेक भूकम्पों का अनुभव होता है।

6.3.3 पाताली भूकम्प (Plutonic Earthquake)

पाताली भूकम्प वे है जो पृथ्वी की सतह से 250 से 700 कि मी. तक की गहराई में उत्पन्न होते है । इनकी उत्पत्ति के कारण वैज्ञानिक आज भी ठीक से नहीं जानते हैं । बहुत अधिक गहराई में चट्टानों में आकस्मिक विभंग (Fracture) के कारण भी इस प्रकार के भूकम्प आ सकते हैं । इस तरह के भूकम्प प्राय : कम आते हैं । इन भूकम्पों को तक्षणी भूकम्पों (Tectonic earthquake) के अंतर्गत ही समझना चाहिये ।

भूकम्प संबंधी कुछ परिभाषयें : भूकम्प प्रायः कुछ ही सैकण्ड या अधिक से अधिक दो मिनिट तक अनुभव किया जाता है । अधिकांशत : यह देखा गया कि मुख्य भूकम्प के पहले हल्के भूकम्प के झटके आते है जिन्हें पूर्व कम्प (Fore shock) कहते है । मुख्य भूकम्प के बाद में भी रह रहकर हल्के भूकम्प आते है जिन्हे अनुकम्प (After shocks) कहते है ।

भूकम्प प्राय : पृथ्वी की सतह से कुछ कि मी. नीचे उत्पन होते है । पृथ्वी के भीतरी भाग में वह स्थान जहां चट्टानों में हलचल पैदा होती है उसे भूकम्प का उत्पत्ति केन्द्र (Seismic focus) कहते हैं । इस बिंदु से कम्पन सबसे पहले उत्पत्ति केन्द्र के ठीक ऊपर पृथ्वी की सतह पर पहुंचता है इस बिंदु को अधिकेन्द्र (Epicentre) कहते है । भूकम्प की तीव्रता भी सबसे अधिक अधिकेन्द्र पर ही होती है यहां पर मकान आदि केवल ऊपर नीचे होते है । इसलिये उनमें अधिक क्षति नहीं होती है । सबसे अधिक नुकसान वहां होता है जहां लहरें पृथ्वी की सतह पर तिरछा (Obligue) पहुंचती हैं । तथा भूकम्प की लहरों की गति में बहुत अंतर नहीं आता है । भूकम्प की लहरें अधिकेन्द्र से दूर जाने पर भूकम्प की तीव्रता कम हो जाती है।

बोध प्रश्न – 1

1. भूकम्प किसे कहते है ?

   .....

   .....

2. सिस्मोग्राफ यंत्र में क्या अंकित होता है ?

.....

.....

3. गहरे भूकम्प किस गहराई पर आते हैं ?

.....

.....

4. पाताली भूकम्प किसे कहते हैं?

.....

.....

5. भूकम्प केन्द्र किसे कहते हैं?

.....

.....

6. सामान्य भूकम्प किस गहराई पर पाये जाते हैं?

.....

.....

7. भूकम्प मूल किसे कहते है ?

.....

.....

8. भूकम्प पूर्व कम्प किसे कहते हैं?

.....

.....

6.4 भूकम्प आने के कारण (Causes of Earth Quake)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कुछ भूकम्प बहुत तेज एवं विनाशकारी होते है परंतु कुछ भूकम्प बहुत ही साधारण प्रकार के होते है जिनका अनुभव या तो केवल ' ' भूकम्प लेखन यंत्र" (Seismograph) द्वारा ही हो पाता है । यह भूकम्प इतने हल्के कम्पन के होते है कि जिससे किसी भी प्रकार का नुकसान नहीं होता है इस तरह के भूकम्प को सामान्य भूकम्प (Normal earthquakes) कहते है इनकी उत्पत्ति के निम्न कारण हो सकते हैं ।

6.4.1 भारी सागरीय भूकम्प द्वारा

जब सुनामी (Tsunami) लहरें उत्पन्न होती है तो उनके तट से टकराने पर आस पास के भागों में कम्पन होता है जिससे भूकम्प आते हैं ।

6.4.2 चूने की चट्टानों के क्षेत्र में गुफाओं की छत धसकने से

कभी कभी चूने की चट्टानों के क्षेत्र में गुफाओं की छत नीचे धसकती है तो चट्टानों में कम्पन होता है और सामान्य प्रकार के भूकम्प अनुभव किये जाते हैं ।

6.4.3 भूस्खलन के कारण भी सामान्य भूकम्प

कभी कभी भूस्खलन के कारण भी सामान्य भूकम्प का अनुभव होता है ।

6.4.4 पर्वतीय भाग में हिमखंड नीचे की ओर धसकने से

जब हिमखंड पर्वतीय भाग में नीचे की ओर खिसकते है तो उससे भी साधारण कम्पन्न होता है और भूकम्प का अनुभव होता है ।

6.4.5 मानव निर्मित अणुबमों के विस्फोट से उत्पन्न भूकम्प

वर्तमान समय में अणुबमों के विस्फोट तथा परीक्षण द्वारा भी भूकम्प का अनुभव किया जा सकता।

बोध प्रश्न - 2

1. भारी सागरीय भूकम्प से कौन –सी लहरें उत्पन्न होती है ?

   .....

   .....

2. कभी–कभी भूस्खलन से क्या होता है ?

   .....

   .....

3. क्या अणु बम के विस्फोट से भी भूकम्प का अनुभव होता है ?

   .....

   .....

6.5 भूकम्प का विश्व वितरण (World distribution of Earthquake)

पृथ्वी की सतह पर शायद ही ऐसा कोई स्थान हैं जहाँ पर भूकम्प न आया हो परन्तु भूकम्प के कुछ भाग इतने स्पष्ट नजर आते हैं जहाँ भूकम्प आने की हमेशा सम्भावना बनी रहती हैं । कुछ भाग स्थिर हैं जहाँ प्रत्यक्ष रूप से भूकम्प आने की सम्भावना कम रहती हैं । यदि हम पृथ्वी के नक्शे में भूकम्प क्षेत्रों के वितरण को देखें तो स्पष्ट रूप से पता चलता है कि कुछ भागों में भूकम्प अन्य भागों की अपेक्षा अधिक आते है । भूकम्प के क्षेत्रों को संसार के (मानचित्र – 6.2) दिखाया गया है इनमें दो क्षेत्र प्रधान है पहला क्षेत्र जो सबसे विस्तृत है प्रशान्त महासागर के चारों ओर तटवर्ती भागों में फैला है और दूसरे क्षेत्र में भूमध्य सागर के तटवर्ती भाग दक्षिण पश्चिम एशिया तथा हिमालय पर्वत के समीपवर्ती भाग शामिल है इन

'दोनों स्थानों में नवीन मोड़दार पर्वतों की श्रृंखला फैली है जहां पर भूपटल का भाग अस्थिर है इस भाग में उच्चावच और भ्रंश होते रहते हैं । कुछ क्षेत्रों में सक्रिय ज्वालामुखी भी पाये जाते है। प्रशान्त महासागर के चारों तरफ ज्वालामुखी की विशाल श्रृंखला है ।

चित्र – 6.2 : विश्व में भूकम्प की पेटियाँ

6.5.1 भारत में भूकम्प क्षेत्र

भारत में भूकम्प के मुख्य रूप से तीन क्षेत्र है पहला क्षेत्र भारत के उत्तरी भाग में हिमालय पर्वत के क्षेत्र में फैला है जो पश्चिम में जम्मू–कश्मीर से लेकर पूर्व में अरूणाचल प्रदेश तथा उत्तर–पूर्वी भारत में फैला है । भारत में भूकम्प का यह प्रमुख क्षेत्र है । हिमालय के दक्षिण में एक लंबा सकरा क्षेत्र है जिसमें गंगा, सिन्धु नदियों के मैदान तथा राजस्थान के अधिकांश भाग शामिल है । तीसरा क्षेत्र कच्छ (गुजरात), नर्मदा घाटी का मध्य तथा निचला भाग है जहां पिछले कुछ समय से भूकम्पों का अनुभव किया गया है । भूकम्पों के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि भारत के भूकम्प सभी तक्षणी (Tectonic) वर्ग के है और इनके उत्पन्न होने का संबंध हिमालय की नवीन मोड़दार पर्वत श्रृंखला से है । अभी तक हिमालय क्षेत्र में पूर्ण स्थिरता नहीं आई है और भूपटल में वलन तथा भ्रंश होते रहते है जिसके कारण इसके किसी भी भाग में भूकम्प आने की संभावना बनी रहती हैं । सबसे ज्यादा भूकम्प भारत के उत्तरपूर्वी क्षेत्र में आते है क्योंकि यहाँ की चट्टानें कमजोर तथा अस्थिर है ।

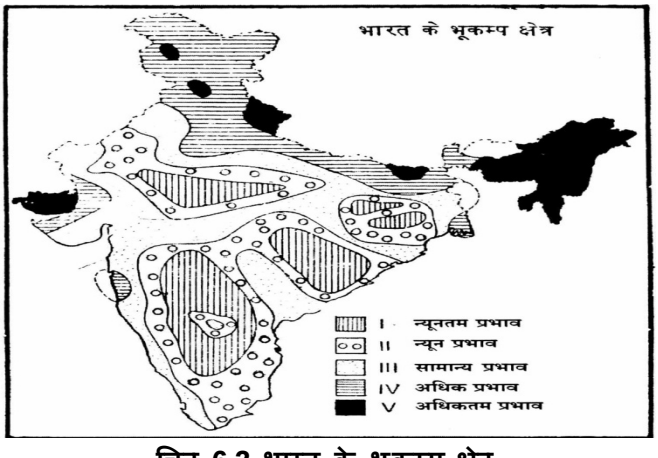

चित्र 6.3 भारत के भूकम्प क्षेत्र

बोध प्रश्न –3

1. सबसे अधिक भूकम्प किस क्षेत्र में आते हैं?

   .....

   .....

2. भूकम्प के लिये दूसरा महत्वपूर्ण क्षेत्र कौन सा ?

   .....

   .....

3. भारत के उत्तरी भाग में कौन सा क्षेत्र है जहाँ भूकम्प आते हैं ?

   .....

   .....

4. भारत के पश्चिमी भाग में कौन सा प्रदेश है जहाँ भूकम्प अधिक आते हैं ?

   .....

   .....

6.6 भूकम्पों के प्रभाव (Effects of Earth Quakes)

यह अनुभव किया गया है कि भूकम्पों का स्थलखंडों पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता है किंतु कभी–कभी पटल पर कुछ प्रभाव देखने को मिलते है । सबसे अधिक विनासकारी प्रभाव के कारण ही भूकम्प को मानव के लिये विनासकारी माना जाता है ।

मानवीय दृष्टि से भूकम्पों का प्रभाव अत्यंत महत्वपूर्ण है । भूकम्पों से जान और माल की बहुत क्षति होती है भूकम्पों के विनाशक तथा भयानक रूप से मनुष्य प्रारंभ से परिचित है भूकम्प के कारण सबसे अधिक हानि घनी आबादी वाले क्षेत्रों में देखने को मिलती है । कुछ क्षणों में हजारों मकान धरासाई हो जाते हैं । सड़के फट जाती है । रेलवे लाइन, पुल आदि टूट जाते है । हजारों मनुष्यों की मृत्यु हो जाती है । बहुत से लोग घायल हो जाते है अर्थात भूकम्प के कारण कुछ ही क्षणों में सारा जीवन अस्त व्यस्त हो जाता है । समुद्र में भूकम्प के प्रभाव से बड़ी–बड़ी लहरें उत्पन्न होती है । जिन्हें सुनामी कहते है । जब ये लहरें समुद्र तटीय भाग से टकराती है तो उनसे धन जन की भयंकर हानि होती है भूकम्प का सबसे अधिक प्रभाव नगरों में होता है । भूकम्प के कारण इमारतें ध्वस्त हो जाती है । कल कारखानें बर्बाद हो जाते है । भूकम्प के कारण कभी–कभी दरार (Faults) का निर्माण होता है । इसी तरह पर्वतीय भागों में खड़े ढाल के पर्वतीय भागों में भूस्खलन (Landslides) से स्थल के बड़े–बड़े खण्ड टूटकर नीचे की तरफ खिसकने लगते है इससे कई बार जन, धन की भारी हानि होती है ।

भूकम्पीय तरंग (Earthquake waves)

भूकम्पीय तरंगों के अध्ययन के पिछले कुछ वर्षों में हमें पृथ्वी की आंतरिक संरचना के बारे में नई जानकारी प्राप्त हुई है । यहां हम भूकम्प तरंगों के प्रकार और उनकी विशेषताओं के बारे में

विचार करेंगे । भूकम्पीय तरंगों द्वारा पृथ्वी की अतिरिक बनावट के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करने में मदद मिलती है ।

जब भूकम्प मूल से भूकम्प प्रारंभ होता है तो इस केन्द्र बिन्दु से भूकम्पीय लहरें उठने लगती है । ये भूकम्पीय तरंगें तीन प्रकार की होती है । जिन्हें क्रमश : P,S और L तरंगें कहते है । सिस्मोग्राफ पर जब भूकम्प अंकित होता है तो सबसे पहले P तरंगें उसके बाद S तथा अंत में L तरंगें अंकित होती है । P प्राथमिक तरंग है । P तरंगें ध्वनि तरंगों के समान होती है इनमें कंपन्न लहरों की दिशा में आगे और पीछे की ओर होता है । इन तरंगों को अनुलंब तरंगें (Longitudinal waves) या सम्पीड़न तरंगें (Compressional waves) भी कहते हैं । ये तरंगें ठोस, द्रव तथा गैसीय पदार्थ सभी से होकर गुजरती हैं । इन लहरों का उद्भव चट्टानों के कणों के सम्पीड़न से होता है । ये लहरें सबसे अधिक तीव्र गति से चलती है इनकी तीव्रता इनके मार्ग में पड़ने वाली चट्टानों की सघनता पर निर्भर करती है । प्राथमिक लहरों की औसत गति 8 कि.मी प्रति सैकण्ड होती है । परंतु अलग –अलग प्रकार की चट्टानों में उनकी गति भिन्न –भिन्न होती है ।

S तरंगें आड़ी अथवा अनुप्रस्थ तरंगें (Transverse or Shear waves) इन तरंगों में अणुओं की गति लहर की दिशा के समकोण पर होती है । (The motion of each particle is at right angles to the direction of propagation) इन तरंगों को द्वितीय अथवा गौण तरंग (Secondary waves) भी कहते है । इनकी गति प्राथमिक तरंग की तुलना में कम होती है । S तरंगें केवल ठोस पदार्थों से ही होकर गुजर सकती हैं । ये तरल पदार्थ से होकर नहीं गुजर सकती है । यही कारण है कि आड़ी लहरें सागरीय भागों में पहुंचने पर लुप्त हो जाती हैं । इन तरंगों को विध्वंसक लहर (Distortional waves) भी कहते है । साधारण रूप से P तरंगों की गति S तरंगों की गति से 9.4 गुना अधिक होती है । P और S तरंगों का पृथ्वी के आंतरिक भागों से धरातल तक पहुंचने का मार्ग अवतल (concave) होता है जिससे यह पता चलता है कि गहराई के साथ इनकी गति बढ़ती है । पृथ्वी के अंदर विभिन्न घनत्व वाली परतें पाई जाती है ।

L तरंगें धरातलीय तरंगें (surface waves) अन्य दो तरंगों की अपेक्षा कम वेगमान होती हैं। इनका भ्रमण पथ पृथ्वी का धरातलीय भाग होता है चूंकि ये तरंगें पृथ्वी का पूरा चक्कर लगा कर अधिकेन्द्र पर पहुंचती है । अत : इन्हें P तथा S तरंगों की अपेक्षा अधिक लंबा मार्ग तय करना पड़ता है । इन तरंगों को लंबी अवधि वाली तरंगें अथवा लंबी तरंगें (Long waves) कहा जाता है । L तरंगें P और S तरंगों के बाद सिस्मोग्राफ पर अंकित होती है, क्योंकि भूपटल पर इनका भ्रमण पथ अत्यंत जटिल होता है । ये तरंगें P और S तरंगों के बाद लेखन केन्द्रों में पहुंचती हैं । इनका भ्रमण समय अधिक होता है ये सबसे अधिक दूरी तय करती है । अधिक गहराई पर जाने पर धरातलीय तरंगें लुप्त हो जाती है । ये तरंगें जल से भी होकर गुजरती है और इनका प्रभाव स्थल और जल दोनों पर होता है । इन तरंगों को L अक्षर (Long–L) तरंग के नाम से जाना जाता है । इनमें कम्पन्न की गति सबसे अधिक होती है ।

यदि पृथ्वी की चट्टानों की बनावट सर्वत्र समान घनत्व की होती तो इन तीनों तरंगों का वेग समान होता परंतु धरातल में ऐसा नहीं होता है अधिक गहराई में जाने पर इन तरंगों की गति में पर्याप्त अंतर मिलता है इससे यह ज्ञात होता है कि पृथ्वी के अंदर विभिन्न घनत्व वाली चट्टानों की परतें पाई जाती हैं जिनके घनत्व में अंतर पाया जाता है । अध्ययनों के आधार पर कुछ विद्वानों ने P,S और L तरंगों की अपेक्षा कुछ और भूकम्पीय लहरों का पता लगाया है यद्यपि लहरें तो P, S तथा L ही है । परंतु इनकी गति में अंतर होने के कारण इनका नाम (Pg–Sg) दिया गया है । Pg–Sg तरंगें मुख्यत : पृथ्वी की ऊपरी परत से होकर भ्रमण करती है । इनमें Pg की गति 5.4 तथा Sg की गति 3.3 कि मी. प्रति सैकेण्ड होती है ।

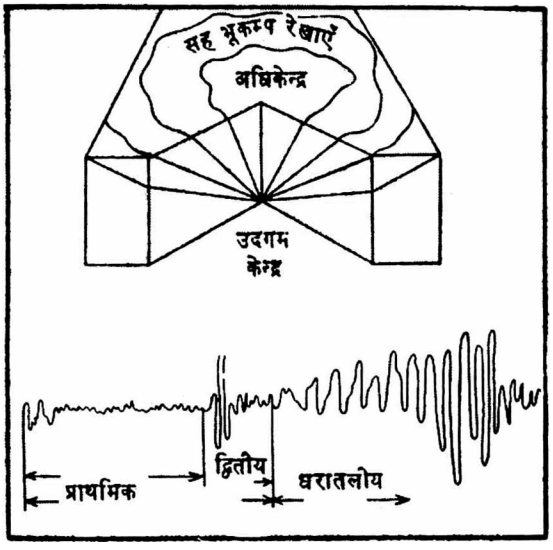

चित्र – 6.4 : भूकम्प की उत्पत्ति एवं लहरें

कोनार्ड (Conard) महोदय ने 1923 में आस्ट्रियन आल्पस में आगे भूकम्प का अध्ययन करते हुए एक तरंग का पता लगाया जिसे P^* तरंग कहते हैं । जिसकी गति P और Pg के बीच की होती है इस प्रकार P* तरंग पृथ्वी की मध्यवर्ती पर 6.0 से 7.2 कि.मी. प्रति सैकण्ड की गति से होकर भ्रमण करती है । फिर जेफ्रीन ने 1926 के जर्सी तथा हेयर फोर्ड में हुए भूकम्पों में एक तरंग का पता लगाया जो कि मध्यवर्ती परत से P* तरंगों की लगभग आधी गति से यात्रा करती है इसका नाम S* तरंग दिया गया । यह P*–S* तरंग युग्म P–S तथा Pg–Sg के मध्य का है ।

इन तीनों विभिन्न तरंगों तथा उनकी विभिन्न गतियों के आधार पर पृथ्वी के विभिन्न घनत्व वाली विभिन्न परतों का पता लगाया गया है । Pg तरंग 5.4 कि.मी. तथा Sg तरंग 3.3 कि.मी. प्रति सैकण्ड की गति से पृथ्वी की ऊपरी परत में भ्रमण करती है अध्ययनों के आधार पर यह पाया गया है कि Pg–Sg तरंगें इस गति से केवल ग्रेनाइट चट्टान में भ्रमण कर सकती है ।

P*S* को संबंध ऊपरी परत के नीचे स्थित मध्यवर्ती परत से है और इन तरंगों की गति Pg–Sg तथा P–S के बीच की है इससे यह पता चलता है कि ऊपरी परत के नीचे एक

मध्यवर्ती परत है जो परतदार और रूपांतरित चट्टानों की बनी है जिसमें बेसाल्ट चट्टान की प्रधानता है । P–S तरंगों का यह स्वभाव है कि अधिक घनत्व वाली चट्टानों में उनका वेग अधिक हो जाता है ।

महासागरीय भागों में भूकम्प मापक केन्द्रों की कमी के कारण महासागरों के नीचे स्थित विभिन्न परतों के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है । फिर भी यह कहा जा सकता है कि प्रशांत महासागर के तल में ग्रेनाइट परत नहीं पाई जाती है । हिन्द महासागर और अटलांटिक महासागर के नीचे ग्रेनाइट परत टुकड़ों के तथा पतली परत के रूप में उपस्थित हैं ।

6.7 ज्वालामुखी (Volcanos)

ज्वालामुखी क्रिया का संबंध पृथ्वी की ऊपरी तह के नीचे की तह मेन्टल (Mentle) मे होने वाले परिवर्तनों से है । ज्वालामुखी का अर्थ होता है जिस छिद्र से आग की ज्वाला निकलती है ज्वालामुखी उद्‌गार के समय जो पदार्थ बाहर निकलता है वह प्राय : अधिक ताप के कारण लाल अंगारे जैसा दिखाई देता है । दूर से ये आग की लपट की तरह दिखाई पड़ता है जैसा कि ज्ञात है जैसे –जैसे हम पृथ्वी की सतह से नीचे की ओर जाते है तो तापक्रम में वृद्धि होने लगती है। प्रति 32 मीटर की गहराई पर 1 डिग से. ताप बढ़ जाता है इससे यह अंदाज लगाया जा सकता है कि पृथ्वी की सतह के नीचे बहुत अधिक तापमान होगा जिससे चट्टाने तरल अवस्था में बदल जाती है भूपटल समान रूप से दृढ़ नहीं है कुछ भाग कमजोर होते है । अधिक दबाव एवं भू–हलचलों (Earth movement) के कारण भूपटल के नीचे के पदार्थ इधर उधर हट जाते है और इनके टूटने से वहाँ का दबाव कम हो जाता है । पृथ्वी की भीतरी चट्टानें पिघलकर कमजोर स्थानों अथवा दरारों द्‌वारा लावा बाहर निकलने की कोशिश करता है । लावा के निकलने से ज्वालामुखी का निर्माण होता है । प्लेट विवर्तनीक तथा महाद्‌वीपीय विस्थापन के अध्ययन से यह पता चला है कि पृथ्वी की पर्पटी के कुछ भाग कमजोर हो जाते है और वहाँ दरारों से अत्यधिक गर्म एवं तरल लावा ज्वालामुखी के रूप में फूट पड़ता है । संसार में ज्वालामुखियों के वितरण से भी यह ज्ञात होता है कि आज भी ज्वालामुखी विस्फोट कुछ निश्चित क्षेत्रों में ही होते है ।

ज्वालामुखी व ज्वालामुखी क्रिया से निर्मित स्थलाकृतियों का अध्ययन करने से पहले दोनों में क्या अंतर है जानना जरूरी है । ज्वालामुखी क्रिया के अंतर्गत बहुत सी चीजें शामिल है । वासेस्टर महोदय के अनुसार "ज्वालामुखी वह क्रिया है जिससे गर्म पदार्थ की धरातल की तरफ या धरातल पर आने की सभी क्रियाओं को सम्मलित किया जाता है। " ज्वालामुखी क्रिया के मुख्य रूप से दो प्रकार होते है आंतरिक ज्वालामुखी क्रिया एवं धरातल के ऊपर ज्वालामुखी क्रिया, आंतरिक क्रिया में लावा धरातल के नीचे ठंडा हो जाता है, उससे धरातल के नीचे लावा ठंडा होकर ठोस रूप धारण कर लेता है जिससे अनेक प्रकार की स्थलाकृतियों का निर्माण होता है जैसे लेकोलिथ, सिल, डाइक चैथोलिथ आदि । बाह्‌य क्रिया मे गर्म लावा धरातल पर प्रगट होने की क्रियायें शामिल है ।

ज्वालामुखी से तात्पर्य उस छिद्र या दरार से होता है जिससे पृथ्वी के आंतरिक भाग से गर्म लावा, वाष्प एवं गैसें आदि निकलती है । अत :हम कह सकते है । ज्वालामुखी वह छिद्र या

दरार है जिससे लावा निकलता है । अत : हम कह सकते है कि ज्वालामुखी शंकु या पर्वत लावा के जमा होने से बनते है ।

बोध प्रश्न– 4

1. ज्वालामुखी किसे कहते हैं ।

   .....

   .....

2. ज्वालामुखी उद्‌गार किसे कहते हैं?

   .....

   .....

3. ज्वालामुखी क्रियाओं का संबंध पृथ्वी की कौन सी तह मे होने वाले परिवर्तनों से हैं?

   .....

   .....

4. पृथ्वी की सतह के नीचे तापमान में किस दर से वृद्धि होती है ?

   .....

   .....

5. ज्वालामुखी किन क्षेत्रों में होते है ?

   .....

   .....

6.7.1 ज्वालामुखी उद्‌गार से निकले पदार्थ

ज्वालामुखी क्रिया से कई प्रकार के पदार्थ बाहर निकलते है जिनमें, लावा, गैसें, जल वाष्प और राख आदि होते है । जब उद्‌गार के रूप में द्रव के रूप में पिघला हुआ पदार्थ आता है उसे लावा या मैग्मा कहते है । सिलिका की मात्रा के आधार पर लावा दो प्रकार का होता है ।

1. अम्लीय लावा या एसिड लावा (Acid lava) इसका रंग पीला तथा भार में हल्का होता है तथा यह ऊँचे ताप पर पिघलता है इसमें 65% से 70% सिलिका की मात्रा होती है।

2. पैठिक लावा या बेसिक लावा (Basic lava) इसका रंग गहरा काला होता है इसका भार अधिक होता है तथा कम ताप पर पिघल जाता है इसमें सिलिका की मात्रा 40% से 50% के बीच होती है ।

लावा जब ज्वालामुखी छिद्र के चारों तरफ जमा हो जाता है उसके परिणाम स्वरूप कई स्थलाकृतियाँ बन जाती हैं । लावा के जमने से ज्वालामुखी शंकु का निर्माण होता है । जब जमाव बहुत अधिक हो जाता है तो शंकु पर्वत का रूप धारण कर लेता है । इस तरह से बने शंकु को ज्वालामुखी पर्वत (Volcanic Mountain) कहते है । जब ज्वालामुखी का छिद्र बड़ा हो जाता है तो उसे ज्वालामुखी का मुख (Volcanic Crater) कहते है । जब धँसाव या अन्य

कारण से ज्वालामुखी मुख का विस्तार अधिक हो जाता है तो उसे काल्डेरा (Caldera) कहते है।

बोध प्रश्न – 5

1. मैग्मा किसे कहते हैं ?

   .....

   .....

2. लावा कितने प्रकार का होता है ?

   .....

   .....

3. ज्वालामुखी पर्वत किसे कहते है ?

   .....

   .....

4. काल्डेरा किसे कहते हे ?

   .....

   .....

6.7.2 ज्वालामुखियों का वर्गीकरण (Types of Volcanos)

ज्वालामुखी के उद्‌गार या उद्भेदन (Eruption) की प्रक्रिया तथा उद्‌गार के समय में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है ऐसा देखा गया है कि कुछ ज्वालामुखी में उद्‌गार अत्याधिक विस्फोट के साथ लगातार होता रहता है । अधिकांश ज्वालामुखी में उद्‌गार रूक–रूक कर होता है । कुछ ज्वालामुखी में उद्‌गार शान्त रूप में होता है । तथा कई ज्वालामुखी कुछ समय तक शान्त रहकर फिर सक्रिय हो जाते है तथा कुछ हमेशा के लिये शांत हो जाते है । इस प्रकार हम यह कह सकते है ज्वालामुखी की उद्‌गार की प्रक्रिया व अवधि में काफी अन्तर पाया जाता है इसलिये ज्वाला मुखियों का वर्गीकरण करते समय उद्‌गार की प्रक्रिया और उद्‌गार की क्रियाशीलता को आधार मानकर वर्गीकरण करना चाहिये। इस तरह हम ज्वालामुखी में तीन भेदकर सकते है ।

6.7.2.1 क्रियाशील ज्वालामुखी (Active Volcanos)

जिस ज्वालामुखी से समय समय पर उद्रार हो जाया करता है उसे सक्रिय ज्वालामुखी (Active Volcano) कहते है। हवाई द्‌वीप का मोना लोआ, सिसली का एटना तथा इटली का विसुवियस सक्रिय ज्वालामुखी है । संसार में करीब 450 से ज्यादा ज्वालामुखी सक्रिय अवस्था में पाये जाते है । इटली का विसुवियस ज्वालामुखी सर 1979 में जाग्रत हुआ, इसके पहले यह लम्बे समय तक सुसुप्त रहा था। इक्कडोर स्थित कोटो पैक्सी (Cotopaxi) ज्वालामुखी संसार का सबसे ऊँचा सक्रिय ज्वालामुखी है ।

6.7.2.2 सुषुप्त ज्वालामुखी (Dorment Volcanos)

कुछ ज्वालामुखी उद्रार के बाद लम्बे समय तक शान्त हो जाते है और जिनके जागृत होने के लक्षण प्रगट होते है उसे निद्रित अथवा सुषप्त ज्वालामुखी (Dorment volcanoes) कहते है। इस तरह के ज्वालामुखी का उदाहरण जापान का फ़्यूज़ीयामा और इन्डोनेशिया का काकातोआ है । इस प्रकार के ज्वालामुखियों के उद्रार के समय तथा स्वभाव के बारे में बहुत अधिक जानकारी नहीं होती है इसलिये इनके स्वभाव के संबंध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है । काकातोआ, जावा और सुमात्रा के बीच स्थित एक द्वीप है । लगभग 200 वर्षों तक शांत रहने के बाद 1883 ई. में अचानक विस्फोट हुआ जो लम्बे समय तक चलता रहा । काकातोआ द्वीप का लगभग दो तिहाई भाग खत्म हो गया ।

6.7.2.3 मृत ज्वालामुखी (Extinct Volcano)

जिस ज्वालामुखी में उद्रार पूर्ण रूप से बंद हो जाता है उसे मृत ज्वालामुखी (Extinct volcano) कहते है । इस प्रकार के ज्वालामुखी का रूप अपरदन के द्वारा परिवर्तित हो जाता है । इस प्रकार के ज्वालामुखी के मुख पर झील का निर्माण हो जाता है, इसके उदाहरण अफ्रीका में किलिमंजारो ज्वालामुखी हैं । हिन्द महासागर के मोरिसस तथा अन्य कई द्वीपों में मृत ज्वालामुखी के उदाहरण हैं ।

6.8 ज्वालामुखियों का वर्गीकरण उनके उद्रार के स्वरूप के आधार पर किया जाता है (Classification of Volcanos on the Basis of Eruption)

ज्वालामुखी का उद्रार मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है ।

1. एक छिद्र तथा नली या द्रोणी के सहारे होने वाला उद्रार जिसे केन्द्रीय उद्रार (Central Eruption) कहते है ।
2. 2 जब लावा का उद्रार एक लम्बी दरार के सहारे तरल लावा शान्त रूप में निकलकर विस्तृत क्षेत्र में परत के रूप में धरातल पर जमा हो जाता है उसे दरारी उद्रार (Fissure Eruption) कहा जाता है ।

केन्द्रीय उद्रार वाले ज्वालामुखी : केन्द्रीय उद्रार (Central Eruption) प्राय : एक सकरी नली या द्रोणी के सहारे एक छिद्र से होता है । केन्द्रीय उद्रार के अन्तर्गत चार प्रकार के ज्वालामुखी सम्मिलित किये जाते है ।

6.8.1 हवाई प्रकार के ज्वालामुखी (Hawaian Type)

इस प्रकार के ज्वालामुखी में उद्रार शांत ढंग से होता है । हवाई द्वीप पर इस प्रकार के ज्वालामुखी पाये जाते है इसलिये इनको इसी नाम से जाना जाता है । इस प्रकार के ज्वालामुखी में तरल लावा का उद्रार होता है और लावा दूर तक फैल जाता है ।

6.8.2 स्ट्रेम्बोलियन प्रकार के ज्वालामुखी (Strombolian Type)

- इस प्रकार के ज्वालामुखी का नामकरण स्ट्रेम्बोली ज्वालामुखी के नाम पर किया गया है । इस प्रकार के ज्वालामुखी में लावा पतला होता है । क्रेटर से लावा के साथ गैसें विस्फोट करती हुई निकलती हैं । लावा पदार्थ अत्यधिक ऊँचाई तक आकाश में चला जाता है ज्वालामुखी धूल तथा विखण्डित पदार्थ थोड़ी देर में नीचे गिरते है और लगता है कि जैसे चट्टानी टुकडों की वर्षा हो रही है ।

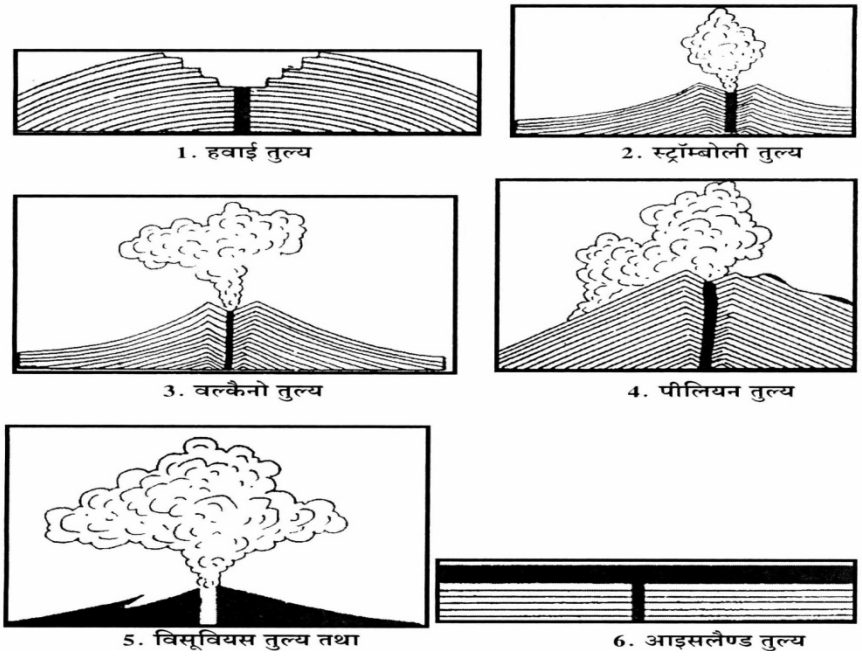

चित्र – 6.5 : ज्वालामुखियों के प्रकार

6.8.3 वलकेनियन प्रकार के ज्वाला मुखी (Vulcanian Type)

इस प्रकार के ज्वालामुखी का नामकरण भी सिसिल द्वीप में स्थित स्ट्राम्बोली ज्वालामुखी के पास पाये जाने वाले ज्वालामुखी के नाम पर किया गया है । इस प्रकार का ज्वाला मुखी प्राय : विस्फोटक एवं भयंकर उद्गार के साथ निकलता है । इससे निकला लावा गाढ़ा और चिपचिपा (Viscous) होता है और दो उद्गारों के बीच यह क्रेटर मे जमकर क्रेटर के मुंह को बंद कर देता है । इससे उद्गार से निकलने वाली गैसों का मार्ग बंद हो जाता है और धीरे – धीरे जब गैसें अधिक मात्रा में जमा हो जाती है तो तीव्रता से लावा के अवरोध को तोड़कर विस्फोट के साथ निकलती है । राख और धूल से भरे गैस विशाल काले बादलों के रूप में आकाश में छा जाते हैं, जो देखने में फूल गोभी के समान दिखते है ।

6.8.4 वेसुवियन प्रकार के ज्वालामुखी (Vesuvian Type)

इस प्रकार के ज्वालामुखी में गैसों की तीव्रता के कारण लावा भयानक विस्फोटके साथ धरातल पर प्रगट होते है। इससे निकले पदार्थ अधिक ऊँचाई तक आकाश में जाते है थोड़ा लावा निकल जाने के कारण ऊपर का दबाव कम हो जाता है आकाश में ज्वाला मुखी लावा विस्फोट के साथ

फूल गोभी नुमा बादल बनाते हुए निकलता है। इस प्रकार का उद्भेदन सन् 1979 ई में विसुवियस मे हुआ था जिसका सर्वप्रथम अध्ययन प्लीनी महोदय ने किया था इसलिये इसे प्लिनियन प्रकार का ज्वालामुखी भी कहा जाता है।

6.8.5 पीलियन प्रकार के ज्वालामुखी (Pelean Type)

इस प्रकार के ज्वालामुखी भंयकर विस्फोटक के साथ उद्भोदित होते है और ये सबसे अधिक विनाशकारी होते है। इनसे निकला लावा सबसे अधिक चिपचिपा और लसदार होता है इनमें लावा और विखंडित पदार्थ की मात्रा सबसे अधिक होती है। अत: जब इस प्रकार के ज्वालामुखी का उद्रार होता है तो पूर्व निर्मित ज्वालामुखी शंकु नष्ट हो जाती है।

दरार उद्रार वाले ज्वालामुखी (Fissure Volcanos) : जब लावा के साथ गैस की मात्रा अधिक नहीं होती है तो धरातल में दरार पड़ जाती है और लावा शांत रूप से प्रवाहित होता है और धरातल के ऊपर फैल जाता है। कभी कभी लावा की मात्रा इतनी अधिक होती है कि धरातल के ऊपर लावा की मोटी परत जमा हो जाती है जो ठोस होकर लावा मैदान अथवा लावा पठार निर्मित हो जाते है । भारत के पश्चिमी भाग में दुसरी उद्रार द्वारा विस्तृत लावा पठार का निर्माण हुआ है। केन्द्रीय उद्रार वाले ज्वालामुखी तथा दरार उद्रार वाले ज्वालामुखी में सबसे बड़ा अंतर यह होता है कि दरारी उद्रार में लावा छिद्र से न निकलकर दरार से निकलता है। सन् 1783 में आइसलैंड में एक 25 कि.मी. लम्बी दरार से होकर लावा का उद्रार हुआ था जिससे करीब 390 किमी. लम्बाई का क्षेत्र प्रभावित हुआ इससे आइसलैंड की 20% जनसंख्या नष्ट हो गई थी। संयुक्त राज अमेरिका का कोलम्बिया का पठार भी इसी प्रकार के उद्रार का उदाहरण है।

बोध प्रश्न–6

1. छिद्र ज्वालामुखी क्या है ?

   .....

   .....

2. दरार ज्वालामुखी किसे कहते हे?

   .....

   .....

3. वलकेनियन प्रकार के ज्वालामुखी ।

   .....

   .....

4. पीलियन प्रकार के ज्वालामुखी ।

   .....

   .....

6.9 ज्वालामुखी के उद्गार के कारण (Causes of Volcano Eruption)

ज्वालामुखी के उद्गार का सीधा संबंध पृथ्वी की आन्तरिक रचना से है । अगर हम ज्वालामुखियों के वितरण का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होता है कि ज्वालामुखी उन भागों में केन्द्रित है जो भूगर्भिक इतिहास भूगर्भिक हलचलों से अधिक प्रभावित होते रहे हैं । पृथ्वी का आन्तरिक भाग अभी भी पूर्ण रूप से ठंडा नहीं हुआ है । पृथ्वी की सतह के नीचे अधिक ताप पाया जाता है । पृथ्वी की सतह के नीचे रेडियोधर्मी पदार्थ विघटन द्वारा ताप की मात्रा बढ़ाते हैं । सतह पर दरार पड़ने से मैग्मा का भार कम हो जाता है और वह ऊपर की ओर आने लगता है ।

6.10 ज्वालामुखी का विश्व वितरण (World Distribution of Volcanos)

संसार में सक्रिय ज्वालामुखियों की संख्या 500 के लगभग है । विश्व मानचित्र में (चित्र – 6.6) यदि ज्वालामुखी के वितरण को देखे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्वालामुखी ज्यादातर उन क्षेत्रों में पाये जाते है जो भूगर्भिक दृष्टि से अस्थिर रहे हैं । सक्रिय ज्वालामुखी एक सुनिश्चित पट्टी में पाये जाते है । ये पट्टियाँ मुख्य भूसंचालन के क्षेत्रों में हैं जहां संसार का नवीन मोड़दार पर्वत मालायें मिलती हैं, जो महाद्वीपों के मध्य में पूर्व से पश्चिम की ओर फैले है या महाद्वीपों के पश्चिमी तट पर उत्तर से दक्षिण की ओर फैले हैं। कुछ ऐसी भी नवोन पर्वत मालायें है जहाँ ज्वालामुखी नही हैं जैसे हिमालय या इसके विपरीत कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ ज्वालामुखी मिलते हैं परन्तु नवीन मोड़दार पर्वत नहीं पाये जाते है जैसे आइसलैंड ।

6.10.1 ज्वालामुखियों की सबसे महत्वपूर्ण पेटी

प्रशान्त महासागरीय पेटी कहा जाता है । इस पेटी में तीनों प्रकार के ज्वालामुखी पाये जाते है । इस पेटी का विस्तार दक्षिण अमेरिका के एन्डीज पर्वत से शुरू होकर उत्तरी अमेरिका के राकीज पर्वत श्रृंखला के साथ होकर अलास्का तक फैली है । एक पेटी जापान, फिलीपीन्स, न्यूगिनी से होती हुई न्यूज़ीलैंड तक फैली है ।

6.10.2 मध्य महाद्वीपीय पेटी (Mid Continental Belt)

इस श्रृंखाला का प्रारंभ महाद्वीपीय भाग से न होकर सागरीय भाग से माना जाता है । यह श्रृंखाला आइसलैंड से प्रारंभ होती है । यहाँ दरारी उद्गार वाले अनेक ज्वालामुखी पाये जाते हैं । मध्य महाद्वीपीय ज्वालामुखियों का वितरण समान नही है ।

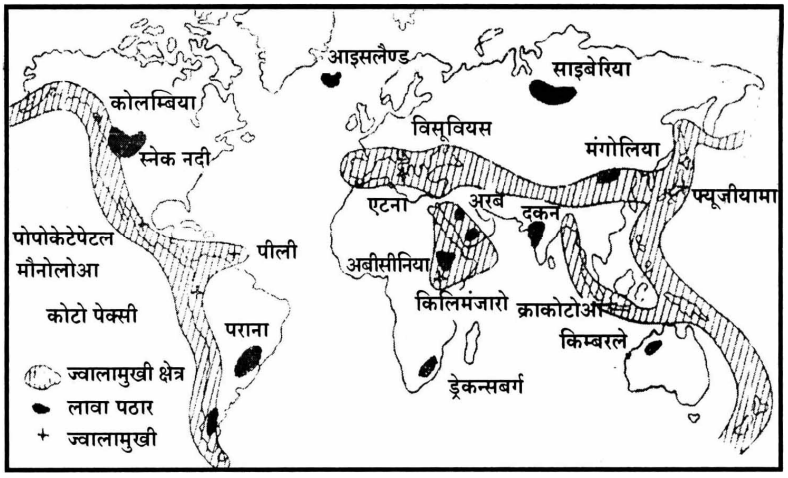

चित्र – 6.6 : ज्वालामुखी

6.10.3 अन्ध महासागरीय पेटी (Atlentic belt)

यहाँ पर ज्वालामुखियों का वितरण किसी निश्चित क्रम में नही पाया जाता है । उत्तरी आन्ध्र महासागर में मध्य रिज के सहारे ज्वालामुखी पाये जाते हैं ।

6.10.4 अन्य ज्वालामुखी क्षेत्र

कुछ ज्वालामुखी क्षेत्र हिन्द महासागर तथा अन्टार्कटिका महाद्वीप के चारों तरफ स्थित द्वीपों पर पाये जाते है।

बोध प्रश्न– 7

1. प्रशान्त सागरीय पेटी कहां पाई जाती है?

   .....

   .....

2. आन्ध महासागरीय पेटी कहाँ पाई जाती है?

   .....

   .....

3. मध्य महाद्वीपीय पेटी कहाँ पाई जाती है?

   .....

   .....

6.11 ज्वालामुखी क्रिया द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ (Topography produced by Vulcancity)

ज्वालामुखी क्रिया के द्वारा पृथ्वी की सतह पर विशिष्ठ भूआकृतियाँ निर्मित होती हैं, ज्वालामुखी क्रिया द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ लावा तथा विखंडित पदार्थ के अनुपात पर आधारित होती हैं ।

ज्वालामुखी के उद्गार के साथ लावा चट्टान चूर्ण, गैसें और राख आदि निकलती हैं । जिनसे बाहरी भाग में विभिन स्थलाकृतियों का निर्माण होता है, इसके अतिरिक्त जब मैग्मा ज्वालामुखी के रूप में बाहर नही निकल पाता है तो उससे आंतरिक भाग में ही स्थलाकृतियाँ विकसित हो जाती है और वे केवल ऊपरी सतह के अपरदन के बाद धरातल पर दिखाई देती है । ज्वालामुखियों से निर्मित स्थलाकृतियों को निम्न भागों में बांटा जा सकता है ।

बाल स्थलाकृतियाँ (Extrusive topographic Forms)

(अ) ऊँचे उठे भाग (Elevated forms)

(ब) नीचे धंसे भाग (Depressed forms)

(अ) ऊँचे उठे स्थल भाग (Topographic features formed by central eruption)

(i) सिन्डर शंकु (Cinder cone)

(ii) मिश्रित शंकु (Composite cone)

(iii) परिपोशित शंकु (Parasitic cone)

(iv) स्पेटर शंकु (Spater cone)

(v) बेशिक लावा शंकु (Basic Lava cone)

(vi) अम्लीय लावा शंकु (Acidic Lava cone)

(vii) गुम्बद तथा टीले (Domes & Mounds)

(viii) लावा सिन्डर और राख मैदान (Lava Cinder & Ashplain)

(ix) पंक वाह (Mud flows)

(ब) नीचे धंसे स्थल भाग (Depressed Forms)

(i) क्रेटर (Crater)

(ii) कालडेरा (Caldera)

(iii) ज्वालामुखी वेन्टस (Volcanic vents)

(स) दरार उद्गार द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ (Topgenphic forms due to fissure eruption)

(i) लावा पठार (Lava Plateau)

(ii) लावा मैदान (Lava Plain)

(iii) मेसा ओर ब्यूटे (Mesa & Butte Lava capped)

(द) आन्तरिक स्थलाकृतियाँ (Interior topographic feature)

(i) बेथोलिथ (Batholith)

(ii) लेकोलिथ (Laccolith)

(iii) फकोलिथ (Facolith)

(iv) सल (Sil)

(v) डाइक (Dyke)

6.11.1 केन्द्रीय उद्गार द्वारा निर्मित ऊँचे उठे हुए स्थल रूप

(i) राख शंकु (Cinder cone) : राख शंकु विस्फोट ज्वालामुखी के उद्गार से निकले पदार्थ से बनने वाले छोटे उठे हुए भाग हैं । ज्वालामुखी उद्गार के बाद केन्द्र के निकट ज्वालामुखी राख तथा चट्टानों के टुकड़े जमा हो जाते है । जिससे शंकुओं का आकार बढ़ता रहता है राख शंकु की ऊँचाई 150 - 300 मीटर तक होती है । राख शंकु का निर्माण तीव्र गति से होता है ।

(ii) मिश्रित शंकु (Composite cone) : इनका निर्माण लावा राख की एक परत के बाद दूसरी परत के जमने से होता है । धरातल से शंकुओं का ढाल 250 - 400 तक होता है। यदि शंकु राख और चट्टान राख और चट्टान चूर्ण का बना होता है तो अपरदन की क्रिया शीघ्र होती है । अमेरिका का सीस्ताहुड तथा जापान की फ़्यूजीयामा मिश्रित शंकु के उदाहरण हैं।

(iii) परिपोषित शंकु (Parasitic cone) : जब ज्वालामुखी शंकु का विस्तार बहुत अधिक हो जाता है और मुख्य ज्वालामुखी के क्रेटर से उद्गार न होकर उसके पार्श्व में या नये केन्द्र द्वारा उद्गार शुरू हो जाता है तो उससे मुख्य शंकु पर अन्य छोटे –छोटे शंकुओं का निर्माण होता है । ऐसे शंकुओं को परिपोषित शंकु कहते है क्योंकि इनका पोषण मुख्य नली द्वारा होता है ।

(iv) स्पेटर शंकु (Spatter cone) : यह बहुत ही छोटे शंकु होते है जिनका निर्माण केन्द्रीय दरार उद्गारों के फलस्वरूप विस्तृत लावा की गैसों के बुलबुले फूटने से बनते है । इस प्रकार सतह पर अनेक असमान शंकु बन जाते हैं ।

(v) पैठिक लावा शंकु (Basic Lava Cone) : जब लावा का उद्गार केन्द्र से होता है तो लावा पतला होता है तथा सिलिका की मात्रा कम होने के कारण लावा बहुत दूर तक फैल जाता है इससे कम ऊँचे मंद ढाल वाले शंकु का निर्माण होता है इनको शील्ड शंकु भी कहते

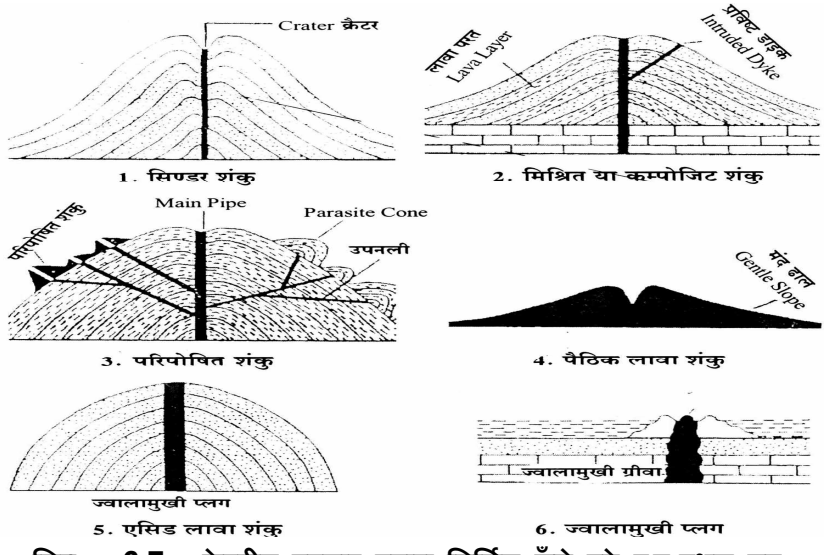

चित्र – 6.7 : केन्द्रीय उद्गार द्वारा निर्मित ऊँचे उठे हुए स्थल रूप

(vi) अम्लीय लावा शंकु (Acid Lava Cone) : जब उद्रार से निकला लावा बहुत गाढ़ा होता है तथा उसमें सिलिका की मात्रा अधिक होती है और वह सतह पर आते ही शीघ्र जम जाता है । इनका ढाल अधिक होता है स्ट्राम्बोली शंकु इसका अच्छा उदाहरण हैं ।

(vii) लावा गुम्बद (Lava Dome) : ज्वालामुखी के चारों ओर लावा जमा हो जाता है इससे निर्मित गुम्बद खड़े ढाल वाले होते हैं ।

(viii) लावा डाट (lava plug) : जब मिश्रित शंकु वाले ज्वालामुखी के केन्द्रीय भाग में लावा ठोस होकर जम जाता है और धीरे–धीरे अपरदन द्वारा शंकु नष्ट हो जाता है तो केन्द्रीय नली जो ठोस लावा की बनीं होती है वह लम्बवत रूप में शेष रह जाती है इसे ज्वालामुखी ग्रीवा (Neck) कहा जाता है इसकी आकृति गोलाकार होती हैं ।

(ix) लावा और राख द्वारा निर्मित मैदान (Lava and ash) : कई ज्वालामुखी विस्फोट में धूल और चट्टान चूर्ण विस्तृत भाग में बिखर जाता है और इससे लम्बे चौड़े मैदान का निर्माण हो जाता है जिसे राख का मैदान कहा जाता है।

(x) पंक वाह (Mud flow) : पंकवाह की क्रिया ज्वालामुखी उद्रार की प्रारंभिक अवस्था में शुरू होती है । जो राख ज्वालामुखी के उद्रार से निकलती है जो भाप से मिलकर धरातल पर गिरती है इससे ज्वालामुखी के पदीय भाग पर जलोढ़ पंक और मैदान का निर्माण होता है पंकवाह की क्रिया से नदियों का प्रवाह रूक जाता है ।

(xi) कगार और क्रेग : जब ज्वालामुखी तेज विस्फोट के साथ होता है तो उससे शंकुओं के भाग तथा पुराने क्रेटर उड़ जाते है और अपरदन के कारण कन्दराओं और कगारों का निर्माण होता है ।

6.11.2 नीचे धंसे हुये स्थल रूप (Depressed Forms)

क्रेटर : ज्वालामुखी की नली के ऊपर स्थित गड्ढे को क्रेटर कहते हैं । इसका आकार कीप के समान होता है इसका आकार ज्वालामुखी उद्रार के साथ बढ़ता जाता है । इसके भीतरी भाग में टूटे हुए टुकड़ों का जमाव होता है । ये छोटे बड़े होते है । क्रेटर दो प्रकार के होते है ।

(i) घोसलादार क्रेटर (Nested Crater) : जब ज्वालामुखी क्रेटर में अनेक छोटे छोटे क्रेटर बन जाते है तो उन्हें घोसलादार क्रेटर कहते है इस प्रकार विसुवियस में तीन और एटना में दो क्रेटर पाये जाते है । इस प्रकार के क्रेटर का विकास ज्वालामुखी की समाप्ति को दर्शाता है ।

चित्र – 6.8 : घोंसलादार काल्डेरा

(ii) आश्रित क्रेटर (Adventing Crater) : जब प्राचीन ज्वालामुखी के ढ़ालों पर परिपोषित शंकुओं मे भी क्रेटर विकसित हो जाते है तो उन्हें आश्रित क्रेटर कहते है ।

दरारी उद्‌गार से निर्मित स्थलाकृतियाँ

(i) ज्वालामुखी मैदान – ज्वालामुखी उद्‌गार से निसृत राख, लावा शिलाखण्ड आदि के उबड़- खाबड़ क्षेत्र में भर जाने के कारण ज्वालामुखी मैदान बन जाते हैं । इटली मे नेपल्स नगर के समीप उपजाऊ मैदान विसूवियस ज्वालामुखी से निसृत राख, लावा आदि से निर्मित है ।

(ii) लावा पठार – उच्च प्रदेशों में ज्वालामुखी निसृत पदार्थों के जम जाने से लावा पठार बन जाते हैं । संयुक्त राज्य अमेरिका का कोलाम्बिया पठार इसका उदाहरण है ।

(iii) ज्वालामुखी द्‌वीप (volcanic Island) – समुद्र तली, पर ज्वालामुखी उद्‌गार से निसृत पदार्थ जमा होते रहते हैं । ये निक्षेप जब समुद्र तल से ऊपर उभर आते हैं तो ज्वालामुखी द्‌वीप बन जाते हैं । हवाई द्‌वीप एल्यूशियन द्‌वीप आदि इसके उदाहरण हैं।

आन्तरिक स्थलाकृतियाँ (Intrusive Landforms)

(i) बैथोलिथ (batholiths) – आंतरिक शैलों में मैग्मा के विशाल एकत्रण को बैथोलिथ कहते हैं । ये कई हजार वर्ग किलोमीटर में फैले होते हैं । बैथोलिथ के शीर्ष पर मैग्मा के अतिरिक्त जमाव को स्कंध (Stock) कहते हैं ।

(ii) लैकोलिथ (Lacolith) – धरातल के निकट कुछ गहराई पर ही मैग्मा के गुम्बदाकार एकत्रण को लैकोलिथ कहते हैं । यह बैथोलिथ की तुलना में छोटा होता है ।

(iii) फैकोलिथ (phacolith) –आंतरिक शैलों में अपनति शीर्ष भाग में जमा मैग्मा फैकोलिथ है।

(iv) लैपोलिथ (Lapolith) – आन्तरिक शैलों में लावा के तश्तरीनुमा जमाव को लैपोलिथ कहते है ।

(v) सिल (Sill) – आन्तरिक शैलों में मैग्मा के क्षितिजीय जमाव को सिल कहते हैं ।

(vi) डाईक (Dyke) - आन्तरिक शैलों में मैग्मा के लगभग लम्बवत जमाव को डाइक कहते ज्वालामुखी क्रिया के गौण रूपों में गीजर (Geyser), धुंआरे (Fumerols), सोल्फाटारा (solfatara), उष्ण जल स्रोत (Hot Spring), पक ज्वालामुखी (Mud flow) आदि भूदृश्यावलियों का भी निर्माण होता है ।

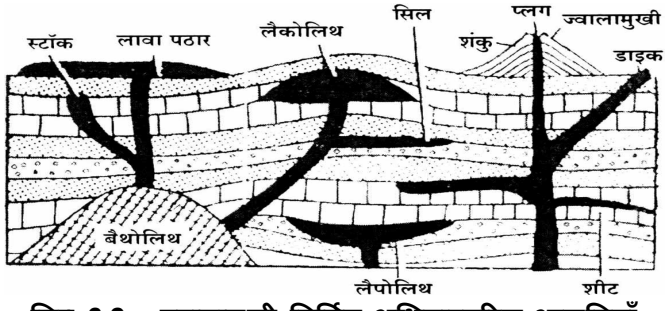

चित्र 6.9 : ज्वालामुखी निर्मित अभियान्तरिक आकृतियाँ

6.11.3 ज्वालामुखी पठार

पृथ्वी के कई भागों के बहुत बड़े हिस्से में ज्वालामुखी लावा बहुत मोटी तहों में जमा हो जाता है जिससे पठारों और मैदानों का निर्माण होता है । मध्य फ्रांस, न्यूजीलैंड, पश्चिम भारत का दक्षिण का पठार, ब्राजील तथा साइबेरिया में इस तरह के पठार पाये जाते है ऐसे पठारों का निर्माण दरारों से निकले लावा के जमा होकर ठंडे होने से होता है ।

1. **कोलम्बिया का पठार :** यह लावा द्वारा निर्मित विस्तृत प्रदेश है इसका क्षेत्रफल लगभग 100,000 वर्ग मील है तथा लावा की मुटाई 2000 – 5000 फीट तक पाई जाती है ऐसा अनुमान है कि इस पठार का लगभग 1000 फीट अपरदन हो गया है ।
2. **पश्चिम दक्कन का पठार :** क्रिटेशस काल के अन्त में या टरसरी युग के प्रारंभ में दक्कन के पठार के पश्चिमी भाग में बहुत बड़े पैमाने पर दरारों से लावा का उद्गार की क्रिया हुई और पश्चिमी तथा दक्षिणी भाग में बेसाल्ट की मोटी परत जमा हो गई ऐसा विश्वास किया जाता है कि लावा का उद्गार लम्बे समय के अन्तराल से हुआ है और इस क्षेत्र में करीब 20 तहें लावा की पाई जाती है ऐसा समझा जाता है कि इस पठार का विस्तार प्रारंभ में करीब 20 लाख वर्ग किमी. क्षेत्र में था जो अब अपरदित होकर अब दो लाख वर्ग कि.मी. में रह गया है इसका विस्तार पश्चिमी मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र एवं आंध्रप्रदेश में मिलता है । पश्चिमी सह तट पर इसकी मोटाई 3000 मीटर तक मिलती है किन्तु पूर्व की ओर यह कम पाई जाती है । छोटा नागपुर के पठार में भी कुछ क्षेत्र में लावा की तहें पाई जाती है।

ज्वालामुखी क्षेत्रों की अन्य स्थलाकृतियाँ

ज्वालामुखी क्षेत्रों में जल के सम्मिश्रण से अनेक गौण आकृतियां मिलती है ।

1. **गर्म सोते (Hot Spring) :** गर्म जल के सोते ज्वालामुखी क्षेत्र की विशेषता नहीं है । ये उन सभी प्रदेशों में मिलते है जहां अतीत में अन्तरभौमिक क्रियाओं का प्रभाव रहा है। भूमिगत जल जब गर्म चट्टानों में प्रवेश कर गर्म होकर पुन : स्रोतों के रूप में फूटता है तब स्रोतों का जल बहुत गर्म होता है । इस जल में अनेक खनिज भी घुले रहते है उसमें सल्फर विशेष महत्व का है ।

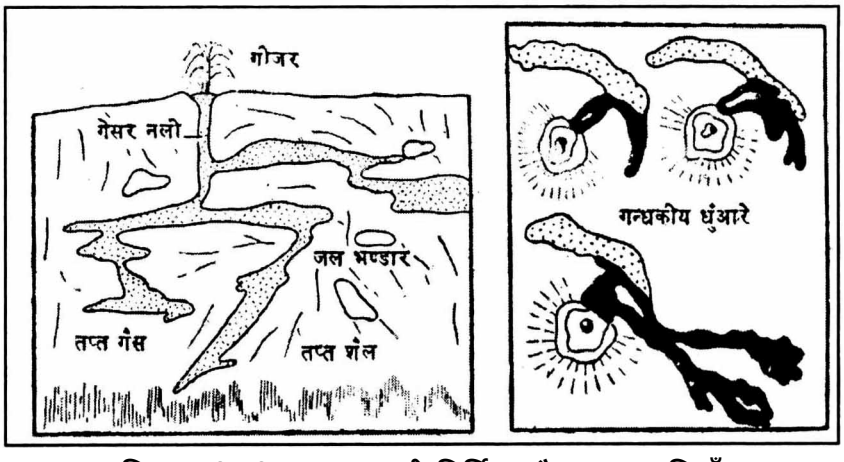

चित्र – 6.10 : ज्वालामुखी निर्मित गौण स्थलाकृतियाँ

2. गीजर (Geyser) : कई स्थानों पर गर्म जल थोड़े थोड़े समय के अन्तर से फव्वारे के रूप में कई मीटर ऊपर तक निकलता है और पुन: शान्त हो जाता है प्रत्येक गीजर के फूटने का समय भिन्न होता है ।

बोध प्रश्न – 8

1. केन्द्रीय उद्गार द्वारा निर्मित स्थलाकृतियों के नाम लिखो ।
2. नीचे घसे हुए स्थलरूप कौन से है?
3. ज्वालामुखी पठार कैसे बनते है भारत में इसका उदाहरण दीजिये ।

6.12 सारांश (Summary)

जब भूपटल पर कम्पन होता है तो हम उसे भूकम्प कहते है भूकम्पों का आना मानव के लिये विनाशकारी घटना है पृथ्वी के किसी न किसी भाग में भूकम्प लगभग रोज आते हैं । जब भूपटल पर कम्पन उत्पन्न होता है तो उत्पत्ति केन्द्र से भूकम्प की लहरें निकल कर बाहर की ओर फैलती हैं । भूकम्पों को उनके उत्पत्ति, स्थान की गहराई के अनुसार तीन भागों में बाँटा जाता है । सामान्य भूकम्प, मध्यम भूकम्प तथा गहरे भूकम्प । इसी तरह उत्पत्ति के कारणों के आधार पर तीन प्रमुख भागों में बाँटते है । ज्वालामुखी भूकम्प, भूपटल, भ्रंश,भूकम्प तथा पाताली भूकम्प । भूकम्प आने के अनेक कारण हो सकते हैं । पृथ्वी की सतह पर शायद ही ऐसा कोई स्थान है जहाँ भूकम्प न आया हो । परन्तु कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ भूकम्प बहुत अधिक संख्या में आते हैं । जैसे प्रशान्त महासागर के चारों ओर तटवर्ती भागों में, भूमध्य सागर के तटवर्ती भाग, दक्षिण – पश्चिम एशिया तथा हिमालय के समीपवर्ती भागों में भूकम्प आते हैं । भारत में हिमालय पर्वतीय क्षेत्र तथा उत्तर पूर्वी भारत में भूकम्प अधिक आते हैं । यह अनुभव किया गया है कि भूकम्प मानव के लिये सबसे अधिक विनाशकारी होते हैं भूकम्पों के द्वारा समुद्र में बड़ी–बड़ी लहरें उत्पन्न होती हैं जिन्हें सुनामी कहते हैं । ये सह तटी भागों में टकराती हैं तो उससे धन, जन की बहुत हानि होती है । जब भूकम्प मूल से भूकम्प प्रारंभ होता है तो इस केन्द्र बिन्दु में भूकम्पीय लहरें उठने लगती हैं ये तीन प्रकार की होती हैं ।

ज्वालामुखी भूदृश्य के उस छिद्र का नाम है जिसका संबंध पृथ्वी के आंतरिक भाग से होता है ज्वालामुखी क्रिया को प्रत्यक्ष रूप में देखा जा सकता है ज्वालामुखी के छिद्र का संबंध आंतरिक भाग से होता है । ज्वालामुखी उद्गार से जो पदार्थ निकलता है वह बहुत गर्म होता है । ज्वालामुखी मुख्य रूप से तीन प्रकार के होते है । (1) क्रियाशील ज्वालामुखी (2) सुषुप्त ज्वालामुखी तथा (3) मृत ज्वालामुखी । ज्वालामुखियों का वर्गीकरण उनके उद्गार के स्वरूप के आधार पर किया जाता है ।

(1) केन्द्रीय उद्गार ज्वालामुखी (2) दरार उद्गार ज्वालामुखी ।

ज्वालामुखी के उद्गार का सीधा संबंध पृथ्वी की आंतरिक रचना से है । ज्वालामुखी क्षेत्र भूगर्भिक हलचलों से अधिक प्रभावित होते है । ज्वालामुखी का विश्व वितरण कुछ विशेष भागों मे मुख्य

रूप से पाया जाता है । प्रशान्त सागरीय पेटी सबसे महत्वपूर्ण पेटी है । कई अन्य पेटियाँ भी पाई जाती है । ज्वालामुखी उद्गार से अनेक प्रकार की स्थलाकृतियों का निर्माण होता है । पृथ्वी के कई भागों के बहुत बड़े हिस्से में ज्वालामुखी लावा मोटी तहों में जमा हो जाता है जिससे पठारों और मैदानों का निर्माण होता है ।

6.13 शब्दावली (Glossary)

- **भूकम्प :** जब भूपटल पर कम्पन होता है तो उसे भूकम्प कहते हैं ।
- **उत्पत्ति केन्द्र :** जहाँ से भूकम्प की लहरें निकलकर बाहर की ओर फैलती हैं ।
- **सिस्मोग्राफ :** यह एक यंत्र होता है जिसमें भूकम्प की तीव्रता अंकित होती है ।
- **ज्वालामुखी भूकम्प :** इस प्रकार के भूकम्प मुख्य रूप से ज्वालामुखी क्षेत्रों में आते हैं ।
- **पाताली भूकम्प :** ये भूकम्प पृथ्वी की सतह से 250 से 700 कि मी. गहराई में उत्पन्न होते हैं ।
- **सुनामी :** जब सागरीय भूकम्प द्वारा लहरें उत्पन्न होती हैं तो उसे सुनामी कहते हैं ।
- **ज्वालामुखी :** पृथ्वी के भीतर से निकलने वाले लावा को ज्वालामुखी कहते है ।
- **अम्लीय लावा :** जब लावा में सिलिका की मात्रा 65% से 70% के बीच होती है तो उसे अम्लीय लावा कहते है ।
- **क्रियाशील ज्वालामुखी :** जिस ज्वालामुखी से समय समय पर उद्गार होता रहता है उसे सक्रिय ज्वालामुखी कहते है ।
- **सुषुप्त ज्वालामुखी :** जो ज्वालामुखी लम्बे समय तक शांत रहते है और लम्बे समय के बाद जागृत होने के लक्षण प्रकट होते है ।
- **मृत ज्वालामुखी :** जिस ज्वालामुखी के उद्गार पूर्णरूप से बंद हो जाता है उसे मृत ज्वालामुखी कहते है ।
- **मिश्रित शंकु :** इनका निर्माण लावा राख की एक परत के बाद दूसरी परत के जमने से होता
- **क्रेटर :** ज्वालामुखी की नली के ऊपर सीमित गड्ढे के क्रेटर कहते है ।

6.14 संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. शर्मा, एच.एस. एवं प्रमीला कुमार : भूआकृति विज्ञान, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल
2. होम्स, आर्थर : भौतिक भूविज्ञान के सिद्धांत, इंग्लिश लैग्वेज बुक सोसाइटी, नेलसन
3. पी, दयाल भूआकृति विज्ञान, शुक्ला बुक डिपो पटना
4. सिंह, सविन्द्र : भूआकृति विज्ञान, श्री शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद
5. नेगी बी. एस. भौतिक भूगोल, एस जे. पब्लिकेशन, मेरठ
6. अग्रवाल भौतिक भूगोल, साहित्य भवन, आगरा

6.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1. जब भूपटल पर कम्पन होता है ।
2. यह भूकंप नापने का यंत्र है ।
3. 250 से 750 कि.मी. की गहराई पर ।
4. जो 250 से 700 कि.मी. की गहराई में उत्पन्न होते हैं ।
5. जहाँ सर्वप्रथम लहरों का अनुभव होता है ।
6. 0 से 50 कि मी. की गहराई पर ।
7. भूकंप का जहाँ सर्वप्रथम अर्विभाव होता है ।
8. मुख्य भूकंप के पहले हल्के भूकंप के झटके आते हैं ।

बोध प्रश्न – 2

1. सुनामी लहरें उत्पन्न होती हैं।
2. भूकंप उत्पन्न होते हैं।
3. हाँ।

बोध प्रश्न – 3

1. प्रशान्त महासागर के चारों ओर का भाग।
2. तीन।
3. हिमाचल पर्वत एवं उत्तर पूर्वी भारत ।
4. कच्छ का क्षेत्र ।

बोध प्रश्न – 4

1. ज्वालामुखी भूमध्य के उस बिन्दु का नाम है जहाँ से लावा का उद्गार होता है ।
2. जब ज्वालामुखी क्रिया में कई प्रकार के गर्म पदार्थ बाहर निकालते है ।
3. पृथ्वी की ऊपरी तह के नीचे की तह मेन्टल में होने वाले परिवर्तनों से है ।
4. प्रति 32 मी. की गहराई पर 1० से. ग्रे. ताप बढ़ जाता है ।
5. ज्वालामुखी मुख्य रूप से प्रशांत महासागर में पाये जाते हैं ।

बोध प्रश्न– 5

1. ज्वालामुखी उद्‌गार के समय जो गर्म पदार्थ निकलता है ।
2. दो प्रकार होता है ।
3. लावा के ठंडे होकर जमा होने वाले स्थल रूप को कहते हैं ।
4. जब ज्वालामुखी मुख का विस्तार अधिक हो जाता है, उसे काल्डेरा कहते हैं ।

बोध प्रश्न– 6

1. जब लावा एक बिन्दु से निकलता है ।
2. जब लावा शांत रूप में बड़े पैमाने पर उद्गार हुआ है ।
3. इस प्रकार के ज्वालामुखी सिसिल द्‌वीप में पाये जाते हैं ।

4. इस प्रकार के ज्वालामुखी भयंकर विस्फोट के साथ उद्भोदित होते हैं ।

बोध प्रश्न– 7

1. यह पेटी प्रशांत महासागर में पाई जाती है ।
2. उत्तरी आन्ध्र महासागर में मध्य रिज के सहारे पाये जाते हैं ।
3. यह श्रृंखला आइस लैंड से प्रारंभ होती है । इनका वितरण समान नहीं है ।

बोध प्रश्न– 8

1. सिन्डर कोन, मिश्रित शंकु, गुम्बद तथा टीले ।
2. क्रेटर, काल्डेरा, ज्वालामुखी वेन्टस ।
3. जब पृथ्वी के कई भागों के बहुत बड़े हिस्से लावा बहुत मोटी तहों में जमा हो जाता है। दक्षिण पश्चिम का पठार।

6.16 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भूकम्प के विभिन्न प्रकारों के नाम बताइये तथा उनकी उत्पत्ति की विवेचना कीजिये ।

2. भूकम्पीय तरंगों की क्या विशेषतायें हैं? उनके अध्ययन से पृथ्वी की आंतरिक संरचना के बारे में जानकारी प्राप्त करने में हमें किस प्रकार सहायता मिलती है ।

3. भूकम्प क्या है? उनके आने के क्या कारण है । विश्व की भूकम्प पेटियों का वर्णन कीजिये।

4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये ।

(i) P और S तरंगें

(ii) पृथ्वी का केन्द्रीय पिण्ड

(iii) सुनामी

(iv) भारत में भूकम्प के क्षेत्र ।

5. ज्वालामुखी उद्गार के कौन–कौन से प्रकार है तथा ज्वालामुखी का संसार में विवरण समझाइये?

6. ज्वालामुखी की आवृति के आधार पर ज्वालामुखी का वर्गीकरण कीजिये तथा उदाहरण के साथ उनकी विशेषताओं को समझाइये?

7. ज्वालामुखी शंकु के विभिन्न आकृतियों तथा प्रकारों का वर्णन कीजिये ।

8. ज्वालामुखी उद्गार से निर्मित स्थलाकृतियों का वर्णन कीजिये ।

9. केन्द्रीय उद्गार के प्रकारों के आधार पर ज्वालामुखी का वर्णन कीजिये तथा उदाहरण दीजिये।

इकाई 7 : चट्टानें (Rocks)

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 चट्टानों का वर्गीकरण

7.2.1 आग्नेय चट्टानें

7.2.2 आग्नेय चट्टानों की विशेषतायें

7.2.3 आग्नेय चट्टानों का वर्गीकरण

7.3 परतदार चट्टानें

7.3.1 परतदार चट्टानों की विशेषतायें

7.3.2 परतदार चट्टानों का वर्गीकरण

7.4 कायान्तरित चट्टानों का वर्गीकरण

7.5 अपक्षय को प्रभावित करने वाले तत्व

7.5.1 चट्टानों की संरचना

7.5.2 जलवायु

7.5.3 स्थल के ढाल का स्वभाव

7.5.4 वनस्पति का प्रभाव

7.6 भौतिक अपक्षय

7.7 रासायनिक अपक्षय

7.8 जैव अपक्षय

7.9 अनावृतीकरण

7.10 सारांश

7.11 शब्दावली

7.12 संदर्भ ग्रंथ

7.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.15 अभ्यासार्थ प्रश्न

7.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप समझ सकेगें :

- चट्टान किसे कहते है
- चट्टानों का वर्गीकरण
- आग्नेय, परतदार कायांतरित चट्टानों की विशेषतायें,
- अपक्षय किसे कहते हैं,
- अपक्षय का वर्गीकरण,

- अनाच्छादन किसे कहते है ।

7.1 प्रस्तावना (Introduction)

पृथ्वी के बाह्य मंडल (Outer Zone) को क्रस्ट या पपड़ी (Curst) कहा जाता है, क्रस्ट मुख्य रूप से ठोस अवस्था में पाया जाता है क्रस्ट का भाग स्थल को प्रदर्शित करता है इसे स्थल मंडल (Lithosphere) कहते है और जल प्लावित भाग जल मंडल (Hydrosphere) कहलाता है । पृथ्वी के कुल क्षेत्रफल का 70.8 प्रतिशत भाग जलमंडल तथा 29.2 प्रतिशत भाग स्थल मंडल के रूप स्थित है । पृथ्वी की सतह की रचना शैल (Rocks) से हुई है । लिथास (Lithos) का अर्थ "'चट्टान" (Rocks) होता है । पृथ्वी की ऊपरी सतह की संरचना अनेक रासायनिक तत्वों से खनिज (Minerals) के रूप में हुई है और चट्टान की संरचना एक या एक से अधिक खनिजों से हुई है । यह देखा गया है कि चट्टानों का करीब 98 प्रतिशत भाग 8 से 10 तत्वों से निर्मित है शेष दो प्रतिशत भाग लगभग 90 तत्वों से बना है । भूगर्भशास्त्र तथा भौतिक भूगोल में चट्टान शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जाता है चट्टान के अन्तर्गत पपड़ी के सभी खनिजों को सम्मिलित किया जाता है वह चाहे कठोर हो या मुलायम । ग्रेनाइट चट्टान तथा बलुका पत्थर कठोर चट्टान की परिधि में आते हैं । चीका (Clay), कोमल (Soft rock) चट्टान की परिधि में आते हैं।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है चट्टान की रचना एक या एक से अधिक खनिजों का सम्मिश्रण होता है (Nearly all rocks contain two or more than two minerals), ऐसी बहुत कम चट्टानें है जो केवल एक ही खनिज द्वारा निर्मित हुई हैं । हम कह सकते हैं कि चट्टाने मुख्य रूप से कुछ विशेष खनिजों से निर्मित हुई है । आर्थर होम्स के अनुसार चट्टानों का अधिकांश भाग खनिजों का सम्मिश्रण होता है (A vast majority of the rocks are aggregate of minerals). यद्यपि खनिजों की संख्या सैकड़ों में पाई जाती है परन्तु इनमें से 6 से 8 खनिजों का अंश चट्टानों में अधिक मात्रा में होता है । चट्टानों की रचना में कुछ विशेष खनिजों के परिवारों (Mineral family) का योगदान अधिक होता है । जैसे Feldspar, Mica garnet, olivine, quartz, and Pyroxenes family धरातल पर पाये जाने वाले स्थल खंडों (Landforms) का आकार और स्वरूपों का संबंध

चट्टानों की बनावट एवं संरचना से बहुत घनिष्ट होता है । हम कह सकते है स्थलरूपों का निर्माण एवं विकास चट्टानों के स्वभाव, संरचना एव अपक्षय और अपरदन की क्रियाओं पर निर्भर करता है । इसी आधार पर डेविस ने कहा कि "भूदृश्य" चट्टानों की संरचना (Rock structure) उपक्रम (Processes) तथा अपरदन का परिणाम है । (Landscape is a function of structure, process and stage) ।

सामान्य रूप से चट्टानों के अपने स्थान पर टूटने की क्रिया (disintegration) को अपक्षय की क्रिया कहा जाता है अथवा रासायनिक परिवर्तन द्वारा चट्टानों का क्षय होता है उन्हें हम अपक्षय या ऋतुक्षरण कहते है विघटन की क्रिया भौतिक तत्वों जैसे सूर्यताप, वर्षा, तुषारपात इत्यादि जलवायु तत्वों से होती है । जिनके कारण चट्टानों का विघटन अथवा विच्छेदन

(decomposition and disintegration) होता रहता है । इस प्रक्रिया के लगातार चलते रहने से कठोर चट्टानें असंगठित होकर अपने ही स्थान पर बिखर जाती है । अपघटन की क्रिया से चट्टानों का स्वरूप परिवर्तन के साथ उनका रासायनिक मिश्रण (composition) पूर्णतः परिवर्तित हो जाता है अपक्षय केवल जलवायु तत्वों पर ही निर्भर नहीं करता साथ–साथ चट्टानों का गठन रसायनिक बनावट, कड़ापन, जोड़, अथवा संभेद (Joints) इत्यादि का भी अपक्षय पर प्रभाव पड़ता है ।

पृथ्वी की सतह पर स्थलाकृतियों के बनने एव नष्ट होने में दो प्रकार की शक्तियाँ कार्य करती है । अंतर्जात शक्तियों (Edogenetic Forces) द्वारा धरातल में जो असमानतायें उत्पन होती हैं उनको बाह्य शक्तियां (Exogenic Forces) समतल बनाने की कोशिश करती है चट्टाने अपक्षय की क्रिया द्वारा हमेशा टूटती फूटती रहती है और चट्टानों के टुकड़ों को बहता हुआ जल, हवा एवं हिम नद एक स्थान से हटा कर दूसरे स्थान में ले जाकर जमा करती हैं । भूपटल पर परिवर्तन लाने वाली तथा विभिन्न स्थलाकृतियों को जन्म देने वाली प्रक्रियाओं में तीन क्रियायें मुख्य हैं । इन क्रियाओं का सामूहिक कार्य भूपटल के उच्चावच में क्षरण उत्पन्न करना है । इन क्षयकारी शक्तियों में अपक्षय (weathering) अपरदन (erosion) तथा अनाच्छादन (denudation) प्रमुख है जिनमें अपक्षय की क्रिया स्वोतिक होती है । जबकि अपदरन एवं अनाच्छादन को गतिशील क्रिया के अन्तर्गत रखते है । अपरदन की क्रिया में चट्टानों में तोड़ फोड़ से लेकर प्राप्त चट्टान चूर्ण के एक स्थान से दूसरे स्थान के परिवहन को भी सम्मिलित किया जाता है । अर्थात अपरदन की क्रिया बहुत गतिशील होती हैं वास्तव में अपरदन शब्द लेटिन भाषा के शब्द से लिया गया है । जिसका शाब्दिक अर्थ कुतरना होता हैं अपरदन शब्द का प्रयोग उस क्रिया के लिये किया जाता है जिसके अंतर्गत विभिन्न गतिशील कारक चट्टानों को तोड़कर विभिन्न रूपों के चट्टानों चूर्ण में उनके मलवा को स्थानांतरित करके दूर तक ले जाती है । अपक्षय की क्रिया से प्राप्त चट्टान चूर्ण विभिन्न गतिशील शक्तियों द्वारा अपने साथ लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाती है । अर्थात् यह कहा जा सकता है कि अपक्षय की क्रिया अपरदन के कारकों को अपक्षित पदार्थ देकर अपरदन की क्रिया को आसान बनाती है। परंतु यह जरूरी शर्त नहीं है कि अपरदन की क्रिया के लिए पहले अपक्षय की क्रिया जरूरी हो । चट्टानों के टुकड़े दो प्रकार से अपरदन का कार्य करते हैं प्रथम ये टुकड़े आपस में ही टकराकर टूटते –फूटते रहते हैं तथा दूसरे ये संपर्क में आने वाली सतह को खुरचते रहते हैं । अपरदन और अपक्षय क्रियायें बिल्कुल एक दूसरे से भिन्न हैं अर्थात अपरदन की क्रिया के लिये अपक्षय की क्रिया आवश्यक नहीं है । थार्नवरी ने भी माना है कि यह सत्य है कि अपक्षय, अपरदन के लिये एक प्रारंभिक प्रक्रिया है तथा यह अपरदन की क्रिया को सुगम बना देता है किंतु अपक्षय, अपरदन के पूर्व आवश्यक नहीं है ।

बोध प्रश्न – 1

1. चट्टान किसे कहते है?

.....

.....

2. स्थल मंडल किसे कहते है?

.....

.....

3. जल मंडल किसे कहते है?

.....

.....

4. चट्टानों का कितने प्रतिशत भाग 8 से 10 तत्वों से बना है?

.....

.....

5. अपक्षय क्या ३?

.....

.....

7.2 चट्टानों का वर्गीकरण (Classification of Rock)

यदि भूपटल पर फैली चट्टानों का अध्ययन किया जाय तो पता चलता है कि चट्टानों की उत्पत्ति भौतिक तथा रासायनिक गुण तथा उनकी स्थिति में अधिक अन्तर पाया जाता है । संरचना एवं भौतिक रासायनिक गुण तथा खनिजों के सम्मिश्रण के आधार पर चट्टानों को मुख्य रूप से तीन वर्गो में बांटा गया है ।

(1) आग्नेय चट्टान (Igneous Rocks)

(2) परतदार चट्टान (Sedimentary rocks)

(3) रूपान्तरित चट्टान (Metamorphic Rocks)

सबसे पहले पृथ्वी की तरल अवस्था से ऊपरी भाग के ये मेग्मा के ठंडा होने के कारण आग्नेय चट्टानों का निर्माण हुआ जैसे ग्रेनाइट, बेसाल्ट चट्टानें आग्नेय चट्टानों का उदाहरण है ।

धीरे –धीरे अपक्षय एवं अपरदन के विभिन्न कारकों से आग्नेय चट्टानों का अपरदित पदार्थ नदियों आदि के द्वारा बहाकर ले जाया गया और अन्यत्र समुद्र तली में जमा होता रहा । परिणाम स्वरूप संरचना एवं संगठन के कारण परतदार चट्टानों का निर्माण हुआ । परतदार चलन जैसे बलुवा पत्थर, चूना पत्थर आदि परतदार चट्टानों के उदाहरण है ।

आगे चलकर अधिक दबाव तथा अधिक तापीय प्रभाव के कारण आग्नेय तथा परतदार चट्टानों के रूप में परिवर्तन के कारण तीसरी प्रकार की चट्टानें रूपान्तरित या कायांतरित चट्टानों का निर्माण हुआ । रूपान्तरित चट्टानें जैसे संगमरमर, कार्टजाइट, स्लेट आदि परिवर्तित चट्टानों के उदाहरण हैं ।

7.2.1 आग्नेय चट्टान (Igneous rocks)

आग्नेय शब्द लेटिन भाषा के इग्रिस (Ignis) से लिया गया है जिसका शाब्दिक अर्थ अग्रि (Fire) होता है आग्नेय चट्टान की रचना तप्त एवं तरल मेग्मा के ठंडे होने से होती है पृथ्वी प्रारंभिक अवस्था में तरल रूप में थी और इस तरह मेग्मा के ठंडा होकर जमने से ठोस आग्नेय चट्टान का निर्माण हुआ चूँकि सबसे पहले इसी चट्टान का निर्माण हुआ इसलिये इसे प्राथमिक चट्टान (Primary Rocks) भी कहते हैं । ऐसा विश्वास किया जाता है कि आग्नेय चट्टान का निर्माण पृथ्वी के भूगर्भिक इतिहास के हर काल में होता रहा है और आज भी हो रहा है । ज्वालामुखी उद्रार से गर्म एवं तरल लावा पृथ्वी के अन्दर तथा बाहर फैलकर ठोस रूप में जमकर आग्नेय चट्टान का रूप लेता है ।

7.2.2 आग्नेय चट्टान की विशेषतायें

1. आग्नेय चट्टानें लावा के धीरेधीरे ठंडा होने से बनी हैं इस कारण ये रवेदार तथा दानेदार होती हैं इनके रवों की बनावट में पर्याप्त अंतर पाया जाता हैं रवों का आकार (Size) तथा रूप (Form) में भी पर्याप्त अन्तर पाया जाता है । रवों की बनावट मेग्मा के ठंडा होने की गति पर निर्भर करता है जब मेग्मा ज्वालामुखी विस्फोट के कारण ऊपरी सतह पर ठंडा होता है ठंडें होने की गति तीव्र होती है इस कारण चट्टान में रवे बहुत बारीक होते है ये रवे इतने बारीक होते है कि इनको बिना लैन्स की सहायता से नहीं देखा जा सकता है । परन्तु सतह के नीचे मेग्मा के ठंडे होने की गति बहुत धीमी होती है इस कारण चट्टानों के रवे या कण बड़े होते हैं जैसे ग्रेनाइट चट्टान के रवे बड़े होते है ।
2. आग्नेय चलने बहुत कठोर होती है जिसके कारण वर्षा जल प्रवेश नहीं हो पाता है ।
3. आग्नेय चट्टानों में परते (layers) नहीं पाई जाती है ।
4. चूँकि पानी का प्रवेश लगभग नहीं हो पाता है इसलिये रासायनिक अपक्षय की क्रिया कम होती है जो भी रासायनिक अपक्षय होता है वह संधियों (Joints) के सहारे होता है ।
5. आग्नेय चट्टानें मैग्मा के ठंडा होने से बनी है इस कारण इनमें जीवावशेष (Fossils) नहीं पायें जाते हैं ।
6. आग्नेय चट्टान में संधिया (Joints) ऊपरी भाग में अधिक पाये जाते हैं ।
7. आग्नेय चट्टानों का निर्माण मैग्मा के ठंडे होने तथा ज्वालामुखी क्रिया से होता है अत : इनका वितरण ज्वालामुखी क्षेत्रों में पाया जाता है ।

7.2.3 आग्नेय चट्टानों का वर्गीकरण (Classification of Igneous Rocks)

आग्नेय चट्टानों में कई तरह की विविधा पाई जाती है । कणों की बनावट, रंग तथा खनिजों की अधिकता मे विशेष अन्तर पाया जाता है इसी तरह आग्नेय चट्टानों की उत्पत्ति की प्रक्रिया में भी विशेष अन्तर पाया जाता है आग्नेय चट्टानों को तीन तरह से विभाजित किया गया है ।

1. उत्पत्ति की प्रक्रिया के अनुसार (According to mode of occurrences)

(i) आंतरिक आग्नेय चट्टान (Intrusive Igneous Rocks)

(a) पातालीय आग्नेय चट्टान (Plutonic Ingeous Rocks)

(b) मध्यवर्ती आग्नेय चट्टान (Hypabasal Igneous Rocks)

(ii) बाह्य आग्नेय चट्टान (Extrusive Igneous Rocks)

(a) विस्फोटक प्रकार (Explosive type)

(b) शांत प्रकार (Quiet type)

(2) रासायनिक संरचना के आधारपर (According to chemical composition)

(a) अम्ल प्रधान आग्नेय चट्टान (Acid Igneous Rocks)

(b) बेसिक आग्नेय चट्टान (Basic Igneous Rocks)

(3) कणो के आधार पर (According to Textures)

(a) बडे कणों वाली आग्नेय चट्टान (Coarse grained igneous Rocks)

(b) महीन कणों वाली आग्नेय चट्टान (Fine grained Igneous Rocks)

(1) फेनेरिटिक आग्नेय चट्टान (बडे कणों वाली) (Pheneritic Ingneous Rocks)

(2) पेगमेटिटिक आग्नेय चट्टान (Pegmetitic Igneous Rocks) (बहुत बड़े कणों वाली चट्टान)

(3) ग्लासी (बिना कणों वाली) (Glassy Igneous Rocks)

(4) अफेनिटिक (सूक्ष्म कणों वाली) (Aphanitic Igneous Rocks)

1. उत्पत्ति की प्रक्रिया के आधार पर (According to mode of occurrence) : जैसा कि पहले बता चुके है आग्नेय चट्टानों की रचना तरल मैग्मा के ठंडे होने से और जमने से होती है । ज्वालामुखी लावा दो रूपों में जमता है प्रथम धरातल के नीचे तथा द्वितीय धरातल के ऊपर । इस आधार पर अन्तरर्निमित (Intrusive) तथा बाह्य निर्मित (Extrusive) दो प्रकार की आग्नेय चट्टानें जानी जाती है ।

(a) आन्तरिक आग्नेय चट्टान (Intrusive Igneous Rocks) : जब ज्वालामुखी के उद्गार के समय गर्म लावा ऊपर की ओर अग्रसर होकर धरातल के ऊपर तक न पहुंच कर धरातल के नीचे ही ठंडा होकर ठोस रूप धारण कर लेता है तो इससे आन्तरिक आग्नेय चट्टान का निर्माण होता है ये चट्टानें धरातल से अधिक गहराई पर पाई जाती है तथा कुछ ठीक धरातल के नजदीक पाई जाती है । इस प्रकार आन्तरिक आग्नेय चट्टान को दो वर्गो में बांटा जाता है ।

(i) पातालीय आग्नेय चट्टान (Plutonic Igneous rocks)

(ii) मध्यवर्ती आग्नेय चट्टान (Hypabasal Igneous rocks)

(1) पातालीय आग्नेय चट्टान (Plutonic Igneous rocks) इस प्रकार की चट्टानों का निर्माण धरातल से अधिक गहराई पर होता है गहराई पर ठंडा होने की गति बहुत धीमी होती है इस कारण इनके रवे बड़े पाये जाते हैं ग्रेनाइट चट्टान पातालीय आग्नेय का अच्छा उदाहरण है । ये चलने बहुत गहराई पर स्थित होती है जो लम्बे समय की अपरदन क्रिया के बाद वे सतह पर दिखाई देने लगती है ।

(2) मध्यवर्ती आग्नेय चट्टान (Hypabasal Igneous rocks) : जब ज्वालामुखी के उद्गार के समय गर्म, तरल लावा ऊपर आने की कोशिश करता है । परन्तु धरातल की चट्टानों के अवरोध के कारण लावा, दरारों, छिद्रों एवं नली में ही ठंडा होकर जम जाता है इस प्रकार मध्यवर्ती आग्नेय चट्टानों के बीच होती है । इनकी स्थिति बाह्य तथा आंतरिक चट्टानों के बीच होती है । मध्यवर्ती आग्नेय इसलिये कहा जाता है कि इनका निर्माण धरातल की सतह से नीचे होता है । परन्तु लम्बे समय के अपरदन के बाद ये चट्टानों की स्थलाकृतियां, धरातल पर प्रकट होती है इनमें प्रमुख है बैथोलिथ, फैकोलिथ, डाइक सिल आदि है ।

(3) बाहा आग्नेय चट्टान (Extrusive Igneous Rocks) : जब तरल एवं तप्त लावा ज्वालामुखी उद्गार से धरातल के ऊपर आकर जम जाता है और ठोस होकर चट्टान का रूप धारण कर लेता है तो इस प्रकार की चट्टान को बाह्य आग्नेय चट्टान कहते है । कई बार लावा धरातलीय (Fissure Erusion) उद्गार से अधिक विस्तृत भाग पर फैल जाता है तथा ठंडा होकर ठोस रूप धारण कर लेता है । इस प्रकार से निर्मित चलन को ज्वालामुखी चलन कहते है । इस तरह की चट्टान डेकन पठार के रूप में भारत में पाई जाती है । अधिक तेजी से लावा के ठंडे होने के कारण चट्टान में रवे बहुत ही बारीक होते है बेसाल्ट चलन इस प्रकार की चट्टान का प्रमुख उदाहरण है जेसै गेब्रो (Gabbro) लावा के सतह पर प्रकट होने के प्रकार के अनुसार इस चट्टान को दो वर्गो में बांटा जाता है ।

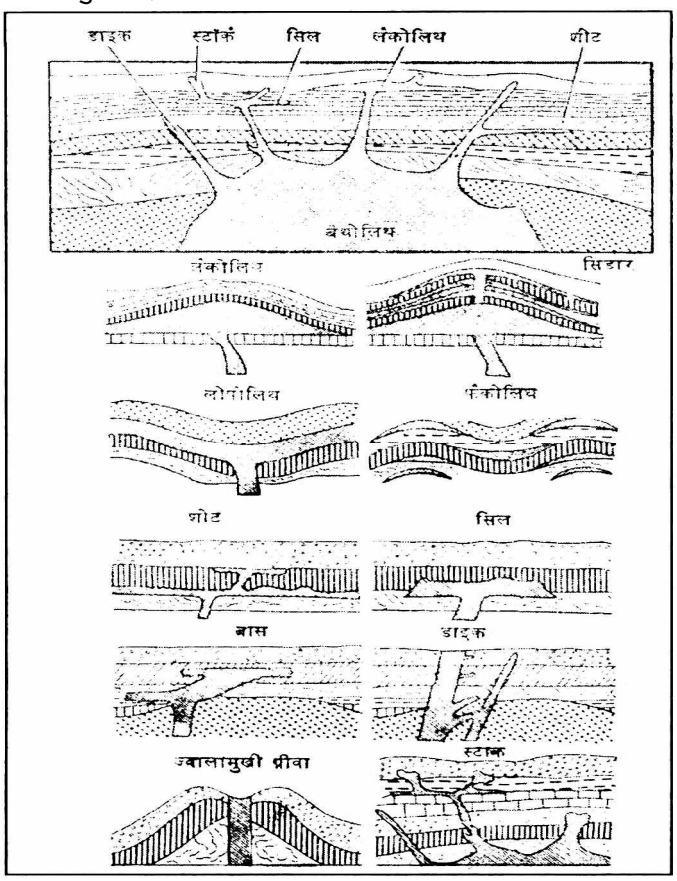

चित्र – 7.1 : आग्नेय शैलों के प्रकार

(i) विस्फोट उद्गार से निर्मित (Explosive type) : जब ज्वालामुखी का उद्गार बहुत तीव्र गति से होता हे तो विभिन्न प्रकार का पदार्थ बहुत अधिक ऊँचाई तक फिंक जाता है तथा नीचे गिरकर सतह पर जम जाता है बड़े टुकड़ों की चट्टान को बम्ब (Bomb) कहते है छोटे टुकड़ों वाली चट्टान को लेपिली (Lapilli) कहते हैं ।

(ii) शांत उद्गार से निर्मित (Quiet type) : जब दरारों से मैग्मा धरातल पर शांत रूप में फैल जाता है तो इस तरह के प्रवाह को लावा प्रवाह (Lava–flow) कहते हैं। कभी कभी लम्बे अन्तराल के बाद लावा का प्रवाह होता है और लावा की एक परत के बाद छूरी परत का जमाव होता है डेकन ट्रेप क्षेत्र में इस प्रकार की अनेक परतें मिलती

(3) रासायनिक संरचना के आधार पर वर्गीकरण : आग्नेय चट्टानों का रासायनिक संगठन अलग – अलग होता है सिलिका (silica) की मात्रा के आधार पर आग्नेय चट्टानों को चार भागों में विभाजित किया गया है ।

(i) अम्ल प्रधान चट्टान (Acid Igneous) : जब आग्नेय चट्टान में सिलिका की मात्रा 70 से 85 प्रतिशत होती है उसे अम्लीय चट्टान कहते हैं । ग्रेनाइट इसका अच्छा उदाहरण है । इसमें क्वार्टज (Quartz) तथा फैल्सपार खनिज अधिक मात्रा में होता है ये चट्टाने बहुत कठोर होती है तथा इनका अपरदन बहुत धीरे–धीरे होता है ।

(ii) बेसिक आग्नेय चट्टान (Basic Igneous Rocks) : जब आग्नेय चट्टान में सिलिका का प्रतिशत 45 से 60 तक रहता है तो उसे बेसिक आग्नेय चट्टान कहते हैं । इन चट्टानों में फैरो मैग्निशियम (Ferro Magnesium) की मात्रा अधिक रहती है इनमें अपक्षय एवं अपरदन की क्रिया तेज गति से होती है । बेसाल्ट (Basalt), गेब्रो (Gabbro) तथा डोलोराइट (Dolorite) प्रमुख चट्टाने हैं ।

(iii) मध्यवर्ती आग्नेय चट्टान (Intermediate Igneous Rocks) : जब आग्नेय चट्टान में सिलिका की मात्रा एसिड तथा बेसिक चट्टानों के बीच की होती है तो उसे मध्यवर्ती आग्नेय चट्टान कहते है ।

(iv) अल्ट्रा बेसिक आग्नेय चट्टान (Ultra Basic Igneous Rocks) : जब चट्टान में सिलिका की मात्रा 45 से कम होती है तब उस चट्टान को अल्ट्रो बेसिक चट्टान कहते है।

(2) कणों की बनावट के अनुसार आग्नेय चट्टानों का वर्गीकरण : जब आग्नेय चट्टानों का वर्गीकरण आग्नेय चट्टानों में कणों की बनावट लावा की उत्पत्ती तथा लावा के ठंडे होने की क्रिया पर आधारित है । जब मैग्मा धीरे धीरे ठंडा होता है तो कणों (रवों) की बनावट बड़ी होती है । जब लावा तेजी से ठंडा होता है तो बारीक कण ही बन पाते है ।

(i) बड़े कणों वाली चट्टान (Coarse Grained Rocks) : जब आग्नेय चट्टान का निर्माण लावा के सतह के नीचे धीरे–**धीरे ठंडा होने से होता है तो चट्टान के कण (रवे) बड़े होते है । ग्रेनाइट इस चदान का मुख्य उदाहरण हैं ।**

(ii) छोटे कणों वाली चट्टान (Fine Grained Rocks) : जब लावा का उद्गार ज्वालामुखी द्वारा धरातल के ऊपर होता है और लावा तेजी से ठंडा होता है तो महीन कणों की ही रचना होती हैं, बेसाल्ट चट्टान इसका अच्छा उदहारण हैं ।

(iii) मध्य कणों वाली चट्टान (Medium Grained Rocks) : इन चट्टानों के कणों का आकार ऊपर की दोनों चट्टानों के बीच का होता है तो इसे मध्य कणों वाली चट्टान कहते हैं ।

बोध प्रश्न – 2

1. चट्टानें मुख्य रूप से कितने प्रकार की है?

   .....

   .....

2. आग्नेय चट्टान कैसे बनी है?

   .....

   .....

3. आग्नेय चट्टान की मुख्य विशेषता क्या है?

   .....

   .....

4. आन्तरिक आग्नेय चट्टान किसे कहते है?

   .....

   .....

5. बाह्य आग्नेय चट्टान का एक उदाहरण दो ।

   .....

   .....

7.3 परतदार चट्टानें (Sedimentary Rocks)

परतदार चट्टानों को "अवसादी" चट्टान भी कहते है क्योंकि इन चट्टानों का निर्माण अपरदन के द्वारा प्रवाहित पदार्थ का जमाव समुद्रों की तली में होता है इस तरह चट्टान चूर्ण एकत्र होकर समुद्र की सतह में जमा होने के कारण अवसादी चट्टानों का निर्माण होता है । इन अवसादी चट्टानों को परतदार चट्टान कहते हैं क्योंकि इनमें अवसाद परतों के रूप जमा होता है । (Stratified Rocks) अपक्षय एवं अपरदन के विभिन्न साधनों (Erosive agent) के द्वारा

सतह पर स्थित चट्टानों की टूट फूट से प्राप्त मलवा नदियों द्वारा बहाकर ले जाया जाता है और समुद्र की तली में जमा हो जाता है । इस तरह लम्बे समय में एक तह (Layers) के बाद दूसरी तह का जमाव होता है और इस प्रकार अंत में परतदार चट्टान की रचना होती है । इन चट्टानों की संरचना के लिये आवश्यक चट्टान चूर्ण (Sediments & debris) प्राचीन चट्टानों के अपक्षय और अपरदन द्वारा प्राप्त होता है । परतदार चट्टान की रचना एक निश्चित कम में होती है सबसे पहले बड़े टुकड़े जमा होते हैं तथा उसके बाद महीन कण जमा होते है । शुरू में चट्टान बहुत संगठित नहीं होती परन्तु परतों के भार के कारण तथा कणों को जोड़ने वाले तत्वों (Cementing elements) से चट्टान संगठित (Solidified) हो जाती है । सिलिका (Silica) कैलसाइट (Calcite) आदि परतदार चट्टान के संयोजक (Cementing) तत्व हैं ।

7.3.1 परतदार चट्टानों की निम्नलिखित विशेषतायें (properties) होती है –

1. परतदार चट्टानों का निर्माण चट्टानों चूर्ण (Sediments) एवं जीवावशेषों के एकत्रीकरण से होता है।

2. परतदार चट्टानों में जीवावशेष (Fossis) पाये जाते है ।

3. अवसादी चट्टानों में परते पाई जाती हैं । ये चट्टानें भूपृष्ठ के बहुत बड़े भाग में पाई जाती है

4. परतदार चट्टानें क्षैतिज रूप में पाई जाती है कई बार क्षैतिज दबाव के कारण चट्टानों में झुकाव तथा वलन पड़ जाते हैं ।

5. परतदार चट्टानों में संधियाँ तथा जोड़ (Joints) अधिक पाये जाते है ये जोड़ ' 'संयोजक तल'' (Bedding planes) से लम्बवत होते है ।

6. परतदार चट्टान में दो परतों के बीच के भाग को "संयोजक सतह"' (Bedding plane) कहते हैं।

7. अधिकांश परतदार चट्टाने मुलायम होती है जैसे क्ले तथा शेल (Shale) ये चट्टाने भेद्य (Porus) होती है जैसे बलुया पत्थर (sandstone)

7.3.2 परतदार चट्टानों का वर्गीकरण (Classification of Sedimentary Rocks)

1. निर्माण में पाये जाने वाले अवसादों के अनुसार –

(i) यांत्रिक चूर्ण से निर्मित (Mechanically Formed)

(a) बलुआ पत्थर (Sandstone)

(b) कांग्लोमरेट अथवा गोलाष्प (Conglomerate)

(c) चीका मिट्टी (clay)

(ii) कार्बनिक तत्वों से निर्मित चट्टान (Organically formed sedimentary rocks)

(a) चूने का पत्थर (Limestone)

(b) कोयला (Coal)

(iii) रासायनिक तत्वों से निर्मित चट्टान (Chemically Formed Sedimentary rocks)

(a) खरिया मिट्टी (Chalk)

(b) शेल खरी (Gypsum)

(c) नमक की चट्टान (Salt rocks)

(1) परतदार चट्टानों के निर्माण में भाग लेने वाले साधनों के अनुसार

(i) जलज बहाव (Argillaceous or Aqueous Rocks)

(ii) सागर में जमा तलछट चट्टान (Marine Rocks)

(iii) नदीकृत चट्टान (Riverine Rocks)

(2) वायु द्वारा निर्मित चट्टान (Aeoline Rocks)

(3) हिमानी द्वारा निर्मित चट्टान (Glacial Rocks)

(1) रचना सामग्री के आधार पर वर्गीकरण : परतदार चट्टानों का निर्माण कई प्रकार के चट्टान चूर्ण तथा अवसादों से होता है कभी कुछ घुलनशील रासायनिक पदार्थ (Soluble chemical materials) होते है कई वनस्पति और जीवों के अवशेष होते है इसे कार्बनिक पदार्थ (Organic material) कहते है इस प्रकार तीन तरह के पदार्थों (चट्टान चूर्ण, रासायनिक घुलनशील पदार्थ तथा कार्बनिक पदार्थ) के आधार पर चट्टानों को तीन वर्गो में विभाजित किया जाता है ।

(1) चट्टान चूर्ण से निर्मित (Clastic Rocks)

(2) रासायनिक पदार्थों से निर्मित (Non Clastic Rocks)

(3) कार्बनिक तत्वों से निर्मित (Carbonaceous Rocks)

शैल चूर्ण से निर्मित परतदार चट्टान (Clastic Rock) अपक्षय की यांत्रिक क्रियाओं (Physical weathering) के द्वारा चट्टानों का विघटन (disintegration) तथा वियोजन (Decomposition) होता है अपरदन के विभिन साधन जैसे नदी जल, हवा, हिमनद , सागरीय लहरें आदि इन पदार्थों को एक जगह से ले जाकर दूसरी जगह समुद्र तल में जमा करते हैं जब इन पदार्थों का जमाव सागर, झील अथवा नदी में होता है तो विभिन्न परतें बन जाती है । इस श्रेणी की चट्टानों में मुख्य है बलुआ पत्थर, कांग्लोमरेट, चीका मिट्टी तथा लोयस आदि है।

(i) बलुआ पत्थर (Sandstone) : बलुआ पत्थर का निर्माण मुख्य रूप से बालू के कणों से होता है । जब बालू के कणों का संगठन संयोजक पदार्थ (cementing material) द्वारा होता है तो बलुआ पत्थर (Sandstone) चट्टान का निर्माण होता है बलुआ पत्थर के रंग में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है यह लाल, सफेद या भूरे रंग में पाया जाता है । बलुआ चट्टान पोरस होती है जल आसानी से प्रवेश कर नीचे तक चला जाता है ।

(ii) कांग्लोमरेट (Conglomerate) : बालु के साथ गोल आकार के कंकड़ भी मिले रहते है । बड़े–बड़े गोल पत्थर के सम्मिश्रण से चीका (Clay) मिट्टी द्वारा संयुक्त होने पर ग्रेवल (Gravel) का निर्माण होता है ये ग्रेवल का रूप कांग्लोमरेट में बदल जाता है ।

(iii) चूना प्रधान चट्टान (Calcarious Rocks) : चूने की चट्टानों का निर्माण झील अथवा सागर में जीवों और वनस्पतियों के अवशेष के जमा होने से बनता है जिनमें चूने की प्रधानता होती है । चूने का पत्थर पतली एवं मोटी परतों में पाया जाता है । चूना पत्थर कई रंगों में पाया जाता है खरिया मिट्टी (Chalk) चूना पत्थर की ही एक प्रकार होती है परन्तु यह अधिक पोरस तथा मुलायम होती है ।

(iv) कार्बन प्रधान चट्टान (Carbonaceaous Rocks) : इन चट्टानों की प्रत्यक्ष रूप से वनस्पतियों के अवशेष के जमा होने तथा संगठित होने से बनती है जब वनस्पति का भाग भूगर्भिक हलचल होने के कारण नीचे चला जाता है उसके ऊपर अवसाद जमा हो जाता है अधिक दबाव और ताप के कारण वनस्पति का रूप बदल जाता है इस प्रकार की चट्टान कोयला होती है । इस प्रकार कोयला हमेशा तहों (Layers) में पाया जाता है।

(2) निर्माण की प्रक्रिया तथा जमाव के स्थान के आधार पर वर्गीकरण : परतदार चट्टानों का जमाव सागर, झील अथवा नदी के तटों पर होता है इन चट्टानों के जमाव में जल हवा हिमानी आदि का प्रमुख योगदान होता है । इस आधार पर परतदार चट्टानों को तीन भागों में बंटा गया है ।

(i) जलीय अथवा जल निर्मित चट्टानें (Argillaceous Sedimentary Rocks) : जब नदियों द्वारा अवसाद एक स्थान से बहाकर सागर अथवा झीलों मे जमा कर दिया जाता है तो जलज चट्टान का निर्माण होता है । इसका निर्माण जल

(ii) वायु निर्मित चट्टान (Aeolian Sedimentary Rocks) : मरूस्थली प्रदेशों में अपक्षय के कारण चट्टान चूर्ण बनता है और वायु एक स्थान से उड़ाकर दूसरे स्थान पर जमा करती है लगातार अवसादों के जमाव के बाद भिन्न परतें बन जाती है । लोयस का जमाव वायु निर्मित चट्टान का सबसे प्रमुख उदाहरण है लोयस में परते ठीक से नहीं होती है ।

(iii) हिमानी चट्टान (Glacial Sedimentary Rocks) : हिमानी अपने अपरदनात्मक कार्य द्वारा चट्टानों के टुकड़ों को अपने साथ परिवहन करके कहीं दूर जमा करते है इस प्रकार हिमानी द्वारा जमा किये गये मलवे को हिमोढ़ या मोरेन (Moraine) कहते है।

हिमोढ़ चार प्रकार के होते हैं : –

(a) पार्श्ववर्ती हिमोढ़ (Lateral Moraines)

(b) मध्यवर्ती हिमोढ़ (Medial Moraines)

(c) तली हिमोढ़ (Ground Moraines)

(d) अंतिम हिमोढ़ (Terminal Moraines) कहते हैं ।

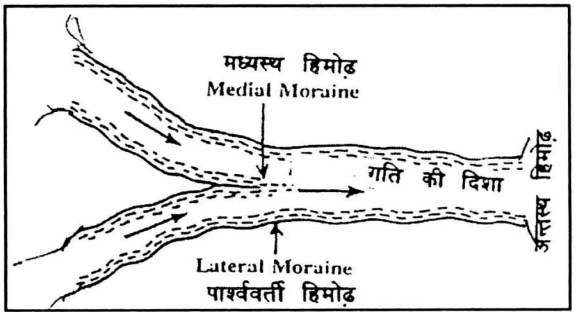

चित्र – 7.2 : मोरेन के विभिन्न प्रकार

बोध प्रश्न – 3

1. परतदार चट्टानों को और किस नाम से जाना जाता है?

   .....

   .....

2. क्या परतदार चट्टान में जीवावशेष पाये जाते है?

   .....

   .....

3. कार्बनिक तत्वों से निर्मित चट्टान कौन सी है?

   .....

   .....

4. चूना प्रधान चट्टान को क्या कहते है?

   .....

   .....

5. कांग्लोमरेट किस प्रकार की चट्टान है?

   .....

   .....

7.4 कायान्तरित चट्टान (Metamorphic Rocks)

सामान्य परिचय : रूपान्तरित चट्टान अन्य चट्टानों के रूपान्तर के फलस्वरूप निर्मित हुई है । रूपान्तरण शब्द "Metamorphose" बर्ड से लिया गया है जिसका अर्थ होता रूप में परिवर्तन (Change in forms) आग्नेय चट्टान और परतदार चट्टान के परिवर्तन के फलस्वरूप रूपान्तरित चट्टान का निर्माण होता है रूपान्तर की क्रिया चट्टानों में अधिक ताप अधिक भार एवं दबाव के कारण आग्नेय तथा परतदार चट्टानें रूपान्तरित हो जाती है अर्थात चट्टान का संगठन (Composition) एवं रूप (form) बदल जाता है । पर चट्टान में किसी प्रकार का विघटन या वियोजन नहीं होता है । रूपान्तरण की क्रिया के दौरान चट्टानों का रूप बदलता है यह बदलाव दो रूपों में संभव होता है । भौतिक रूपान्तरण (Physical Metamorphism) अथवा रासायनिक रूपान्तरण (Chemical Metamorphism) तथा कभी–कभी ये दोनों रूपान्तरण

साथ साथ कार्य करते हैं । कई भार रूपान्तरण के कारण खनिजों का रूप बदल जाता है तथा नये खनिज बन सकते है । जब चट्टानों में "अति रूपान्तरण" के कारण चट्टान का रूप पूरी तरह बदल जाता है ऐसी अवस्था में चट्टान के प्रारंभिक रूप को जानना बहुत कठिन हो जाता है । रूपान्तर के बाद कई चट्टानों में बहुत कठोरता हो जाती है । जैसे चूने का पत्थर रूपान्तरित होकर संगमरमर (Marble) बन जाता है बलुआ पत्थर (Sand Stone) रूपान्तरित होकर "कार्टजाइट" (Quartzite) में बदल जाता है यह बहुत कठोर चट्टान होती है। परतदार चट्टानों में उपस्थित जीवावशेष रूपान्तरण के कारण नष्ट हो जाते है इस कारण रूपान्तरित चट्टानों में जीवावशेष (fossils) लगभग नहीं पाये जाते हैं।

7.4.1 रूपान्तरण के कारक (Agents of Metamorphism)

(1) ताप (Heat) : चट्टानों के रूपान्तरण के लिये ताप प्रमुख कारक है क्योंकि कई बार पृथ्वी की सतह के नीचे अधिक ताप के कारण मूल चट्टान में बदलाव आ जाता है इससे चट्टान के खनिज रवों के क्रम में पर्याप्त अन्तर आ जाता है रूपान्तर के लिये आवश्यक ताप ज्वालामुखी के उद्रार से तथा आन्तरिक भाग से प्राप्त होता है ।

(2) दबाव या सम्पीडन (compression) : जब पर्वत निर्माण की क्रिया होती है तो भू हलचल के समय चट्टानों में मोड़ आने लगता है उससे उत्पन्न दबाव के कारण चट्टानों के संगठन एवं रूप में परिवर्तन आ जाता है । इस प्रकार का दबाव खासकर पर्वतीय भागों में अधिक कार्य करता है ।

(3) घोल (solution) : कई बार जल के साथ कार्बन डाइआक्साइड तथा आक्सीजन गैस मिलने से जल में रासायनिक क्रियायें होती है जिससे चट्टानों के रासायनिक पदार्थ तथा खनिज जल के साथ घुलकर मिल जाते है और चट्टानों मे रासायनिक क्रियाओं के कारण संगठन में अन्तर आ जाता है।

1. **रूपान्तरण के प्रकार (type of Metamorphism) :** रूपान्तरण की क्रिया कभी कभी अलग–अलग कार्य करती है तथा कभी–कभी एक साथ मिलकर कार्य करते है । रूपान्तरण के प्रकार –
   - **(i)** तापीय रूपान्तरण (Thermal Metamorphism)
   - **(ii)** गति के कारण रूपान्तरण (Dynamic Metamorphism)
   - **(iii)** जलीय रूपान्तरण (Hydro Metamorphism)
   - **(iv)** ताप जलीय रूपान्तरण (Hydro Thermal Metamorphism)

(2) रूपान्तरण के क्षेत्र के अनुसार (Place or Area of Metamorphism)
   - **(i)** संस्पर्शीय रूपान्तरण (Contact Metamorphism)
   - **(ii)** क्षेत्रीय रूपान्तरण (Regional Metamorphism)

(i) तापीय एवं सम्पर्शीय रूपान्तरण (Contact Metamorphism) : इस प्रकार का रूपान्तरण चट्टान विशेष एवं मेग्मा के पारस्परिक सम्पर्क से होता है । इसमें ताप का विशेष योग होता है । जब चूने के पत्थर (Limestone) का संपर्क डाइक के गर्म लावा से

होता है तो रूपान्तरण के कारण चूने का पत्थर संगमरमर में बदल जाता है इस तरह का रूपान्तरण सीमित क्षेत्र में होता है ।

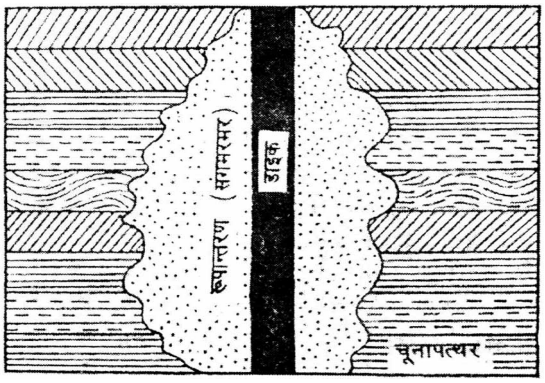

चित्र – 7.3 : संस्पर्शीय अथवा तापीय रूपान्तरण

(ii) क्षेत्रीय रूपान्तरण (Regional Metamorphism): जब रूपान्तरण की क्रिया विस्तृत क्षेत्र में होती है तो इस तरह के रूपान्तरण को "क्षेत्रीय रूपान्तरण" कहते है । इस क्रिया में दबाव तथा ताप दोनों कार्य करते है जैसे पर्वत निर्माण के समय अधिक दबाव के कारण परतदार चट्टानें मुड़कर अधिक गहराई में चली जाती है तो वहाँ पर अधिक ताप के कारण चट्टान का रूप बदल जाता है । इस प्रकार का रूपान्तरण प्राय : पर्वतीय क्षेत्रों में होता है ।

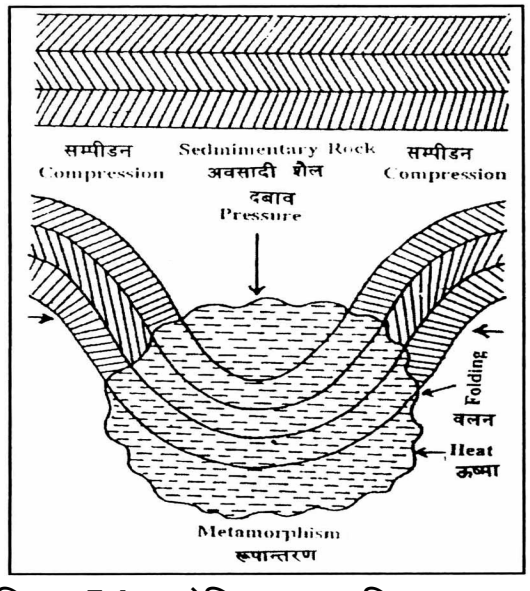

चित्र – 7.4 : प्रादेशिक अथवा गतिक रूपान्तरण

(iii) जलीय रूपान्तरण (Hydro Metamorphism) : जल के साथ रासायनिक पदार्थों के मिलने से घोल के रूप में चट्टानों के खनिजों में परिवर्तन हो जाता है यह रूपान्तरण लगभग नहीं के बराबर होता है ।

(iv) ताप – जलीय रूपान्तरण (Thermal Hydro Metamorphism): जब चट्टानों के ऊपर गर्म जल होता है तो जल के दबाव त था जल वाष्प से चट्टानों में परिवर्तन हो जाता है ।

7.4.2 रूपान्तरित चट्टानों का वर्गीकरण (Classification of Metamorphic rocks)

रूपान्तरित चट्टानों का वर्गीकरण आसान होता है क्योंकि प्राय: मौलिक चट्टानों के आधार पर रूपान्तरित चट्टानें बनती है । मौलिक चट्टान आग्नेय या परतदार चट्टान हो सकती है । मौलिक चट्टान के आधार पर रूपान्तरित चट्टानें दो वर्गो में विभाजित की जाती हैं ।

(1) आग्नेय चट्टान से रूपान्तरित चट्टान (Meta Igneous Rocks) : जब आग्नेय चट्टानों का रूपान्तरण होता है तो उसे आग्नेय रूपान्तरित चट्टान कहते है जैसे ग्रेनाइट से नीस (Gniess) का निर्माण होता है । जब रूपान्तरित चट्टान में कण (crystal) कुछ–कुछ परत के रूप में समानान्तर अवस्था में पाये जाते है तो इस प्रकार की बनावट को फोलियेशन (foliation) कहते है । इसमें स्लेट, सिस्ट तथा नीस चट्टाने आती है और नान फोलियेट्रड में (Non foliated) कार्टजाइट, संगमरमर आदि आती है।

(2) परतदार चट्टानों से रूपान्तरित चट्टान : इन चट्टानों को "Meta Sedimentary" कहते है । इसमें परतदार चट्टान चूना पत्थर का संगमरमर, शेल (shale) स्लेट (slate) में तथा बलुआ पत्थर (Sand stone) कार्टरजाइट (Quartzite) में परिवर्तित हो जाता है। रूपान्तरित चट्टान कहते है ।

(i) संगमरमर (Marble) : संगमरमर चट्टान की रचना चूना पत्थर के अधिक ताप के कारण परिवर्तन होने से होती है । दबाव के कारण चूना पत्थर चलन अधिक मात्रा में काफी गहराई तक चली जाती है । अत्यधिक ताप के कारण चट्टान में उपस्थित कैल्सियम कार्बोनेट कैलसाइट के कण में बदल जाते है । इस प्रकार एक नई चट्टान संगमरमर का निर्माण होता हैं ।

(ii) स्लेट (Slate) : स्लेट चट्टान का निर्माण शेल तथा अन्य जलज (Argillaceous) परतदार चट्टानों के क्षेत्रीय रूपान्तरण (Regional Metamorphism) के कारण होता है ।

(iii) क्वार्टजाइट (Quartzite) : कार्टजाइट चट्टान का निर्माण प्राय : बलुआ पत्थर (Sandstone) के रूपान्तरण के फलस्वरूप होता है इस चट्टान में सिलिका की मात्रा अधिक होती है कार्टजाइट चट्टान बलुआ पत्थर की तुलना में अधिक कठोर होती है ।

(iv) सिस्ट (Schist) : सिस्ट चट्टान बारीक कणों वाली रूपान्तरित चट्टान होती है इसमें फोलियेशन (Foliation) का विकास बहुत अच्छा होता है । सिस्ट चट्टान में पाये जाने वाले खनिज के आधार पर ही इसका नामकरण किया जाता है उदाहरण के लिये जब चट्टान में अभ्रक की मात्रा अधिक होती है तो उसे माइकासिस्ट (Mica Schist) कहते

है । जब चट्टान में हार्नब्लेन्ड खनिज (Hornblande) अधिक मात्रा में होता है तो उसे हार्नब्लेन्ड (Hornblande Schist) सिस्ट कहते है ।

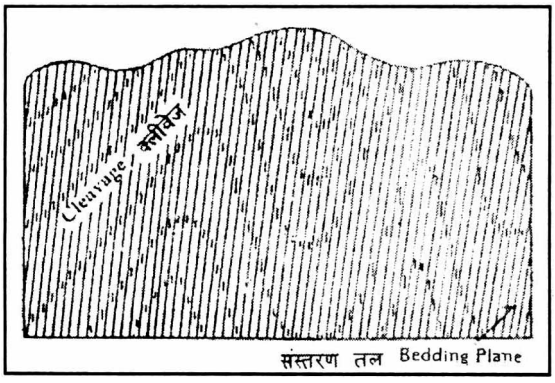

चित्र – 7.5 : स्लेट शैल के क्लीवेज त था संस्तरण तल में संबंध

(v) नीस (Gniess) : नीस एक बड़े कणों वाली (coarse grained) रूपान्तरित चट्टान होती है । नीस का निर्माण कांग्लोमरेट (Conglomerate) तथा बड़े कणों वाली ग्रेनाइट चलन में रूपान्तरण होने से होता है । नीस का मुख्य खनिज फेल्सपार (feldspar) होता है नीस पर अपक्षय तथा अपरदन का प्रभाव बहुत कम होता है ।

बोध प्रश्न – 4

1. रूपान्तीरतचद्दटानें कैसे बनती है?

   .....

   .....

2. रूपान्तरण के कौन –कौन से कारक है?

   .....

   .....

3. तापीय रूपान्तर क्या होता है?

   .....

   .....

4. संगमरमर किस चट्टान के रूपान्तरण से बना है?

   .....

   .....

5. सिस्ट किस चट्टान के रूपान्तरण से बनी है?

   .....

   .....

7.5 अपक्षय के भेद

अपक्षय के तीन मुख्य प्रकार है : –

(1) भौतिक अपक्षय

(2) रासायनिक अपक्षय

(3) जैव अपक्षय

जब बिना किसी रासायनिक परिवर्तन के चट्टानों के टूट–फूट कर अपने ही स्थान पर टुकड़े–टुकड़े होने की प्रक्रिया अर्थात् विखंडन या विच्छेदन (disintegration) को भौतिक अपक्षय कहते है ।

जब रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा चट्टानों का विघटन तथा क्षय होता है तो उसे रासायनिक अपक्षय कहते है इस प्रक्रिया में चट्टानों के रासायनिक अवयवों में परिवर्तन होते है । जिससे धीरे–धीरे चट्टानों के कमजोर तथा ढीले पड़ने पर वे अपने स्थान पर ही टूटने लगती है । यह हमें ध्यान रखना चाहिये कि भौतिक एवं रासायनिक अपक्षय अलग–अलग प्रक्रिया है परन्तु प्रकृति में दोनों प्रक्रियायें साथ–साथ चलती रहती हैं और एक दूसरे के प्रभाव द्वारा चट्टानों में विघटन की क्रिया होती रहती है । दोनों प्रकार के अपक्षय में चट्टानों के ढीले अवशेष पदार्थों का निर्माण होता है । अपक्षय की क्रिया में पेड़, पौधों एवं जीव जन्तुओं का भी सक्रिय सहयोग होता है । अगर हम पिछले 50 वर्ष के समय में अपक्षय की क्रिया पर निगाह डाले तो हम स्पष्ट रूप से कह सकते है कि मानव का जैव अपक्षय (Biological weathering) में विशेष योगदान है ।

7.6 अपक्षय को प्रभावित करने वाले तत्व (Factors Controlling Weathering)

अपक्षय की मात्रा तथा प्रक्रिया अलग–अलग स्थानों पर भिन्न–भिन्न होती है तो अपक्षय की प्रक्रिया में चट्टानों की संरचना, जलवायु, उच्चावच एवं वनस्पति, जीव जन्तु अपक्षय के विभिन्न प्रक्रमों को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्व है।

7.6.1 चट्टानों की संरचना (Structure of Rocks)

चट्टानों की बनावट एवं संरचना अपक्षय को प्रभावित करने वाला महत्वपूर्ण तत्व है । चट्टानें कई खनिजों का मिश्रण होती है सभी खनिजों में सूर्यताप के प्रभाव में अलग–अलग फैलने तथा सिकुड़ने की क्षमता होती है इन खनिजों का घनत्व एवं रंग भी भिन्न –भिन्न होता है जिन चट्टानों में काले तथा गहरे रंग के खनिज अधिक होते है उनमें सूर्यताप को जल्दी ग्रहण करने की क्षमता अधिक होती है । इसके अलावा उनसे ताप का हास भी जल्दी होता है । इस कारण से ऐसी चट्टानों में तनाव (strain) उत्पन्न हो जाता है और धीरे –धीरे चट्टान में ढीलापन उत्पन्न होने लगता है और कालान्तर में चट्टाने टूट–टूट कर टुकड़ों में विघटित होकर अपने स्थान पर बिखर जाती है । इसी तरह रंध्रपूर्ण (pours) तथा घुलनशील खनिजों वाली चट्टानों में रासायनिक अपक्षय शीघ्रता से होता है । इसी तरह जिन चट्टानों में हल्के रंग के खनिज उपस्थित होते है उनमें ताप का प्रभाव विशेष नहीं पड़ता है इस कारण उनमें अपक्षय की क्रिया धीमी गति से होती है । चट्टानों में खनिजों के अलावा चट्टानों का स्वरूप है लम्बवत या

उर्ध्वाकार होती है उनमें तापीय भिन्नता, तुषारपात (frost) जल तथा हवा का प्रभाव शीघ्र होने लगता है और चट्टान कमजोर होने लगती है लम्बवत स्तर के कारण तथा गुरुत्वाकर्षण के कारण नीचे की ओर चट्टानें खिसकने या टूटकर गिरने लगती है । परन्तु यदि चट्टानों के स्तर क्षेतिज अवस्था में मिलते है तो उनमें संगठन कड़ा होता है । इस कारण उनका विघटन एवं नियोजन शीघ्र नहीं हो पाता है जिन चट्टानों में जोड़ अधिक होते है । उनमें भौतिक अपक्षय की क्रिया अधिक होती है मुख्य रूप से आग्नेय चट्टानों में दरारें तथा जोड़ अधिक होने के कारण इन पर भी भौतिक अपक्षय का प्रभाव इन कमजोर भागों पर अधिक दिखाई देता है ।

7.6.2 जलवायु

जलवायु प्रत्यक्ष रूप से अपक्षय के विभिन्न प्रक्रमों को प्रभावित करती है । जलवायु के मुख्य दो तत्व वर्षा एवं तापक्रम का प्रभाव चट्टानों के विघटन पर विशेष प्रकार से पड़ता है । सूर्यताप के विभिन्न भागों में तापक्रम एवं वर्षा की मात्रा में भिन्नता पाई जाती है इस कारण अपक्षय में भी भिन्नता पाई जाती है । उदाहरण के लिये जिन भागों में कम वर्षा एवं अधिक तापक्रम पाये जाते है वहाँ पर दैनिक तापान्तर चट्टानों को अधिक प्रभावित करता है । ऐसे क्षेत्रों विशेष तौर पर मरूस्थली भागों में भौतिक अपक्षय की प्रक्रिया अधिक होती है । इसके विपरीत वे भाग जहाँ पर तापक्रम बहुत ही कम तथा बर्फ गिरती है वहाँ पर तुषारपात के कारण पानी बर्फ में जम जाता है । वहाँ चट्टानों के जोड़ो में भौतिक अपक्षय की प्रक्रिया अधिक प्रभावशाली होती है। जिन भागों में अधिक वर्षा होती है तथा उच्च तापक्रम पाये जाते है उन क्षेत्रों में पानी एक रासायनिक कारक का कार्य करता है ऐसे स्थानों पर रासायनिक अपक्षय अधिक प्रभावशाली होता है और धीरे–धीरे चट्टानों में रासायनिक प्रक्रिया होती है । जिससे चट्टानें कमजोर होकर टूटने लगती है शीत जलवायु वाले भागों में भौतिक अपक्षय प्राय : नहीं के बराबर होता है तथा रासायनिक एवं जैव अपक्षय अधिक प्रभावशाली होता है ।

7.6.3 स्थल के ढाल का स्वभाव या उच्चावच (Nature of slopes or Relief)

तीसरा महत्वपूर्ण तत्व जो अपक्षय को प्रभावित करता है वह उच्चावच है । ढाल भौतिक अपक्षय से उत्पन्न चट्टानों के टुकड़ों के खिसकने को सबसे अधिक नियंत्रित करता है । जिन भागों में चट्टानों का ढाल खड़ा होता है तो भौतिक अपक्षय के कारण चट्टानों की पकड़ कमजोर होने से चट्टाने नीचे की और खिसकने लगती है । इससे यह ज्ञात होता है कि अधिक ढाल वाले क्षेत्रों में अपक्षय की क्रिया अधिक गति से होती है । जबकि समतल क्षेत्रों में अपक्षय की क्रिया बहुत धीमी गति से होती है । यहाँ वनस्पति धरातल को पूर्णरूप से ढक लेती है और सतह की चट्टानों को अपक्षय से बचाती

7.6.4 वनस्पति का प्रभाव (Effect of Vegetation)

किसी भी क्षेत्र में वनस्पति की अधिकता व कमी होने पर वह अपक्षय की प्रक्रिया को प्रभावित करती है यह जलवायु' का ही अप्रत्यक्ष प्रभाव कहा जा सकता है । मरूस्थली प्रदेशों में कम वर्षा तथा अधिक वाष्पीकरण होने के कारण वनस्पति लगभग नहीं के बराबर पाई जाती है ऐसे क्षेत्रों में भौतिक अपक्षय की प्रक्रिया अधिक प्रभावशाली होती है । इसी तरह बर्फीले क्षेत्रों में बर्फ जमी

रहने के कारण वनस्पति नहीं पाई जाती है इस कारण इन क्षेत्रों में तुषार (frost) की क्रिया अधिक सक्रिय होती है । जो चट्टानों को कमजोर करने में सहायक होती है जिससे भौतिक अपक्षय अधिक होता हैं जिन भागों में जलवायु आर्द्र पाई जाती है वहाँ पर वनस्पति अधिक सघन होती है जो धरातल को अपक्षय से बचाती है परन्तु वनस्पति की जड़े चट्टानों के जोड़ों में प्रवेश करती है और उससे भौतिक अपक्षय की क्रिया तेज होती है । अधिक वर्षा होने के कारण चट्टानों में रासायनिक अपक्षय की क्रिया अधिक होती है ।

7.7 भौतिक अपक्षय

भौतिक अपक्षय की क्रिया वह क्रिया है जब चट्टानें एक ही स्थान पर लम्बे समय तक धरातल पर पड़ी रहती है ये चट्टानें धीरे–धीरे सूर्यताप, हवा, पानी, तुषार के प्रभाव से कमजोर होकर टुकड़ों में विभक्त होने लगती है । भौतिक अपक्षय की प्रक्रिया मुख्य रूप से मरूस्थली, अर्धशुष्क और शीत प्रदेशों में अधिक क्रियाशील देखी जाती है । मरुस्थल तथा अर्धशुष्क प्रदेशों में भौतिक अपक्षय को बढ़ाने में सूर्यताप का परिवर्तन सर्वाधिक प्रभावशाली कारक है । इसके विपरीत ठंडे प्रदेशों में वर्षा जल चट्टानों की दरारों में प्रवेश कर ठंड में बर्फ में जमने लगता है क्योंकि बर्फ का आयतन अधिक होता है इस कारण चट्टानों की दरारें चौड़ी होकर असंगठित हो जाती है और टूटकर अपने स्थान पर बिखरने लगती हैं भौतिक अपक्षय का निम्न प्रकार से उल्लेख किया जा सकता है ।

(i) ताप के कारण चट्टानों का विघटन : जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है कि तापीय परिवर्तन का चट्टानों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है । शुष्क तथा अर्धशुष्क प्रदेशों में ताप परिवर्तन के कारण ही भौतिक अपक्षय मुख्यरूप से होता है । यह देखा गया है कि दिन और रात के तापीय अंतर का कई चट्टानों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है तथा कई चट्टानों में ताप परिवर्तन का प्रभाव लगभग नहीं के बराबर होता है । भूगर्भशास्त्रियों का कहना है कि परतदार चट्टानों पर तापक्रम परिवर्तन का प्रभाव बहुत कम पड़ता है । इन चट्टानों के कण एक दूसरे से अम्लीय अथवा क्षारीय पदार्थ की पतली सतह द्वारा अलग होते है जिस कारण ताप का प्रभाव नहीं हो पाता है । इसके विपरीत आग्नेय रवेदार (Crystalline) स्फटिक चट्टानों में तापक्रम के अंतर का विशेष प्रभाव पड़ता है यहीं स्थिति कायान्तरित चट्टानों में भी पाई जाती है । कायान्तरित चट्टानों के कण एक दूसरे से संगठित होते है और ताप के बढ़ने तथा घटने से प्रत्येक कण फैलता या सिकुड़ता रहता है और चट्टानों में शिथिलता आने लगती है तथा कमजोर होकर अपने स्थान पर टूटने लगती है ।

मरूस्थलीय भागों में अधिक दैनिक तापान्तर के कारण तथा ठंडी जलवायु में पाले के कारण होता है । मरुस्थलों में दिन में अत्याधिक गर्मी के कारण आग्नेय तथा रूपान्तरित चट्टानों की बाहरी परत बहुत अधिक गर्म हो जाती है । किन्तु रात के समय प्राय: तापमान बहुत अधिक गिर जाता है तापमान गिरने से चट्टानों की ऊपरी सतह सिकुड़ती है । इस प्रकार चट्टानों में धरातल के समान्तर तथा लम्बवत दरारें पड़ जाती है । और चट्टानें बड़े–बड़े खंडों में टूट जाती है । इस प्रक्रिया को खंड विच्छेदन (Block disintegration) कहते है । कभी–कभी चट्टान की ऊपरी सतह गर्म होकर अन्दर की ठंडी सतह से अलग हो जाती है

और ऊपर का भाग छिलके की तरह छिलकर अलग हो जाता है । इसे अपदलन (exfoliation) कहते है प्राय: मरूस्थली प्रदेशों में चट्टानें विभिन्न खनिजों अथवा विभिन्न रंगों के खनिजों के मिश्रण से बनी होती है अलग–अलग खनिजों के फैलाव तथा सिकुड़ने की क्रिया भिन्न होती है । जिससे ताप के प्रभाव के कारण चट्टानों में जटिल तनाव उत्पन्न हो जाता है और चट्टानों के विभिन्न खनिज कण अलग–अलग होकर टूटने लगते हैं । इस प्रक्रिया को कण विच्छेदन कहते है । इस तरह मरूस्थली भागों में खण्ड विच्छेदन और कण विच्छेदन के ही कारण विस्तृत क्षेत्रों में बालू की अधिक मात्रा पाई जाती है ।

(ii) तुषारपात एवं कणों की वृद्धि (Frost and Crystal Growth) : शीत तथा शीतोष्ण जलवायु के प्रदेशों में तथा ऊँचे पर्वतीय भागों में खंड विच्छेदन पाले के कारण होता है । वास्तव में यह क्रिया उन भागों में अधिक सक्रिय होती है । जहाँ पर जल का जमना तथा पिघलना क्रम एक दूसरे के बाद घटित होता है । वर्षा अथवा पिघले हुए बर्फ से प्राप्त पानी का कुछ अंश चट्टानों की दरारों में प्रवेश कर जाता है रात के समय अधिक तापमान गिरने के कारण दरारों में भरा पानी जम जाता है । जब यह पानी जमकर बर्फ बनता है तो उसका आयतन लगभग 10 प्रतिशत बढ़ जाता है और अधिक स्थान प्राप्त करता है । इससे चट्टानों की दरारों में बहुत प्रसार बल पड़ता है । और धीरे–धीरे चट्टाने टूटने लगती है। पहाड़ों की ऊँची चोटियों में पाले द्वारा खंड विच्छेदन देखने को मिलता है । पाले के कारण चोटियों की चट्टाने टूटकर टुकड़े–टुकड़े हो जाती है । और पहाड़ों की ढाल पर लुढ़ककर नीचे ढाल पर जमा हो जाती

दूसरी क्रिया के अन्तर्गत चट्टानों के अन्दर उनके छिद्र तथा दरार होते है । दिन में जल का समावेश इन छिद्रों में हो जाता है । तथा रात के समय ताप में कमी होने के कारण जल बर्फ के रूप में जम जाता है । जिससे उसके आयतन में विस्तार होता है । आयतन में विस्तार के कारण चट्टानों में दबाव बढ़ जाता है । चट्टानों की दरारों में विस्तार हो जाता है परन्तु दिन के समय ताप में वृद्धि के कारण बर्फ पिघल कर जल में परिवर्तित हो जाता है। चट्टानों में फैलाव तथा सिकुड़न होता रहता है । इससे चट्टानें कमजोर पड़ने लगती हैं और उसमें विघटन होने लगता है और पर्वतीय भागों में टुकड़े टूटकर नीचे की और लुढ़कने लगते है । जिससे भूमि सप्रण (soil fluction) कहते है ।

7.8 रासायनिक अपक्षय (Chemical Weathering)

पृथ्वी की सतह के पास के वायुमंडल में आक्सीजन कार्बन डाइआक्साइड तथा जल वाष्प अधिक मात्रा में पाये जाते हैं । जब तक ऑक्सीजन और कार्बनडाई आक्साइड सूखे रहते है तो चट्टानों के ऊपर इनका कोई रासायनिक प्रभाव नहीं पड़ता है । किन्तु वायुमंडल में नमी रहने पर दो तत्व महत्वपूर्ण रासायनिक कारक (active chemical agents) हो जाते है और इनके प्रभाव से चट्टानों का रासायनिक विघटन प्रारंभ हो जाता है । रासायनिक अपक्षय की प्रक्रिया से चट्टानों में स्वरूप परिवर्तन के साथ–साथ रासायनिक परिवर्तन भी हो जाता है । और चट्टाने कमजोर हो जाती है । और वे टूटने पर नष्ट होने लगती है । रासायनिक अपक्षय का कार्य पृथ्वी की सतह की चट्टानों तथा नीचे दोनों क्षेत्रों में होता है रासायनिक अपक्षय मुख्य रूप से वर्षा का जल तथा

वायुमंडल की गैसें है । जिनसे ऑक्सीजन तथा कार्बनडाई ऑक्साइड मुख्य है । इनका अलग–अलग उल्लेख किया गया है ।

चट्टानों में रासायनिक परिवर्तन मुख्यरूप से चार प्रकार से होता है । जल योजन (Hydration), ऑक्सीयोन (oxidation), कार्बोनेशन (Corbonation) और सिलिका (Silica) का पृथक्कीकरण। यहाँ पर यह स्पष्ट करना चाहिये ये सभी प्रक्रियायें प्रकृति में एक दूसरे से पूर्णरूप से अलग नहीं बल्कि साथ–साथ एक दूसरे का पोषण करती हुई होती है ।

1. **ऑक्सीडेसन (Oxidation) :** इस प्रक्रिया में ऑक्सीजन तथा पानी की सम्मिलित प्रक्रिया से चट्टानों पर होने वाले प्रभाव को ऑक्सीकरण कहा जाता है । खनिजों में ऑक्सीकरण कि क्रिया से आक्साईड बन जाते है । जिससे चट्टानों में वियोजन होने लगते है । ऑक्सीकरण की प्रक्रिया लोह युक्त चट्टानों में विशेष होती है । लोहे पर ऑक्सीकरण की क्रिया होने से उस पर भूरे रंग की जंग लगने लगती है । आग्नेय चट्टानों में लोहा आयरन सल्फाइड या पायराईट या फेरस आक्साइड के रूप में पाया जाता है । इन खनिजों पर ऑक्सीकरण के प्रभाव से प्राय: जग लग जाती है । इससे चट्टानें कमजोर होने लगती है । लोहे वाले खनिजों पर जब पानी तथा आक्सीजन मिलकर संयुक्त रासायनिक परिवर्तन लाता है तो ये खनिज कम्पाउन्ड में परिवर्तित हो जाते है । ऊष्णकटिबन्धीय भागों में ऑक्सीकरण की क्रिया अधिक प्रभावशाली होती है जिससे रासायनिक परिवर्तन के कारण चट्टानों का प्राय लाल, पीला अथवा भूरा रंग का पाया जाना ऑक्सीकरण का ही परिणाम है । कभी–कभी ऑक्सीकरण तथा जलयोजन की क्रियायें प्राय: साथ–साथ कार्य करती है । जैसे लिमोनाइट खनिजों का निर्माण होता है जो पीले रंग का होता है ।
2. **कार्बोनेशन (Carbonation)** : पानी और कार्बनडाइऑक्साइड मिलकर हल्का कार्बोनिक अम्ल बन जाता है । जो कि जल में घुलनशील होते है । यह अम्ल वैसे खनिजों पर क्रियाशील होता है जिनमें लोहा कैल्शियम, मैग्निशियम, सोडियम या पोटेशियम के तत्व उपस्थित होते हैं । ये तत्व कार्बनिक अम्ल में घुलकर चट्टानों को कमजोर करते है इससे चट्टानों में रासायनिक अपक्षय की क्रिया होती है । और चट्टाने कमजोर पड़कर टूटने लगती है । केल्सियम कार्बोनेट जो चूना पत्थर का मुख्य तत्व है । शुद्ध जल में लगभग नहीं घुलता है । किन्तु वर्षा के जल में जिसमें कार्बनडाइआक्साइड घुली रहती है उसमें चूना पत्थर आसानी से पुल जाता है । इसी कारण कार्बोनेशन को "घोलन" भी कहा जाता है । कार्बनडाइआक्साइड मिश्रित पानी चूने की चट्टानों को या कैल्सियम कार्बोनेट की रासायनिक प्रक्रिया से कैल्शियम बाई कार्बोनेट में परिवर्तित कर देता है । जो चूने की चट्टान से कई गुना अधिक घुलनशील होता है । कोर्बोनेशन की क्रिया के कारण ही पोटेशियम कार्बोनेट की रचना होती है । जो कि पौधों का एक महत्वपूर्ण भोजन है । चूने की चट्टानों के क्षेत्र में भूमिगत जल जिसमें कार्बोनिक अम्ल रहता है जो चूना पत्थर को घोलकर सतह के ऊपर तथा सतह से नीचे रासायनिक अपक्षय के कारण कई प्रकार की स्थलाकृतियों का निर्माण होता है जिसे कार्स्ट स्थलाकृतियों के नाम से जाना जाता है।

(iii) हाइड्रेशन या जलयोजक (Hydration) : जब पानी का उपयोग चट्टानों के अपघटन में एक रासायनिक तत्व के रूप में होता है । तो उसे जलयोजक कहा जाता है । जल की हाइड्रोजन से चट्टानों के खनिजों में हाइड्रोजन की क्रिया होती है । अर्थात् चट्टानों में जल की मात्रा बढ़ जाती है । तथा चट्टानों के आयतन में वृद्धि हो जाती है । और उनमें रासायनिक परिवर्तन होने लगते है जिससे नये खनिजों का निर्माण होता है । इन खनिजों में जल का कुछ अंश रह जाता है जिससे उनका आयतन पुराने खनिजों की अपेक्षा अधिक होता है । आग्नेय चट्टानों पर हाइड्रेशन की क्रिया का अधिक प्रभाव पड़ता है । हाइड्रेशन की क्रिया से एन हाइड्राइट खनिज अतिरिक्त जल ग्रहण करके जिप्सम में परिवर्तित हो जाता है । हेमेटाइट खनिज लिमोनाइट खनिज में बदल जाता है ।

(iv) सिलिका का पृथक्कीकरण (Disilication): अनेक चट्टानों में सिलिका की मात्रा अधिक होती है । यह सिलिका सीमेन्टीग पदार्थ का कार्य करता है । जब जल द्वारा रासायनिक विधि से सिलिका युक्त चट्टानों से सिलिका अलग हो जाता है तो उस क्रिया को "सिलिका पृथक्कीकरण" कहा जाता है । आग्नेय चट्टानों में खासकर ग्रेनाइट में सिलिका की मात्रा अधिक पाई जाती है । ये सिलिकेट कार्टज की तुलना में ज्यादा जल्दी रासायनिक परिवर्तन से प्रभावित होकर रूपान्तरित होते है । यही कारण है कि आग्नेय चट्टान वाले भाग में बहने वाली नदियों में सिलिका की मात्रा परतदार चट्टानों वाले भागों की नदियों की अपेक्षा अधिक होती है । क्योंकि परतदार चट्टानों में सिलिका कार्टज के रूप में पाया जाता है जो कि जल में शीघ्रता से घुलनशील नहीं होता है अर्थात् चट्टानों से इसी प्रकार घुलकर बहने की प्रक्रिया सिलिका पृथक्कीकरण कहते है ।

7.9 जैव अपक्षय (Biological Weathering)

भौतिक अपक्षय की क्रिया कहीं–कहीं वनस्पति की जड़ों में वृद्धि के कारण जीव जन्तुओं एवं मानव द्वारा किये जाने वाले परिवर्तनों में भी देखी जा सकती है । यह देखा गया है कि जहाँ पर चट्टानों में जोड़ अधिक होते है । वहाँ पेड़ों की जड़ों की वृद्धि से चट्टानों की दरारें चौड़ी होती जाती है । जिससे चट्टानों की पकड़ कमजोर होने लगती है और वे टूटकर गिरने लगती है कई जीव जन्तु जो बिल बनाकर पृथ्वी की सतह के नीचे रहते है वे पृथ्वी की सतह को पोला करते है उससे भी सतह में विघटन होता है । प्रारंभ से ही मानव की गतिविधियाँ भी पृथ्वी तल पर भौतिक आकृतियों में तोड़–फोड़ करती रही है और अपक्षय की क्रिया को बढ़ावा देती है वर्तमान समय में मानव पृथ्वी की सतह पर सबसे अधिक बदलाव उत्खनन के द्वारा ला रहा है । जो अपक्षय की क्रिया में सहायता करता है यह भी याद रखना चाहिये कि घनी वनस्पति तथा घास चट्टानों के अपक्षय को रोकने में सहायक होती है जहाँ भूमि पूरी वनस्पति से ढकी रहती है । वहाँ वनस्पति की जड़े मिट्टी को संरक्षण देती है और मिट्टी नीचे की चट्टानों को अपक्षय से बचाती है ।

7.10 अनाच्छादन (Denudation)

अनाच्छादन (Denudation) के अंतर्गत अपक्षय एवम् अपरदन दोनों क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता हे "Denudation is sum total of weathering and erosion" अपरदन की क्रिया बिना परिवहन के नहीं हो सकती है अत: अपरदन की क्रिया के लिये परिवहन कि क्रिया भी अत्यंत जरूरी अपरदन की क्रिया जिन शक्तियों द्वारा संपन्न होती है उन्हें अपरदन के कारक कहा जाता हैं इनके अंतर्गत नदियाँ, हवा, भूमिगत जल, हिमनद एवम् सागरीय लहरें सम्मिलित की जाती हैं । इन सब कारकों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण अपरदन की क्रिया नदियों द्वारा होती है । अपरदन के अंतर्गत तीन क्रियायें शामिल है । 1. परिवहन, 2. अपघर्षण तथा 3 निक्षेप । जब चट्टानों के टुकड़े एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपरदन की क्रिया द्वारा ले जाये जो हैं तो इस प्रक्रिया को परिवहन कहते हैं । परिवहन की क्रिया द्वारा जो चट्टानों के टुकड़े एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाये जाते हैं तो वे टुकड़े स्थल की चट्टानों को घिसते रहते हैं इस प्रक्रिया को अपघर्षण कहते हैं । जब नदी की तली में अपघर्षण की क्रिया होती है तो उसे नदी की लम्बवत कटाव की क्रिया कहते हैं । इस तरह की क्रिया मरूस्थली भागों में वायु के साथ उड़ने वाले रेत के कणों के द्वारा भी होती हैं नदियों द्वारा या हवा द्वारा परिवहित चट्टानों के टुकड़े किसी स्थान पर जमा होने लगते हैं तो यह निक्षेप कह जाता हैं ठंडे तथा पर्वतीय क्षेत्रों में हिमनद की तली में प्रवाहित चट्टान चूर्ण के द्वारा भी तली में घर्षण द्वारा खरोंच की क्रिया अधिक होती है इस क्रिया से हिमनद की घाटियाँ गहरी और चौड़ी हो जाती हैं।

घोलीकरण या संक्षारण (Solution or Corrasion) : घोलीकरण कार्य मुख्य रूप से जल के द्वारा होता है जब बहते हुए जल के संपर्क में आने वाली चट्टानें जिनमें रासायनिक तत्व होते है घुलकर पानी के साथ बहते है । यह क्रिया विशेष रूप से भूमिगत जल एवं नदियों के जल द्वारा होती है । इसके कारण घुलनशील चट्टानें कमजोर पड़ जाती है ।

जलगति क्रिया (Hydraulic action) : यह क्रिया केवल जल के द्वारा बिना किसी अन्य सामग्री की सहायता से संपन्न होती है इस क्रिया में जल यांत्रिक रूप में चट्टानों में तोड़–फोड़ की क्रिया होती है इसे जलगति क्रिया कहते हैं ।

सनिघर्षण (Attrition) : अपरदन के कारकों के साथ जो चट्टान चूर्ण परिवहन के साथ बहते है ये चट्टान टुकड़े स्थानांतरण के दौरान आपस में टकराकर टूटते रहते है इस क्रिया को सनिघर्षण क्रिया कहते है । नदियों में चट्टानों के टुकड़े घिसकर गोलाकार आकृति धारण कर लेते हैं इनका परिवहन आसान होता है ।

अपवाहन या उड़ान की क्रिया (Deflation) : अपवाहन की क्रिया मुख्य रूप से वायु के द्वारा होती हैं यह क्रिया मुख्य रूप से मरूस्थली प्रदेशों में देखी जाती है । मरूस्थली भागों में चट्टानों की परतें अपदलन अपक्षय (Exfoliation weathering) के कारण परते ढीली पड़ जाती है जिन्हें हवा अपने साथ उड़ाकर ले जाती है इस क्रिया से रेगिस्तानी प्रदेशों में चट्टानें अपरदित होती रहती है । और चट्टानें निरंतर नग्न होती रहती है । अनाच्छादन क्रिया सबसे व्यापक है इसके अंतर्गत अपक्षय और अपरदन दोनों शामिल है ।

अपरदन चक्र – पिछले अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि पृथ्वी के धरातल पर अंतर्जात एवम् बर्हिजात शक्तियाँ धरातल पर परिवर्तन लाकर धरातल को समप्राय बनाने की क्रिया करती है यह क्रिया सामान्य रूप से श्रृंखलाबद्ध तरीके से होती हैं अपरदन चक्र की विचारधारा को सर्वप्रथम अमेरिका के प्रसिद्ध भूआकृतिवेत्ता डब्ल्यू एम. डेविस ने किया । डेविस के अनुसार किसी भी दृश्य भूमि का निर्माण तथा विकास एक निश्चित प्रक्रम के अनुसार होता है ।

इस प्रक्रिया को डेविस ने चक्रीय रूप में समझाने का प्रयास किया । इस विचारधारा को बहुत ही सहज ढंग से भू–आकारों के विकास पर लागू किया । पृथ्वी के अंतर्गत दो प्रकार की शक्तियाँ कार्य करती हैं एक बहिर्जात शक्ति है जो कि धरातल की असमानता से समतल स्थापक होती हैं दूसरी आंतरिक शक्ति है जो कि आंतरिक के कारण धरातल में विषमता उत्पन्न करती है इस प्रकार अंतर्जात शक्तियों का बर्हिजात शक्तियाँ विरोध करती है । अंतर्गत शक्तियों द्वारा धरातल पर पर्वत एवं पठार आदि का निर्माण होता हैं दूसरी तरफ बर्हिजात शक्तियाँ अपना समतल स्थापित करने का कार्य प्रारंभ करे देती हैं डेविस ने अपरदन चक्र की परिभाषा देते हुए स्पष्ट किया है "भौगोलिक चक्र समय की वह अवधि है जिसके अंतर्गत एक उत्तोलित हुआ भूखंड अपरदन की क्रिया द्वारा एक आकृति विहीन समप्राय मैदान में परिवर्तित हो जाता है ।"

बोध प्रश्न– 5

1. अपक्षय कितने प्रकार के हैं?

   .....

   .....

2. अपक्षय को प्रभावित करने वाले कौन से तत्व हैं?

   .....

   .....

3. भौतिक अपक्षय क्या है?

   .....

   .....

4. रासायनिक अपक्षय क्या हे?

   .....

   .....

5. जैव अपक्षय क्या है?

   .....

   .....

6. अनाच्छादीकरण क्या है?

.....

.....

7. अपघर्षण किसे कहते हैं?

.....

.....

8. जलगति क्रिया किसे कहते हैं?

.....

.....

9. अपवाहन क्रिया क्या हे?

.....

.....

7.11 सारांश (Summary)

पृथ्वी के बाह्य मंडल को क्रस्ट या पपड़ी कहते है । पपड़ी को स्थलमंडल कहते है पृथ्वी की सतह की रचना शैल से हुई चट्टानों का करीब 98 प्रतिशत भाग 8 से 10 तत्वों से निर्मित हुआ है । चट्टान की रचना एक या एक से अधिक खनिजों का सम्मिश्रण होता है । चट्टानों की संरचना एवं भौतिक रासायनिक गुण तथा खनिजों के सम्मिश्रण के आधार पर चट्टानों को तीन वर्गो में बांटा जाता है ।

(1) आग्नेय चट्टान

(2) परतदार चट्टान तथा

(3) रूपान्तरित चट्टान ।

आग्नेय चट्टान की रचना तम एवं तरल मैग्मा के ठंडे होने से होती है । आग्नेय चट्टाने बहुत कठोर होती है उनमें परतें नहीं होती है । आग्नेय चट्टानों में कई तरह की विविधा पाई जाती है आग्नेय चट्टानों की उत्पत्ति की प्रक्रिया में भी विशेष अन्तर पाया जाता है ।

परतदार चट्टानों को "अवसादी" चट्टान भी कहते है । क्योंकि इन चट्टानों का निर्माण अपरदन के द्वारा प्रवाहित पदार्थ का जमाव समुद्रों की तली में होता है । परतदार चट्टानों का निर्माण चट्टान चूर्ण एवं जीवावशेषों के एकत्रीकरण से होता है । इनमें परतें पाई जाती है परतदार चट्टानों का निर्माण कई प्रकार से होता है । बलुआ पत्थर, चूना पत्थर, शैल, कांग्लोमरेट तथा कोयला परतदार चट्टाने कायान्तरित चलन अन्य चट्टानों के रूपान्तर के फलस्वरूप निर्मित हुई है रूपान्तरण की क्रिया चट्टानों में अधिक ताप, दबाव एवं भार के कारण आग्नेय तथा परतदार चट्टानें रूपान्तरित हो जाती है । अर्थात चट्टान का संगठन एवं रूप बदल जाता है । रूपान्तरण के कारक ताप, दबाव एवं घोल होते है रूपान्तरण कई प्रकार से होता है । रूपान्तरित चट्टानों का वर्गीकरण आसान होता है क्योंकि प्राय: मौलिक चट्टानों के आधार पर रूपान्तरित चट्टाने बनती है ।

सामान्य रूप से चट्टानों के अपने स्थान पर टूटने की क्रिया को अपक्षय कहा जाता है अथवा रासायनिक परिवर्तन द्वारा चट्टानों का क्षय होता है । उन्हें हम अपक्षय या ऋतुक्षरण कहते हैं । विघटन की क्रिया भौतिक तत्वों जैसे सूर्यताप वर्षा तुषारपात आदि जलवायु तत्वों से होती है । अपक्षय तीन प्रकार का होता है । 1. भौतिक अपक्षय । 2. रासायनिक अपक्षय 3. जैव अपक्षय। जब रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा चट्टानों का विघटन तथा क्षय होता है तो उसे रासायनिक अपक्षय कहते हैं अपक्षय की मात्रा तथा प्रक्रिया में चट्टानों की संरचना, जलवायु, वनस्पति, जीव जंतु अपक्षय के विभिन्न प्रक्रमों को प्रभावित करते हैं । जैव अपक्षय की क्रिया कहीं–कहीं वनस्पति की जड़ों में वृद्धि के कारण जीव जंतुओं एवं मानव द्वारा किये जाने वाले परिवर्तनों में भी देखी जा सकती है । अनाच्छादन के अंर्तगत अपक्षय एवं अपरदन दोनों क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है ।

7.12 शब्दावली (Glossary)

- **चट्टान :** एक या एक से अधिक खनिजों से बनी है ।
- **आग्नेय चट्टान :** पृथ्वी की तरल अवस्था से ऊपरी भाग के मेग्मा के ठंडे होने से आग्नेय चट्टान का निर्माण हुआ हैं ।
- **आन्तरिक आग्नेय चट्टान :** पृथ्वी की तह के नीचे मेग्मा के ठंडे होने से बनी है ।
- **अम्ल प्रधान आग्नेय चट्टान :** जिस चट्टान में सिलिका की मात्रा अधिक होती हैं ।
- **परतदार चट्टान :** अवसादी चट्टान
- **बलुवा पत्थर** सिलिका की मात्रा अधिक होती है ।
- **कार्बनिक चट्टान :** कार्बनिक तत्व से निर्मित चट्टान ।
- **कायान्तरित : रूपान्तरित चट्टान**
- **संगमरमर :** चूना पत्थर के रूपान्तरण से ।
- **अपक्षय :** चट्टानों के अपने स्थान पर हने की क्रिया को अपक्षय कहते हैं ।
- **विघटन :** चट्टानों का टूटना ।
- **भौतिक अपक्षय :** चट्टानों के टूट–टूट कर अपने ही स्थान पर टुकड़े–टुकड़े होने की प्रक्रिया को भौतिक अपक्षय कहते हैं ।
- **रासायनिक अपक्षय :** जब रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा चट्टानों का विघटन तथा क्षय होता है तो उसे रासायनिक अपक्षय कहते हैं ।
- **ऑक्सीडेशन :** इस प्रक्रिया में आक्सीजन तथा पानी की सम्मिलित प्रक्रिया से होने वाले प्रभाव को ऑक्सीडेशन कहते हैं ।
- **अपघर्षण :** जब नदी की तली में लंबवत कटाव होता है ।

7.13 संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. शर्मा,एच.एस. एवं प्रमीला कुमार : भूआकृति विज्ञान, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल

2. होम्स, आर्थर : भौतिक भूविज्ञान के सिद्धांत, इंग्लिश लैग्वेज बुक सोसाइटी, नेलसन

3. दयाल, पी. : भूआकृति विज्ञान, शुक्ला बुक डिपो पटना ।

4. सिंह, सविन्द्र : भूआकृति विज्ञान, श्री शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2007

5. नेगी बी. एस. : भौतिक भूगोल, एस.जे. पब्लिकेशन, मेरठ, 2003

6. अग्रवाल : भौतिक भूगोल, साहित्य भवन, आगरा

7.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

1. एक या एक से अधिक खनिजों का सम्मिश्रण होता है।
2. क्रस्ट
3. जल प्लावित भाग
4. 98 प्रतिशत
5. चट्टानों के अपने स्थान पर टूटने की क्रिया को कहते हैं?

बोध प्रश्न–2

1. तीन प्रकार की
2. मेग्मा के ठंडे होने से
3. इसमें परते नहीं होती
4. ग्रेनाइट चट्टान
5. बेसाल्ट

बोध. प्रश्न – 3

1. अवसादी चट्टान
2. हाँ
3. कोयला
4. चूना पत्थर
5. परतदार

बोध प्रश्न - 4

1. ताप और दाब के कारण
2. ताप और दबाव
3. जब ताप का प्रभाव अधिक होता है ।
4. चूना पत्थर
5. ग्रेनाइट से

बोध प्रश्न– 5

1. अपक्षय तीन प्रकार का होता है?
2. चट्टानों की संरचना, जलवायु, स्थल ढाल तथा वनस्पति?

3. जब चट्टानें एक ही स्थान पर लंबे समय तक पड़ी रहती है तो सूर्यताप, हवा, पानी आदि के प्रभाव से कमजोर होकर टुकडों में विभक्त होने लगती है?
4. जब चट्टानों का विघटन रासायनिक क्रिया से होता है?
5. जहाँ चट्टानों में जोड़ अधिक होते हैं वहाँ पेड़ों की जड़ों में वृद्धि होती है जिससे चट्टानें कमजोर हो जाती है ।
6. यह अपक्षय एवं अपरदन क्रियाओं का मिला रूप है?
7. जब नदी की तली का लंबवत कटाव होता है?
8. इस क्रिया में जल यांत्रिक रूप में चट्टानों में तोड़–फोड़ की क्रिया करता है उसे जलगति क्रिया कहते हैं ।
9. यह क्रिया मुख्य रूप से मरूस्थली भागों में होती है?

7.15 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. परतदार शैलों से आप क्या समझते है? परतदार शैलों का वर्गीकरण कीजिये तथा उनकी मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिये ।

2. चट्टान की परिभाषा दीजिये आग्नेय चट्टानों के बनने की प्रक्रिया के आधार पर वर्गीकरण कीजिये तथा उनकी मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिये ।

3. आग्नेय चट्टानों एवं रूपान्तरित चट्टानों में क्या अंतर पाया जाता है । आग्नेय चट्टानों का वर्गीकरण कीजिये तथा उत्पति की प्रक्रिया के अनुसार वर्गीकरण कीजिये ।

4. आग्नेय चट्टानों की उत्पति कैसे हुई है? आग्नेय चट्टानों को रासायनिक संरचना के आधार पर वर्गीकरण कीजिये तथा उनका विस्तार से वर्णन कीजिये ।

5. रूपान्तरित चट्टानों से आप क्या समझते है । रूपान्तरित चट्टानों का वर्गीकरण कीजिये तथा उनकी मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिये ।

6. किन्हीं चार पर टिप्पणी लिखिये ।

(a) पातालीय आग्नेय चट्टान

(b) बाह्य आग्नेय चट्टान

(c) अम्ल प्रधान आग्नेय चलन

(d) संगमरमर चट्टान किस चट्टान के रूपान्तरण से बनी है । तथा उसकी क्या विशेषतायें

(e) कांग्लोमरेट चट्टान के बनने की प्रक्रिया को समझाइये ।

(f) कार्बन प्रधान चट्टान का नाम क्या है तथा उसके बनने की प्रक्रिया को समझाइये ।

7. अपक्षय की परिभाषा दीजिये । तथा विभिन्न प्रकार के अपक्षय की उदाहरण देकर व्याख्या कीजिये ।

8. अपक्षय की परिभाषा दीजिये । भौतिक अपक्षय तथा रासायनिक अपक्षय में क्या अतर है? शुष्क प्रदेशों में कौन सी अपक्षय की क्रिया अधिक सक्रिय होती है?

9. अपक्षय को प्रभावित करने वाले तत्वों का विस्तार से वर्णन कीजिये ।

10. अपक्षय के भूआकृतिक महत्व पर प्रकाश डालिये और भौतिक अपक्षय प्रक्रम भूरूपों की विवेचना कीजिये?

11. "अपक्षय एक जटिल प्रक्रिया है, जिसमें प्रक्रियायें निहित होती है एवं अनेक कारणों से प्रभावित होती है ।" विवेचना कीजिये?

इकाई 8 : नदी एवं उसके कार्य (Work of River)

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना – नदी की परिभाषा

8.2 नदी घाटी का क्रमिक विकास

8.3 नदी घाटियों का वर्गीकरण

8.3.1 अनुवांशिक एवम् संरचनात्मक वर्गीकरण

8.4 अपवाह प्रारूप

8.4.1 नदी अपहरण

8.4.2 नदी मार्ग परिवर्तन

8.5 नदी के कार्य

8.5.1 नदी के अपरदनात्मक भू–आकार

8.5.2 नदी के निक्षेपात्मक भू–आकार

8.5.3 आधारतल की विचारधारा एवम् क्रमबद्ध सरिता

8.6 अपरदन चक्र

8.6.1 डेविस का मत

8.6.2 पेन्क का मत

8.6.3 हेक्स का अचक्रीय मत

8.7 सारांश

8.8 शब्दावली

8.9 संदर्भ ग्रन्थ

8.10 बोध प्रश्नों का उतर

8.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप समझ सकेगें कि :

- नदी क्या होती है? और उसका विकास, नदी एवं उसके कार्य
- नदी एवं उसके कार्य
- नदी घाटियों के प्रकार,
- अपवाह तन्त्र प्रारूप एवं प्रकार,
- नदी के कार्य,
- नदी द्वारा निर्मित अपरदनात्मक एवं निक्षेपणात्मक भू–आकार,
- अपरदन चक्र एवं विभिन मत – डेविस, पेंक एवम् हेबस के मत,

- भू आकारों का विकास ।

8.1 प्रस्तावना (Introduction)

वर्षा का जल धरातल पर दो रूपों में प्रवाहित होता है – अनियन्त्रित और नियन्त्रित । जब वर्षा का जल अनियन्त्रित रूप से धरातल पर प्रवाहित होता है तो उसे प्रवाही जल (Run off) या अनियन्त्रित जल प्रवाह कहते हैं । इस प्रवाह से धरातल पर चादरीय कटाव (Sheet Erosion) होता हैं । जब वर्षा का पानी नियंत्रित रूप से किसी निश्चित धारा के रूप में ढाल के अनुरूप गुरुत्वाकर्षण के कारण प्रवाहित होता है तो उसे सरिता (Stream) या नदी (River) कहते है । नदियां प्रारम्भिक काल से ही सभ्यता का पालना (Cradle of civilization) कहलाती है । सिन्धु नदी घाटी में सिन्धु घाटी सभ्यता पनपी, आहड़ नदी घाटी में आहड़ सभ्यता, वी–हो घाटी में चीन की सभ्यता, नील नदी की घाटी में मिश्र की पिरामिड सभ्यता और दजला और फरात नदियों की घाटी में मेसोपोटामिया की सभ्यता पनपी है । आज भी गंगा सिन्धु की घाटियों, मिसीसीपी – मिसूरी, ह्यांगहो–यांगटीसी–क्यांग, लाप्लाटा, राइन, रोन, इरावदी, और वोल्गा नदियों की घाटियों में ही नवीन सभ्यतायें पनप रही हैं तथा सभी नदी बेसिनों के क्षेत्र जनसंख्या से लदे पड़े है ।

8.2 नदी घाटियों का क्रमिक विकास (Development of River)

प्रसिद्ध भूआकार शास्त्री थार्नबरी (Thornbury, 1954) ने नदी घाटी को बहते हुए जल द्वारा निर्मित ऋणात्मक स्थल रूप कहा है । "In general valleys may be termed as negative land forms of different sizes and shapes cut by running water" घाटियों का विकास तीन प्रकार के मानदण्डों द्वारा होता है । घाटी का गहरा होना, घाटी का चौड़ा होना तथा घाटी का लम्बा होना अर्थात त्रिविमितीय विकास होता है ।

(i) घाटी का गहरा होना : – प्रारम्भिक अवस्था में नदी का बहता पानी घाटी को गहरा करने के लिए संघर्षरत रहता है जो निम्न बातों पर निर्भर है : –

(अ) जल गति क्रिया (Hydraulic action)

(ब) तली का सन्निघर्षण एवं अपघर्षण (Corrosion and abrasion)

(स) जलगर्तिका छेदन (Pothole drilling)

(द) घोलकरण (corrosion) ए

(ई) अपक्षय (Weathering)

(फ) घाटी का ढाल (Slope)

(ग) शैल संरचना (Rock formation)

(ह) जल की मात्रा (Quantity of water)

(च) भार की प्रकृति एवं मात्रा (Type of Load & Quantity)

(अ) जल गति क्रिया (Hydraulic Action): जल भौतिक एवं रासायनिक (Physical and Chemical action) दोनों ही क्रियाओं द्वारा नदी घाटी मे तोड़ फोड़, काट छांट, घुलन आदि की क्रिया से विकास करता है फलतः घाटी गहरी होती जाती है।

(ब) तली का सन्निघर्षण एवं अपघर्षण (Corrosion and abrasion): नदी की घाटी में बहते हुए कंकड़, पत्थर, बालू बटटड नदी की तली को घर्षित करते रहा हैं । परिणामस्वरूप नदी घाटी गहरी होती जाती है ।

(स) जल गर्तिका का छेदन (Pothole drilling): जल प्रपातों के निम्न भागों में गहरे जल गर्तिका पाये जाते हैं । यमुना एवम चम्बल नदी में ऐसी जलगर्तिकायें कहीं कहीं पाई जाती है जो बहुत गहरी होती है इनके विकास से नदी घाटी भी गहरी होती जाती हे ।

(द) घोलकरण (Corrosion): नदी घाटी के पेंदे में प्राप्त विविध खनिजों के संसर्ग में पानी के आने से तली के पदार्थ घुलकर पानी के साथ बह जाते हैं फलतः घाटी गहरी होती जाती है ।

(ई) अपक्षय (Weathering): अपक्षय के भौतिक एवं रासायनिक प्रक्रमों से नदी घाटी की तली क्षत विक्षत एवं घुलकर गहरी होती जाती है ।

(फ) घाटी का ढाल (Slope): घाटी का ढाल तेज होने पर घाटी शीघ्र गहरी होगी अन्यथा धीमी गति से गहरी होगी ।

(ग) शैल संरचना (Rock formation): यदि चट्टानें घाटी की तली में कोमल होगी तो घाटी शीघ्र ही गहरी होगी । अन्यथा कठोर चट्टानें होने पर कटान कम होगा तथा घाटी देर से गहरी होगी ।

(ह) जल की मात्रा (Quantity of water): जल की मात्रा घाटी में अधिक और अनवरत प्राप्त होगी तब घाटी तेज गति से गहरी होगी अन्यथा पानी की कम मात्रा होने पर घाटी अधिक समय में गहरी होगी ।

(च) तलछट भार की प्रकृति एवं मात्रा (Type of Land & quantity): यदि भार नदी घाटी में बहुत अधिक और कठोर होगा तो घाटी शीघ्र गहरी होगी अन्यथा भार, कम, कोमल और छोटा होने पर देर से गहरी होगी ।

II.घाटी का चौड़ा होना (Valley widening): घाटी की चौड़ाई घाटी के दोनों किनारों की रेखीय दूरी होगी जिसे अनुप्रस्थ परिच्छेदिका द्वारा प्रदर्शित किया जाता है । नदी घाटी का चौड़ा होने की क्रिया में निम्न क्रियायें सम्मिलित हैं ।

(क) **क्षैतिज अपरदन (Lateral erosion) :** नदी की बहती धारा किनारों के निचले भागों में अध:कर्तन (corrasion) द्वारा खड़े ढालों का निर्माण करती है । अधिक अध:कर्तन से पार्श्ववर्ती खड़े किनारे टूटने लगते हैं फलत: अवपालन (Slumping) की क्रिया होती है और लगातार पार्श्व टूट–टूट कर गिरते रहते हैं तथा घाटी चौड़ी होती रहती है ।

(ख) **घुलन क्रिया:** घाटी में पार्श्वों पर घुलन क्रिया से किनारे पानी में घुल–घुल कर टूटते रहते हैं तथा घाटी चौड़ी होती रहती है ।

(ग) **नालीदार कटाव :** घाटी के पार्श्वों पर दोनों ओर नालीया पार्श्वों का कटान कर देती है परिणामत: घाटी चौड़ी होती जाती है । इसे बीहड़ कटाव (Ravine erosion) की भी संज्ञा दी जाती है । इस प्रकार के कटाव से चम्बल नदी के बेसिन में यत्र तत्र सर्वत्र कटाव होता है ।

अपक्षय एवं द्रव्यमान संचलन की क्रिया: घाटी में दोनों पार्श्वों पर अपक्षय की क्रिया निरन्तर चलती रहती है । फलतः टूटी हुई चट्टान के टुकड़े, शिलाचूर्ण, मिट्टी, कंकड़, पत्थर आदि पार्श्वों से टूटकर गिरते रहते हैं । द्रव्यमान भी घाटी में सरकता रहता है । परिणामत: घाटी चौड़ी होती रहती है । इसके अलावा सर्पण की क्रिया द्वारा भी घाटी चौड़ी होती रहती है ।

सहायक नदियाँ (tributaries) : सहायक नदियाँ घाटी की पार्श्वों की ओर से चौड़ा करती है ।

नदी विसर्प (River Meanders) : नदी के मोड़ नदी की वृद्धावस्था एवं परिपक्वावस्था में घाटी को सर्वाधिक चौड़ा करने में सहायक होते हैं । विसर्पधारा के पार्श्वों पर ही विकसित होते हैं जो पार्श्वों को काटते रहते हैं तथा घाटी को चौड़ा करते रहते हैं ।

III घाटी का लम्बा होना (Lengthing of River Valley): नदी अपनी घाटी को लम्बा भी करती है । घाटी के प्रारम्भ को शीर्ष कहा जाता है । नदी की लम्बाई में अधिकांश वृद्धि शीर्ष अपरदन की क्रिया से ही संभव होती है । शीर्ष अपदरन से नदी पीछे हटती रहती है और लम्बाई बढ़ती जाती है । सरिता अपहरण (River capture) की प्रक्रिया द्वारा भी सहायक नदियां प्रभावित होती है तथा नदी की लम्बाई बढ़ती है (चित्र– 8.1) ।

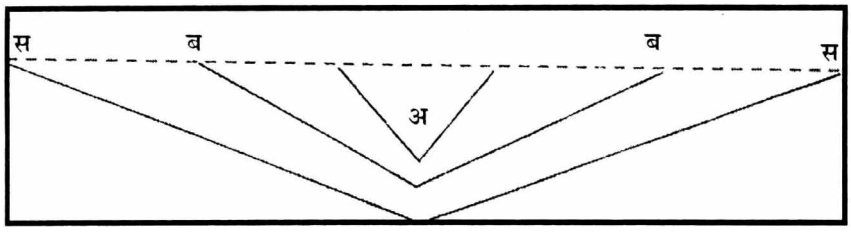

चित्र–8.1 : नदीय घाटी का क्रमिक विकास

8.3 नदी घाटियों का वर्गीकरण (प्रकार) (Classification of River Valleys)

विश्व के विभिन्न भागों में विविध प्रकार का धरातल पाया जाता है । इसी के परिणामस्वरूप घाटियों की उत्पत्ति संरचना,अवस्था, प्रक्रम आदि में भिन्नता पाई जाती है । इसी के आधार पर नदी घाटियों को निम्नानुसार वर्गीकृत किया गया है ।

8.3.1 अनुवांशिक वर्गीकरण (Genetic Classification)

डब्ल्यू.एम.डेविस महोदय ने सर्वप्रथम नदी घाटियों के अनुवांशिक वर्गीकरण को प्रस्तुत किया और घाटियों के वर्गीकरण का आधार उनकी उत्पत्ति को माना था । उत्पत्ति के आधार पर घाटियों को निम्न श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है ।

(क) **अनुवर्ती घाटी (Consequent Valley)** अनुवर्ती घाटियां उत्थित भू–भाग के प्रारंभिक तल पर ढाल के अनुरूप विकसित होती है । ढाल के अनुरूप विकसित होने के कारण इन्हें स्वभावोद्भूत नतिघाटी (Dip Valley) भी कहते हैं । मध्य भारत में लावा जमाव के बाद विकसित होने वाली सरितायें अनुवर्ती प्रकार की ही हैं । इसी प्रकार पश्चिमी घाट की सरितायें भी ढाल के अनुरूप विकसित होकर अरब सागर में पश्चिम को प्रवाहित होकर गिर जाती है । उन्हें भी अनुवर्ती घाटियाँ ही कहते है । ये (i) अनुदेर्ध्य अनुवर्ती एवं (ii) पार्श्ववर्ती स्वभावोदभूति सरितायें–दो प्रकार की होती है (चित्र– 8.2) ।

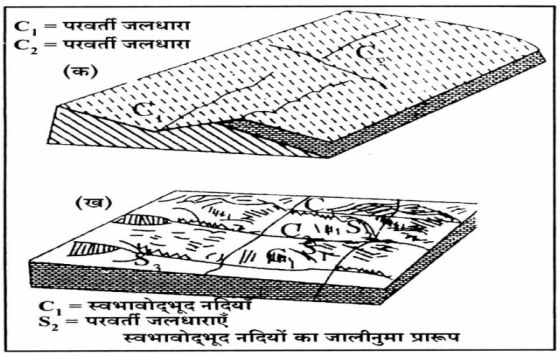

चित्र – 8.2: परवर्ती जल धारा

(ख) **परवर्ती घाटी (Subsequent valley) :** अनुवर्ती घाटियों के निर्माण के बाद ढाल के नतिलम्ब (Dip slope) के सहारे मुलायम शैलों के सहारे इनका विकास होता है । परवर्ती घाटियाँ अनुवर्ती घाटियों की सहायक होती है । प्राय : अनुवर्ती घाटियों को समकोण पर मिलती है । इसीलिए इन्हें परवर्ती सरितायें कहते हैं । बूंदी, सवाईमाधोपुर पहाड़ियों के क्षेत्र में परिवर्ती घाटियों के उदाहरण देखे जा सकते हैं ।

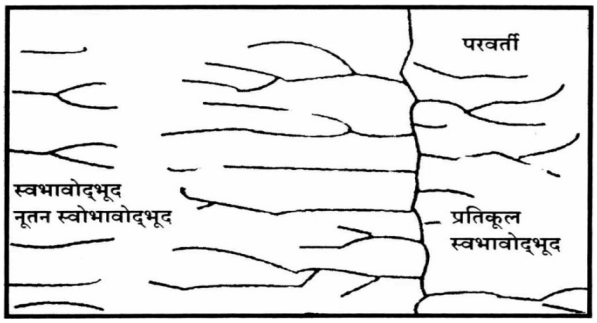

चित्र–8.3 : प्रतिकूल स्वभावोद्भूद एवं नूतन स्वभावोद्भूत

(ग) **प्रत्यानुवर्ती घाटी (Obsequent valley) :** प्रत्यानुवर्ती घाटियाँ अनुवर्ती घाटियों के विपरीत प्रतिकूल स्वभावोद्भूत या प्रतिकूल मिल जाती है । परवर्ती सरिताओं की दिशा में कटाव के कारण विकसित होती है तथा परवर्ती घाटियों के निर्माण के बाद सहायक सरिताओं का विकास होता है । सरिता अपहरण के द्वारा भी ऐसी घाटियों का निर्माण होता है । शिवालिक श्रेणियों से निकलकर उतर दिशा में प्रवाहित होने वाली सरितायें प्रत्यानुवर्ती सरितायें हैं (चित्र–8.3) ।

(घ) **नवानुवर्ती घाटी (Resequent valley) :** इनका विकास अनुवर्ती घाटियों की दिशा में ही होता है किन्तु इनका विकास निम्न उच्चावचीय स्तर पर होता है । यह घाटियां परवर्ती घाटियों से समकोण पर मिलती है । ऊपरी चट्टानीय आवरण के अपरदन के बाद नवीन संरचना के क्षेत्र में जिस घाटी का विकास होता है वह नवानुवर्ती घाटी कहलाती है ।

(ङ) **अक्रमवर्ती घाटी (Insequent valley) :** ऐसी घाटियां जिनका विकास न तो स्थल खंड की संरचना के अनुरूप हो और न ही उसके ढाल के अनुरूप हो उन्हें " अक्रमवर्ती" सरितायें कहते हैं । इन घाटियों का विकास संयोगवश ही होता है । ऐसी घाटियां आग्नेय और सजातीय परतदार चट्टानों के क्षेत्र में होता है । इटली के लोम्बार्डी एवं पो मैदान में, न्यूजीलैंण्ड के दक्षिणी द्वीप पर इसी प्रकार की प्रवाह प्रणाली दृष्टिगोचर होती है ।

(च) **अस्वभावोद्भूत घाटियाँ (Inconsequent drainage) :** यह वर्तमान ढाल के अनुरूप भी नहीं होता है और न ही पारम्परिक रूप से किसी क्रम में विकसित होता है । इसीलिए इसे अस्वभावोद्भूत घाटी कहते है । ऐसी घाटियाँ दो प्रकार की होती है (i) वे घाटियां जो भूतल के ऊपरी आवरण का अनुसरण करती है (ii) वे जो पृथ्वी के उभार की क्रिया के कारण अपनी घाटी को गहरा कर अपना अस्तित्व बलपूर्वक बनाये रखने को सक्षम हो जाती है इन्हें क्रमश : अध्यारोपित (super imposed) एवम् पूर्वोत्पन्न (Antecedent drainage system) प्रवाह तंत्र कहते है ।

(छ) **अध्यारोपित प्रवाह प्रणाली (Super imposed drainage system) :** ऐसा प्रवाह जो प्राचीन समय में जिस तल पर विकसित हुआ था वह अब अपरदन के द्वारा काटकर हटा दिया गया है और परिणामस्वरूप एक नवीन धरातलीय तल दृष्टिगत होता है । ऐसी अवस्था में ऊपरी घाटी की निचली संरचना पर आरोहण हो जाता है । अर्थात् नई सरितायें ऊपरी आवरण के अनुरूप विकसित और ऊपरी आवरण को काटती हुई पूर्व निर्मित घाटियों पर रोपित हो जाती हैं । इस प्रकार की घाटियों को अध्यारोपित घाटियाँ कहते हैं । वेस्ट और चौबे (W.D. West & Choubey) ने सागर –दमोह (मध्य प्रदेश) क्षेत्र में पूर्वारोपित घाटियों का उदाहरण दिया है । बीना नदी इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है । इस नदी में टर्शियरी काल के लावा उद्गार से निर्मित धरातल को काटकर पूर्व निर्मित अपनी घाटी का निर्माण कर लिया हैं (चित्र 8.4अ एवं ब) ।

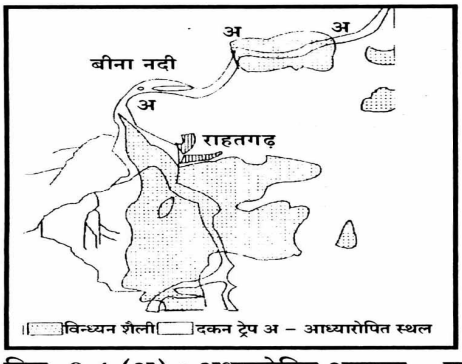

चित्र–8.4 (अ) : अध्यारोपित अपवाह – सागर म. प्र. के निकट बीना नदी

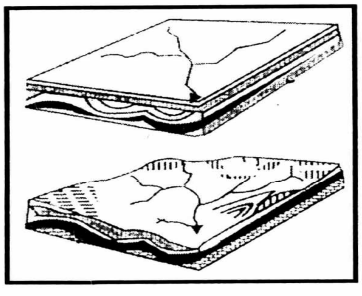

चित्र– 8.4 (ब): अध्यारोपित प्रवाह तन्त्र

(ज) **पूर्ववर्ती घाटी (Antecedent valley) :** किसी भी क्षेत्र में अपरदन की अन्तिम स्थिति

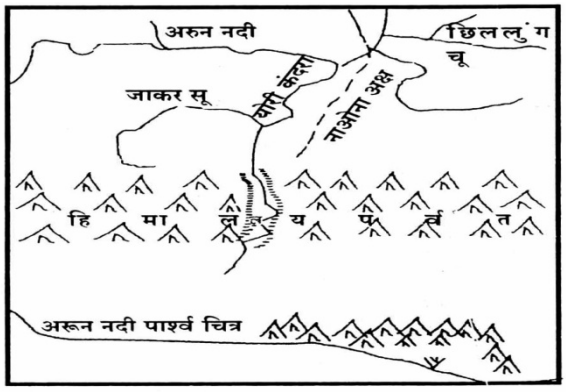

चित्र–8.5 : पूर्ववर्ती घाटी – हिमालय को काटती अरून नदी

चल रही है उसी समय धरातलीय उत्थान प्रारम्भ हो जाये तब नदी उत्थान से पूर्व की घाटी का ही लगातार कटान करते हुए उसे गहरी करती रहती है । साथ ही घाटी को उत्थान की गति के अनुरूप ही आरी की तरह काटती हुई घाटी को निरन्तर गहरी बनाती रहती है । ऐसी पूर्व निर्मित घाटी को गहनता एवं गहरा स्वरूप प्रदान करने वाली नवोन्मेष से परिपूर्ण घाटी को पूर्वोत्पन्न या पूर्ववर्ती घाटी कहते हैं । राजस्थान के दक्षिणी पूर्वी भाग में बनास नदी राजमहल के पास दो पहाड़ियों को काटती हुई अपनी गहरी घाटी बनाती है । हिमालय पर्वत से पूर्व उत्पन्न सिन्धु, ब्रह्मपुत्र एवम् सतलज नदियाँ हिमालय के उत्थान के बाद भी अपनी घाटियों को गहरा करती गई और आज इनकी घाटी में हिमालय क्षेत्र मे कहीं कहीं 3000 मीटर से भी अधिक गहरी घाटी है । ब्रह्मपुत्र नदी पूर्ववर्ती सरिता का उत्तम उदाहरण है (चित्र 8.5) ।

8.3.1 संरचनात्मक वर्गीकरण: (Structural Classification)

संरचना के नियन्त्रण के आ धार पर वर्गीकरण (Classification according to Structural Control) धरातल की संरचना : – अर्थात् चट्टानों के प्रकार, चट्टानों की प्रकृति, भ्रंश, वलन आदि के आधार पर घाटियों का निर्माण होता है । इनके नियंत्रण के अनुरूप ही घाटी बनती है । ऐसी घाटियों को निम्न भागों में बाटा जा सकता है ।

(i) एक दिग्नत घाटी (Homoclinal Valley) : इस प्रकार की घाटियों का विकास वलित चट्टान वाले कमजोर क्षेत्रों में होता है । इनके दोनों पार्श्व असमान ढाल वाले होते हैं । इनका विकास कोमल और कठोर चट्टानों के क्षेत्र में होता है ।

(ii) अपनति घाटी (Anticlinal Valley) :अपनति घाटियों का विकास अपनति के अक्ष (Axis) के सहारे तोता है । ऐसी घाटियां हिमालय पर्वत में देखी जा सकती है ।

(iii) अभिनति घाटी (Synclinal Valley) : अभिनति के अक्ष के सहारे जिन घाटियों का निर्माण होता है उन्हें अभिनति घाटी कहते है । हिमालय क्षेत्र में ऐसी घाटियाँ देखी जा सकती है ।

(iv) भ्रंश घाटी (Fault Valley) : भ्रंश के सहारे विकसित होने वाली घाटी को भ्रंश घाटी या दरार घाटी कहते है । भारत में नर्मदा एवम् ताप्ती नदियों की घाटियां भ्रंश

घाटियां ही है । (इसका निर्माण हिमालय के उत्थान के समय हुआ था ।) मृत सागर, जोर्डन नदी घाटी, न्यासा–टांगनिका घाटी भ्रंश घाटियाँ ही है ।

(v) भ्रंश रेखीय घाटी (Fault Line Valley) : भ्रंश के पूर्ण अपरदन के बाद भ्रंश रेखा के सहारे विकसित घाटी को भ्रंश रेखीय घाटी कहते हैं । अमेरिका के उतरी भाग में ऐसी भ्रंश रेखीय घाटियां पाई जाती हैं । भारत में प्रायद्वीपीय पठार के उतर में अग्र देश के सहारे प्रपात रेखा के सहारे ऐसी ही घाटियाँ पाई जाती है यथा टोंस नदी, बीहर नदी, महानदी, ओड़ा नदी, कर्मनाशा नदी पश्चिमी सुरा नदी, गोयथ नदी, धोबी नदी ऐसी ही भ्रंश रेखीय घाटियाँ हैं ।

(vi) सन्धि घाटी (Joint Valley) : विविध चट्टानों की दरारों के सहारे विकसित घाटियों को दरार या सन्धि घाटी कहा जाता है । इस प्रकार की घाटियां बहुत छोटी होती है

(vii) संरचना नियंत्रण रहित घाटियां (Discordant Valley) : ऐसी घाटियां जिनके निर्माण में संरचना का नियंत्रण नही होता उन घाटियों को संरचना नियंत्रण रहित घाटियां या अनुप्रस्थ घाटियां कहते हैं । इनमें पूर्व में वर्णित (i) अध्यारोपित एवम् (ii) पूर्वोत्पन्न प्रवाह प्रणाली की घाटियां सम्मिलित हैं ।

8.4 अपवाह प्रारूप (Drainage Patterns)

किसी भी क्षेत्र / प्रदेश के अपवाह तंत्र (नदी तंत्र) के ज्यामितीय स्वरूप तथा स्थानिक व्यवस्था को प्रवाह प्रतिरूप कहते हैं । यह प्रतिरूप उपलब्ध ढाल, संरचना, शैल क्रम, जलवायु,वनस्पति, विवर्तनिक घटनाओं आदि कारकों पर निर्भर है । इनकी भिन्नता, विविधता एवम् क्रियाशीलता के आधार पर प्रवाह प्रतिरूप भी भिन्न पाये जाते हैं ।

1. द्रुमाकृति या वृक्षाकृति प्रवाह प्रणाली (Dendritic Drainage Pattern) विस्तृत समान शैल संरचना वाले, सपाट क्षेत्र में मुख्य नदी में सहायक नदियां न्यून कोण पर इस प्रकार आकर मिलती है जैसे एक वृक्ष के तने से शाखायें एवम् प्रशाखायें आकर मिलती हैं । इसे ही वृक्षाकृति या द्रुमाकृति प्रवाह प्रणाली कहते हैं । भारत में गंगा, सिन्ध, ब्रह्मपुत्र, महानदी, गोदावरी आदि बड़ी नदियों की द्रुमाकृति प्रवाह प्रणाली ही पाई जाती है । इसे पिच्छवा कर प्रवाह प्रणाली (Pinnate Drainage) भी कहते है । इस प्रणाली में नदियां सामान्यतः अक्रमवर्ती (Insequent) होती है । मिसीसीपी मिसूरी नदी (यू.एस.ए.) द्रुमाकृति प्रवाह प्रणाली का विश्व का सबसे उत्तम उदाहरण है जो संयुक्त राज्य अमरीका के मध्य मैदानी भाग में बहती है (चित्र 8.6) ।

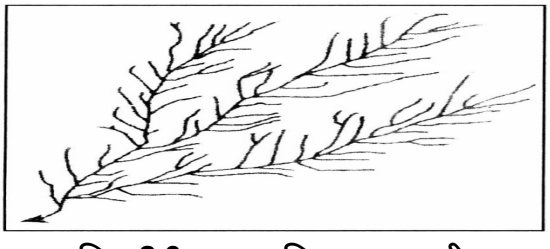

चित्र–8.6 : वृक्षाकृति प्रवाह प्रणाली

2. **संश्लिष्ट द्रुमाकृति प्रवाह प्रणाली (Compound Dendritic Drainage Pattern)** समान चट्टानीय क्षेत्र में जब सहायक नदियां कई नालों का पानी एकत्रित कर मुख्य नदी मे वृक्ष की शाखा प्रशाखाओं के समान आकर मिले और परिणामस्वरूप जो प्रवाह तंत्र उभरकर आयेगा वह संश्लिष्ट द्रुमाकृति प्रवाह प्रणाली कहलाता है । यू. के. की थेम्स नदी इसी प्रकार की प्रवाह प्रणाली का उदाहरण हैं ।

3. **जालीनुमा प्रवाह प्रणाली (Trellis Drainage Pattern) :** जालीनुमा प्रवाह प्रणाली वलित पर्वतों के क्षेत्रों में पाई जाती है । किसी क्षेत्र में कोमल और कठोर चट्टानों के समकोणात्मक रूप में पाये जाने पर उसी के अनुसार अपनतियों का जाल फैल जाता है उसी प्रकार स्वभावोदभूत परवर्ती, प्रतिकूल स्वभावोदभूत नदियां पनपती है उसे जालीनुमा प्रवाह प्रणाली कहते है । इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण जोर्डन नदी प्रस्तुत करती हैं (चित्र 8.7) ।

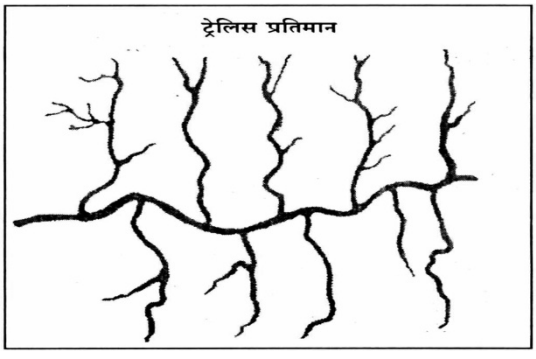

चित्र–8.7 : जालीदार प्रवाह प्रणाली

4. **वलयाकार प्रवाह प्रणाली (Annular Drainage Pattern) :** गुम्बदाकार पर्वत श्रेणियों में विशेषकर ज्वालामुखी पर्वतों मे परवर्ती नदियां त्रिकोणात्मक आकृति में इस प्रकार उसके चारों ओर प्रवाह निश्चित करती है जो ऐसा लगता है कि ये नदियां सकेन्द्रीय वृत का आभास करा रही हो किन्तु ये लगातार नहीं होती है । इनके मध्य मे थोड़ा अन्तराल (Gap) रहता है । अत : वृत पूर्ण नहीं होता । इस प्रकार के प्रवाह को वलयाकार प्रवाह तंत्र कहते है । यह तंत्र कम कठोर चट्टानीय क्षेत्र में अधिक विकसित होता है । द. डकोटा मे ब्लेक पहाड़ियों पर इसी प्रकार की प्रवाह तंत्र पाया जाता है (चित्र 8.8) ।

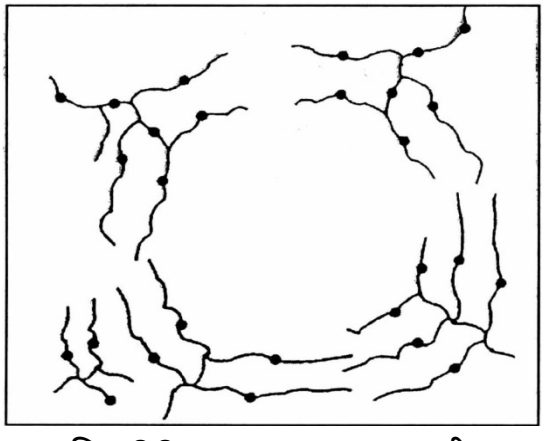

चित्र–8.8 : वलयाकार प्रवाह प्रणाली

5. **अपकेन्द्रीय या केन्द्र त्यागी प्रवाह प्रणाली (Radial Drainage Pattern) :** गुम्बदाकार पर्वतीय शिखरों एवम् ज्वालामुखीय क्षेत्रों में से चारों ओर नदियां उसी तरह से निकल कर प्रसारित होती है जैसे एक साइकिल के पहिये के केन्द्र से ताडियां चारों ओर रिम की ओर फैल जाती है । इस प्रकार के अपवाह तंत्र को ''केन्द्र त्यागी प्रवाह'' प्रणाली कहते है । माउन्ट एटल, माउन्ट हुड, माउन्ट रेनियर, माउन्ट ब्लाक आदि ज्वालामुखीय भागों में इस प्रकार का प्रवाह पाया जाता है । फ्रान्स के मध्य के पठार, बोलीविया के पठार, उटाह के हेनरी पर्वत, श्रीलंका के मध्य के पहाड़, भारत मे सौराष्ट्र, राँची का पठार, हजारी बाग का पठार, आबू पर्वत आदि स्थानों पर केन्द्र त्यागी प्रवाह प्रणाली पाई जाती है । चित्र 8. 9 राजस्थान में बांस जिले की रामगढ़ गुम्बदाकार संरचना (Ramgarh Dome) क्षेत्र अपकेन्द्री प्रवाह प्रणाली का उत्तम उदाहरण है ।

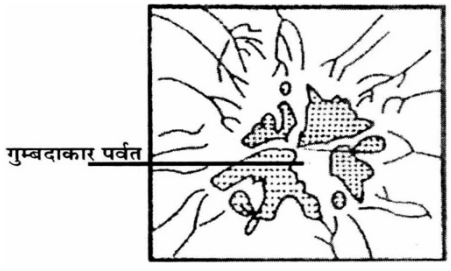

चित्र – 8.9: केन्द्र त्यागी प्रवाह प्रणाली

6. **केन्द्रोन्मुखी प्रवाह प्रणाली (Centripetal Drainage Pattern) :** जिस क्षेत्र में नदियां चारों ओर से आकर एक ही केन्द्र की तरफ आकृष्ट हो उसे केन्द्रोन्मुखी प्रवाह प्रणाली कहते है । लद्दाख, तिब्बत में इस प्रकार का प्रवाह तंत्र सामान्यता देखा जा सकता है । राजस्थान में इसका सर्वोत्तम उदाहरण, सांभर झील का है । इस प्रकार के प्रवाह को आन्तरिक प्रवाह प्रणाली (Inland Drainage Pattern) भी कहते है । इस प्रकार के प्रवाह तंत्र की सीमायें स्थल से ही घिरी रहती है । समुद्र तक यह नहीं जा पाती या समुद्र से इसका सम्बन्ध नहीं रहता है । सांभर झील में खण्डेल, खारी, मेंढा, रूपनगर, बाड़ी का नाला, तुरतमती आदि छोटी बड़ी नदियां चारों ओर का पानी लाकर झील में गिरती है (चित्र–8.10) ।

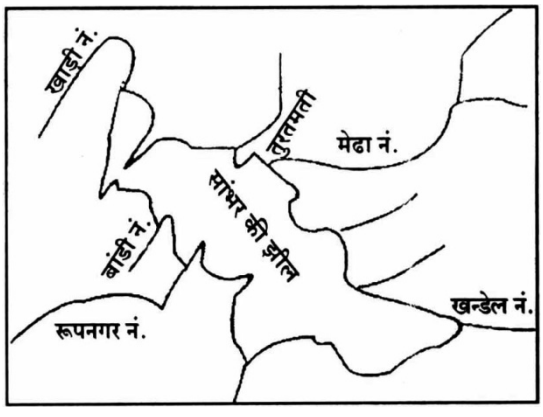

चित्र–8.10 : केन्द्रोन्मुखी प्रवाह प्रणाली

7. **आयताकार प्रवाह प्रतिरूप (Rectangular Drainage Pattern) :** जिस क्षेत्र में चट्टानों में आयताकार संधियां होती हैं, वहाँ अपरदन से नदियां आयताकार नालियों में सन्धियों के अनुरूप बहने लगती है तथा सहायक नदियां अपनी मुख्य नदी पर समकोण बनाती हुई मिलती है । इस प्रकार का जो प्रवाह उत्पन्न होता है उसे "आयताकार प्रवाह प्रणाली" कहते हैं । कोलेरोडो और ग्रीन नदियों का प्रवाह तंत्र इसी प्रकार का है । यह जालीनुमा प्रवाह तंत्र से बहुत अधिक समानता रखता है । किन्तु इन दोनों में भिन्नता का मुख्य कारण चट्टानों की आयताकार संधियां ही होती है (चित्र–8.11) ।

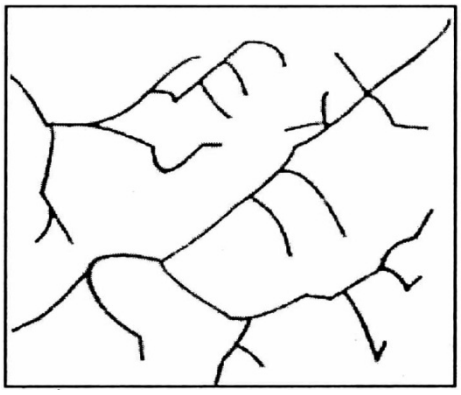

चित्र–8.11 : आयताकार अप्रवाह प्रणाली

8. **अनिश्चित प्रवाह प्रतिरूप (Indeterminate Drainage Pattern) :** जिस क्षेत्र में प्रवाह तंत्र की किसी निश्चित दिशा का स्पष्टीकरण नही हो, मुख्य नदियां एवम् सहायक नदियां एक दूसरे से गूँथी हुई हों एवम् अपवाह प्रतिरूप का निर्धारण नहीं किया जा सके उसे अनिश्चित प्रवाह प्रतिरूप या मिश्रित अपवाह प्रतिरूप या संश्लिष्ट या जटिल प्रवाह प्रतिरूप कहा जाता है । फिनलैंड की हजारों झीलों से सम्बद्ध प्रतिरूप इसका सर्वोत्तम उदाहरण हैं । प्लीस्टोसीन हिमयुग में हिमानी अपरदन से इनका निर्माण हुआ है ।
9. **विशेषात्मक या प्रच्छन्न प्रवाह प्रतिरूप (Intermittent Drainage Pattern) :** इस प्रकार का प्रवाह तंत्र रंध्र युक्त चलनी या असंगठित मलवे के क्षेत्र में नदियां कुछ दूरी पर धरातल पर दिखती हुई बहकर भूमि में अन्तर्ध्यान हो जाती है त था भूमि के नीचे ही मलबे के नीचे से बहती रहकर पुन : आगे चलकर धरातल पर प्रकट हो जाती है । ऐसे प्रवाह को विशेषात्मक प्रवाह प्रणाली या प्रच्छन्न प्रवाह प्रतिरूप कहते है । हिमालय की तलहटी में भाबर प्रदेश में नदियां इसी प्रकार का प्रवाह तंत्र विकसित करती है । यहां मच्छर, मक्खियों, बीमारियों आदि का घर होता है । किन्तु यह भूमिगत प्रवाह प्रतिरूप से भिन्न होता है । भूमिगत प्रवाह धरातल पर बाहर नही निकल पाता है और चूने के प्रदेशों में पाया जाता है ।
10. **भूमिगत जल प्रवाह (Underground Drainage Pattern)** : चूने की चट्टानों वाले या कार्स्ट स्थलाकृति वाले क्षेत्र में कठोर पानी (Hard water) की क्रियाशीलता से नदियां पृथ्वी के अन्दर ही अन्दर चलती रहती है । इन्हें अन्ध घाटियां (Blind Valleys) भी कहते

है । इनसे भूमि के नीचे विविध प्रकार की स्थलाकृतियों का भी निर्माण होता है । ऐसे प्रवाह को भूमिगत जल प्रवाह तंत्र कहते है । इसका सर्वोत्तम उदाहरण युगोस्लाविया का डालमेशीयन तट या एड्रियाटिक सागर का तट को माना जाता है ।

11. कंटकीय प्रवाह प्रतिरूप (Barbed Drainage Pattern) : प्राय : मुख्य नदी के उद्‌गम स्थान के उच्च घाटी में विपरीत दिशा से सहायक नदियों के आकर मिलने से जो हुक के समान प्रवाह प्रणाली का विकास हो जाती है उसे कंटकीय प्रवाह प्रतिरूप कहते है (चित्र 8.12) । यह नदी अपहरण (River Capture) की क्रिया द्‌वारा ही संभव होता है । ब्रह्मपुत्र एवम् सिन्धु नदी की ऊपरी घाटी की स भी तिब्बत क्षेत्र की सहायक नदियां उनके साथ इसी प्रकार की कंटकीय प्रवाह प्रणाली का उदाहरण प्रस्तुत करती है । इसमें अपहृत नदी की सहायक नदियां आती हैं (चित्र 8.12अ एवं ब) ।

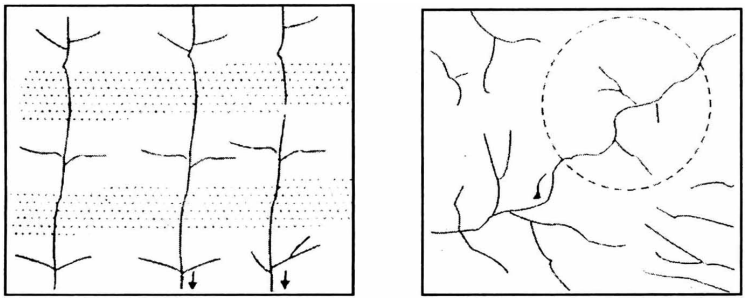

चित्र–8.12 : (अ) कंटकीय प्रवाह प्रणाली (ब) कंटकीय प्रवाह प्रणाली

12. समानान्तर प्रवाह प्रतिरूप : नवीन भू आकार या उच्चपर्वतीय श्रृंखला से जब कई स्वभावोद्भूद नदियां निकलकर एक ही दिशा में असमान दूरी पर प्रवाहित होने लगती है । तब फलस्वरूप समानान्तर प्रवाह प्रतिरूप का जन्म होता है । शिवालिक श्रेणियों से उतरी भारत के मैदान में उतरने वाली घाघरा, गंडक, कोसी आदि नदियों का प्रवाह इसी प्रकार का समानान्तर प्रवाह प्रारूप है । इसी प्रकार पश्चिमी घाटों से कई नदियाँ उतरकर सीधी अरब सागर में गिरती है । यह भी समानान्तर प्रवाह का उत्तम उदाहरण है (चित्र 8. 13) ।

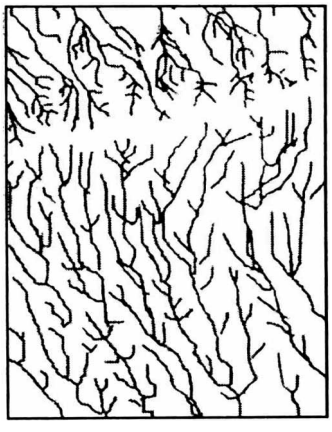

चित्र–8.13 : समान्तर प्रवाह प्रणाली

13. **शोषित प्रवाह प्रारूप (Absorved Drainage Pattern) :** चूने के प्रदेश में अधिकांशत : इस प्रकार का प्रवाह प्रतिरूप पाया जाता है । जब किसी अनुवर्ती घाटी में जल की अत्यधिक मात्रा का प्रवाह होता है तो यह मुख्य नदी घाटी को गहरा बना देती है जब कि साथ की दूसरी नदियां घाटी का कम कटाव करती हैं । परिणामस्वरूप बड़ी नदी ऊपरी सहायक नदी के पानी को सोखना शुरू कर देती है । जमीन की रंध्रता के कारण पानी जमीन में प्रवेश कर जाता है जिसे ढाल की ओर की घाटी सोखकर प्रवाहित होने लगती है। ऐसी नदियां शोषित नदियां कहलाती हैं । डालमेशीयन तट, इंडियाना, पंचमढी (भारत) क्षेत्र आदि में इस प्रकार के उदाहरण पाये जाते हैं ।
14. **परनुमा प्रवाह प्रारूप (Pinnate Drainage Pattern) :** इस प्रकार का प्रवाह प्रतिरूप खड़े ढाल वाली श्रेणियों से घिरी हुई संकरी तिरछी घाटियों, अनुदैर्ध्य घाटियों वाली श्रेणियों के तीव्र ढालों से निकलकर सरितायें प्रधान अनुदैर्ध्य स्वभवोद् सरिता से न्यून कोण पर मिलती है । परिणामस्वरूप पक्षी के पंखनुमा प्रवाह को जन्म मिलता है । ऐसे अपवाह प्रतिरूप को परनुमा प्रवाह प्रतिरूप कहते हैं । ऊपरी सोन नदी एवम् चम्बल का प्रवाह ऊपरी घाटी में 'परनुमा प्रवाह प्रतिरूप '' का उत्तम उदाहरण है ।
15. **हेरिंग हड्डी प्रवाह प्रतिरूप या पसली प्रतिरूप (Herringbone Drainage Pattern or Rib Pattern)** : इस प्रकार का प्रवाह प्रतिरूप तेज ढाल वाली पर्वत श्रेणियों के मध्य चौड़ी एवम् दूर तक फैली घाटियों के मध्य होता है । इसमें पहले अनुदैर्ध्य समानान्तर घाटियों में प्रधान अनुदैर्ध्य अनुवर्ती नदियों का विकास होता है । तत्पश्चात् पर्वत श्रेणियों के किनारे के ढालों से पार्श्ववर्ती अनुवर्ती सरितायें (Lateral Consequent Streams) निकलकर प्रधान अनुवर्ती नदी से लगभग समकोण पर मिलती हैं । ऐसे विकसित प्रवाह प्रतिरूप को हैंरिंग हड्डी प्रवाह प्रतिरूप या पसली प्रतिरूप कहते है । इसका उदाहरण झेलम एवम् व्यास नदी की ऊपरी घाटी में विकसित हुआ है । हिमालय पर्वत श्रेणियों में पश्चिम पूर्व दिशा में विस्तृत घाटियों में पसली प्रवाह प्रारूप का समुचित विकास हुआ है ।

8.4.1 नदी अपहरण (River Capture)

जब कोई भी एक प्रधान या विशाल नदी दूसरी पड़ौसी नदी या सहायक नदी का जल अपहृत कर लेती है तब उस अवस्था को नदी अपहरण (River Capture) कहते है या (River Piracy) सरिता हरण कहते है। जिस नदी के पानी का अपहरण होता है उसे अपहृत सरिता (Captured Stream) तथा अपहरण करने वाली सरिता को अपहरणकर्ता सरिता (Capture Stream) कहते है। अपहृत नदी का पानी दूसरी नदी में आ जाता है। अत: वह प्राय: सूख जाती है इसलिए उसे रुंडित नदी (Beheaded River) भी कहते है (चित्र–8.14) ।

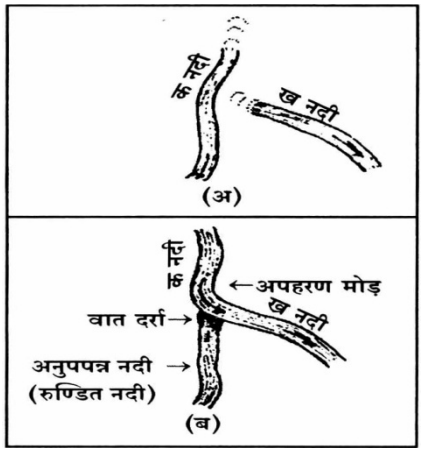

चित्र–8.14 : नदी अपहरण

नदी अपहरण के कारक: – नदी अपहरण के लिए निम्न कारक उत्तरदायी है : –

(क) युवावस्था में अधिकांश नदी अपहरण होते हैं । क्योंकि (i) मुख्य नदी में ढाल तेज होता है (ii) सहायक नदियों की संख्या अधिक होती है (iii) पानी की आवक अधिक होती है (iv) नदी शीर्ष अपरदन अधिक करती है । (v) पानी की गति तेज होती है । जब कि अपहृत होने वाली नदी में ऐसे कारक नही पाये जाते । इसके अलावा प्रौढ़ावस्था एवम् वृद्धावस्था में भी नदी अपहरण कभी–कभी हो जाता है ।

(ख) मुख्य नदी की गहराई, संरचना का शैल स्वभाव एवम् नदी के अपहरण चक्र की अवस्था भी इसके लिए उत्तरदायी कारक हैं । यदि मुख्य नदी गहरी होगी, मुख्य नदी की घाटी की शैल संरचना अपेक्षाकृत कोमल होगी अपरदन चक्र की प्रारंभिक अवस्था होगी तब नि:संदेह मुख्य नदी शीर्ष अपरदन कर जल विभाजक रेखा के पार बहने वाली नदी का पानी अपहृत कर लेगी और दूसरी नदी रूण्डित (Beheaded) हो जायेगी ।

(ग) मुख्य नदी की घाटी की चौड़ाई कम हो ताकि जब घाटी को आरी की भाँति काटता हुआ शीर्ष अपरदन कर तथा दूसरी ओर की निर्बल नदी जिसकी गति मन्द हो, कम जल युक्त हो उसका पानी मुख्य नदी द्वारा अपहृत होगा ।

(घ) मुख्य नदी की धारा में अवसाद (Sediments) की मात्रा कम होनी चाहिए ताकि शीर्ष अपरदन अनवरत रूप से हो सके । अन्यथा तलछट की मात्रा अधिक होने से अपरदन में रूकावट आना स्वाभाविक है । फलतः नदी अपहरण की क्रिया या तो मन्द होगी या होगी ही नहीं । शीर्ष अपरदन द्वारा ही अधिकांश नदी अपहरण होता है । प्रत्येक नदी अपने शीर्ष की ओर अपरदन करती हुई अपनी लम्बाई को बढाती रहती है । फलतः जल विभाजक रेखा पीछे हटती जाती है । किसी भी जल विभाजक के दोनों ढाल समान स्वभाव वाले नहीं होते हैं । यदि एक ढाल दूसरे की अपेक्षा अधिक तीव्र हो और वहां पर मुलायम चट्टानें हो तो इस ढाल पर से निकलने वाली नदी का तल दूसरे ढाल वाली नदी की अपेक्षा अधिक नीचा होगा । परिणामस्वरूप प्रथम नदी की अपरदन शक्ति दूसरी कीं अपेक्षा अधिक होगी । निम्न तल वाली नदी जल विभाजक की ओर अधिक कटाव करती है । फलतः जल विभाजक पीछे खिसकता है । खिसकते खिसकते एक स्थिति ऐसी आती

है कि प्रथम नदी का उद्‌गम स्थल दूसरी नदी से मिल जाता है । प्रथम नदी का तल नीचा होने के कारण द्‌वितीय नदी का पानी प्रथम नदी में प्रवाहित होने लगता है । इस तरह पानी का अपहरण हो जाता है (चित्र 8.14) । जिस नदी के पानी का अपहरण होता है वह अपहृत सरिता या रूण्डित सरिता कहलाती है ।

सरिता अपहरण प्रौढ़ावस्था में पार्श्ववर्ती कटान द्‌वारा भी होता है । इसी प्रकार नदी विसर्पो (Meanders) के अन्त भेदन द्‌वारा भी अपहरण होता है । भ्रंशन क्रिया द्‌वारा भी सरिता अपहरण होता है । राजस्थान में गंभीर नदी मे ग्रेट बाउन्ड्री फाल्ट के कारण बाणगंगा नदी का अपहरण कर उसे रूण्डित नदी बना दिया गया है जो भ्रंशन की क्रिया से होने वाले नदी अपहरण का सर्वोत्तम उदाहरण है ।

बेमेल सरिता (Misfit Stream) : कुछ नदियां अपनी घाटी के आकार की तुलना में संतुलित नहीं होती । ऐसी सरिताओं को बेमेल सरितायें कहते है । यदि किसी नदी के मोड़ घाटी की तुलना में बहुत अधिक छोटे होते है तो ऐसी नदियों को डेविस महोदय ने अण्डरफिट (Underfit) तथा जो आकार में बड़ी होती है उन्हें ओवर फिट (Overfit) कहा है । बेमेल सरितायें सामान्यतः सरिता अपहरण तथा सरिता प्रवाह बदलने के कारण होती है । इसके अलावा जो क्षेत्र हिम नदी में प्रभावित है उनमें पानी की मात्रा बढ़ जाने के कारण सरिताओं का आयतन भी बढ़ जाता है । हिम के पानी के रूप में प्रवाहित होने के कारण ग्रीष्म में नदियों में पानी की मात्रा बढ़ जाती है किन्तु पानी के प्रवाहित हो जाने पर सरितायें शुष्क हो जाती है । ऐसे क्षेत्र में सामान्यतः सरितायें अन्डरफिट होती है ।

8.4.2 सरिता मार्ग परिवर्तन (Shifting of River Course)

वर्षा काल में या अन्य कारण से नदियों में बाढ़ के पानी से या अत्यधिक पानी अचानक आने से नदी मार्ग अवरोधित हो जाता है । इसके अलावा अधिक मात्रा में तलछट जमा होने से सरिता अपना मार्ग परिवर्तन कर लेती है । परिणामस्वरूप एक विस्तृत बाढ़ के मैदान या बाढ़ की पेटी का निर्माण हो जाता है । मिट्टी नदी के पेटे के पास काबीज बन जाती है एवं उपजाऊ हो जाती है । इसके विपरीत बाढ़ या जल प्लावन से गांव के गांव अचानक ही जलमग्न हो जाते हैं । जन धन की अपार हानि होती है । गांव के गांव नष्ट हो जाते है । मृदा अपरदन होता है । करोड़ों की फसल भी चौपट हो जाती है । इसीलिए हवांगहों या पीली नदी को चीन का दुःख (sorrow of China) कहा जाता है ।

दामोदर घाटी को बंगाल का दुःख (sorrow of Bengal) कहा जाता है। कोसी नदी भी मार्ग परिवर्तन के कारण उतर भारत में कुख्यात है (चित्र 8.15) ।

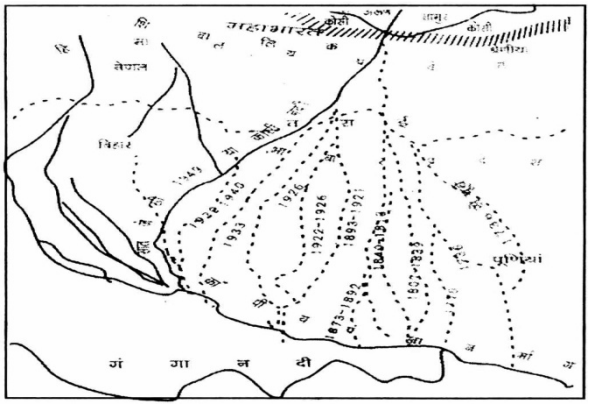

चित्र–8.15 : कोसी नदी का मार्ग परिवर्तन (1949)

8.5 नदी के कार्य (Work of River)

जब वर्षा का पानी नियंत्रित रूप से एक चैनल में या किसी निश्चित धारा के रूप में ढाल के अनुरूप गुरुत्वाकर्षण के कारण प्रवाहित होता है उसे सरिता या नदी कहते हैं। डब्ल्यू.एम. डेविस महोदय ने नदी के कार्यों के लिए प्रभावी कारकों में संरचना (structure) प्रक्रम (process) एवम् अवस्था (stage) तीन तथ्यों को प्रधान माना है। अर्थात् नदी का कार्य निहित भूतल की संरचना, प्रक्रम या बहिर्जात बल तथा कौनसी अवस्था यथा–युवावस्था, प्रौढावस्था या वृद्धावस्था है उसी को आधार माना है।

नदियां प्राय: तीन प्रकार के कार्य करती है :

(i) अपरदन (Erosion)

(ii) परिवहन (Transportation)

(iii) निक्षेपण (Deposition)

उपयुक्त तीनों कार्य एक दूसरे से सनद्ध हैं तथा पूरक कहें जा सकते है। नदी अपने उक्त प्रकार के सभी कार्यों को अवस्था के अनुरूप पूर्ण करती है। अर्थात् नदी की तीन अवस्थायें प्रो. डेविस ने बताई है।

(i) युवावस्था (Young)

(ii) प्रौढ़ावस्था(Mature Stage)

(iii) वृद्धावस्था (Old Stage)

इन तीनों अवस्थाओं मे नदी विविध कार्य अवस्थानुरूप करती है जिसका विवरण निम्नानुसार है-

नदी के कार्य

अपरदन (Erosion)	परिवहन (Transportation)		निक्षेप (Deposition)	
यांत्रिक (Mechanical)	रासायनिक (Chemical)	घुलीयावस्था	अधरावस्था	तलीयावस्था
अपपत्रण	घिसाव	ह्रास	घुलाव	

नदी के अवस्थानुरूप कार्य

युवावस्था (Young)	प्रौढ़ावस्था (Mature Stage)	वृद्धावस्था (Old Stage)
वी आकार की घाटी	कांपीय शंकु	डेल्टा
सहायक नदियाँ	कांपीय पंखे	त्रिकोणाकार डेल्टा
जल प्रपात	नदी के मोड़	पक्षीपदनुमा डेल्टा
नदी अपहरण	गोखुरनुमा झीलें	कुस्पाट डेल्टा
नदी सोपान	नदी का मार्ग बदलना	एस्चुरी
क्षिप्रिकाएँ	बाढ़ के मैदान	उपनदिया Distributaries)
गहरी घाटी या गार्ज	उन्नत कगार	मोनेड नाक
महाखड्ड या तंग गहरी घाटी (केनियन)	कांपीय नदी	समप्राय: मैदान
झील	याजू नदी	
लटकते पर्वत प्रक्षेप	दलदल	
	तलवर्ती भूमि	

नदी का अपरदन कार्य (Erosional Work of river) : नदी के अपरदन कार्य को निम्न कारक प्रभावित करते है ।

(I) ढाल प्रवणता (Slope Gradient) : नदी का सबसे महत्वपूर्ण कार्य तली एवम् आसपास की घाटी तथा बेसीन क्षेत्र में अपरदन का कार्य है । इस कार्य से घाटी में विविध भू आकारों का जन्म होता है । नदी अपरदन से तली तथा पार्श्व दोनों को ही परिवर्तित करती है । नदी का वेग ढाल प्रवणता, (Slope Gradient) और पानी की गति (Stream velocity) पर अधिक निर्भर करता है । इसीलिए पर्वतीय क्षेत्र में अपरदन तीव्र गति से तथा विपुल मात्रा में होता है । नदी के वेग एवम् अपरदन शक्ति में वर्ग का अनुपात होता है ।

(II) पानी की मात्रा (Volume of water) : नदी में पानी की मात्रा अपरदन को प्रभावित करती है । यदि नदी में पानी की मात्रा अधिक है तो कटाव भी अधिक होगा तथा बोझ भी अधिक प्रवाहित होगा । नदी में पानी की मात्रा उस क्षेत्र में होने वाली वर्षा पर निर्भर करती है । बरफीले क्षेत्रों में हिम के पिघलने से ग्रीष्म काल में पानी की मात्रा अधिक बढ़ जाती है और तदनुसार अपरदन होता है । मरूस्थलीय क्षेत्रों में वर्षा कम होने के कारण सामान्यतः नदियाँ वर्षा के दिनों को छोड़कर शुष्क रहती है । यदा कदा भारी वर्षा होने से मरूस्थलीय नदियों मे बाढ़ आ जाती है तथा अत्यधिक कटाव कार्य होता है ।राजस्थान में लूनी तथा उसकी सहायक नदियों में वर्षा ऋतु में अधिकतर ऐसा होता है ।

(III) संरचना (Structure) : नदी की अपरदन क्रिया उस क्षेत्र की शैल संरचना पर भी निर्भर करती है । यदि मार्ग में पड़ने वाली चट्टानें कोमल रंध्रयुक्त, तथा असंगठित है तो कटाव का कार्य शीघ्र, अधिक और प्रभावशाली होगा । अन्यथा कम होगा ।

(IV) प्रवाहित तलछट का प्रकृति एवम् मात्रा (Nature and Volume of Load) : प्रवाहित तलछट की मात्रा अधिक होने से भी अपरदन कम होगा क्यों कि अधिक तलछट अपरदन

की क्रिया को अवरूद्ध या कम कर देगा । यदि तलछट (लोड) कम है तो सामान्य रूप से ही अपरदन कम होगा । यह सामान्य अपरदन की क्रिया का द्योतक है । अत : संतुलित मात्रा में वहन योग्य तलछट से ही अधिक अपरदन होता है ।

अपरदन के विविध रूप (Forms of Erosion) अपरदन यांत्रिक एवम् रासायनिक दोनों प्रकार का होता है ।

(i) यांत्रिक अपरदन (Mechanical erosion) में नदी ढाल की तीव्रता, पानी की मात्रा, लोड की मात्रा आदि से तली में तोड़–फोड़ होती है तथा पत्थर, बट्टड़, बोल्डर, कंकड़, बजरी, रेत, काँप आदि का क्रमवत जमाव होता है । यह यांत्रिक अपरदन कहलाता है ।

(ii) रासायनिक अपरदन (Chemical erosion) : नदी अपनी घाटी एवम् पार्श्वों तथा बेसीन में पानी की घुलनशीलता के कारण कोमल, घुलनशील चट्टान को घुलाकर बहाकर ले जाती है तथा इस प्रकार रासायनिक अपरदन होता रहता है । चूने की चट्टानों में पानी मे चूना घुलकर कठोर पानी (Hard water)बन जाता है तथा विस्तृत पैमाने पर अपरदन करता है ।

इसके अलावा घर्षण, सन्निघर्षण, जलगति क्रिया आदि द्वारा भी अपरदन होता है जिसका उल्लेख पीछे के पृष्ठों में कर दिया गया है ।

नदियों का परिवहन कार्य (Transportation work of Rivers)

अपरदन, अपक्षय और द्रव्यमान संचलन द्वारा नदियाँ कटे फटे क्षेत्र से, पार्श्वों से एकत्रित मलवे को अपनी क्षमतानुसार प्रवाहित कर आगे नीचे की घाटी में ले जाती है । इस कार्य को परिवहन कहते है । नदी की परिवहन शक्ति पानी की मात्रा, बोझ का आकार, और वेग या ढाल प्रवणता पर निर्भर करती है । गिलबर्ट (1959) महोदय ने लिखा है कि यदि नदी के वेग को दुगुना कर दिया जावे तो नदी की परिवहन शक्ति 64 गुनी अधिक हो जायेगी । गिलबर्ट महोदय ने इस सिद्धान्त को गिलबर्ट का छठी शक्ति का सिद्धान्त (Gilbert's Sixth Power Law) कहा है ।

नदी परिवहन के विविध स्वरूप

(i) लुढ़कना (Traction) : नदी की तलहटी में या तली में अपरदन से प्राप्त कंकड पत्थर, बालू बटटड, संपिडाश्म, गोलाश्म नदी की तली में उछलते, कूदते, लुढकते, आपस में टकराते तली से घर्षण करते हुए या फिसलकर एक स्थान से दूसरे स्थान को चलते रहते हैं । फलतः तली का और पार्श्वों का अपरदन होता रहता है ।

(ii) उत्परिवर्तन (Saltation) : नदी में अपरदन लोड तली में उछलता कूदता चलता है । तली या पार्श्वों पर स्पर्श कर पुन : उछलता कूदता है । इस प्रकार अपरदन की क्रिया को बढ़ाता है इसे ही उत्परिवर्तन की क्रिया कहते हैं ।

(iii) लम्बन या लटकने की क्रिया (Suspension) : नदी में अपरदित बालू रेत के कण न तो तली में लुढ़कते चलते है, और न ही कूदते फांदते चलते है । वरन् नदी के पानी के साथ–साथ बीच में लटकते हुए चलते है । इस प्रकार पदार्थ अधिक दूरी तक प्रवाहित हो जाते है। प्लवन शीलता के नियम (Law of Buoyancy) के कारण इन कणों का बोझ कम हो

जाता है और मध्यम श्रेणी का तलछट पानी में लटकते हुए बहने लगता है । मिसीसिपी नदी के बोझ का 9०4 भाग लटकन विधि के रूप मे ही प्रवाहित होता है । लूनी नदी में भी वर्षा ऋतु में अधिकांश बोझ लटकन विधी से ही स्थानान्तरित होता है ।

(iv) घोलीकरण (Solution) : नदी मार्ग में यदि कोई शैल संरचना पानी मे घुलने योग्य होती है तब वह पानी में घुलकर पानी के साथ बह जाती है । चूने के क्षेत्रों में ऐसा अधिक होता है ।

नदियों का निक्षेपात्मक कार्य (Depositional work of Rivers)

जब नदियों मे अपरदित लोड की मात्रा उसकी वहन शक्ति से अधिक हो जाती है तब नदी उस सामग्री को बहाकर नही ले जा सकती है और वहीं जमा देती है या निक्षेपित कर देती है । निक्षेपण का कार्य रचनात्मक है तथा मानव की आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करने वाला है । निक्षेपण की क्रिया निम्न कारणों से संभव होती है ।

8.5.1 अपरदन से निर्मित भू आकार (Erosional Landforms)

युवावस्था (Young Stage)

नदी के अपरदन कार्य द्वारा मुख्यत : निम्न भू आकारों को जन्म मिलता है ।

1. **'वी' आकार की घाटी ('V' shaped Valley) :** सामान्यतः जल द्वारा प्रवाह से नदी घाटी का कटाव तली में आरी के समान कटाई कर गहरा बना देती है । ऐसी नीचे से तंग तथा ऊपर से खुली घाटी अंग्रेजी के अक्षर 'ची' के आकार की कहलाती है । यह सभी नदी घाटियों में युवावस्था मे या पर्वतीय क्षेत्रों में समान रूप से पाई जाती है । यह आकार प्रौढ़ावस्था एवम् वृद्धावस्था मे क्रमश : सपाट होता जाता है । जब नदी अपनी युवावस्था में होती है तब नदी घाटी का आकार अंग्रेजी के 'V' अक्षर के समान होता है । इस अवस्था में नदी अपनी घाटी को गहरा करती है । अलकनन्दा, भागीरथी, मंदाकिनी की घाटियाँ 'V' आकार की ही है । तलहटी इस अवस्था में आरी के समान बहते पानी द्वारा कटती जाती है तथा पार्श्वों का कटाव धीमा होता है । ज्यों–ज्यों घाटी का विकास होता है त्यों–त्यों लम्बवत कटाव की अपेक्षा पार्श्ववर्ती कटाव बढ़ता जाता है । परिणामस्वरूप नदी घाटी चौड़ी होती जाती है ।

2. **गार्ज या महा खड्ड (George) :** महा खड्ड या गार्ज बहुत गहरी घाटी होती है । इसकी दीवारों का ढाल लगभग समकोण पर दिखाई देने लगता है । गार्ज का निर्माण कभी कभी जल प्रपातों के पीछे खिसकने से भी हो जाता है । रांची पठार पर हुडरू घाघ जल प्रपात के नीचे स्वर्ण रेखा नदी ने, जोन्हा जल प्रपात के नीचे रारू नदी ने, दासम घाघ प्रपात के नीचे रांची नदी ने, संकरे महाखड्ड का निर्माण किया है । संयुक्त राज्य अमेरिका की कोलारेडो नदी की गार्ज सुप्रसिद्ध है । सिन्धु सतलज एवम् ब्रह्मपुत्र नदी की ऊपरी घाटी के गार्ज दर्शनीय है । नर्मदा नदी की भेडाघाट गार्ज, केन नदी की गार्ज, चम्बल की गार्ज भी महाखड्ड के उत्तम उदाहरण है ।

3. **केनियन या गंभीर खड्ड (Canyon) :** महा खड्ड का विस्तृत एवम् गहन स्वरूप ही केनियन कहलाता है । गार्ज एवम् केनियन में अन्तर स्पष्टतः गहराई एवम् संकरेपन का ही होता. है । केनियन अधिक संकरी एवम् अधिक गहरी होती है । ऊपर से देखने पर नदी की तली यदा कदा ही दिखाई देती है । नीचे अंधेरा छा जाता है । तली एक पतली रेखा के समान दिखाई देती है । संयुक्त राज्य अमेरिका मे कोलारेडो नदी की ग्रान्ड केनियन विश्व भर में प्रसिद्ध है । इसका निर्माण प्लीस्टोसीन हिमयुग में उत्थान एवम् साथ ही नदी द्वारा लगातार उभरते भू आकार का आरी के समान लम्बवत कटान करने के फलस्वरूप हुआ है । इस केनियन की गहराई 2083 मीटर है तथा लम्बाई 483 किलोमीटर है ।
4. **सहायक नदियाँ (Tributaries) :** नदी को वृहत स्वरूप प्रदान करने हेतु उसकी घाटी में चारों ओर से पानी एकत्रित कर छोटे छोटे नाले कई नालों से मिलकर छोटी नदियाँ बन जाती है वे मुख्य नदीं में उसकी शाखा प्रशाखाओं के समान आकर गिरती है । ये दोनों ओर से आकर गिरने वाली छोटी नदियाँ ही सहायक नदियां कहलाती है । ऊपरी घाटी में जैसे मन्दाकिनी, अलकनन्दा, भागीरथी आदि नदियां गंगा की युवावस्था सहायक नदियां हैं । मध्य गंगाघाटी में घाघरा, गन्डक, कोसी, स्वर्णरेखा, कर्मनाशा आदि सहायक नदियाँ है । ये नदियाँ अधिकांशत : प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवम् पंचम आदेश तक की होती है ।
5. **जल प्रपात (Water falls) :** नदियों का पानी जब अधिक ऊँचाई से तीव्र ढाल के ऊपरी भाग के सहारे से नीचे गिरता है तब उस लम्बवत गिरते हुए पानी को जल प्रपात' कहते हैं। यह प्रकृति का एक अद्भुत, सुन्दर और अविस्मरणीय नजारा होता हैं (चित्र–816) । जल प्रपात का निर्माण नदी मार्ग में पड़ने वाली कोमल और कठोर चट्टानों के स्तर के फलस्वरूप होता है ।

जल प्रपातों का वर्गीकरण : – जल प्रपात कई तरह के होते है । यथा:

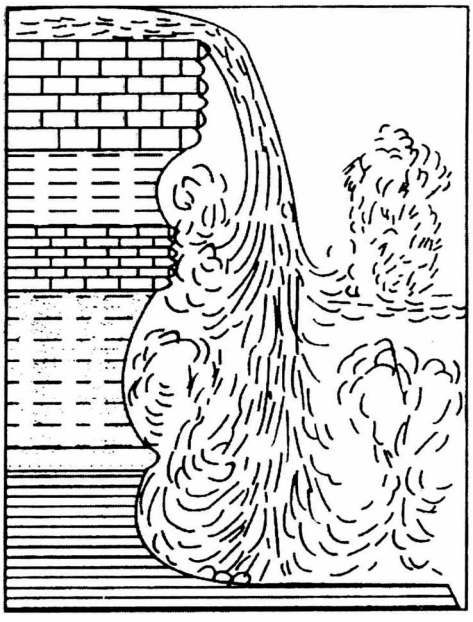

चित्र–8.16 : जल प्रपात

(i) पठारी जल प्रपात :जो पठार पर चट्टानों के स्तर एवम् स्वभाव के अनुसार बने होते हैं। लिविंग्सटन जल प्रपात इसका उदाहरण हैं ।

(ii) सोपानी जल प्रपात : जब नदी मार्ग में एक के बाद एक कई जल प्रपातों का निर्माण सोपानी रूप में करती है तो उन्हें सोपानी जल प्रपात कहते हैं । मिश्र की नील नदी में ऐसे प्रपात (Cataract) पाये जाते है ।

(iii) भ्रंश प्रपात : नदी मार्ग में भ्रंश क्षेत्र हो तो कठोर शैलवाला भाग ऊपर उठ जावे तथा कोमल चट्टान वाला भाग नीचे घँसक जावे तो भ्रंश कगार एवम् भ्रंश प्रपात का निर्माण होता है । जेम्बेजी (अफ्रीका) नदी पर निर्मित विक्टोरिया प्रपात इसका उत्तम उदाहरण है । यह 110 मीटर ऊँचा है ।

(iv) महादेश रचना द्वारा निर्मित प्रपात (Waterfall formed due to epeirogenic movements) : जब किसी क्षेत्र में महादेश रचना द्वारा स्थानीय उत्थान सम्पन्न हो जावे तो नदियों के ढाल में उत्थान के कारण परिवर्तन हो जाता है । फलतः नदी का पानी उठे हुए भाग से नीचे गिरने लगता है परिणामत : प्रपात का जन्म होता है । ऐसे प्रपात स्थायी नहीं होते । जैसे –जैसे नदी अपनी तलहटी को पूर्व तल तक काट कर बहने लगती है तब इस प्रकार के जल प्रपात स्वमेव ही समाप्त हो जाते है । उदाहरणार्थ दक्षिणी पलामू उच्च भाग के एस्कार्पमेंट के सहारे साफी नदी पर गोबरदोहा नदी पर, धरधारी नदी पर लगभग 6 से 20 मीटर ऊँचे जल प्रपात इसी तरह के है ।

(v) सहायक नदी की घाटी में निर्मित जल प्रपात : स्थलाकृति विषमता के कारण मुख्य नदी से सहायक नदी के मिलन स्थल पर जल प्रपात का निर्माण हो जाता है, क्यों कि मुख्य नदी अपनी घाटी को तीव्रता से गहरा कर देती है जब कि सहायक नदी घाटी को तीव्रता से गहरा नहीं कर सकती । परिणामस्वरूप दोनों के तलों मे अन्तर रहता है । इसी अन्तर के कारण सहायक नदी का पानी मुख्य नदी में प्रपात की तरह गिरता है । चम्बल नदी में कनजारडा पठार से मिलने वाली नदी लगभग 25 मीटर का प्रपात बनाती है । गंगा की सहायक रारू नदी 25.9 मीटर ऊँचे जल प्रपात का निर्माण करती है इसी प्रकार हिमानी की मुख्य घाटी में लटकती घाटी भी जल प्रपात का निर्माण करती है । ऐसे प्रपात नार्वे, स्वीडन, फिनलैण्ड, कनाडा में पाए जाते है ।

(vi) सरिता अपहरण द्वारा निर्मित जल प्रपात (Fall due to river capture) : जब ऊँचे भाग से शीर्ष अपरदन द्वारा निचले भाग मे नति के सहारे बहने वाली नदी का अपहरण हो जाता है तो अपहरित नदी उच्च भाग से अपहरणकर्ता नदी में मिलती है । फलतः अपहरित नदी का पानी ऊँचाई से गिरकर जल प्रपात का निर्माण करता है ।

(vii) निक बिन्दु प्रपात (Nick Point Fall) : जब सरिता अपरदन द्वारा अपने क्रम (Graded) को प्राप्त कर लेती है तब उसकी नतोदार परिच्छेदिका क्रमबद्ध हो जाती है । इस बीच यदि भू भाग का उत्थान हो जावे या समुद्र तल नीचे गिर जावे तब नदियों में नवोन्मेष की क्रिया प्रारंभ हो जाती है । लम्बवत कटाव की क्षमता बढ़ जाती है । परिणामत : लम्बवत परिच्छेदिका में व्यवधान आ जाता है । पहले वाला

ढाल निर्मित ढाल से ऊँचा होता है । अत : नदी जल प्रपात बनाती हुई नीचे उतरती है। ढाल के इस परिवर्तन बिन्दु को निक बिन्दु कहा जाता है । स्वर्ण रेखा नदी पर हुण्डरूघाघ जलप्रपात (76.67 मी.ऊँचा) जोन्हा या गौतमधारा प्रपात, जबलपुर के पास नर्मदा पर धुआंधार जल प्रपात इसके उत्तम उदाहरण हैं ।

(ix) नदी मार्ग में अवरोध से उत्पन्न जल प्रपात (Falls due to blocking of River course) : कभी–कभी नदियों के मार्ग में लावा प्रवाह भूकम्प, भू –स्खलन, हिमोढ निक्षेपण से अवरोध उत्पन्न हो जाता है तब अस्थाई जल प्रपातों का निर्माण हो जाता है ।

(x) जल प्रपातों का पीछे खिसकना तथा नीचे होना (Receding and lowering of water falls) : उक्त वर्णित सभी जल प्रपात शीर्ष अपरदन से पीछे खिसकते जाते है तथा नीचे भी होते जाते है । इनका पीछे खिसकना चट्टान की प्रकृति एवम् नदी वेग पर निर्भर करता है । विश्व प्रसिद्ध नियाग्रा (यू.एस.ए.) जल प्रपात प्रतिवर्ष 1 से 1.2 मीटर की दर से पीछे खिसक रहा है जो अब तक लगभग 11.2 किलोमीटर पीछे खिसक चुका है ।

6. **भारत की प्रपात रेखा (Waterfall line of India)** : हमारे देश में प्रायद्वीपीय पठार के उत्तर में अग्रदेश के सहारे प्रपात रेखा पश्चिम मे टोस नदी रीवा के पुखा प्रपात से प्रारम्भ होकर, पूर्वी बिहार में सासाराम तक फैली है । टोस की सहायक बीहर नदी पर चचाई जल प्रपात (127 मीटर), महानदी पर केवटी जल प्रपात (98 मीटर), ओडा नदी पर ओडा जल प्रपात (195 मीटर), रोहताश पठार पर कर्मनाशा नदी पर देवदरी प्रपात (80 मीटर) गोयथ नदी पर ओरवीरयन प्रपात (90 मीटर), धोबी नदी पर धुआं कुण्ड जल प्रपात (30 मीटर) गया घाट नदी पर रकीम कुण्ड जल प्रपात (168 मीटर) आदि प्रमुख है । उपर्युक्त सभी प्रपात भारत की प्रपात रेखा का निर्माण करते हैं । देश के अन्य प्रमुख प्रपातों में कावेरी का शिवा समुद्र जल प्रपात, नर्मदा नदी का धुआंधार जल प्रपात, चूलिया जल प्रपात, राहिल्ला फाल्स मेनाल जल प्रपात, महादेव जल प्रपात, रूद्रा फाल्स आदि प्रमुख है ।
7. **लटकते पर्वत प्रक्षेप (Over hanging spurs):** यह सर्व विदित है कि नदी पर्वत प्रदेश में अत्यधिक टेढा–मेढा मार्ग बनाकर चलती है क्योंकि पहाड़ी क्षेत्रों में नीचे के ढाल एवम् पर्वत प्रक्षेप का विस्तार आपस में गुथा रहता हैं । नदी की घाटी में खड़े रहकर ऊँचाई पर देखने से ऐसे पर्वत प्रक्षेप देखे जा सकते हैं । ये पर्वत प्रक्षेप नदी की गहरी घाटी के साथ मिलकर नदी को शीघ्र नजरों से ओझल कर देते है । हिमालय क्षेत्र मे गंगा नदी, अलकनन्दा मन्दाकिनी, भागीरथी नदियों की घाटियों में ऐसे ही लटकते पर्वत प्रक्षेप पाये जाते हैं जिनके सहारे ही अधिकतर भू –स्खलन होता है ।
8. **जल गर्तिकायें (Pot holes) :** नदी की तली में पड़ने वाली चट्टानों में विभिन्न तत्व होने के कारण और उनके पानी में धुलकर बह जाने के कारण छोटे–छोटे गर्त बन जाते हैं । ऐसे छोटे कम गहरे गर्तों को 'चल गर्तिका" कहते हैं । इन गर्तों के कारण पानी में भंवर पड़ने लगते हैं और भँवर के साथ–साथ चट्टानों के टुकड़े जो नदी के साथ प्रवाहित होते हैं चक्कर

लगाने लगते हैं । इन टुकड़ों के कारण गर्त गहरा तथा आकार में बड़ा होता जाता है । जैसे बर्मा के द्वारा खुदाई की गई हो । नदी की तली की चट्टानों में इस प्रकार बहुत सी जल गर्तिकायें निर्मित हो जाती हैं । ऐसी अधिक व्यास वाली जल गर्तिकाओं को "अवनमन कुण्ड" (Plunge Pool) कहते हैं । इस प्रकार की जल गर्तिकायें जब बहुत चौड़ी हो जाती हैं तो एक–दूसरे से मिल जाती हैं तो नदी का तल नीचे चल जाता है । अत : जल गर्तिकाएँ नदी के गहरा होने की द्योतक हैं । राजस्थान में चम्बल नदी की तली में रावतभाटा बाँध के नीचे इस प्रकार की कई गर्तिकायें पायी जाती हैं । इन गर्तिकाओं का विकास चूलिया प्रपात के नीचे केमूर बालूका पत्थरों में हुआ है । यहाँ पर कई गर्तिकायें तो काफी चौड़ी होकर एक–दूसरे में मिल गई हैं । इनकी गहराई 15–20 मीटर तक पायी जाती है ।

9. **नदीय सोपान या वेदिका (River terraces) :** नदी के दोनों किनारों पर सीढ़ीनुमा वेदिकायें विकसित हो जाती हैं जिनके द्वारा नदी के प्रारम्भिक तली का निर्धारण किया जाता है । सोपानों की वेदिकायें पुराने बाढ़ निर्मित मैदानों के प्रमाण मानी जाती हैं । यद्यपि कुछ वेदिकाओं पर निक्षेप का आवरण कछारी मिट्टी के रूप मे होता है । जिन सोपानों पर कंकड़, मिट्टी एवं बारीक मिट्टी का आवरण होता है उन्हें कछारी सोपान (Alluvial Terraces) कहा जाता हैं । इसके विपरीत जो वेदिकायें कठोर चट्टानों की होती हैं उन्हें आधारीय शैल वाली सोपान कहते हैं । (Bed Rock Terraces) नदी वेदिकायें कुछ मीटर से कई किलोमीटर चौड़ी तथा कुछ मीटर से लेकर कई सौ मीटर तक ऊँची होती हैं (चित्र–8.17) ।

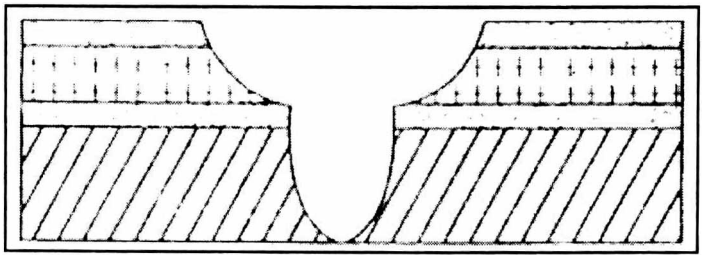

चित्र–8.17 : नदी सोपान

10. **झीलें (Lakes) :** युवावस्था में नदी मार्ग में बड़े–बड़े शिलाखण्ड आकर गिर जाते है फलतः नदी का मार्ग अवरूद्ध हो जाता है और पानी इकट्ठा हो जाता है जिससे झील का निर्माण हो जाता है । टिहरी बांध के ऊपर गंगा नदी ने झील का निर्माण कर दिया था किन्तु ऐसी झीलें पूर्णतः अस्थाई होती है और टूटने पर हानि पहुँचाती है । कभी–कभी स्थाई झीलों का भी निर्माण हो जाता है ।

प्रौढ़ावस्था के भू–आकार (Landforms of Mature stage)

1. **कांपीय शंकु और कांपीय पंखे (Alluvial Cones and Alluvial Fans)** :जब नदियाँ पहाड़ी से उतरकर मैदानों में प्रवेश करती हैं तब उनकी गति एकाएक मन्द हो जाती हैं । फलतः जो लोड की मात्रा वह बहाकर लाती है उसे आगे नहीं बहा सकती इसलिए पर्वत एवम् मैदान के संगम स्थल पर क्रमश : सम्पूर्ण लोड को जमा कर देती है तथा वह जमाव

तिकोनाकार रूप में रचनात्मक ढंग से जमा होता है । यह त्रिकोणाकार रचनात्मक भू–आकार जिसका ढाल अपेक्षाकृत तेज होता है उसे जलोढ़ शंकु या कांपीय शंकु कहते है । इस कांपीय शंकु से ही सन्नद्ध बारीक कणों के जमाव से जो त्रिकोणाकार रचनात्मक भू–आकार बन जाती है और जिसमें मुख्य नदी कई शाखाओं में बँटकर बहने लगती है पानी एवम् लोड फैल जाती है ऐसी पंखेनुमा आकृतियों को ''कांपीय पंखें'' कहते है ।

1. **नदी विसर्प (River Meanders) :** जब प्रौढ़ावस्था में नदी पहाड़ी भाग से मैदानी भाग में प्रवेश करती है तो उसमें लम्बवत् कटाव की अपेक्षा पक्षीय कटाव या क्षैतिज कटाव अधिक सक्रिय हो जाता है । इस क्रिया से नदी घाटी गहरा होने की अपेक्षा चौड़ी होती जाती है । ऐसी स्थिति में नदियाँ अपने मार्ग को सर्पाकार रूप में बनाना प्रारम्भ कर देती है । इससे नदी के मार्ग में कई मोड़ बन जाते हैं । नदी के इस प्रकार के अर्द्ध वृत्ताकार मोड़ों को ''विसर्प'' या ''नदी मोड़'' कहा जाता है (चित्र–818) । एशिया माइनर की मियाण्डर नदी में इस प्रकार के बड़े–बड़े मोड़ पाये जाते है । जिसके नाम पर नदी के मोड़ों का नामकरण किया गया है । जब नदी का पानी सीधा आकर किनारे से टकराता है उस तरफ खड़े ढाल का निर्माण हो जाता है –उसे Cut Bank कहा जाता है । इसके विपरीत दूसरा किनारा उन्नतोदर ढाल वाला होता है क्योंकि इस किनारे पर अपरदन के बजाय जमाव कार्य होता है- इसे विस्तारित ढाल (Slip Off Slope) कहा जाता है । एक विसर्प की लम्बाई नदी की चौड़ाई द्वारा ज्ञात की जाती है । एक विसर्प की लम्बाई चौड़ाई की 15 व 18 गुनी अधिक होती है । नदीय विसर्प आशिक रूप से निक्षेप व अधिकांश रूप से क्षैतिज अपरदन तथा लम्बवत् अपरदन का परिणाम होते हैं ।

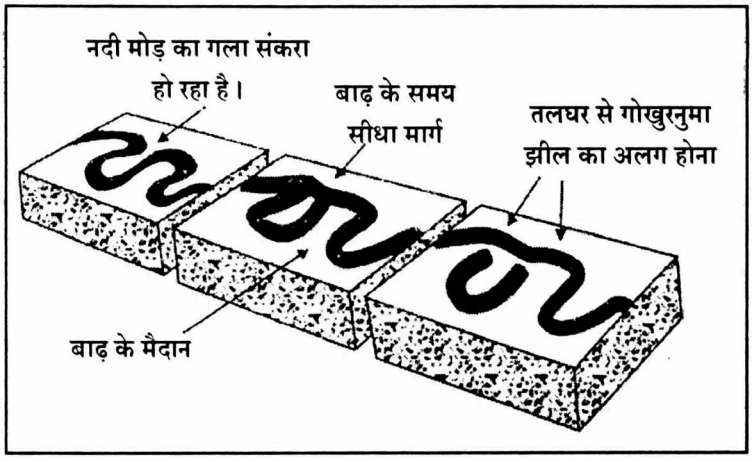

चित्र–818 : नदी मोड़ गोखुरनुमा झील का निर्माण

विसर्पो के प्रकार (Kinds of meanders) : विसर्पों के प्रकार निम्नलिखित हैं –

(i) सामान्यतः विसर्प – नदी की प्रौढ़ावस्था में निर्मित होते हैं । विसर्पों के दो भागों में बाँटा जा सकता है –

(i) क्षैतिज अपरदन से निर्मित विसर्प : – जो साधारण होते हैं ।

(ii) लम्बवत् अपरदन द्वारा निर्मित विसर्प :– जिनका निर्माण नवोन्मेष की क्रिया के परिणामस्वरूप होता है । इन्हें निम्न भागों में बाँटा जा सकता है –

(अ) अध कर्तित विसर्प (Incised meanders), (ब) गंभीरी भूत विसर्प (Entrenched meanders), (स) घिरा हुआ विसर्प (Enclosed meander) (द) अन्त: कर्तित विसर्प (Ingrown meander), (य) बेमेल विसर्प (Misfit Meanders)

(i) सामान्य विसर्प का विकास : जब नदी मैदानी भाग में प्रवेश करती है तो शुरू में नदी के छोटे –छोटे मोड़ पड़ते हैं किन्तु धीरे–धीरे मोड़ों का विकास हो जाता है क्योंकि नदी की धारा अवतल किनारे से सीधी टकराती है इसलिए उसके मोड़ बढ़ जाते है । इसी तरह इस किनारे पर तल अपरदित ढालों (Undercut slopes) का निर्माण हो जाता है । इसके विपरीत उत्तल किनारे पर निक्षेप होने से धारायें अवतल किनारे से तेजी से टकराती हैं और धीरे–धीरे विसर्प का घुमाव बढ़ता जाता है तथा नदी के दो विसर्प एक–दूसरे के नजदीक आने लगते है । इसको विसर्प ग्रीवा (meander neck) कहा जाता है । धीरे–धीरे विसर्प ग्रीवा और पास आने लगती है और एक स्थिति ऐसी आती है कि विसर्प ग्रीवा को काटती हुई नदी की धारा अपना सीधा मार्ग प्रशस्त कर लेती है । इस तरह नदी अपने पहले मोड़ को त्याग देती है जिसमें बाढ़ के समय पानी भर जाता है और झील का निर्माण हो जाता है । इसे गोखुरनुमा झील (Ox–bow–lake) कहा जाता है चित्र में नदी के विसर्पों के विकास की अवस्थायें प्रदर्शित की गई है (चित्र–8.18) ।

(ii) अध : कर्तित विसर्प (Incised Meanders) : अध : कर्तित विसर्प नदी के नवोन्मेष के परिचायक होते हैं । इनका निर्माण सामान्य विसर्पों के उत्थान से निर्मित गहरी कटान से होता है । जब प्रथम अपरदन चक्र के समय क्षैतिज अपरदन से निर्मित सामान्य विसर्प में नीचे कटाव से गहरे तथा संकरे विसर्प का निर्माण हो जाता है, उसे अध : कर्तित विसर्प कहते हैं । इनके कई प्रकार होते हैं –

(i) गंभीरीभूत विसर्प (Entrenched Meanders) : ये विसर्प अधिक गहरे होते हैं त था इनके वक्र के दोनों ढाल प्राय : समान होते हैं । (ii) अन्त : कर्तित विसर्प (Ingrown Meanders) – जिन विसर्पों की अनुप्रस्थ परिच्छेदिका के दोनों किनारों के ढाल असममित होते हैं, क्योंकि ये अपने वक्र के अवतल किनारे (Concave Slope) पर अधिक कटाव द्वारा अद्य : अपरदित ढाल का निर्माण कर लेते हैं तथा उत्तल किनारे (Convex Slope) पर निक्षेप द्वारा स्कन्ध ढाल (Slip Off Slope) का निर्माण कर लेते हैं । इनमें किनारे वाली दीवारों में अन्दर की ओर अपरदन अधिक होता है न कि निम्न कटाव ।

(ii) बेमेल विसर्प (Misfit or Unfit Meanders) : प्रौढ़ावस्था में नदी विस्तृत बाढ़ के मैदानों एवं विस्तृत विसर्पों का निर्माण करती है । कारणवश जब नदी में पानी कम हो जाता है तब बाढ़ का मैदान एवं विसर्प दोनों ही संकरे हो जाते हैं । इस प्रकार नवीन विसर्प के वक्र का अर्द्धव्यास पुराने विसर्प के वक्र के अर्द्धव्यास से छोटे होता है ।

परिणामस्वरूप पुराने एवं नये विसर्पों में मेल नहीं होता है । ऐसे विसर्पों को बेमेल विसर्प कहते हैं (चित्र–8.19) ।

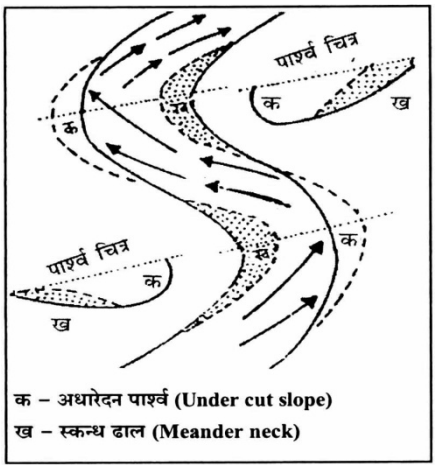

चित्र–8.19 : नदी विसर्पण

गोखुरनुमा झील (Ox–bow–lake)

नदी मोड़ में बहने वाली धारा को बहुत अधिक चक्कर काटना पड़ता है । यदि कटान कार्य से नदी, अत्यधिक घुमावदार मोड़ होने के कारण नदी मोड़ों से होकर नहीं गुजर सकती । परिणामस्वरूप वह सीधा मार्ग ग्रहण कर लेती हे । ऐसी स्थिति में नदी द्वारा पूर्व निर्मित विसर्प पानी से भरे होने तथा गाय के खुर की आकृति के होने के कारण झील का रूप ले लेते है उसे ही ''गोखुरनुमा झील'' कहते हैं ।

8.5.2 नदी के जमाव से निर्मित भू – आकार

(क) **बाढ़ के मैदान :** जब नदी प्रौढ़ावस्था की ओर अग्रसर होती है तब प्रारम्भिक अवस्था में वह अपनी घाटी की तली को सपाट और चौड़ा करना शुरू कर देती है । अपने घुमावों को विस्तृत और चौड़ा करने में नदी की धारा घुमाव के बाहरी भाग की ओर खिसक जाती है । इस खिसकाव के समय वह घुमाव के आन्तरिक किनारे की ओर पूर्व स्थान पर एक सपाट मैदान वाली पट्टी छोड़ देती है । इस प्रकार हर बाहरी किनारे के पास नदी के दोनों ओर सपाट या समतल भूमि का क्षेत्र पाया जाता है । यह कालान्तर में बढ़ता जाता है । अत : वह समतल भूमि का नदी के दोनों ओर आसपास का तलछट निर्मित क्षेत्र जिसका ढाल धीमा होता है तथा जिसके पार दलदल, गोखुरनुमा झीलें, बालू की लम्बी कतारें आदि पाई जाती हैं और काँप युक्त नदी बाढ़ के समय जिस भाग में घूमती है या फैलती है, ''बाढ़ का मैदान'' कहलाता है (चित्र–8.20) । देखिये । दूसरे शब्दों में इन्हें तलवर्ती भूमि (Bottom Land) भी कहते हैं । गंगा का यू .पी., बिहार का तलवर्ती भाग सर्वोत्तम उदाहरण है ।

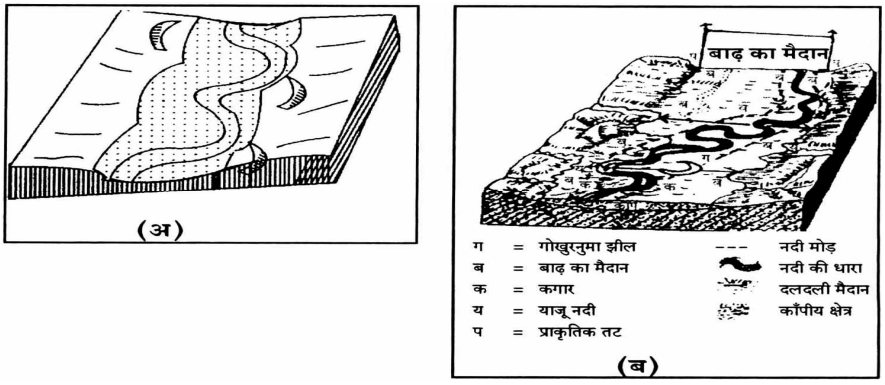

चित्र–8.20 : बाढ़ के मैदान

इस प्रकार के हर वर्ष नवीनीक्रम होने वाले बाढ़ के मैदान गंगा, सिन्धु, नील, दजला, फरात, इरावदी, मीसीसीपी –मिसूरी आदि बनाती है । मीसीसीपी के बाढ़ के मैदान में जमाये हुए तलछट की मोटाई 150 मीटर है जबकि अभी तक नील नदी के बाढ़ के मैदान के तलछट के नीचे की चट्टान तक को पहुँचा ही नहीं जा सका है । गंगा का मैदान भी 300 मीटर तक गहरा है ।

(ख) **खादर एवम् बांगर:** प्रतिवर्ष जहाँ तक बाढ़ का पानी पहुँच जाता है और नई कांप बिछ जाती है उसे ''खादर'' कहते हैं । यह क्षेत्र बहुत उपजाऊ होता है । जहाँ पर बाढ़ का पानी हर वर्ष नहीं पहुंचता और नया तलछट जमा नहीं होता उस क्षेत्र को ''बांगर'' कहते हैं ।

(ग) **प्राकृतिक तटबन्ध या प्राकृतिक कटक (Natural levees) :** नदी के दोनों किनारों पर बाढ़ के समय मिट्टियों के जमाव द्वारा लम्बे, कम ऊँचाई के कटकों, बन्धों या बालुकास्तूपों का निर्माण होता है । उन्हें तटबन्ध या प्राकृतिक कटक कहते हैं । इस प्रकार की कटकें सभी नदियों में नहीं पायी जाती, बल्कि उन्हीं नदियों में पायी जाती हैं जो बाढ़ के समय पानी किनारों को पार कर देता है । इनके निर्माण की प्रक्रिया बहुत सरल है । जब नदी में बाढ़ आती है तो किनारों पर वह अपने किनारों को पार कर दोनों तरफ फैल जाती है और अपने साथ लाई हुई मिट्टी को किनारों पर जमाना प्रारम्भ कर देती है । सबसे अधिक निक्षेपण किनारों के पास होता है और धारा से दूर धीरे–धीरे कम होता जाता है । नदी के साथ प्रवाहित मोटे कंकड़ों का निक्षेपण नदी के किनारों के पास अधिक होता है । इस प्रकार दोनों किनारों पर लम्बवत् मिट्टी की कटकों का निर्माण हो जाता है । ये कटकें बाढ़ द्वारा मैदानी भाग में किनारों से दूर फैले हुए पानी को पुन : नदी में आने में अवरोधक का कार्य करती हैं । इनकी सामान्य ऊँचाई 5–10 मीटर होती है । तटबंध नदी के किनारों के फैलाव की सीमा निर्धारित करते हैं । तटबंधों का जल तल ऊँचा होने के कारण कृषि के लिये तथा मानव आवास के लिये उपयुक्त होते हैं । कभी –कभी तटबंधों के टूट जाने से काफी हानि होती है । चीन की ह्वांगहो (Hwangho) नदी लोयस की पीली मिट्टी का जमाव करती है जो प्राकृतिक तटबन्धों का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती है । इसे ''चीन का शोक'' (Sorrow of China) कहा जाता है क्योंकि इसके तटबन्धों के टूट जाने से भंयकर बाढ़ आ जाती है और जन धन की हानि होती है । कृषि, बस्तियाँ, मानव सब कुछ समाप्त हो

जाता है (1852 एवं 1938 ई.) मिसिसिपी नदी के किनारे भी प्राकृतिक तटबन्धों का निर्माण होता है । यहाँ तटबन्धों की ऊँचाई 6–7– 1/2 मीटर तक पायी जाती है (चित्र– 8.21)

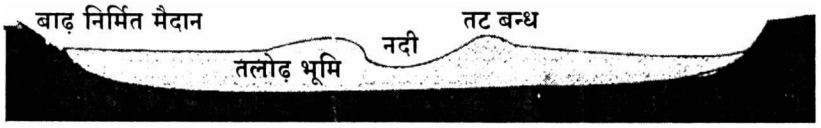

चित्र–8.21 : प्राकृतिक तटबन्ध

(घ) **पोइन्ट बार जमाव (Point Bar Deposit)** : इस प्रकार के निक्षेपण विसर्पों के घुमाव वाले आन्तरिक क्षेत्र में होते हैं और धीरे–धीरे Slip off slope की तरफ होने वाले जमाव से विसर्पों के मोड़ के पीछे खिसकने से इनका क्षेत्र बढ़ता जाता है । इनका जमाव गोखुरनुमा झील के बीच पाया जाता है ।

(च) **पृष्ठ प्रवाह के जमाव (Back swamp Deposits) :** इस प्रकार के जमावों का निक्षेपण प्राकृतिक तटबन्धों के पीछे बाढ़ निर्मित बेसिनों में होता है । इनमें गाद (Silt) और चिकनी मिट्टी (clay) की नई परतें होती हैं ।

(छ) **नदी डेल्टा (Delta) :** बाढ़ निर्मित मैदानों की तरह नदियों द्वारा निर्मित रचनात्मक स्थल रूपों में डेल्टा प्रदेश भी मानव सभ्यता के केन्द्र–स्थल रहे है । सभी नदियाँ डेल्टाओं का निर्माण नहीं करतीं । उन नदियों में डेल्टा नहीं पाया जाता, जिन नदियों के मुहानों पर निक्षेपित पदार्थ को लहरें और धाराएँ साथ–के–साथ स्थानान्तरित कर देती हैं । कई सरिताओं पर डेल्टा न बनने का कारण यह भी है कि वे बहुत कम पदार्थ प्रवाहित कर पाती है ।

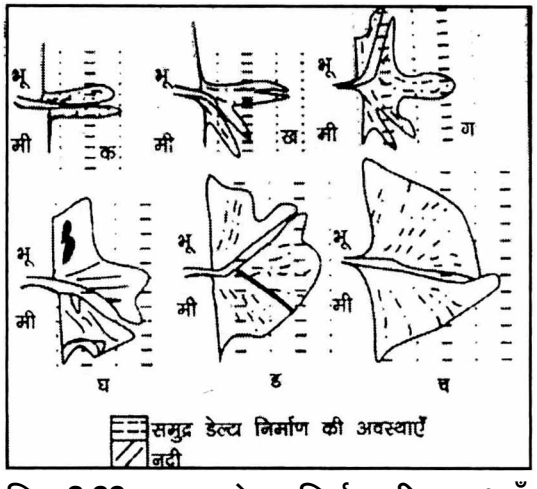

चित्र–8.22 : समुद्र डेल्टा निर्माण की अवस्थाएँ

डेल्टा निर्माण के लिए आवश्यक दशायें

(i) नदी निक्षेप के लिए विस्तृत एवं उचित सागर तल / झील तल होना चाहिए ।

(ii) नदी का आकार तथा आयतन अधिक होना चाहिए ताकि मलबा अधिक पानी के साथ अधिक मात्रा में आ सके ।

(iii) मुहाने के पास नदी की गति एवं ढाल अत्यन्त मन्द होना चाहिए ताकि जमाव का रचनात्मक कार्य सुचारू रूप से सम्पन्न हो सके ।

(iv) मुहाने के पास ज्वार तरंगों, लहरों आदि का वेग कम होना चाहिए ताकि जमाव में अवरोध पैदा नहीं हो ।

(v) सागरीय तट पर निमज्जन क्रिया नहीं होनी चाहिए । जब नदी समुद्र से मिलती है तो उसके वेग और ढाल में कमी आ जाती है जिसके कारण बारीक मिट्टी मलबे को अपने मुहाने पर विशेष प्रकार के त्रिकोणाकार स्थल रूप के प्रारूप में फैला देती है जिसे 'डेल्टा' कहा जाता है । इसके विकास की अवस्था में चित्र दर्शाई गई है । डेल्टा शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 500 बी.सी. पूर्व हेरोडोटस (Herrodotus) ने नील के निक्षेपित मैदान के लिये किया था । डेल्टा का नामांकन यूनानी अक्षर (डेल्टा) के आधार पर किया गया है । प्रत्येक डेल्टा की अपनी विशेषता होती है किन्तु डेल्टा में पाँच प्रकार की आकृतियाँ देखी जाती है । आकृति के अनुसार डेल्टा निम्न प्रकार के होते हैं ।

- **चापाकार डेल्टा (Arcuate or fan shaped Delta) :** इनका आकार वृत्त के चाप या धनुष के समान होता है । इस प्रकार के डेल्टा सामान्य होते हैं । इनका विस्तार बीच में अधिक होता है और दोनों किनारों की ओर कम होता है । इसका निर्माण नदी द्वारा उस समय होता है जब नदी की मुख्य धारा पदार्थों का निक्षेप बीच में अधिक करती है ताकि बीच का भाग आगे निकला रहे और किनारे के भाग संकरे रहे । नील नदी का डेल्टा इस प्रकार के डेल्टा का सुन्दर उदाहरण है । इसमें बड़े कणों वाले पदार्थ पाये जाते हैं जिनमें पानी रिसकर नीचे चला जाता है और नदी कई धाराओं में बटकर जल वितरिका (Distributaries) में बहने लगती है । इस प्रकार के डेल्टा मुख्यत : अर्द्ध शुष्क जलवायु प्रदेशों में विकसित होते हैं । गंगा, राइन, नाईजर, लीना, रोन, वोल्गा तथा सिंध डेल्टा इसके उदाहरण हैं (चित्र–8.23) ।

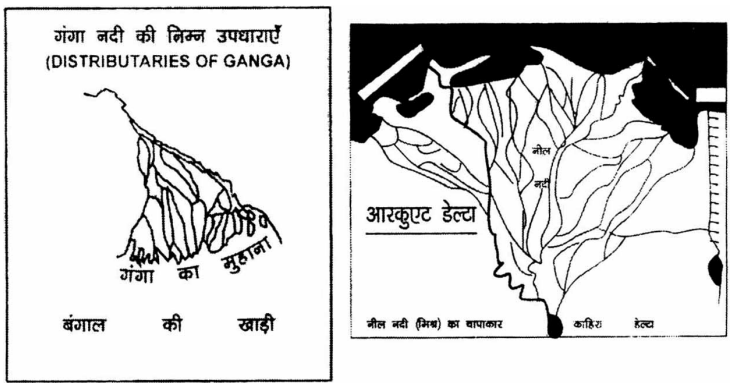

चित्र– 8.23 : गंगा एवं नील नदी का चापाकार डेल्टा

- **पंजानुमा डेल्टा (Bird foot delta) :** इस प्रकार का डेल्टा जिसकी आकृति पक्षी के पंजे की तरह होती है, पंजानुमा डेल्टा कहलाता है । यह डेल्टा मुहाने के समुद्र में विकसित होता है । डेल्टा की धाराओं के मध्य समुद्री जल बहता है । इस प्रकार के

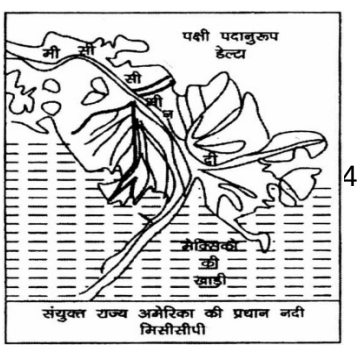

डेल्टा का निर्माण बहुत बारीक कणों जिनमें चूने की मात्रा अधिक होती है, से होता है । यह पदार्थ पानी में मिला रहता है । इसका निर्माण तीव्र गति से प्रवाहित होने वाली नदियों द्वारा होता है । नदीं इन बारीक पदार्थों के कणों को लेकर सागर में प्रवेश कर जाती है। सागर के खारे पानी के सम्पर्क में आने से नदी द्वारा लाये गये पदार्थ भरी होकर निक्षेपित होने शुरू हो जाते हैं और एक लम्बा डेल्टा निर्मित हो जाता है । चूँकि ये पदार्थ बहुत बारीक होते हैं, अत: इनकी रन्ध्रता बहुत कम होती है, ।मिसिसिपी नदी द्वारा निक्षेपित कण1/10 मि.मी से भी कम व्यास के (चित्र–8.24 : पक्षी पदानुरूप डेल्टा होते हैं ।

चित्र 8.24 पक्षी पदानुरूप डेल्टा

अत : इसका डेल्टा पंजानुमा डेल्टा का सर्वोत्तम उदाहरण है । मिसिसिपी नदी मैक्सिको की खाड़ी में कुछ दूर चलने के बाद चार शाखाओं में विभक्त हो जाता है । इन चार शाखाओं के सहारे पदार्थ का निक्षेपण हो जाता है । बारीक कणों का निक्षेपण मनुष्य की हाथ की अंगुलियों के समान होता है । इसलिए इसे ''पंजानुमा डेल्टा'' या ''अंगुल्या फार डेल्टा'' भी कहते हे (चित्र–8.24) ।

- **ज्वारनदमुखी डेल्टा (Estuarine delta) :** जब नदियों के एस्चुएरी के भर जाने से निर्मित जो लम्बे और संकरे डेल्टा होते हैं उन्हें ज्वारनदमुखी डेल्टा कहा जाता है । नदी का वह मुहाना एस्चुरी कहलाता है जो हमेशा जलमग्न रहता है और सखी लहरे और धाराएँ निक्षेपित पदार्थ को बहाकर समुद्र में ले जाती हैं । इस प्रकार के लम्बे, सैकड़े एस्चुरी पदार्थों से भरने वाले या ''भग्राकार डेल्टा'' या ''रूण्डित डेल्टाओं'' का निर्माण नदी द्वारा निक्षेपित पदार्थ के भरने से होता है । ऐसे डेल्टा को ''ज्वार नद मुखी डेल्टा'' कहते हैं । नर्मदा और ताप्ती नदियों के डेल्टा इसके उदाहरण हैं । अन्य उदाहरण एल्व, सीन, ओबे, हडसन नदियों के डेल्टा आदि है (चित्र–8.25) ।

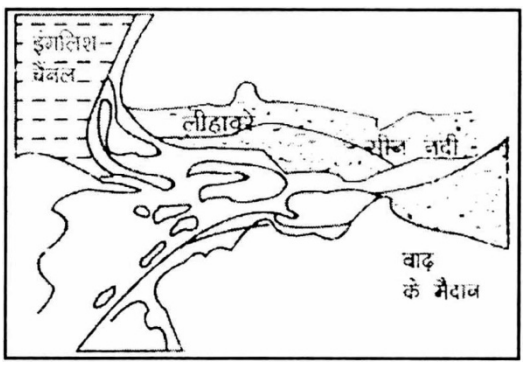

चित्र–8.25 : एस्चुरी ज्वारनदमुखी डेल्टा

- **रोधित डेल्टा (Truncated delta) :–** कभी –कभी लहरें नदी द्वारा निर्मित डेल्टा को काट–छाँटकर पदार्थ को बहा ले जाती हैं । इस प्रकार के कटे–फटे डेल्टा को रोधित डेल्टा कहा जाता है (चित्र 8.26) ।

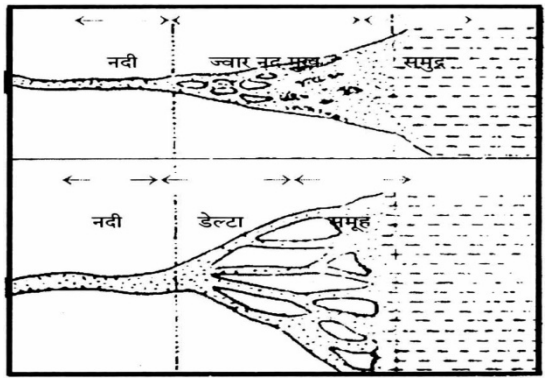

चित्र–8.26 : नदी डेल्टा एवं ज्वारनदमुख

- **पालीयुक्त डेल्टा (Lobate delta) :** जब नदी की कई शाखायें अलग – अलग डेल्टाओं का निर्माण करती हैं और उनमें मुख्य धारा द्वारा निर्मित मार्ग अवरूद्ध हो जाता है तो इस प्रकार शाखाओं द्वारा निर्मित डेल्टा का आकार लोब (पालि) आकार का होता है । इन्हें पालियुक्त डेल्टा कहते है । मुख्य नदी की रूकी हुई गति वाले डेल्टा को "क्षीणाकार डेल्टा" कहते हैं ।
- **प्रगतिशील डेल्टा (Growing Delta) :** डेल्टा का निर्माण एक सतत प्रक्रिया है । अत : विश्व की अधिकांश नदियाँ अपने–अपने डेल्टा का निरन्तर विकास कर रही हैं । इस अनवरत विकास की ओर उन्मुख डेल्टा को "प्रगतिशील डेल्टा" कहते हैं । गंगा, मिसीसीपी, नील, ह्वांगहो, यांगटीसी क्यांग आदि सभी के डेल्टा "प्रगतिशील डेल्टा" है (चित्र–8.27) ।

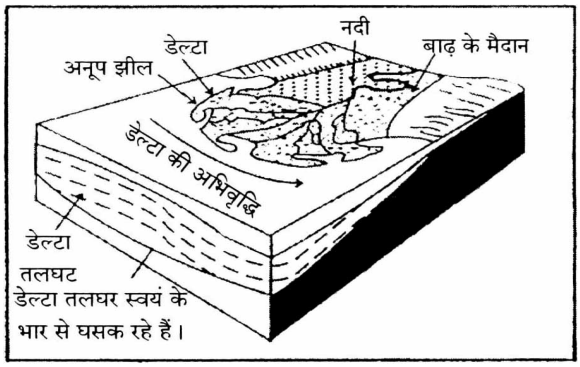

चित्र–8.27 : प्रगतिशील डेल्टा

- **अवरोधित डेल्टा (Blocked Delta) :** जब किसी कारणवश डेल्टा का विस्तार रूक जाता है एवं प्रगतिशील नहीं रहता तो उसे अवरोधित डेल्टा कहते हैं । यह अवरोध सागरीय लहरों, ज्वार, धाराओं, उमज्जन, निमज्जन से उपस्थित हो सकता है ।
- **परित्यक्त डेल्टा (Abandoned Delta) :** जब नदी अपने पहले डेल्टा को छोड़कर अन्य डेल्टा का निर्माण कर लेती है तब पूर्व वाला डेल्टा "परित्यक्त डेल्टा" कहलाता है । ह्वांगहो नदी ने प्रारम्भ में शांटुंग प्रायद्वीप के दक्षिण में डेल्टा का निर्माण किया उसे छोड़कर नये डेल्टा का निर्माण किया उसे छोड़कर नये डेल्टा का निर्माण शांटुंग प्रायद्वीप के उत्तर में

किया है । अत: शांटुंग प्रायद्वीप के दक्षिण वाला पुरानर डेल्टा प्रत्यक्ष डेल्टा का उदाहरण है।

- **समप्राय: मैदान (Penplain) :** अपरदन चक्र की अन्तिम अवस्था में डेविस ने समप्राय : मैदान की परिकल्पना की है। नदी की वृद्धावस्था में जब क्षैतिज अपरदन द्वारा सतह की असमानतायें दूर हो जाती हैं, कोई विषमता नहीं पाई जाती है तब क्षैतिज अपरदन तथा निक्षेप दोनों मिलकर समप्राय: मैदान का निर्माण करते हैं । यत्र – तत्र कुछ कठोर प्रतिरोधी शैले जिनका कटान सम्भव नहीं हो सका, सामान्य सतह से ऊपर दिखाई देती है । इन्हें ''मोनाडनाक'' (Monandocks) कहते हैं ये अपरदन अवशेष (Erosion–remnants) के रूप में देखी जाती है ।

8.5.3 आधारतल की विचारधारा (Base level concept)

सामान्यत: यह मान लिया गया है कि नदी घाटी के गहरा होने की एक सीमा होती है। लम्बवत् कटाव की सीमा को आधारतल कहा जाता है। जब पावेल ने 1875 में आधारतल विचारधारा रखी उस समय इसकी बहुत आलोचना की गई। इसके बारे में पूर्ण रूप में कहना मुश्किल है कि एक शताब्दी पूर्व भूगर्भशास्त्रियों का आधारतल से क्या तात्पर्य था और किस सम्बन्ध में इस शब्द को उपयोग करते थे । पावेल ने आधार तल की विचारधारा को निम्न शब्दों में व्यक्त किया हैं –

"Base level would in fact be an imaginary surface inclining slightly in all its parts towards the lower end of the principal streams draining the area through which levelling supposed to stand or having the inclination of its points varied in direction as determined by tributary streams."

पावेल ने अपनी भाषा में आधारतल को लम्बवत् कटाव की अन्तिम सीमा माना है, न कि नदी द्वारा निर्मित क्रमबद्ध मैदान तथा समप्राय: मैदान जो कि नदी इतिहास की एक अवस्था है । पावेल के विचारों का विश्लेषण करते हुए मल्लोट (1928) ने तीन प्रकार के आधार तल स्पष्ट किये हैं – (1) अन्तिम (Ultimate), (2) स्थानीय (Local), (3) अस्थायी (Temporary) । डेविस ने भी पावेल के संदर्भ में आधारतल की निम्न परिभाषा प्रस्तुत की है –

"Base level as thus defined seems to include three ideas; first, the grant or general base level for subaerial erosion is the level of sea; second, a base level is an imaginary sloping surface which generalizes the faint inclination of the trunk and branch rivers of a region, which the erosion of their channels has practically ceased; third, local and temporary base levels are those slow reaches in a river which are determined by bedges in its course further downstream.''

क्रमबद्ध सरिता (Graded River) : – जब नदी अपने प्रवाह मार्ग के ढाल को इस प्रकार बना लेती है कि उससे उत्पन्न जलधारा का वेग नदी बोझ का परिवहन करने में सक्षम हो जावे तो

उसे क्रमबद्ध वक्र (Graded River) कहा जाता है । ऐसी सरिताओं को क्रमबद्ध वक्र सरिता (Graded Rivers) के नाम से सम्बोधित किया जाता है । नदियाँ ऐसे वक्र का निर्माण उद्‌गम से मुहाने तक करना चाहती है, ताकि परिवहन किया जाने वाला बोझ व परिवहन सामर्थ्य में संतुलन स्थापित हो जाये ।

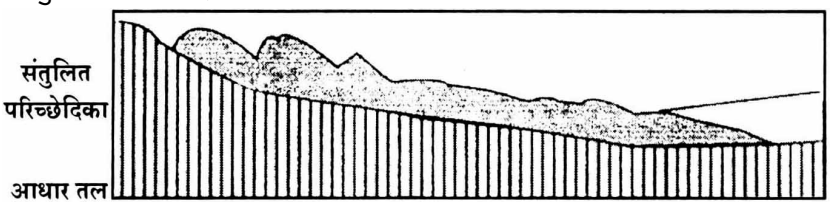

चित्र–8.28 : संतुलित परिच्छेदिका

बोध प्रश्न–1

1. नदी किसे कहते हैं?

   .....

   .....

2. नदी घाटी का गहरा होना किन बातों पर निर्भर है? पांच बातें लिखें ।

   .....

   .....

3. नदी घाटियों के अनुवांशिक वर्गीकरण की चार महत्वपूर्ण घाटियों के नाम दो ।

   .....

   .....

4. निम्न में से कौनसी घाटी संरचनात्मक है?

   (अ) अनुवर्ती घाटी (ब) भ्रंश घाटी

   (स) परवर्ती घाटी (द) प्रत्यानुवर्ती घाटी

5. केन्द्र त्यागी एवम् केन्द्रोंन्मुखी प्रवाह प्रणाली में भेद बताईये ।

   .....

   .....

8.6 अपरदन चक्र (Cycle of Erosion)

सर्वप्रथम अमेरिकन भूगोलवेत्ता डेविस ने ही प्राचीन विचारों को व्यवस्थित कर भू–आकारों के विकास को चक्रीय रूप में समझाने का प्रयास किया । यद्‌यपि इन्होंने इस विचारधारा को जीव–विज्ञान से लिया किन्तु उसे ही सुन्दर ढंग से भू–आकारों के विकास पर लागू किया ।

डेविस ने अपरदन की परिभाषा देते हुए स्पष्ट किया है कि, "भौगोलिक चक्र समय की एक अवधि है जिसके अन्तर्गत एक उत्थित भूखण्ड अपरदन की क्रिया द्‌वारा एक आकृति विहीन समप्राय: मैदान में परिवर्तित हो जाता है ।

Normal Cycle of erosion is a Period of time during which an uplifted land mass under goes its transformation by the process of land sculptures– ending into a low featureless Plain or Pen plain. ''W.M. Davis.

अत : यह स्पष्ट हो जाता है कि धरातल भू–आकारों के विकास का जो व्यवस्थित क्रम है और अपरदन द्वारा धरातल पर जो निम्नीकरण की क्रिया से आकृति विहीन धरातल की रचना होती है, उस सम्पूर्ण क्रम को 'अपरदन चक्र' कहा जाता है । वार्सेस्टर का कहना है कि, "अपरदन चक्र एक समय है जिसके अन्तर्गत सरितायें नवोत्थित भूखण्ड को काटकर उसे आधारतल पर ला देती है ।"

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि अपरदन चक्र, भौगोलिक चक्र एवं भू–आकृतिक चक्र में क्या अन्तर है । अपरदन चक्र और भौगोलिक चक्र से तात्पर्य एक ही है । डेविस ने अपरदन चक्र का प्रयोग न कर भौगोलिक चक्र का या सामान्य अपरदन चक्र का प्रयोग किया है। किन्तु भू–आकार शास्त्री अपरदन चक्र एवं भू– आकृतिक चक्र में अन्तर मानते हैं । अपरदन चक्र एक समय या

अवधि है जिसमें भू–आकार विकसित होकर आधारतल तक पहुँचते हैं इसके विपरीत भू–आकृतिक चक्र एक स्थलाकृति होती है जिसका विकास अपरदन के समय विभिन्न अवस्थाओं में होता है ।

डेविस द्वारा प्रतिपादित अपरदन चक्र की विचारधारा की जर्मन भूगर्भशास्त्री वाल्टर पेन्क ने आलोचना की है । यहाँ पर इन दोनों विचारधाराओं की विशद व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है ।

अपरदन चक्र की विचारधारा की व्याख्या

अपरदन एक गतिशील क्रिया है । यह शब्द लैटिन भाषा के "Erodere" शब्द से लिया गया है, जिसका शाब्दिक अर्थ कुतरना होता है । अपरदन शब्द का प्रयोग उस क्रिया के लिए किया जाता है जिसके अन्तर्गत विभिन गतिशील कारक चट्टानों को तोड़कर विभिन्न रूपों में चट्टान चूर्ण को स्थानान्तरित करके दूर तक ले जाते हैं । अपक्षय की क्रिया से प्राप्त चट्टान चूर्ण विभिन्न गतिशील शक्तियों द्वारा स्थानान्तरित कर दिया जाता है । अत : यह कहा जा सकता है कि अपक्षय की क्रिया अपरदन के कारकों को अपक्षयित पदार्थ देकर अपरदन क्रिया को सुगम बनाती है । थार्नबरी ने भी स्पष्ट किया है कि अपक्षय प्रारम्भिक प्रक्रम है और अपरदन की क्रिया को सुगम बना देता है किन्तु यह अपरदन के पूर्व आवश्यक नहीं है ।

अपरदन की क्रिया बिना परिवहन के नहीं हो सकती है अत : दोनों को भिन्न नहीं किया जा सकता है क्योंकि अपरदन के लिये गति आवश्यक होती है । भूगोल में चक्रीय पद्धति का अवलोकन एवं अनुभव सर्वप्रथम स्काटिश भू–विज्ञानवेत्ता ''जेम्स हटन" ने 1785 में किया था। उन्होंने इस चक्र का अनुभव कर लिखा है ''न तो आदि का कोई लक्षण है और न अन्त का कोई भविष्य (No Vestige of a beginning, no prospet of an end) यही विचार आगे चलकर पृथ्वी के इतिहास की चक्रीय प्रकृति की संकल्पना बन गया तथा इसी आधार पर उन्होंने एकरूपतावाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया ।

सन् 1899 में अमेरिकन भूगोलवेत्ता विलियम मोरिस डेविस ने सामान्य अपरदन चक्र की संकल्पना (Concept of Normal Cycle of Erosion) का प्रतिपादन Geographical essays नामक पुस्तक में किया । डेविस के अनुसार पृथ्वी की सतह पर अर्न्तजात एवम् बर्हिजात बल क्रियाशील रहते है । इन दोनों में अनवरत संघर्ष चलता रहता है । अर्न्तजात बल द्वारा उत्पन्न विषमताओं युक्त भाग को बर्हिजात शक्तियों द्वारा समतल प्राय : मैदान में बदल दिया जाता है । अत : "अपरदन चक्र वह अवधि तथा अवस्थाओं का सम्मिलित रूप है जिसमें ऊँचा उठा हुआ भाग अपक्षय तथा अपरदन द्वारा समतल प्राय: मैदान में बदल जाता है"। डेविस ने इसे ही सामान्य अपरदन चक्र या भौगोलिक चक्र (Geographical cycle) का नाम दिया है ।

अपरदन के कारक : जिन शक्तियों द्वारा अपरदन की क्रिया सम्पन्न होती है उन्हें अपरदन के कारक कहा जाता है । इसके अन्तर्गत नदियाँ, भूमिगत जल, पवन, हिमनद व सागरीय लहरें सम्मिलित की जाती हैं किन्तु इनमें सबसे महत्वपूर्ण कारक नदियाँ हैं । इस क्रिया के द्वारा धरातल पर अपरदन का अधिकतम कार्य सम्पन्न होता है क्योंकि बहता हुआ पानी पृथ्वी पर हर जगह उपलब्ध है ।

8.6.1 भौगोलिक चक्र पर डेविस की विचारधारा

डेविस एक अमेरिकन भूगोलवेत्ता थे । इनको भू–आकृतिक विज्ञान का जनक कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा । इन्होंने अमेरिका में प्रचलित विचारों को सुव्यवस्थित करने का प्रयास किया । इस सन्दर्भ में इनको अध्येता, विश्लेषणकर्ता एवं मार्गदर्शक कहा जाता है । भू–आकृतिक विज्ञान में डेविस का योगदान दो महत्वपूर्ण पहलुओं पर है – (i) भौगोलिक चक्र की विचारधारा, तथा (ii) भू–आकारों का आनुवांशिक वर्गीकरण ।

चूँकि भू–आकारों का विकास संरचना रूपी आधारों पर होता है अत : उनका विकास संरचनाओं (Structure) के अनुरूप ही होता है । इसके अतिरिक्त कौनसे प्रक्रम (Process) संरचना रूपी आधार पर कार्यरत हैं, इसका अध्ययन भी आवश्यक है । इस प्रकार संरचना के साथ प्रक्रम भी भू–आकारों के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है । यहाँ पर प्रक्रम की महत्ता को समझाने के लिये चूने के प्रदेशों में चूने की चट्टानों के अपरदन को समझाना उपयुक्त होगा । चूने की चट्टानें यद्यपि अपरदन के । दृष्टि से बहुत ही मुलायम मानी जाती हैं किन्तु यही चट्टानें मरूस्थलीय प्रदेशों में पानी की न्यूनता के कारण कम अपरदित होती हैं । जबकि आर्द्र प्रदेशों में चूने की चट्टानों के प्रदेश कार्स्ट आकृति के प्रदेश बन जाते हैं । अत : जिस प्रकार के प्रक्रम विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हैं उन्हीं के अनुरूप भू– आकारों का विकास होता है । इस प्रकार मोड़दार पर्वतों के हिमाच्छादित प्रदेशों एवं जल से अपरदित प्रदेशों के स्थलरूपों में बहुत अन्तर देखा जाता है । हिमालय के इन दो प्रकार के प्रदेशों को देखने पर यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है । इन दोनों तत्वों के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि किसी संरचना पर किसी विशेष प्रक्रम द्वारा भू – आकारों के विकास में कितनी अवधि (Time) पूर्ण हो चुकी है । जिन प्रक्रमों को कार्यरत हुए अधिक समय हो चुका है वहाँ निश्चित रूप से अधिक विकसित भू–

आकार होंगे । अरावली तथा हिमालय श्रेणियाँ मोड़दार पर्वत हैं लेकिन अरावली को बने इतना अधिक समय हो चुका है कि विस्तृत भाग समतल प्राय : मैदान हैं । केवल मोड़ों की जड़ें (Roots) नीची श्रेणियों के रूप में दिखती हैं । जबकि हिमालय नवीन पर्वत है जिसमें असाधारण ऊँची श्रेणियाँ एवं अत्यधिक गहरी घाटियाँ हैं । यहाँ नवीन स्थल के सभी स्थलरूप देखे जा सकते हैं । अत : डेविस ने भू– आकारों को संरचना, प्रक्रम और अवस्था का सम्मिलित परिणाम माना है Landscape is the function of structure, process and stage) । इसे "डेविस का त्रिकूट" (Trio of Davis) के नाम से जाना जाता है । डेविस का उद्देश्य भू–आकारों के जननिक एवं क्रमबद्ध वर्गीकरण का था ताकि भू–आकारों का उपयोग मानव के लिए किया जा सके ।

डेविस की विचारधारा कई बातों से प्रभावित थी जिनमें प्रमुख निम्न हैं : –

(i) डेविस का कार्यक्षेत्र संयुक्त राज्य अमेरिका में झीलों वाले एवं आसपास प्रदेश में था जो भूगर्भिक इतिहास की दृष्टि से स्थिर भूखण्ड का भाग है । इस क्षेत्र में मध्यकालीन कल्प (Mesozoic era) से लेकर अब तक कोई पर्वत निर्माणकारी हलचल नहीं हुई । अत : प्रारम्भ से ही इनकी यह मान्यता रही कि जब कोई भू– भाग समुद्र तल से ऊपर उठ जाता है तो उस पर अपरदन के कारक अपना कार्य प्रारम्भ करते हैं और भौगोलिक चक्र की शुरूआत हो जाती है । उत्थान की अवधि छोटी होती है जब तक उत्थान चलता है अपरदन प्रारम्भ नहीं होता । उत्थान पूर्ण होने पर अपरदन प्रारम्भ हो जाता है, यह मत भ्रामक है । एक लम्बी अवधि तक स्थिर भूखण्ड पर अपरदन चक्र चलता रहता है और अन्तोगत्वा एक समप्राय मैदान में चक्र की समाप्ति हो जाती है । अत : डेविस ने पहले भूखण्ड के उत्थान की और फिर लम्बे समय तक अपरदन के क्रम को क्रियाशील माना है ।

(ii) डेविस ने भू आकारों को संरचना, प्रक्रम और अवस्था का परिणाम माना है । अत : संरचना, प्रक्रम और अवस्था का विश्लेषण करते हुए भू–आकारों के विकास को समझना चाहिए ।

अपरदन चक्र की योजना : डेविस ने यह माना कि कोई भी भू–भाग जो हाल ही में समुद्र तल से ऊपर उठा है उसे प्रारम्भिक तल कहा जाता है । इस स्थल पर सर्वप्रथम ढाल के अनुरूप नयी सरितायें विकसित होती है जिन्हें स्वभावोद्भूत (Consequent) सरितायें कहा जाता है
यह अवस्था युवावस्था कहलाती है जिसमें उच्चावच बढ़ना प्रारम्भ होते है । सरिताओं के विकास से धीरे–धीरे दोआब तथा जल विभाजक के बीच की दूरी कम होती जाती है । संरचना का प्रभाव सरिताओं के प्रवाह एव दिशा पर होने लगता है । धीरे–धीरे सरिताओं एवं संरचना में संतुलन की स्थिति आने लगती है और धरातल पर अधिकतम उच्चावच विकसित हो जाते है । दो सरिताओं के बीच की दूरियाँ कम होती चली जाती है और एक नया तल प्रारम्भिक तल के नीचे शुरू होने लगता है जिसका ढाल नतोदार होता है । उच्चावच धीरे–धीरे कम हो जाता है और इस नतोदार तल पर यत्र–तत्र अपरदन से अप्रभावित क्षेत्र शेष रह जाते है जिन्हें मोनेड़नाक

(Monadnock) कहा जाता है । इस प्रकार से भौगोलिक चक्र का समापन एक आकृतिविहीन मैदान मे हो जाता है जिसे डेविस ने समप्राय: मैदान (Peneplain) कहा है ।

डेविस के भौगोलिक चक्र के प्रमुख बिन्दु

(i) डेविस ने उत्थान तथा अपरदन को अलग–अलग समय में प्रारम्भ हुआ माना है । उत्थान की अवधि थोड़ी तथा अपरदन की अवधि लम्बी मानी है । डेविस ने उत्थान तीव्रगति से होना माना है किन्तु कभी –कभी मन्द गति से भी होता है । उत्थान रुकने के बाद अपरदन का प्रारम्भ माना है ।

(ii) डेविस ने अपरदन चक्र की प्रथम अवस्था (Youth) में ऊँचाई तथा उच्चावच दोनों में वृद्धि मानी है । द्वितीय अवस्था प्रौढ़ावस्था (Maturity) में वास्तविक ऊँचाई (Absolute height) को स्थिर माना है । इस अवस्था में उच्चावच निरन्तर बढ़ता है । नदी घाटियों में लम्बवत् कटाव अधिक होता है तथा उत्थान शून्य होता है । तीसरी अवस्था (Old age) में आकर लम्बवत् कटाव से क्षैतिज कटाव बढ़ जाता है और असमान कटाव होने से उच्चावच घटने लगता है । अपरदन द्वारा वास्तविक ऊँचाई (Absolute height) भी धीरे–धीरे कम हो जाती है । अन्त में शनै–शनै उचावच्च निम्न हो जाता है तथा एक आकृतिविहीन मैदान या समप्राय: मैदान निर्मित हो जाता है । इस अवस्था को वृद्धावस्था कहा जाता है ।

(iii) पृथ्वी तल पर स्थलरूप अर्न्तजात तथा बहिर्जात शक्तियों की पारम्परिक क्रिया का प्रतिफल है । अर्न्तजात बल स्थलरूपों का निर्माण करते है तथा बहिर्जात बल उनके समतलीकरण में संलग्न रहते है ।

(iv) सरितायें अपनी घाटी को उस समय तक गहरा करती रहती है जब तक कि ये क्रमबद्ध (Graded) या आधार तल (Base level) को प्राप्त नहीं हो जाती । प्रवणित होने के बाद नदी अपनी घाटी को पार्श्ववर्ती अपरदन द्वारा चौड़ा करती है ।

(v) उत्थान की समाप्ति पर ही अपरदन प्रारम्भ होना माना है ।

(vi) स्थल रूपों का स्वरूप पर्यावरणीय दशाओं में परिवर्तन के समान होता है ।

डेविस के भौगोलिक चक्र का ग्राफिक प्रदर्शन

डेविस के अपरदन चक्र को ग्राफ के द्वारा प्रदर्शित किया गया है । चित्र–8.29 में दो वक्र दिखाए गए है । ऊपरी वक्र धरातल की अधिकतम औसत ऊँचाई को प्रदर्शित करता है तथा निम्न वक्र धरातल के निम्नतम भागों की औसत ऊँचाई को प्रदर्शित करता है । लम्बवत् रेखाएँ क ख के सहारे स्थलखण्ड की ऊँचाई तथा क ग के सहारे समय दिखाया गया है । अ य रेखा प्रारम्भिक औसत ऊँचाई को प्रदर्शित करती है तथा स द अन्तिम अधिक अधिकतम ऊँचाई को प्रदर्शित करती है । इस रेखाचित्र में अपरदन चक्र को तीन अवस्थाओं में प्रदर्शित किया गया है।

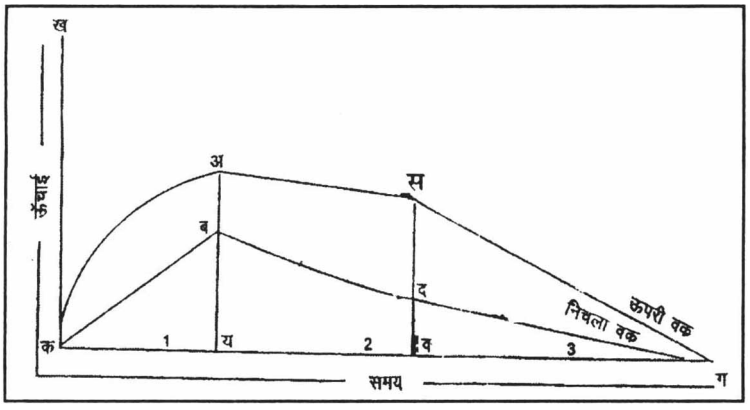

चित्र–8.29 : डेविस का अपरदन ग्राफ

(i) प्रथम अवस्था: इस अवस्था में स्थलखण्ड का उत्थान प्रारम्भ होता है । यह उत्थान क से अ, ब बिन्दुओं तक चलता है तथा इसके बाद उत्थान प्राय: समाप्त हो जाता है । डेविस के अनुसार इस अवस्था में अपरदन नहीं होता, ऊँचाई और उच्चावच दोनों में ही वृद्धि होती है । इस प्रकार अ, ब प्रारम्भिक औसत उच्चावच को प्रदर्शित करते है । डेविस ने इस अवस्था को बहुत छोटा माना है । इसमें सरिता दीर्घाकरण (Stream Length) नदियों का प्रवाह वेगवती होता है । इस अवस्था मे घाटी गर्तन (Valley Deepening) भी होता रहता है ।

(ii) द्वितीय अवस्था : अ, ब के बाद उत्थान समाप्त हो जाता है और अपरदन का कार्य शुरू हो जाता है । इस अवस्था में ऊपरी वक्र पर अपरदन नहीं होता बल्कि निम्न वक्र पर निम्न कटाव की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है जिससे नदियों की घटी तली तीव्र गति से गहरी होती जाती है किन्तु ऊपरी कटकों के भाग अपरदन से अप्रभावित रहते है । इस अवस्था में घाटी का चौड़ा होने (Valley widening) की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है । पहाड़ियों और जल विभाजकों का शीर्ष अपरदन प्रारम्भ हो जाता है । निरपेक्ष उच्चावच कम होने लगता है । घाटियाँ कम गहरी, सरल रेखीय ढाल वाली बन जाती है । मन्द ढाल के कारण प्रवाह वेग एवं परिवहन क्षमता कम हो जाती है । पार्श्विक अपरदन से घाटी चौड़ी हो जाती है । इस प्रकार उच्चावच में वृद्धि होती है और दोनों वक्रों के बीच की दूरी बढ़ जाती है । स, ब बिन्दु अधिकतम उच्चावच को प्रदर्शित करते है ।

(iii) तृतीय अवस्था – वृद्धावस्था में उच्चावच अपरदित होकर समप्राय: मैदान बन जाती है जिसके बीच–बीच में कठोर चट्टानीय शेष बचे भू–आकार रह जाते हैं जिन्हें मोनेडनाक कहा है । नदियाँ आधार तल को प्राप्त कर लेती है । पानी ढाल की न्यूनता या शून्यता के कारण अधिकांश वाष्पीकृत हो जाता है या रिस कर जमीन में चला जाता है। कटाव न्यूनाधिक होता है ।

भौगोलिक चक्र की आलोचना

यदपि डेविस की विचारधारा ने भू–आकृति विज्ञान को एक क्रान्तिकारी मोड़ एव नयी दिशा दी तथा सन् 1899 से 1950 तक इस संकल्पना का बोलबाला रहा, किन्तु कई विद्वानों ने इनके द्वारा प्रतिपादित चक्र की कड़ी आलोचना की । इनके आलोचकों में जर्मन विद्वान वाल्टर पेन्क प्रमुख है जिन्होंने डेविस की चक्रीय योजना को पूर्ण स्वीकृति नहीं दी –

(i) पेन्क ने सर्वप्रथम चक्र शब्द से आपत्ति उठाई । डेविस ने जो तीन अवस्थायें चक्र की मानी थी उनके स्थान पर इसने प्रावस्थायें (Phases) मानी जिनके नाम इन्होंने जर्मन भाषा में - Aufstegende Entwicklung. Abstegende Entwicklung, Gleichformige Entwicklung आदि शब्दों का उपयोग किया । डेविस के अनुसार चक्र की तीनों अवस्थायें समाप्त होने पर स्थल खण्ड दीर्घकाल तक स्थिर दशा में रहता है, परन्तु प्लेट विवर्तनिकी सिद्धान्त के अनुसार ऐसा सम्भव नहीं है । स्थल खण्ड सदा गतिशील रहते हैं ।

(ii) डेविस ने स्थल रूपों को संरचना, प्रक्रम और अवस्था का प्रतिफल माना जबकि पेन्क ने स्थल रूपों को उत्थान की दर तथा अपरदन की दर का प्रतिफल माना । इन्होंने स्पष्ट किया कि धरातल बहुत ही अस्थिर होता है अत : उत्थान की दर को अपरदन से अलग नहीं किया जा सकता । डेविस के शब्दों मे अपरदन उत्थान की प्रतीक्षा नही कर सकता । डेविस ने प्रारम्भ में त्वरित उत्थान की बात कही है जब कि प्लेट विवर्तनिकी सिद्धान्त के अनुसार उत्थान की प्रक्रिया सतत चलती रहती है तथा इसकी दर मन्द होती है ।

(iii) पेन्क ने डेविस की ढाल के क्षय Downwasting of slope की विचारधारा पर भी आपत्ति उठाई । इन्होंने कहा कि ढालों का विकास डेविस द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के द्वारा नहीं होता बल्कि ढाल पुर्नस्थापन Slope replacement के तरीके से होता है । डेविस स्वयं ने भी आगे चलकर शुष्क प्रदेशों में ढाल विकास के क्रम को पेन्क के अनुसार ही माना । पेन्क ने ढाल को उत्थान और अपरदन का प्रतिफल माना ।

(iv) कुछ विद्वानों का कहना है कि डेविस ने अपने भौगोलिक चक्र की विचारधारा को बहुत अधिक सरल बना दिया जिसमें भूगर्भशास्त्र के अन्य नियमों का ध्यान नहीं रखा गया और केवल सामान्य रचना वाले भागों में पूर्व उत्थान मानकर भौगोलिक चक्र की कल्पना की, जो त्रुटिपूर्ण है ।

(v) डेविस की विचारधारा भूगर्भिक इतिहास की दृष्टि से अस्थिर भागों में लागू नहीं होती बल्कि कठोर पिंडों वाले (Shield) भागों में ही कुछ हद तक लागू होती है ।

(vi) डेविस उत्थान और अपरदन को अलग–अलग मानते है जबकि पेन्क का कहना है कि दोनों एक साथ सम्पन्न होते है, अर्थात् चक्र की शुरूआत उत्थान से होती है और धीरे–धीरे अगली अवस्थाओं में उत्थान कम होता जाता है और अपरदन की दर बढ़ती जाती है । वुलड्रिज एवं मोर्गन ने भी कहा है कि अपरदन तथा उत्थान में निश्चय ही कुछ सीमा तक अतिव्यापन (Overlapping) होता है तथा चक्र निश्चय ही सागर तलों के

प्रथम निर्गमन (Emergence of sea floor) अथवा स्थलखण्ड की प्रथम निरूपणकारी हलचल के साथ ही आरम्भ हो जाता है ।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि डेविस के विचारों ने अमेरिका तथा यूरोप में विद्वानों को एक नई दिशा दी और इनके विचारों से उत्साहित होकर भू–आकृति विज्ञान में काफी कार्य हुआ।

8.6.2 अपरदन चक्र के बारे में बाल्टर पेंक के विचार

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि डेविस की भौगोलिक चक्र की विचारधारा को पेन्क ने चुनौती दी । पेन्क जर्मन भूगर्भशास्त्री थे । इनके विचार ''मार्फोलाजिक सिस्टम'' या 'मार्फोलाजिकल एनालिसिस'' में किये गये हैं । जिसको समझना बहुत ही मुश्किल है । वास्तव में पेन्क और डेविस के उद्देश्यों में आधारभूत अन्तर था । डेविस का भूगोलवेत्ता होने के नाते अन्तिम उद्देश्य भू– आकारों के अध्ययन को भू–पटल विरूपणकारी इतिहास को समझने में एक माध्यम के रूप में माना है । अर्थात् स्थलरूपों की विशेषताओं की व्याख्या के आधार पर किसी भी प्रदेश के विवर्तनिकी इतिहास की व्याख्या करना चाहते थे । उन्होंने बताया कि स्थल रूपों का विकास समय आधारित न होकर समय स्वतन्त्र होता है । इसके अतिरिक्त पेन्क का अध्ययन क्षेत्र आल्पस पर्वत वाला क्षेत्र था जो भूगर्भिक इतिहास की दृष्टि से बहुत ही अस्थिर रहा है । यही कारण है कि पेन्क ने उत्थान और अपरदन को साथ–साथ मानकर भू–आकारों को समझाने का प्रयास किया । पेन्क ने अपरदन चक्र की शुरूआत Primarrumpf से की जो कि एक गुम्बदनुमा नतोदर ढाल वाली स्थलाकृति होती है ।यह भूखण्ड प्रारम्भ में मन्द गति से उठता है और फिर तीव्र गति से उठता जाता है । इसी के साथ अपरदन का कार्य भी प्रारम्भ हो जाता है । उत्थान की दर के अनुसार इन्होंने अपरदन चक्र को तीन अवस्थाओं में विभाजित किया जो निम्न हैं – (चित्र–8.30) ।

(i) ऑफ स्टेजेन्डे इटिवकलुंग (Aufstegende Entwicklung) : पेन्क ने इसे उत्थान की प्रथम अवस्था माना जिसमें प्रारम्भ में स्थलखण्ड धीरे–धीरे उठने लगता है और कुछ समय बाद ही उत्थान की दर अधिक हो जाती है । इस अवस्था में स्थलरूपों का विकास तीव्र गति से होता है । उत्थान की अधिक दर, जलमार्ग, प्रवाह वेग एवं गतिक ऊर्जा में वृद्धि के कारण नदियों तीव्र गति से घाटी गर्तन से घाटी को गहरा करती है । अधिक उत्थान एवं अपरदन के कारण विभिन्न घाटी तलों पर सोपान विकसित हो जाते हैं, जिन्हें पेंक ने 'पीडमाण्ट ट्रेपेन'' या 'पीडमाण्ट फ्लेश'' नाम दिया है । उत्थान की दर से अपरदन की दर अधिक होने के कारण नदी –घाटियों का पार्श्ववर्ती ढाल उन्नतोदर होता है ।

(ii) ग्लीखफर्मिंग इटिवकलुंग Gleichformige Entwicklung (Uniform Development) : यह द्वितीय अवस्था है जिसमें उत्थान तथा अपरदन की दर समान होने के कारण उच्चावच का अधिकतम विकास होता है । उत्थान की दर समान होने के कारण नदियों के पार्श्ववर्ती उन्नतोदर ढाल अपरदित होकर सीधे हो जाते हैं और धीरे–धीरे ढाल समानान्तर रूप से पीछे खिसकने लगता है ।

(iii) आब स्तीजिंडे इंटिवकलुंग (Abstegende Entwicklung) : यह उत्थान की अन्तिम अवस्था है । इस अवस्था में भू–भाग मन्द गति से उठता जाता है जिसके परिणामस्वरूप नतोदर ढाल का विकास होता जाता है । अन्त में भू–भाग एक आकृति विहीन मैदान के रूप में परिवर्तित हो जाता है । जिसे पेन्क ने ''इन्ड्रम्प'' (Enderumpf) कहा है । इसकी समता डेविस के पेनीप्लेन (Peneplain) से की जा सकती है । इसमें तीव्र ढाल वाली नुकीली पहाड़ियाँ रह जाती हैं, जिन्हें ''इन्सल बर्ग'' की प्रौढ़ावस्था माना है ।

पेन्क की विचारधारा का ग्राफिक प्रदर्शन: पेन्क द्वारा प्रतिपादित अपरदन चक्र की व्यवस्था को रेखाचित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है । प्रस्तुत रेखाचित्र 8.30 में तीन वक्र प्रदर्शित किये गये हैं । ऊपरी वक्र उत्थान की दर को प्रदर्शित करता है, मध्य वक्र पर्वत शिखरों की अधिकतम ऊँचाई या औसत ऊँचाई तथा निम्न वक्र निम्नतम औसत ऊँचाई या घाटीतल को प्रदर्शित करते हैं (चित्र– 8.30) ।

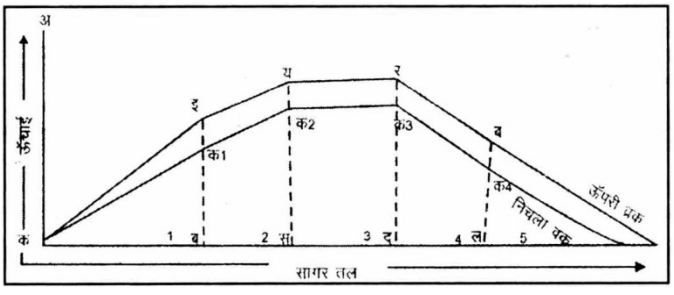

चित्र–8.30 : पेंक के चक्र का रैखिक प्रदर्शन

डेविस व पेन्क के विचारों का मूल्यांकन

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि डेविस और पेन्क के विचारों में आधारभूत अन्तर पाया जाता है । पेन्क की विचारधारा कठिन जर्मन भाषा में होने के कारण समझने में मुश्किल पड़ती है । पेन्क ने उत्थान की दर तथा अपरदन की दर को साथ –साथ माना, जिसे वास्तव में मात्रात्मक रूप से समझाना बहुत मुश्किल है । डेविस ने भी आगे चलकर पेन्क के विचारों को विशेष रूप में रेगिस्तानी प्रदेशों में ढालों के विकास के संदर्भ में माना । नीचे डेविस और पेन्क के विचारों का तुलनात्मक वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है –

(i) डेविस के अनुसार अपरदन से पूर्व भूखण्ड का उत्थान प्राय : समाप्त हो जाता है । तदोपरान्त अपरदन शुरू होता है । इसके विपरीत पेन्क के अनुसार उत्थान तथा अपरदन एक साथ चलते है । जैसे–जैसे स्थल खण्ड ऊपर उठता है, अपरदन प्रारम्भ हो जाता है, कुछ समय बाद उत्थान की दर कम हो जाती है और अपरदन चलता रहता है।

(ii) डेविस के अनुसार उत्थान का समय कम होता है और अपरदन की अवधि लम्बी होती है, इसके विपरीत पेन्क के अनुसार यह सीमा अधिक भी हो सकती है और कम भी । डेविस उत्थान की गति तीव्र मानते हैं जबकि पेन्क उत्थान की दर को असमान मानते है ।

(iii) डेविस भू–आकारों को संरचना, प्रक्रम एवं अवस्था का परिणाम मानते हैं जबकि पेन्क स्थल रूपों को उत्थान की दर और अपरदन की दर के सम्बन्ध का प्रतिफल मानते हैं।

(iv) डेविस चक्र का प्रारम्भ उत्थित प्रारम्भिक तल पर मानते हैं जो संरचनात्मक दृष्टि से विभिन्न इकाइयों का होता है। पेंक चक्र क प्रारम्भ फैलते हुए आकृतिविहीन गुम्बदनुमा (Primurumpf) स्थल रूप पर मानते है ।

(v) डेविस ने अपरदन चक्र की तीन अवस्थायें मानी – युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और जीर्णावस्था । पेन्क ने इनके स्थान पर प्रावस्थायें मानी जिनका नामकरण उत्थान की दर के अनुसार किया, (i) ऑफ स्तीजिंडे इंटिवकलुंग (Aufsteigende), (ii) ग्लीखफर्मिग इंटिवकलुग (Gleichformige) एवं (iii) आबस्तीजिंडेइंटिवकलुंग (Abstegigende) है ।

(vi) डेविस ने अपने भौगोलिक चक्र को प्रस्तुत करने में ढालों के विकास पर अधिक जोर नहीं दिया । पेन्क ने ढालों के विकास को प्राथमिकता दी और तीनों प्रावस्थाओं में उन्नतोदर, सीधे और नतोदर ढालों का विकास स्पष्ट किया ।

(vii) डेविस ने अपरदन की अन्तिम अवस्था समप्राय : मैदान की (Peneplain) कल्पना की तथा पेन्क ने इन्ड्रम्प (Endrumpf) कल्पना को साकार, किया ।

जे. टी. हेक का भू–आकृतिक मॉडल (Gemorphic Model of J.T. Hack)

बीसवीं शदी में आर्थर एन.स्ट्रालर, जे. टी. हैक, आर. जे. चोर्ले आदि ने डेविस की संकल्पना को अस्वीकृत करके ''गतिक सन्तुलन सिद्धान्त'' का प्रतिपादन किया । भू–आकृतिक वैज्ञानिक हैक के सिद्धांत के अनुसार (Dynamic Equilibrium Theory) अधिकांश स्थलरूप कार्य के लिए उपलब्ध ऊर्जा (अपरदन एवम् परिवहन कार्य) और जो कार्य हो चुका है उसके बीच गतिक सन्तुलन में है । (Most of the landscapes are in uneasy dynamic equilibrium between available energy for work (erosion and transportation) and the work being done) हेक के अनुसार क्षेत्रीय उच्चावच में धीर–धीरे और लगातार निम्नीकरण होता है तो कोई भी खुले सिस्टम का स्थलरूप–सही दशा में नहीं रह सकता । हेक का यह सिद्धान्त कि प्रत्येक स्थल रूप परिवर्तित पर्यावरणीय दशाओं से सामंजस्य रख सकता है और संयोजन कर सकता है यह भ्रम युक्त है । हेक का सिद्धान्त वास्तव में डेविस के अपरदन चक्र एवं पेंक के ''मार्फोलोजीकल सिस्टम'' सिद्धान्त की अत्यधिक आलोचना और डेविस के स्थलरूपों के विकास के माडल को विद्वानों द्वारा अस्वीकृत करने के बाद एक नई किरण लेकर आया । हेक ने कहा कि 'गतिक सन्तुलन' का सिद्धान्त स्वम एक मॉडल नहीं है वरन् यह प्रकृति में एक वास्तविकता है । हेक का मॉडल पूर्णतया खुले सिस्टम के सिद्धान्त पर आधारित है । हेक का सिद्धान्त पूर्ण तथा समय की स्वतंत्रता का पोषक है या स्थलरूपों का विकास समय रहित है । हेक महोदय ने स्थल रूपों के स्थल संयोजक का मॉडल भी प्रस्तुत किया है । उन्होंने बताया कि धरातलीय भू–आकार और प्रक्रम चट्टानों में विभेदन और उन पर जो प्रक्रम चालू है उनके बीच घनिष्ठ अर्न्तसम्बन्ध होता है, की व्याख्या की है । हेक के मॉडल को इस प्रकार व्यक्त किया गया है ''Geomorphic system in an open system which always tends

towards steady state, the shape of the landforms reflects the balance between the resistance of the underlying materials to erosion and the erosive energy of the active process. हेक ने स्पष्ट किया कि स्थलरूपों का विकास वास्तव में उस खुले सिस्टम के अंग है जो स्थलरूपों और उनसे सम्बन्धित प्रक्रम जिससे यह निर्मित है के स्थिर संतुलन में है । "The landscape and the processes that form it are part of an open system which is in steady balance.'' (Hack 1960) । हेक ने अपनी परिकल्पना के आधार पर निम्न संदर्भ सिस्टम दशायें । (i) चट्टानीय दृढ़ता एवम् अनाच्छादन प्रक्रम के बीच संतुलन होता है । (ii) स्थलरूपों के सभी अवयवों में समान दर से निम्नीकरण होता है । (iii) स्थलरूपों की भिन्नतायें और विशेषतायें क्षैतीजीय सम्बन्धों की दृष्टि से स्पष्ट किये जा सकते हैं जिसके मुताबिक प्रारूप प्राथमिक और सोच के विषय में है । (iv) अनाच्छादन के प्रक्रम जो आज क्रियाशील हैं वे पृथ्वी की सतह के स्थल के निर्माण के लिए उत्तरदायी है । (v) स्थलरूपों का धरातल से सांमजस्य है।

उक्त सोच के साथ हेक ने कहा "That evolution is also a fact of nature and that the inheritance of form is always a possibility.'' (Hack 1960). Further he remarks that ''landforms do experience changes with changing equilibrium conditions but these changes are not like Davisian evolutionary changes. हेक ने उत्थान की दर अपरदन की दर से संतुलन में होना बताया है । ज्यों–ज्यों उत्थान की दर बढ़ती है त्यों–त्यों धरातल भी बढ़ता है ताकि अपरदन की दर उत्थान की दर से सामंजस्य रख सके । जब उत्थान समाप्त हो जाता है तो धरातल भी निम्न हो जाता है । किन्तु कटक और बीहड़ धरातल उपस्थित हो जाता है । यह गतिक सन्तुलन सिद्धांत की दशाओं की सामान्य दशा है । ब्लूम ए. एल. ने सही लिखा है "If however tectonics and climatic changes invalidate the assumption of initial uplift or other constructional process followed by still stand and landscape evolution then the dynamic equilibrium modal changing only from disequilibrium to equilibrium is most suitable as a basis for interpreting the present land. A.L. Bloom." स्पष्ट है गतिक सन्तुलन के सिद्धान्त ने स्थलरूपों के विकास का एक नया मॉडल प्रस्तुत किया है जो भूगोलवेत्ताओं के लिए नई दिशा प्रदान करता है ।

बोध प्रश्न – 2

1. सामान्य अपरदन चक्र की परिभाषा दीजिये ।

   .....

   .....

2. डेविस का त्रिकूट क्या है?

   .....

   .....

3. पेन्क ने डेविस के भौगोलिक चक्र की आलोचना किस प्रमुख विचार पर की?

.....

.....

4. निम्न में से कौन सा अवयव त्रिकूट का नहीं है?

(अ) संरचना (ब) प्रक्रम

(स) अवस्था (द) समय

5. हेक के गतिक सन्तुलन सिद्धान्त की परिभाषा दीजिये ।

8.7 सारांश (Summary)

पृथ्वी तल पर अन्र्तजात (Endogenetic) एवम् बर्हिजात बल (Exogenetic force) सतत कार्य करते आ रहे है । इनमें प्रारम्भ से ही संघर्ष चलता आ रहा है । अन्र्तजात बल पृथ्वी तल पर उच्चावच का निर्माण करते हैं तथा बर्हिजात बल उच्चावच की काट–छाँट कर उसे समतल मैदान में परिवर्तित करते रहते है । बर्हिजात–बलों में नदी, हिमनद, वायु, भूमिगत जल तथा लहरें प्रमुख है । नदी सामान्यतः हर क्षेत्र/प्रदेश में पाई जाती है और धरातल पर मुख्य अपरदन का साधन है । नदी, हिमनद, वायु, भूमिगत जल एवम् लहरें सभी से अपरदनात्मक एवम् निक्षेणात्मक वैविध्य् भू–आकारों का निर्माण संरचना, प्रक्रम एवम् अवस्था के अनुरूप सम्पन्न होता है । इनके द्वारा युवावस्था, प्रौढ़ावस्था एवम् वृद्धावस्था में बने विभिन्न प्रकार के भू–आकार पृथ्वी तल पर पाये जाते है जिनका वर्णन इकाई 8 में किया गया है । प्रसिद्ध अमेरिकन भूगोलवेत्ता विलियम मोरिस डेविसन ने इन बर्हिजात बलों द्वारा भू–आकारों के चक्रीय विकास की अवधारणा 1899 में ''सामान्य अपरदन चक्र'' के नाम से प्रस्तुत की जो सर 1950 तक पूर्ण रूप से व्यवहार में लाई गई किन्तु जर्मन विद्वान वाल्टर पेंक ने प्रावस्थाओं की परिकल्पना प्रस्तुत कर डेविस के मत की आलोचना की और तत्पश्चात् जे. टी. हैक ने भू–आकारों के विकास का ''गतिक सन्तुलन'' का विचार रखा । इस प्रकार पृथ्वी तल के भू–आकारों के विकास और उनकी व्याख्या उक्त पृष्ठों में की गई है ।

नदी का अपरदन एवम् निक्षेप सामान्य अपरदन चक्र कहलाता है । नदी अपनी घाटी को गहरी, चौड़ी एवम् लम्बी करती है साथ ही कई अपरदनात्मक एवम् निक्षेपण के भू–आकार भी बनाती है कई भू– आकार मानव के लिए बहुत उपयोगी होते हैं । नदियाँ स्वयं ही जीवनदायिनी सरितायें हैं जिनमें पानी भरा रहता है ।

8.8 शब्दावली (Glossary)

- **अपवाह या प्रवाह (Drainage) :** पृथ्वी तल पर एक निश्चित धारा के रूप में बहता हुआ वह पानी जो ढाल प्रवणता, गुरुत्वाकर्षण एवम् समय और संरचना के अनुकूल प्रवाहित होता है वह उपचार या प्रवाह या नदी कहलाती है ।

- **अपक्षय (Weathering) :** पृथ्वी तल पर ताप, जल, वर्षा, हिम आदि के प्रहारों से जो चट्टान या ऊपरी सतह टूटकर, विखंडित होकर चट्टान चूर्ण एक ही स्थान पर पड़ी–पड़ी बदल जाती है । उसे अपक्षय या विखण्डन कहते है ।
- **अपरदन (Erosion)** : बर्हिजात बलों के द्वारा भूपटल पर गति एवं ऊर्जा का उपयोग करते हुए काट–छाँट की जाकर विविध भू–आकारों का निर्माण किया जाता है से अपरदन कहते है।
- **अपघर्षण (Abrasion) :** बाह्य अपरदनकारी शक्ति किसी भी भू–आकार को घिसकर अपरदित करती है उसे अपघर्षण कहते है ।
- **सन्निघर्षण (Corrasion) :** अपरदनकारी शक्ति द्वारा विस्तृत अपरदित सामग्री को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने की प्रक्रिया में उपलब्ध सामग्री आपस में भिड़कर टूटती फूटती और छोटी होती रहती है उसे सन्निघर्षण कहते है ।
- **आधार तल (Base Level) :** लम्बवत् कटाव की सीमा को या जिस स्तर पर आकर बाह्य अपरदनकारी शक्ति नदी कटाव लगभग बन्द कर देती है तथा नदी संतुलित अवस्था में आ जाती है उसे "आधार तल" कहते है ।
- **डेविस का त्रिकूट (Trio of Davis) :** डेविस ने अपरदन चक्र का आधार संरचना (Structure) प्रक्रम (Process) एवम् अवस्था (Stage) माना है यही डेविस का त्रिकूट कहा जाता है ।

8.9 संदर्भ ग्रन्थ (Reference Books)

1. सिंह, सविन्द्र : भौतिक भूगोल, वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर (उ.प्र.), 2003
2. मामोरिया एवम् जैन : भौतिक भूगोल, साहित्य भवन, आगरा (उ.प्र.), 2007
3. शर्मा, एच.एस.,शर्मा, एम.एल., मिश्रा, आर.एन. : भौतिक भूगोल, पंचशील प्रकाशन, जयपुर (राज.), 2007
4. Wooldridge and Morgan, Physical Basis of Geography, U.K., 1965
5. Strahler, A,N. : Physical Geography, Johnwiley & Sons, U.S.A, 1964

8.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1. नदी एक बहते पानी की नियंत्रित धारा होती है जो ढाल प्रवीणता, गुरुत्वाकर्षण के कारण बलखाती, बाधाओं का गतिक्रमय करती गन्तव्य की ओर बहती है ।
2. नदी घाटी का गहरा होना निम्न बातों पर निर्भर रहता है
   (i) नदी घाटी के ढाल का तेज होना
   (ii) पानी की विपुल मात्रा (iii) नदी में लोड की मात्रा
   (iv) शैल संरचना (v) नवानुवर्ती घाटी

3. आनुवांशिकी क्रमानुसार चार नदी घाटियों के नाम निम्न है ।
   (i) अनुवर्ती घाटी, (ii) परवर्ती घाटी
   (iii) प्रत्यानुवर्ती घाटी (iv) नवानुवर्ती घाटी
4. भ्रंश घाटी (ब)
5. केन्द्र त्यागी प्रवीण प्रणाली मे नदियाँ केन्द्र स्थल से बाहर की ओर निकलती हैं जबकि केन्द्रोन्मुखी में नदियाँ चारों ओर से चलकर केन्द्र अर्थात् झील आदि में आकर मिलती हैं जैसे सांभर झील में आती है ।

बोध प्रश्न– 2

1. सामान्य अपरदन चक्र वह अवधि है जिसमें एक उत्थित भू–आकार अपरदन के साधन द्वारा काट–छाँट कर एक समप्राय: मैदान में परिवर्तित हो जाती है ।
2. डेविस ने अपरदन के तीन महत्वपूर्ण कारक बताये है वे–संरचना, प्रक्रम एवम् अवस्था है । यही तीनों डेविस के त्रिकूट के नाम से जाने जाते है ।
3. पेंक ने डेविस के अपरदन चक्र की आलोचना अपरदन चक्र की विधि पर की । डेविस ने बताया कि प्रारम्भ में अपरदन प्रारम्भ नहीं होता है । उत्थित भू–आकार अचानक या मन्दगति से उभरता है और उस भू–आकार पर उसके ऊपर उठने के बाद कालान्तर में अपरदन प्रारम्भ होती है । इस बात से पेंक सहमत नहीं थे उनका कहना था कि उत्थान एवम् अपरदन दोनों एक साथ प्रारम्भ होते हैं । अपरदन उत्थान का इंतजार नहीं करता है। दूसरी डेविस ने अवस्थायें बताई है जबकि पेंक ने प्रावस्था (Phases) बताई है ।
4. समय त्रिकूट का अवयव नहीं है ।
5. हेक ने प्रकृति के खुले सिस्टम में गतिक सन्तुलन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है ।

8.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. नदियों का आनुवांशिक वर्गीकरण दीजिये ।
2. संरचनात्मक वर्गीकरण के अनुसार नदियों के नाम दीजिये ।
3. नदी के अपरदन से बने भू–आकारों का सचित्र वर्णन करिये ।
4. नदी के निक्षेप से बने भू–आकारों का वर्णन कीजिये ।
5. डेविस के सामान्य अपरदन चक्र की व्याख्या कीजिये ।

इकाई 9 : हिमानी, वायु, भूमिगत जल तथा सामुद्रिक लहरों द्वारा निर्मित भू–आकार (Landforms formed by Glacier's, Wind, Underground Water and Sea Waves)

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 हिमनद की परिभाषा एवम् विकास

- 9.2.1 हिमनदों के प्रकार और खिसकना तथा हिमालय के हिमनद
- 9.2.2 हिमानी द्वारा निर्मित अपरदनात्मक भू–आकार
- 9.2.3 हिमानी निक्षेपण से बने भू–आकार
- 9.2.4 हिमानी जलोढ़ निक्षेप से बने भू–आकार

9.3 मरुस्थल–प्रकार एवं प्रसार

- 9.3.1 मरूस्थलीय प्रदेशों में हवा द्वारा अपरदन
- 9.3.2 अपरदन से बने भू–आकार
- 9.3.3 निक्षेपण से बने भू–आकार

9.4 कार्स्ट भू–आकार

- 9.4.1 कार्स्ट या चूने के प्रदेशों में भूमिगत जल के स्रोत
- 9.4.2 कार्स्ट प्रदेश के अपरदनात्मक भू–आकार
- 9.4.3 कार्स्ट प्रदेश में निक्षेपण से बने भू–आकार

9.5 समुद्री तट

- 9.5.1 सह तट पर लहरों का कार्य
- 9.5.2 अपरदनात्मक भू–आकार
- 9.5.3 निक्षेपणात्मक भू–आकार
- 9.5.4 समुद्री किनारों का वर्गीकरण

9.6 सारांश

9.7 शब्दावली

9.8 संदर्भ ग्रन्थ

9.9 बोध प्रश्नों के उतर

9.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

9.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप समझ सकेगें कि :–

- हिमानियों का निर्माण और उनके प्रकार,
- हिमानी कृत अपरदनात्मक एवम् निक्षेपणात्मक भू–आकार,
- मरुस्थल, मरुस्थलों के प्रकार एवम् मरुस्थलों में हवा का कार्य,
- मरुस्थलों में हवा का अपरदन और अपरदन से बने भू–आकार,
- मरुस्थलों में निक्षेपण से बने भू–आकार,
- कार्स्ट स्थलाकृति के क्षेत्र एवम् भूमिगत जल,
- चूने के प्रदेशों में अपरदनात्मक भू–आकार,
- कार्स्ट प्रदेशों में निक्षेपणात्मक भू–आकार,
- समुद्री तट तथा लहरों के कार्य को प्रभावित करने वाले कारक,
- समुद्री तटों पर लहरों का अपरदनात्मक कार्य एवम् तत्सम्बन्धी भू–आकार,
- लहरों का जमाव कार्य,
- समुद्री तट रेखाओं के प्रकार ।

9.1 प्रस्तावना (Introduction)

विश्व धरातल पर विभिन्न प्रकार की चट्टानीय संरचना, स्वरूप एवम् प्रक्रम पाये जाते हैं । अर्न्तजात बल –महादेशीय एवम् अकस्मात दोनों से नवनिर्मित भू –आकारों पर बर्हिजात बलों यथा –पानी, हवा, लहरों, हिम आदि से अनवरत एवं प्रारंभ से ही अपरदन का कार्य प्रारंभ हो जाता है । इसी प्रकार अन्य बहिर्जात बल भी यथा हिमानी, वायु, भूमिगत जल एवम् समुद्री लहरें पृथ्वी के धरातल पर अनेकानेक अपरदनात्मक एवम् निक्षेपणात्मक भू–आकारों को जन्म देते है जो मानव के लिए अति हितकारी है । अत : इनको समझना हमारे लिए आवश्यक है ।

हिमनद की परिभाषा एवम् विकास

हिमपात के समान छोटे–छोटे कणों से होता है । सतह पर यह भुरभुरे पाउडर के समान बिछ जाता है । कणों के बीच का स्थान जब जल से भरकर पुन : जम जाता है तब पाउडर पत्थर के समान कठोर हो जाता है जिसे बर्फ (Ice) कहते हैं । इसमें हवा युक्त छिद्र नहीं रहते है । जब हिम का जमाव अधिक हो जाता है तब वह स्वयं के दबाव के कारण मंद गति में गुरुत्वाकर्षण के कारण निश्चित मार्गों से बहना प्रारम्भ करता है जिसे ग्लेशियर या हिमनद कहते है । सर्वप्रथम 1834 में लुई अगासिस ने हिमनद के बहने की बात कही थी । उन्होंने हिमनद के किनारों और मध्य में लट्ठे गाड़कर बहने की प्रक्रिया को प्रमाणित किया था । वह ऊँचाई जहाँ तक वर्ष भर हिम आवरण रहता है उस रेखा को "हिमरेखा" (Snow line) कहते है। हिमरेखा की ऊँचाई विभिन्न क्षेत्रों में अलग अलग होती है । उच्च अक्षांशों में हिमरेखा समुद्र तल पर ही होती है जबकि आल्पस में 4000 मीटर और हिमालय में 5000 मीटर रहती है । इसी हिमरेखा से हिमनद प्रसारित होते हैं (चित्र–9.1)

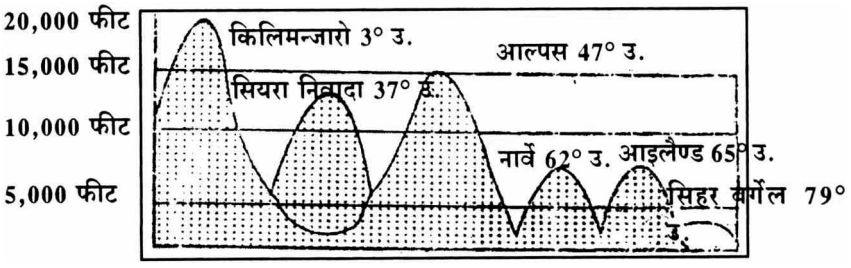

चित्र–9.1 : हिमरेखा

9.2 हिमनदों के प्रकार (Types of Glaciers)

(i) **पर्वतीय या घाटी हिमनद (Valley Glacier) :** वे प्रदेश जो हिम रेखा के ऊपर होने के कारण हिमाच्छादित रहते हैं तथा पहले से बनी घाटियों में हिम की क्रिया करते है । इनमें से कुछ हिम टोपियों में हिमचादर से हिम आता रहता है । अनेक सर्क ग्लेशियर भी मिलकर 'घाटी ग्लेशियर' बनाते है । ऐसे ग्लेशियर गुरुत्व के कारण नीचे तक उतर आते है। उन्हें ''घाटी हिमनद'' कहते है । इनकी खोज अल्पाइन क्षेत्र में हुई थी । इसीलिए इन्हें ''अल्पाइन हिमनद'' भी कहते है ।

(ii) **हिमचादर या हिम टोपी (Ice sheet or ice cap) :** महाद्वीपीय आकार के प्रदेश या पठारी प्रदेश के पर्वतीय चोटियों पर स्थित हिम आवृत प्रदेश को ही ''हिमटोपियां'' कहते है। आइसलैण्ड की हिमटोपी प्रसिद्ध है । 50000 वर्ग कि.मी. में विस्तृत गुम्बदाकार हिमपिण्ड को ''हमचादर'' कहते है । हिम चादर एवं हिम टोपी के केन्द्रीय भाग को ''हिमगुम्बद'' कहते है । ग्रीनलैण्ड तथा अन्टार्कटिका के हिम क्षेत्र प्रमुख हिम चादर है ।

(iii) **पर्वत पदीय हिमनद (Piedmont Glacier) :** जहां पर्वत पदीय क्षेत्रों में कई ग्लेशियरों के मिलन पर हिम आवरण बन जाता है और वह हिमरेखा के नीचे उतरने वाले ग्लेशियरों के मिलने से बनता है । उसे पर्वत पदीय हिमनद कहते है । अलास्का का मेलास्पिन्ना हिमनद इसका उदाहरण है ।

(iv) **महाद्वीपीय हिमनद (Continental Glacier) :** जब बर्फीले विशाल क्षेत्र में बर्फ के, लगातार एकत्रित होने से हिम की विस्तृत चादर का विकास हो जाता है तो उस भाग के सर्वाधिक विस्तार वाले हिमनद को 'महाद्वीपीय हिमनद'' या 'हिमचादर'' भी कहते हैं । महाद्वीप के उच्च भाग से चारों ओर हिम मन्द गति से खिसकने लगती है । प्लीस्टोसीन युग में महाद्वीपीय हिमनद उतरी अमेरिका, यूरोप, ग्रीनलैण्ड में था । वर्तमान में ग्रीनलैण्ड एवं अन्टार्कटिका महाद्वीप पर महाद्वीपीय हिमनद पाये जाते हैं ।

हिमालय के ग्लेशियर

हिमालय की उच्च श्रेणियों में लगभग 15000 ग्लेशियर है जिसमें 60 कि.मी. लम्बे से 3–5 किमी. तक के छोटे ग्लेशियर सम्मिलित हैं । ध्रुवीय प्रदेशों के अतिरिक्त सबसे बड़े ग्लेशियर हिमालय में मिलते हैं । हिमालय का लगभग 33000 वर्ग किमी. क्षेत्र अथवा 17 प्रतिशत भाग हिमाच्छादित है । इसमें से लगभग 16000 वर्ग किमी. अथवा लगभग आधा कराकोरम श्रेणी में है । जब कि आल्पस का केवल 2.2 प्रतिशत भाग मात्र हिमाच्छादित है ।

सन् 1850 के बाद हिमालय के ग्लेशियर सिकुड़ रहे हैं या आकार में छोटे हो रहे हैं । हिमालय के कुछ प्रमुख हिमनद निम्न हैं : –

क्र.सं.	हिमनद का नाम	लम्बाई वर्ग कि.मी. में	प्रकार	क्षेत्र
1.	रिमो	40	लम्बवत्	कश्मीर
2.	पूनम	27	अनुप्रस्थ	कश्मीर
3.	रूपल	16	अनुप्रस्थ	कश्मीर
4.	हिस्पार	66	लम्बवत्	कराकोरम
5.	बियाफा	62	लम्बवत्	कराकोरम
6.	बाल्टोरो	58	लम्बवत्	कराकोरम
7.	सियाचिन	72	लम्बवत्	कराकोरम
8.	सार्साइनी	168.4	अनुप्रस्थ	कराकोरम
9.	मिलाम	28	अनुप्रस्थ	कुमांयू
10.	केदारनाथ	14	अनुप्रस्थ	कुमांयू
11.	गंगोत्री	30	अनुप्रस्थ	सिक्किम
12.	कंचनजंगा	16	लम्बवत्	सिक्किम

हिमनद अपरदन से बने भू–आकार

1. 'U' आकार की घाटी या ग्लेशियर घाटी ('U' shaped valley or Glacier trough) – यह घाटी नदी की घाटी के समान टेढ़ी–मेढी तथा ढाल एवं पर्वत स्कंध (Spurs) वाली नहीं होती है । तीव्र ढलान वाले पथरीले किनारे, चौड़ी तलहटी तथा सीधी खड़े किनारे ग्लेशियर की विशेषता है । यह अंग्रेजी के 'U' अक्षर के आकार की होती है । हिमनद नवीन घाटी का निर्माण नहीं करता वरन् नदी द्वारा निर्मित घाटियों को ही परिवर्तित एवं परिवर्द्धित कर उसमें बहने लगता है । गंगोत्री हिमनद की 'यू' आकार की घाटी हिमालय क्षेत्र में इसका उदाहरण है (चित्र–9.2क) ।

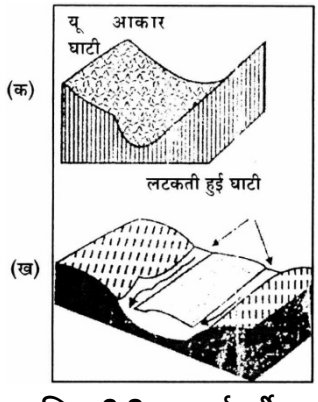

चित्र–9.2 : पार्श्ववर्ती

2. **लटकती हुई घाटी (Hanging Valley) :** मुख्य ग्लेशियर में अनेक छोटे–छोटे ग्लेशियर आकर मिलते हैं । ये सभी हिम से आपूरित रहते हैं । हिम के पिघलने के बाद घाटियाँ दिखती हैं तो मुख्य ग्लेशियर तथा सहायक ग्लेशियर की घाटियाँ एक ही ऊँचाई पर नहीं मिलती हैं । मुख्य ग्लेशियर की घाटी अधिक गहरी होती है क्योंकि हिम की अधिकता एवं ढाल के कारण उसमें अधिक गहरी घाटी बन जाती है । जबकि सहायक ग्लेशियर कम कटाव करता है । कठोर हिम के कारण दोनों के बीच का कगार सुरक्षित रहता है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि सहायक घाटी मुख्य घाटी में लटक रही है । इसी कारण इन्हें "लटकती घाटियाँ" या "निलम्बित घाटियाँ" या "बर्हिलम्बी घाटियाँ" कहते हैं । हिम के पिघलने पर लटकती घाटी से मुख्य घाटी में पानी ऊपर से गिरकर प्रपात का निर्माण करता है, इसलिए इसे प्रपाती घाटी भी कहते है (चित्र–9.2ख) ।

3. **फियोर्ड (Fiord) :** चट्टानों में कटे बेसिन या ग्लेशियर घाटी ही जो समुद्री तट पर कटे फटे रूप में होती है वह फियोर्ड कहलाता है (चित्र9.3) । समुद्र की सतह के नीचे तक कटाव होने के कारण हिम के पिघलने के बाद इनमें समुद्र का पानी भर जाता है और वे खाड़ी का रूप ले लेते है फियोर्ड नार्वे, स्वीडन की तट रेखा पर बहुतायत से मिलते हैं । डेनमार्क, फिनलैण्ड के तटों पर भी फियोर्ड मिलते हैं ।

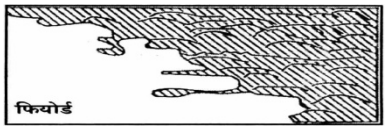

चित्र-9.3 : फियोर्ड

फियोर्ड के किनारे तीव्र ढाल या कगार के रूप मे होते हैं, कगार जल तक आता है । अत : फियोर्ड के उतरने के स्थान बहुत कम होते हैं । फियोर्ड के सम्मुख चट्टानें उठी हुई भी पाई जाती है और पानी छिछला होता है जो चट्टानी बेसिन का किनारा होता है ।

4. **सर्क (Cirque) :** सर्क मुख्यत : पहाड़ों की ढलानों पर हिम अपरदन से बनते है । ये हिमनद की घाटी के शीर्ष पर एक अर्द्ध वृताकार रंगमंच (Ampitheatre) के समान या आराम कुर्सी के बर्गश्कुंड समान गोलाकार या कटोरेनुमा गर्त (Depressions)हैं जो "हिमगहवर" या "हिमगर्त" या "हिमागार" कहलाता हैं (चित्र–9.4) ।

इनसे निकलकर हिम इनके सम्मुख घाटियों में एकत्रित होता है । पार्श्व चित्र देखने से ज्ञात होता है कि ऊपरी ढ़लान तीव्र होती है । तलहटी पीछे की ओर गहरी एवं मुहाने की ओर उठी हुई होती है । पीछे की दीवार यांत्रिक ऋतुक्षरण से जहाँ Bergscrund भी बन जाता है अपरदित होती है और पीछे की ओर खिसकती जाती है ।मुहाने पर हिम में दरारें पड़ने के कारण भार या दबाव कम हो जाता है । परिणामत : कटाव भी कम होता है । सर्क को विभिन्न स्तनों पर अलग–अलग नाम से पुकारते है । जर्मनी में कोरी (Corrie), कार (Car), वेल्स में कन (Cwn)

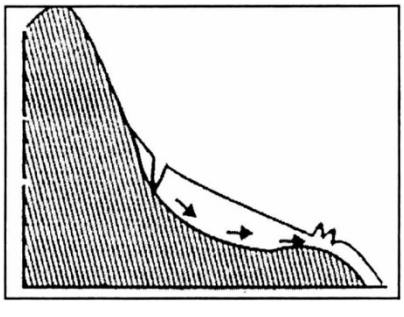
चित्र-9.4 : सर्क

स्केण्डी–नेविया में बोंटनेड आदि । सर्क में पानी भरने से झील बन जाती है । उसे 'टार्न' (Tarn) या सर्क झील कहते है । विद्वानों का मत है कि सर्क प्रारम्भ में दरारों में पानी के जाने और पिघलने की प्रक्रिया के बार–बार सम्पन्न होने से दरार चौड़ी होकर सर्क के लिए स्थान बनाती है । तत्पश्चात हिम से सर्क का निर्माण हो जाता है ।

5. **कंघीनुमा टीला (Arete) :** सर्क पर्वतीय ढलान को दोनों या चारों ओर से अपरदित करते है और बीच में नुकीली श्रेणी (Arete ridge) जो पतली कंघी के आकार की रह जाती है उसे 'कंघीनुमा टीला' या एरेटी कहते है । ब्रिटेन में या आंग्ल भाषा में इसे सिरेत कटक (Serrate ridge) कहते हैं (चित्र–9.5) ।

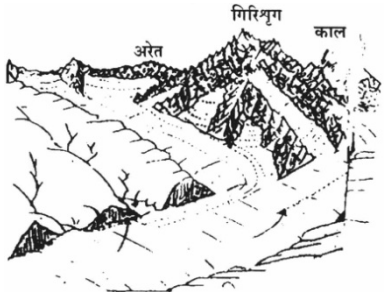

चित्र–9.5 : कंघी नुमा टीला

6. **हार्न (Horn) :** किसी पहाड़ी के पार्श्वों पर कई सर्क बन जाते है एवं निरन्तर अपघर्षण द्वारा पीछे हटते रहते है तो उनके मिल जाने पर एक पिरामिड के आकार का, जिसमें बीच–बीच में पिरामिड के त्रिकोणात्मक आकार की तीव्र ढाल वाली चोटियाँ बची रहती हैं उन नुकीली चोटियों को Horn कहते है (चित्र–96) । स्विटजरलैण्ड का मेटर हार्न गिरीश्रृंग उसका सर्वोतम उदाहरण है ।

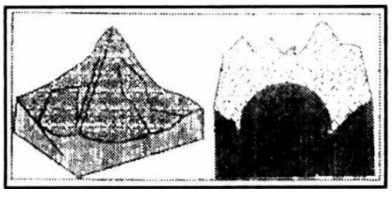

चित्र–9.6 : हार्न

7. **नुनाटक (Nunatak) :** विशाल हिम क्षेत्र में चारों ओर से हिम से घिरे हुए टीले जो हिम क्षेत्र में द्वीप के समान लगते है उन्हें नुनाटक या हिमान्तर द्वीप कहते हैं । नुनाटक क्षैतिज अपरदन, तुषार, क्रिया तथा घर्षण द्वारा अपरदित होकर छोटा होता रहता है ।
8. **श्रृंग एवं पुच्छ (Crag and Tail) :** हिम अपरदन वाले क्षेत्र में बेसाल्ट या ज्वालामुखी प्लग जब ऊपर गाठ के रूप में निकला रहता है । वहाँ हिमनद इसके ऊपर होकर निकलता है और प्लग को पार करके दूसरी ओर उतरता है तो प्लग के साथ दूसरी ओर की संलग्न मुलायम मिट्टी शैल का संरक्षण प्राप्त होने के कारण हल्के और मन्द ढाल में फैल जाती है। इस प्रकार कठोर प्लग बेसाल्ट की ग्रीवा श्रृंग (Crag) तथा पीछे भाग वाले लम्बे भाग को पूंछ (Tail) कहते है (चित्र–9.7) ।

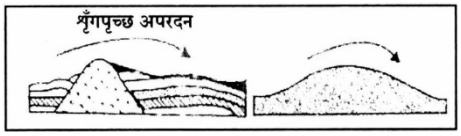

चित्र–9.7 : शृंग एवं पुच्छ

9. मेष शिलायें या रोशे मुटाने (Roche Moutonnee) : हिम अपरदित क्षेत्रों में कठोर अपरदित अवारीष्ट शिलायें जो दूर से देखने पर कोमल ऊन वाली भेड़ों के समान दिखाई देती है उन्हें "मेष शिलायें" कहते हैं । सन् 1804 मे डॉ. सारवर महोदय ने इन्हें "रोशे मुटानै" नाम दिया (चित्र–9.8) ।

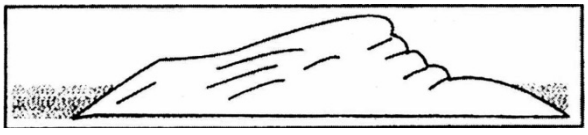

चित्र–9.8 : भेड़पीठ शैल

10. दैत्याकार सोपान (Giant Stairway) : जब हिमनद के मार्ग में भ्रंश के कारण कई कगार बन जाते हैं तो इनसे उतरता हुआ हिमनद सोपानों का निर्माण अपघर्षण (Abresion) तथा उत्पाटन (Plucking) से करता है । ये वृहताकार, चिताकर्षक, दैत्यों के प्रयोग लाने जैसी बड़ी–बड़ी सीढ़ियां बन जाती हैं । उन्हें दैत्याकार सोपान कहते हैं । सोपानों को अलग करने वाली 30 से 300 मीटर ऊँची क्लिफ के पद पर झीलें बन जाती है । उन्हें पेटर नास्टर झीलें कहते हैं ।

9.2.3 हिमानी निक्षेपण से बने भू–आकार (Depositional Land forms of Glacier)

(I) हिमोढ : पार्श्ववर्ती, मध्यस्थ, तली, अन्तिम, (II) ड्रमलिन (III) एस्कर (IV) मालाकारएस्कर।

(i) पार्श्ववर्ती हिमोढ़ (Lateral Maoraines) : हिमानी की 'U' आकार की घाटी के दोनों किनारों की ओर कटाव एवम् बहाव क्रिया से इनका जमाव हो जाता है । इनमें विशाल चट्टानें, पत्थर, कंकड़, बट्टटड, रेत आदि एक साथ पायें जाते है । ये सीधी रेखा में खड़े ढाल के हिमोढ होते है । सामान्यतः इनकी ऊँचाई 100 मीटर तक होती है। (चित्र – 9.9) ।

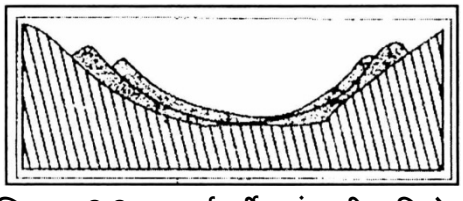

चित्र – 9.9 : पार्श्ववर्ती एवं तलीय हिमोढ़

(ii) मध्यवर्ती हिमोढ़ (Medial Moraines) : जब दो हिमानियां आपस में मिलती है तो दोनों के भीतरी पार्श्ववर्ती हिमोढ़ आपस में मिलकर मध्यस्थ हिमोढ़ की रचना करते है (चित्र – 9.10)

(iii) अन्तिम हिमोढ़ (Terminal Moraines) : जब हिमनद घाटी से उतरता है और हिम पिघलने लगता है तो वहां जीभ के आकार मे अर्द्ध चक्राकार रूप में हिमानी के अग्रभाग में क्रमवत रूप में अर्द्ध गोलाकार आकृति में हिमोढ़ जम जाते हैं इन्हें 'अन्तिम हिमोढ़' या चातफरी हिमोढ़' भी कहते हैं । इनकी ऊँचाई 10 से 20 मीटर तक होती है । यूरोप और महान् झीलों के क्षेत्र में अन्तिम हिमोढ़ पाये जाते है (चित्र – 9.10) ।

(iv) तलस्थ हिमोढ़ (Ground Moraines) : जो हिमोढ़ बर्फ में फंसकर पिघलने के बाद तली में चारों ओर ढेर के ढेर या टीले के समान पाये जाते है उन्हें 'तलस्थ हिमोढ' कहते हैं । हिमानी नदोद्भूद अपोढ से समतल मैदान बनता है, बीच–बीच में हिम शिलाओं के दबे रहने से, बाद में गड्डे बन जाते है जिन्हें (Kettle) कहते है (चित्र – 9.10) ।

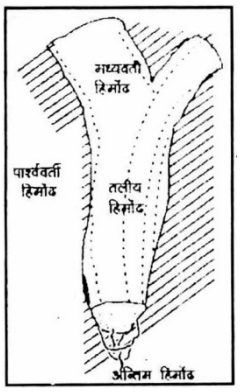

चित्र – 9.10 : हिमानीय अपक्षेप क्षेत्र

(v) ड्रमलिन (Drumlin) : हिमोढ़ कभी आगे बढ़ते हैं कभी पीछे हटते हैं । यह पानी की आवक पर निर्भर है । इन प्रतिकारी हिमोढों (Recessional moraine) के मध्य के मैदान में अण्डाकार पहाडियाँ भी मिलती है जिन्हें 'ड्रमलिन' कहते है । वहाँ का भू–दृश्य अण्डे भरी डलिया (Basket of egg) जैसा दिखता है । उतरी आयरलैण्ड में इस प्रकार की अनगिनत पहाडियाँ मिलती है । यह पहाडियाँ 400 – 800 मीटर से कुछ किमी. तक लम्बी–चौड़ी मिली है तथा ऊँचाई 30–60 मीटर तक है । हिम के बहने की दिशा में इनका लम्बा हिस्सा होता है । अधिकतर ड्रमलिन उन प्रदेशों में मिलते है जहाँ हिम चादर की अधिक मोटाई नहीं होती तथा हवा से बने बालुका स्तूपों के समान ही हिम चादर के निक्षेपण एवं बहने के कारण उनका स्वरूप पहाड़ियों जैसा हो गया है । एस्कर–ड्रमलिन के बीच–बीच में हिम के बहाव की दिशा में लम्बी संकरी पहाड़ियाँ भी मिलती है ।

हिमानी–जलोढ़ निक्षेप से निर्मित भौम्याकार (Glacio–Fluvial Deposits and Landscape) : जब हिमनद ऐसे स्थान पर पहुँच जाता है जहाँ ताप के कारण वह पिघलना

शुरू हो जाता है तो हिमनद का अग्रभाग पिघल जाता है । हिमनद का अवगलन प्रारम्भ हो जाता है तथा हिम जल बनकर आगे बहने लगता है । उस जल एवं हिमनद दोनों से सम्मिलित रूप मे निक्षेपण होता है । उस क्रिया को हिमानी जलोढ़, निक्षेप कहते है । इन भू–आकारों में एस्कर, केम, केमवेदिका, हिमनद अवक्षेप मैदान, केटले, तथा केटले गर्तिका प्रमुख है ।

एस्कर (Eskers) : हिमनदोद्भूद जल धाराओं द्वारा मलबा के निक्षेपण से निर्मित ड्रमलिन के बीच में बहाव की दिशा में लम्बे, संकरे, सर्पीलाकार, लहरदार कटक बन जाते हैं उन्हें **'एस्कर'** कहते हैं । जिनकी रचना बजरी, रेत, कंकड़, पत्थर से होती है, उन्हें एस्कर कहते हैं । इनके निर्माण पर उच्चावच की असमानता का प्रभाव नहीं पड़ता । इसके सहारे रेल एवं सड़क मार्ग विकसित होता है ।

मालाकार या मणिका एस्कर (Beaded Esker) : जब एस्कर की मोटाई अधिक हो जाती है और ये चौड़े धागे में दानें या मणियाँ पिरोने के समान जो क्रमवत एस्कर बनते हैं उन्हें 'मालाकार एस्कर' कहते हैं ।

केम (Kame) : हिमनदोद्भूद जल के अग्रान्त में मलबे का ढेर टीले के रूप में हो जाता है । इस तरह के टीले को केम कहा जाता है । केम के पार्श्व तीव्र ढाल वाले होते हैं । इसकी रचना रेत तथा बजरी से होती है ।

केतली और हमोक (Kettles and Hummocks) : केम के विपरीत केटिल गर्त होते है। इनका निर्माण हिम के बड़े टुकड़ों के पिघल जाने पर होता है। इनके मध्य में कई छोटे– छोटे टीले होते है, जिन्हें हनिक कहते हैं । इनका निर्माण भी केम के समान ही होता है ।

अवक्षिप्त मैदान (Out wash plain) : हिम चादर के पिघलने पर विशाल जलधाराएँ उसके लाए पदार्थ को निचले भागों में ले जाकर निक्षेपित करती है । इस प्रकार हिम जल की संयुक्त क्रिया से बने एवं हिम चादर के सीमान्त के बाहर बने मैदान अवक्षिप्त मैदान (Out wash plains) कहलाते है । विशेष बात यह है कि इस निक्षेपण में तहें होती है जो जल द्वारा निक्षेपण को प्रमाणित करती है । उत्तरी अमेरिका का प्रेयरी प्रदेश, आइसलैण्ड तथा उत्तरी यूरोप का विस्तृत भाग डेनमार्क, जर्मनी, पोलैण्ड आदि इसी प्रकार के अवाक्षिप्त मैदान है । कहीं–कहीं पर इन मैदानों में निक्षेपण की समुचित मोटाई मिलती है । बीच–बीच में पहाड़ियाँ (Kame) तथा लम्बे संकरे एस्कर' भी मिलते हैं । अस्थायी झीलों के निक्षेपण भी विस्तृत प्रदेश में मिलते है । कनाडा, फिनलैण्ड, तथा स्वीडन में जहाँ झीलों और दलदलों का जाल सा बिछा है, एस्कर पहाडियों पर से होकर सड़क तथा रेल मार्ग बनाए गये है अन्यथा इन प्रदेशों में पहुँचना कठिन होता है ।

हिमनद अवक्षेप मैदान : हिमनद का जल पिघलकर सरिता के रूप में आगे बढ़ता है और मार्ग में अन्तिम हिमोढ़ के कारण समस्त जल उसके पीछे एकत्रित हो जाता है । जब जल अधिक हो जाता है तो हिमोढ़ को ऊपर से पारकर जल विस्तृत क्षेत्र में फैल जाता है तथा एक परतदार मैदान का निर्माण करता है उसे हिमनद अवक्षेप मैदान (Glacial Outwash Plain) कहते है। उत्तरी अमेरिका और यूरोप के विस्तृत मैदान इसी प्रकार के मैदान हैं । जब विस्तृत जल एक

निश्चित धारा में बहने लगता है तब घाटी में मलबा भर जाता है और वह मलबा घाटी हिमोढ़ ट्रेन' (Valley Train) कहलाती

प्लीस्टोसीन हिमकाल (Pleistocene Ice Age) : नवजीवी महाकाल्प के अन्त में प्लीस्टोसीन हिमयुग का अवतरण हुआ जिसमें भूपटल का लगभग छठा भाग हिम चादर से प्रभावित हुआ । प्लीस्टोसीन हिमयुग आज से लगभग 1000000 वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ एवं लगभग 991000 वर्ष तक रहा । तत्पश्चात् आज से लगभग मात्र 10000 वर्ष पूर्व होलोसीन या अभिनव युग का प्रारम्भ हुआ जिसमें मानव आदिवासी स्वरूप से सभ्य स्वरूप में आया । ग्रीनलैण्ड एवं अण्टार्कटिका का अधिकांश भाग अब भी हिमाच्छादित है । वर्तमान होलोसीन युग को विद्वान अन्र्तहिमकाल (Inter Glacial Period) मानकर चल रहे है ।

प्लीस्टोसीन हिमकाल की अवस्थायें (Stages of Pleistocene Ice Age) : प्लीस्टोसीन हिमकाल में कई बार हिम चादर का प्रसार (Advancement of Ice Sheet) हुआ तथा कई बार निवर्तन (Retreat) हुआ । जिस काल में हिम का महाद्वीपीय भागों पर प्रसार हुआ उसे हिम काल की अवस्था (Glacial Stage) कहते है तथा दो हिमकालों के मध्य के काल को जिसमें हिम चादर लुप्त हो जाती है उसे अन्र्तहिमकाल की अवस्था (Interglacial Stage) कहते है । कई हिमकाल की अवस्थाओं एवं अन्र्तहिमकाल की अवस्थाओं के सम्मिलित समय काल को हिमकाल (Ice Age) कहते है । प्लीस्टोसीन हिमकाल के चार भागों को गुंज, मिन्ड़ल, रिस और वुर्म (Gunz Mindle, Riss & Wurm) नामों से पुकारते हैं । उत्तरी अमेरिका में इन्हीं चार बार हिम के प्रसारों को–नेब्रास्कन, कन्सास, इल्लीनायन तथा विसकोसिन नामों से पुकारा जाता है । इन्हें चार अन्र्तहिमकालों– अफटोनियन, मारमाउथ, संगमन तथा पोस्ट अन्र्तहिमकाल द्वारा विलग किया जाता है।

प्लीस्टोसीन हिमानीकरण के प्रभाव– प्लीस्टोसीन हिमयुग से निम्न प्रभाव पड़े – (1) स्थल का अधिकांश भाग हिम चादर से आच्छादित हो गया । (2) नये–नये स्थलरूपों का निर्माण हुआ तथा पुराने स्थल रूपों में परिवर्तन हुआ । (3) सागर तल में महान् परिवर्तन हुआ । (4) सागर तल के साथ स्थल भाग का, उमजन, एव निमज्जन हुआ । (5) स्थल के अधिकांश भागों में नूतन रूप आया । (6) नदियों में नवोन्मेष हुआ । उत्तरी अमेरिका की महान् झीलों का क्षेत्र, फिनलैण्ड, स्केन्डीनोविया का क्षेत्र, यूरोप का उत्तरी क्षेत्र तथा बाल्टिक सागर के स्थल रूपों का विकास इसी प्लीस्टोसीन हिम युग में हुआ । कनाडा के क्यूबेक क्षेत्र में नदियों में नवोन्मेष के कारण महाखड्डों का निर्माण हुआ । स्थलीय भागों में उत्थान के कारण तरंग कृत सागरीय वेदिकाओं का निर्माण हुआ । अधिकांश क्षेत्र में अन्त: सागरीय केनियन, अन्त: सागरीय महाखण्ड एवं प्रवाल भित्तियों का निर्माण हुआ । उत्तरी अमेरिका एवं यूरोप में हिमोढ़ कटकों का जन्म हुआ । हिमकृत झीलों का सर्वाधिक निर्माण फिनलैण्ड में हुआ । इसीलिए फिनलैण्ड को हजार झीलों का देश ("Land of Thousand Lakes") या इसे 'झीलों की वाटिका" कहा जाता है । स्वीडन में भी कई ऐसी झीलों का निर्माण हुआ था तथा वैटर्न तथा वैनर्न झीलें हिमानीकरण से ही बनी थीं । उत्तरी अमेरिका की महान् झीलों का निर्माण भी हिमानीकरण के कारण ही हुआ था ।

बोध प्रश्नों-1

1. सर्क किसे कहते हैं?

   .....

   .....

2. U आकार की घाटी एवम् V आकार की घाटी में क्या अन्तर है?

   .....

   .....

3. निम्न में से कौनसा भू–आकार हिमनोदोद्भूत जलोढ़ निर्मित नहीं है?

   (अ) एस्कर (ब) ड्रमलिन

   (स) मेष शिलाये (द) अवक्षिप्त मैदान

   .....

   .....

4. हिमोढ़ किसे कहते हैं और कितने प्रकार के होते हैं?

   .....

   .....

5. हिमनद कितने प्रकार के होते हैं?

   .....

   .....

9.3 मरुस्थलों के प्रकार (Types of Desert)

मरुस्थल जहाँ वर्षा की मात्रा से अधिक वाष्पीकरण हो, शुष्कता व्याप्त हो, वनस्पति की कमी हो, अपगठित धरातल हो, भूमिगत जल की कमी हो, सर्वाधिक तापान्तर हो उसे मरुस्थल कहते हैं ।

जब मरुस्थलों मे उत्पन्न दृश्यावली की विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है तो इनमें उपलब्ध दशाएँ एकदम से सामने आती है और तदनुसार भिन्न स्थानों की वैभिन्य भू–आकृतियों का अवलोकन किया जाता है । विभिन्न भू–आकृतियाँ प्रधानतया भूतात्विक भिन्नता एवं विवर्तनिक इतिहास (Tectonic History) के परिवेष्ट की द्योतक होती है । उदाहरणार्थ उत्तरी अमेरिका का मरुस्थल अधिकांशत : पथरीला है और भूतात्विक दृष्टिकोण से नवीन है जिसमें नवीन मोड़दार पर्वत श्रृंखलाएँ एवं अवरोधी दरारें (Basin and Range Structure) प्रमुखता से देखी जाती है । अफ्रीका एवं आस्ट्रेलिया के मरुस्थल भूतात्विक रूप से अधिक प्राचीन है जिन पर हवा के अनवरत कार्य से रवेदार तथा कहीं–कहीं परतदार चट्टानें दिखाई देती है । अत: रेगिस्तानी भू–आकार विशेषतःकोणाकार एवं नीरस तथा उनके स्थल भाग उबड़–खाबड़ होते हैं (चित्र – 9.11) ।

(1) चट्टानी मरुस्थल या हम्मादा (Rock Desert or Hummanda) : ऐसे मरुस्थलों में नग्न चट्टानें विस्तृत रूप से फैली हुई दिखाई देती हैं । कहीं–कहीं पर समूह रूप मे बालू एवं चलनीय टुकड़ों के ढेर भी देखे जाते है । ये नीरस क्षेत्र सहारा में हम्मादा के नाम से जाने जाते हैं । यहाँ शुष्कता व्याप्त रहती है तथा वनस्पति नहीं है ।

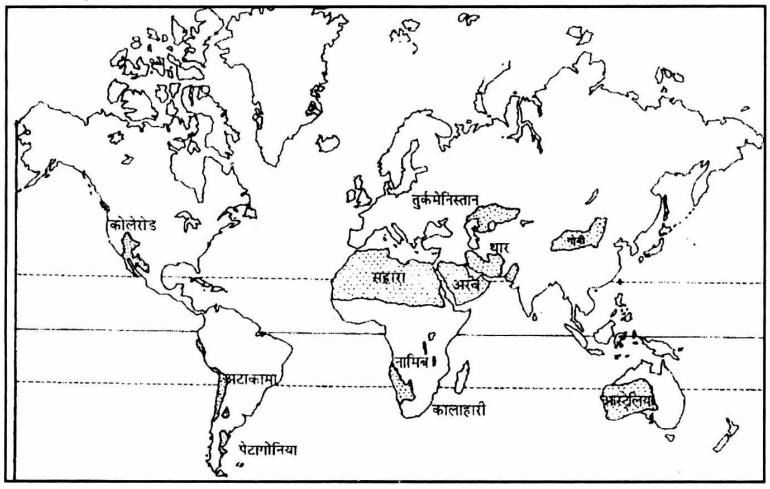

चित्र – 9.11 : संसार के मरुस्थल

(2) पथरीले मरुस्थल या रेग (Stony Desert or Reg) : ऐसे मरुस्थलों में कोणीय कंकड़ –पत्थर अनुप्रस्थ दशा में दिखाई देते है त था बालू का साम्राज्य बहुत कम देखने को मिलता है । अल्जीरिया में इन्हें रेग (Reg), लीबिया एवं मिश्र में सेरिर (Serir) कहकर पुकारते हैं।

(3) बालुकाय मरुस्थल या इर्ग (Sandy Desert or Erg): ऐसे मरुस्थलों में बालू की प्रचुरता एवं चट्टानीय सतह की अनुपस्थिति प्रधानतया देखी जाती है । सामान्य जनमानस के दृष्टिकोण से ये ही वास्तविक मरुस्थल समझे जाते है । सहारा में इन्हें इर्ग (Erg), तुर्किस्तान में कूम (Koum) कहकर पुकारते है । थार का मरुस्थल अधिकांशत: इसी प्रकार का है । अल्जीरिया का इग्वीडी इर्ग (Iguidi Erg), चेच इर्ग (Chech Erg), महान् पश्चिमी इर्ग (Great Western Erg) महान् पूर्वी इर्ग (Great Eastern Erg) इसके प्रमुख उदाहरण है।

स्टेपी क्षेत्रों के इर्द –गिर्द लोयस के भाग भी इसी प्रकार के मरुस्थलों के पूरक है जो मरुस्थल से बाहर की ओर चलने वाली हवाओं के द्वारा बालू का वहन कर अन्य स्थान पर निक्षेप करने से बनते है । चीन का लोयस (Loses) का क्षेत्र इसका प्रमुख उदाहरण है ।

(4) पर्वतीय मरुस्थल (Mountain Type Desert) : इन मरुस्थलों में शीर्षयुक्त पहाड़ी चोटियाँ, तेज ढाल और गहरे कटे हुए बीहड़ (Ravines) पाये जाते है । सिन्नर्ड मरुस्थल की क्योटिक, मध्य सहारा की टिबेसी, तकलामाकान का उत्तरी छोर आदि इसी प्रकार के मरुस्थल है ।

(5) शीत मरुस्थल (Gold Desert) : शुष्कता की व्यापकता एवं पानी की कमी के कारण पृथ्वी के उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुवों पर भी मानव का बसाव अभी तक सम्भव नहीं हो सका

है । ये क्षेत्र वर्षा, वनस्पति आदि की कमी और तापक्रमीय अन्तर के कारण मरुस्थलों की श्रेणी में आते है, किन्तु गर्मी और ताप की अत्यधिक कमी के कारण ये सदैव बर्फ से ढके रहते है या ठण्डे रहते हैं इसलिए इन्हें शीत मरुस्थलों का नाम दिया जाता है । अन्टार्कटिका, ग्रीनलैण्ड, बेफिनलैण्ड, लेपलैण्ड, आइसलैण्ड, एलास्का, उत्तरी कनाडा, नोवाया–जेमलिया और अन्य ग्लोब के वे भाग जो 66.5 अक्षांशों से ध्रुवों की ओर स्थित है शीत मरुस्थलों' के नाम से जाने जाते है । इनमें हवा की बजाय बर्फ का कार्य अधिक महत्वपूर्ण होता है । अत: उसका अध्ययन हिमनद के भाग में किया गया है ।

9.3.1 हवा का अपरदन कार्य

हवा का कार्य सभी मरुस्थलों की बनावट, धरातल एवं जलवायु की भिन्नता पर आधारित है । वायु द्वारा होने वाला यांत्रिक अपरदन बालू कणों को सहायता से निम्न प्रकार का देखा गया है:–

(1) उड़ाव या अपवाहन (Ablation or Deflation)

(2) अपघर्षण या वायु घर्षण (Abrasion or Corrosion)

(3) सन्निघर्षण (Attrition)

यदपि ये तीनों प्रकार के कार्य एक दूसरे से सम्बन्धित है किन्तु फिर भी अध्ययन की सुविधा हेतु इनके प्रभावों रख परिणामों का अलग – अलग मूल्यांकन करना ही उचित होगा ।

(1) अपवाहन (Deflation): इस क्रिया में हवा असंगठित एवं शुष्क बालू कणों को एक स्थान से उड़ाकर तत्सम्बन्धी भूमि को नीचा कर देती है तथा वहाँ गर्त बन जाता है । जे.ए. उदन (J.A. Udden) महोदय के निष्कर्षों के अनुसार पता चलता है कि 1895 के अंधड़ इण्डियाना के प्रति वर्ग मील पर 4 से 10 टन मिट्टी को निक्षेपित किया । पश्चिमी संयुक्त राज्य 850 000 000 टन मिट्टी मी. की दूरी तक उड़ाकर ले जाई जाती है । इसी प्रकार सर फ्ताईडंर्स पेट्री (Sir Flinders Petrie) के अनुमानों के अनुसार गत 2600 वर्षों में नील नदी के डेल्टा प्रदेश से हवा द्वारा भू–पटल की लगभग 3 मीटर ऊपरी सतह की मिट्टी को उड़ाकर ले जाया चुका है । काहिरा के पश्चिम में लगातार समुद्र तल से भी गहरे कई गर्त है । कतारा गर्त में 140 मी. गहरे गर्त है । कुछ गर्तों में भूमिगत जल आने से मरूद्यान बन गये है । मिश्र के बहारिया, फाराफरा, दखला, फयूम और खासा आदि मरूद्यान इसी प्रकार से बने है ।

चित्र – 9.12: पल्लवीकरण

(2) अपघर्षण (Abrasion) : इस क्रिया का प्रभाव मरूस्थलीय चट्टानों एवं भू–आकृतियों पर निर्निमेष दृष्टि से देखा जा सकता है । जिस प्रकार रेगमाल का उपयोग निर्माण पत्थर एवं काँच को साफ करने के लिए होता है उसी प्रकार क्वार्टज एव अन्तकणों युक्त तीव्रगामी

हवा द्वारा मरुस्थलों में प्राप्त भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं का घर्षण होता है । ट्रांस केस्पियन रेलवे लाइन के साथ लगे हुए टेलीग्राफ के तार अपघर्षण से मूल व्यास के दस सालों मे आधे ही रह गये थे । मिश्र की स्पींकस की मूर्तियों पर इनका प्रभाव देखा जा सकता है । चट्टानों पर वायु घर्षण से धारियाँ, लम्बी कटाने, जालियाँ आदि बन जाती हैं । चट्टानों में जहाँ दरारें या मिलनस्थल (Joints) होते है वहाँ हवा अधिक घर्षण करती है एवं श्रंगनुमा भू–दृश्यों (Pinnacled Relief) का निर्माण कर देती हैं । आयताकार सन्धि पिण्डों से अण्डाकृति बन जाते है (चित्र – 9.12) । हवा की घर्षण शक्ति धरातलीय सतह के पास अधिक होती है क्यों कि अधिक भारी बालू कण भार के कारण सतह के समीप ही प्रवाहित होते है किन्तु सतह से सटकर चलने वाले कणों की शक्ति सतह से सम्पर्क होने के कारण नष्ट हो जाती है एव परिणामस्वरूप सतह से 1 या 2 फुट ऊपर उठकर चलने वाले कणों से वृहत् एवं तीव्र घर्षण के कारण चट्टानपीठिका (Rock Pedestal) एवं पिण्ड विघटन का निर्माण होता है (चित्र - 9.13) ।

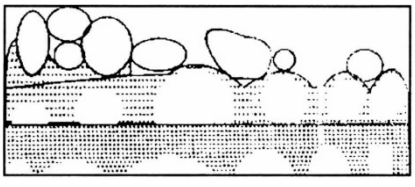

चित्र – 9.13: आयताकार सन्धि पिण्डों से अण्डाकृति बहड़

अत: विभिन्न प्रकार, प्रारूप एवं संरचना वाली चट्टानों एवं वस्तुओं में हवा का घर्षण कार्य भिन्न भू–दृश्यावली प्रस्तुत करता है (चित्र– 9.14) ।

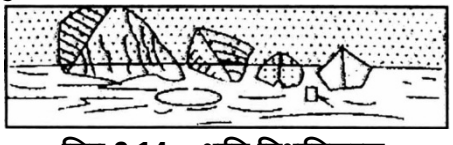

चित्र-9.14 : क्षति-विक्षतिकरण

(3) सन्निघर्षण (Attrition): इस क्रिया द्वारा गतिमान वायु में बहने वाले बालू कण पारम्परिक टक्कर एवं घर्षण से टूट–टूटकर छोटे, चिकने एवं गोल होते है जो भी यांत्रिक अपरदन का अंग बनाते है । ये कण केवल परस्पर ही नहीं टकरातें है किन्तु रास्ते में आने वाली अन्य सभी चट्टानीय भू–आकृतियों से भी घर्षण कर विभिन्न भू–दृश्यावली पैदा करते है (चित्र– 9.15)

चित्र–9.15 : दानेदार विघटन

वायु अपरदन को प्रभावित करने वाले तत्व

वायु अपरदन का कार्य एवं समय विशेष की भिन्नतानुसार भिन्न होता है । इस पर निम्न तत्व अपना प्रभाव सालते है :–

(1) चट्टानों का संगठन एवं संरचना : मरूस्थलीय तीव्रगामी एवं तीक्ष्ण कणों युक्त हवा से कोमल चट्टान कठोर चट्टानों की अपेक्षा शीघ्र घिस जाती है सिनाय प्रायद्वीप का अधिकांश धरातल कोमल चट्टानों से बना है इसलिए इसमें अपरदन शीघ्र होता है जब कि अल्जीरिया के अहगर (Ahaggar), संयुक्त राज्य अमेरिका के कोलोरेडो आस्ट्रेलिया के पश्चिमी मरूस्थली भाग के अपरदन चट्टानों की कठोरता के करण देर से होता है '

(2) वायु की तीव्रता : गति हर अनावृतीकरण के साधन की शक्ति होती है अत: वायु की गति के अनुपात में ही अपरदन की मात्र' होती है वेगवती वायु में अपरदन की अधिक सामग्री प्रवाहित होती है एवं साथ ही अपरदन की शक्ति भी बढ़. जाती है मन्द गति से चलने वाली हवा अपरदन अधिक नहीं कर सकती, क्यों कि अपरदन की सामग्री को वहन न करने की अवस्था में वह धरातल पर बैठ जाती है एवं अपरदन नहीं हो पात ।

(3) धूलि कणों की मात्रा एवं आकार : प्रचलित वेगवती हवा में धूलि कणों की मात्रा एवं आकार पर अपरदन बहुत निर्भर करते है।अगर कणों की मात्रा कम होती होगी और आकार छोटा होगा तो अपरदन कम एवं अस्पष्ट होगा जबकि बड़े तथा अधिक कणों की उपस्थिति में अपरदन का कार्य शीघ्र, स्पष्ट एवं अधिक हगो ।

(4) जलवायु : जलवायु वायु अपरदन का अत्यधिक प्रभावी तत्व है ग्रीष्म ऋतु एवं शुष्क जलवायु में हवाएँ तीव्र गति से (आँधी) एवं लगातार चल' करती है जिससे अपरदन की मात्रा प्रभावित होती है जबकि आर्द्र जलवायु में शुक' नहीं होती और मिट्टी के कण संगठित रहते हैं इसलिए अपरदन हवा से नगण्य होता है । चट्टानीय आवरण पर अधिक तापान्तर ओस एवं आकस्मिक वर्षा से विखण्डन हो जाता है एवं अन्त में वेगपूर्ण हवा इन टूटे और उखड़े. शिलाखण्डों को उखाड़कर ले जाती है । शुष्क जलवायु में पानी की कमी के कारण घास का आवरण नहीं होता और जहाँ कहीं होता भी है वहाँ पशुचारण से नष्ट कर दिया जाता है अत: इस प्रकार असंगठित मिट्टी भी अपरदन चक्र में सहायक होती है ।

(5) मरुस्थल का विस्तार.: मरुस्थल के विस्तार के अनुपात में ही हवा की वहन शक्ति, वेग एव अपरदन शक्ति निर्धारित होती है । सहारा के मरुस्थल में अपरदन का कार्य अधिक होता है जब कि अटाकामा, थार एवं कालाहारी के मरुस्थलों में अपेक्षाकृत कम होता है ।

9.3.2 मरुस्थल में वायु अपरदन से निर्मित भू–आकार

वायु अपरदन की विभिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क स्थल खण्डों में वैभिन्य भू–आकारों का आविर्भाव हो जाता है । हवा इन भागों में तीव्र गति से चलकर प्रारम्भ में बालू के असंगठित कणों को उड़ाती है एव कई भू –दृश्य बनाती है । तदोपरान्त सन्निघर्षण एवं अपघर्षण की क्रिया द्वारा शेष चट्टानी धरातल पर प्रहार करके नवीन भू–आकारों को जन्म देती है जिनका वर्णन निम्न प्रकार है-

(1) वात गर्त (Blow out) : वायु के उष्ण मरूस्थलीय भागों में अपवाहन की क्रिया द्वारा यत्र–तत्र उथले, चौड़े एवं अन्त में गहरे गर्त बन जाते है, इन्हें वायु गर्त कहते है । प्रारम्भ में किसी बेसिन में दरार पड़ने या विखण्डन से छोटा खस्ता बनने के बाद हवा में कूदते–

फाँदते धूलिकणों की टक्कर एवं अपरदन से गर्त चौड़ा एवं गहरा बनता जाता है और हवा उसमें चक्कर लगाना शुरू कर देती है । ऐसी अवस्था में वायु गर्त बढ़ता जाता है । कुछ विद्वानों का मत है कि प्रागैतिहासिक काल में इन स्थलों पर अधिक आर्द्र जलवायु होने से घुलन क्रिया द्वारा ऊपरी सामग्री घुलकर छोटे गर्तों को जन्म देती रही जो बाद में वात गर्त बने । इनका निर्माण अपवहन क्रिया द्वारा होता है ।

(2) गहन वात गर्त (Depression) : जब वात गर्त में वायु चक्कर लगाती हुई घुसती है एवं बाहर निकलती है तो वात गर्त गहरा होता जाता है एवं जब तक भूमिगत जल प्राप्त नहीं होता है तब तक गहरा होता जाता है । ऐसे वात गर्तों को गहन वात गर्त कहते है । मिश्र के कतारा और फाराफरा (Farafra) लीबिया के एलजाफ (Eljauf) और ताजेरबो आदि इसी प्रकार के गर्त है । संयुक्त राज्य अमेरिका की व्योमिंग रियासत की लारामाई श्रेणियों के पास एक बड़ा गर्त जिसमें से 10 अरब टन मिट्टी हवा के द्वारा उड़ाकर 9 मील लम्बा, 3 मील चौड़ा एवं 300 फीट गहरा गर्त बना दिया गया । यह भी अपवाहन की क्रिया से बनते है ।

(3) नमकीन झील (Salt Lakes) :इन गहन गर्तों में जब भूमिगत जल की आद्रर्ता पहुँच जाती है तब वायु का अपवाहन कार्य धीमा पड़ जाता है । किन्तु धरातलीय पानी का तल ऊपर आने के कारण इन गर्तों में पानी भर जाता है जो ऊपरी छोटे–छोटे नालों के द्वारा नमकीन धूल कणों को लाकर जमा करने पर नमकीन हो जाता है । ऐसे नमकीन पानी के गर्तों को 'नमकीन झील' कहते हैं जो मरूस्थली के पानी प्रिय व्यक्तियों को आकर्षित करती है एवं अन्त में एक मरूद्यान का रूप धारण कर लेती है ।

(4) मरूस्थली पटरियाँ (Desert Pavements) : शुष्क मरुस्थलों के जिन भागों में समान कठोरता वाली चट्टानें क्षितिज रूप में पाई जाती है वहाँ समान, विविधाकृत (Mosaic Like) एवं हल्के बालू कणों से रहित क्षेत्र में जहाँ हवा द्वारा केवल कंकड़, पत्थर या चट्टानीय भाग भू–पटल पर दृष्टव्य हों ऐसे क्षेत्र में पटरियों के समान स्थलाकृति देखी जाती है उन्हें मरूस्थलीय पटरियाँ कहते हैं । केलिफोर्निया की मृत घाटी क्षेत्र में मरूस्थलीय पटरियाँ देखी जा सकती है । सहारा, गोबी, तकलामकान आदि मरुस्थलों में भी इसके उदाहरण मिलते है । यह भी अपवाहन से बने भू–आकार है ।

(5) तिपहल (Ventifacts) : मरुस्थलों में यांत्रिक विखण्डन से टूटकर उत्पन हुए वे चट्टानीय टुकड़े जो हवा के द्वारा उड़ाकर नही ले जाये जा सकते तथा वायोन्मुखी ढाल की ओर से अपरदित किये जाते हैं ऐसे एक ओर से वायु अपरदित चट्टानीय टुकड़े तिपहल के नाम से पुकारे जाते हैं । ये वायु अपघर्षण से बनते है ।

चित्र – 9.16 : तिपहल एवं त्रिकोटिका

(6) त्रिकोटिका (Dreikanter) : मरुस्थलों में तिपहल जब हवा के मार्ग परिवर्तन या पार्श्व परिवर्तन अथवा स्थिति परिवर्तन के कारण तीन ओर से हवा द्वारा अपरदित हो जाते है तो ऐसे त्रिपार्श्वी, नक्काशी युक्त शिलाखण्डों के सहारा में त्रिकोटिका (Dreikanter) कहते हैं । यह भी अपघर्षण से बनते हैं (चित्र– 9.16) ।

(7) शैल पीठिका (Rock Pedestal) : वायु प्रभावित क्षेत्रों में भू–पटल पर ऐसे चट्टानीय खण्ड देखे गये हैं जो नीचे से काफी कट जाते है एवं ऊपर से कम कटे हुए होते हैं । ऐसे भू–आकारों का प्रारूप इस प्रकार बनता है कि हवा में प्रवाहित अपरदनात्मक सामग्री की मात्रा अधिकांशतः भू–पटल से 2 फीट की ऊँचाई के आस–पास ही अधिक रहती है अत: इस स्तर पर ही सम्मुख वस्तुओं एवं चट्टानों का अपरदन अपघर्षण विधि से होता है । इसलिए ऐसे नीचे के कटाव से बने भू–आकारों को शैल पीठिका कहते है ।

(8) वायु निर्मित गुफाँए (Windworn Caves) : मरुस्थलों में पहाड़ी क्षेत्र में जब हवा का निम्न धरातल पर कटान कार्य चालू रहता है और चट्टानों में भू–पटल से 2 फीट या अधिक ऊँचाई पर खोह के रूप में कटाव होता रहे तो अन्त में वह कटान गुफा का रूप ग्रहण कर लेता है जिसे वायुनिर्मित गुफा कहते है ।

(9) छत्रक या गारा (Mushrooms or Gara) : मरूस्थली प्रदेशों में सामान्य सतह से ऊपर उठी हुई चट्टानें वायु के निरन्तर अपघर्षण एवम् अपरदन के द्वारा कटती रहती है । वायु खड़ी चट्टान के ऊपरी भग को कम काटती हैं, क्योंकि प्रमुख अपरदन की सामग्री सतह से कुछ ही फीट ऊपर चलती है और नीचे के भू–पटल के पास अधिक कटान होता है । तथा परिणामस्वरूप 'साँप की छतरी' नामक पौधें के समान एक आकृति बन जाती । इस पर वर्षा, तापक्रम, हवा आदि भौतिक शक्तियों का प्रभाव पड़ने पर ऊपर से सपाट, चिकना एवं मेज के ऊपरी भाग के समान आकार ग्रहण कर लेती हैं । इन्हें छत्रक, गारा, पिल्व फेल्सन (Pliz Felsen) भी कहतें है । ये यार्कशायर, सहारा, लीबिया, अटाकामा आदि मरूस्थलों में पाये जाते है । इन्हें सहारा में गोर (Gour) कहकर पुकारते है (चित्र – 9.17) ।

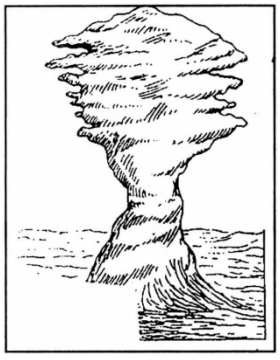

चित्र – 9.17 : छत्रक शिला या गारा

(10) कटक एवं गर्त (Ridge & Furrow) : मरुस्थलों में जब कठोर एवं कोमल चट्टानों के पर्त मोड़ों के रूप में प्रचलित हवा की दिशा के अनुरूप फैली हो तब एक ओर कठोर चट्टानों की कटक नजर आवेगी एवं दूसरी ओर निरन्तर अपरदन के कारण गहरे खाँचे नजर आयेंगे।

स्पै धरातल को कटक रम्य खाई का धरातल कहते हैं । इस प्रकार का धरातल कहीं कहीं देखने को मिलता है । यह अपघर्षण से बने भू – आकार है ।

(11) यारडांग (Yardangs) : जिन शुष्क मरूस्थलीय भागों में कटक एवं खाई का भू–दृश्य उत्पन्न हो जाता है वहाँ वायु के एक ही दिशा में अनवरत रूप से चलते रहने के कारण हवा की दिशा के अनुरूप बिछे हुए कठोर एवं कोमल चदटानीय स्तर अपरदित होते रहते हैं। किन्तु कठोर चदटानीय पर्त बहुत कम और कोमल चदटानीय पर्त बहुत अधिक अपरदित हो जाती है । इस प्रकार से हवा के अपघर्षण द्वारा कटकों का पवनोन्दुखी अग्र भाग गोलाकार एवं तीक्ष्या बन जाता है तथा शीर्ष पिन के समान नुकीले हो जाते हैं जो एक–दूसरे से छिछले खाँचों द्वारा विलग रहते है । ऐसे U आकार के समानान्तर, 7 मीटर के करीब ऊँचाई एवं 10 मीटर से 50 मीटर चौड़ाई वाले वायु अपघर्षण द्वार निर्मित असमान आकार के खड़े किनारों वाले खम्भों की भाँति के भू– आकारों को मध्य एशिया में यारडांग (Yardangs) कहते है (चित्र– 9.18) । काटन (Cotton) महोदय ने तो केवल इन्हीं भू–आकारों को सन् 1942 में वायु निर्मित बताया था । ये तकलामकान, अटाकामा, गोबी आदि मरूस्थलों में पाये जाते

चित्र – 9.18 : यारडांग

(12) ज्यूगेन (Zeugen) : शुष्क मरूस्थलों में जहाँ पर कठोर एवं कोमल चट्टानों की पर्ते एक–दूसरे पर क्षैतिज रूप में बिछी हुई रहती है वहाँ ऊपरी कठोर चट्टान में भौतिक विभेदनों के फलस्वरूप कहीं दरार पड़ने एव कहीं चटकन आने से वह भाग विखंडित होता रहता है । इस प्रकार निरन्तर अपक्षय से कठोर चट्टान कट जाती है और कोमल चलन निकल आती है। कोमल चट्टान को हवा शीघ्रता से काट देती है । फलस्वरूप ऐसे चदटानीय धरातल में खाइयाँ ही खाइयाँ बन जाती है । इस प्रकार से कठोर चट्टानी भाग कोमल चलनी भाग पर टोप की तरह स्थित रहता है । ऐसी आकृति को सहारा में च्छोन कहते है । कभी–कभी ये ज्यूगेन समीपस्थ स्थलीय सतह से 30 मीटर से भी अधिक ऊँचाई के होते है । ज्यूगेन अपघर्षण से बना भू–आकार है (चित्र – 9.19) ।

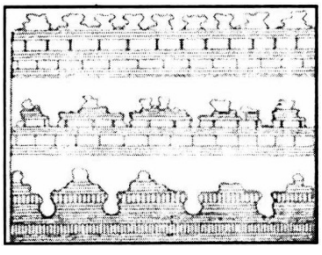

चित्र – 9.19 : ज्यूगेन

(13) इन्सलबर्ग Insellbergs) : वायु के अपघर्षण एवं अपवाहन के द्वारा शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क मरूस्थल में नग्न अवशेष कठोर चट्टानें रह जाती है । ऐसे प्रदेशों में प्राप्त गड्ढे अपरदन एवं अपक्षय के प्रभाव से समाप्त प्राय: हो जाते हैं । कोमल चदटानीय उठा हुआ भाग भी नष्ट हो जाता है । किन्तु कहीं–कहीं टीले के आकार में अवशिष्ट कठोर चदटानीय भाग सपाट मरूस्थलीय भाग में उभरा हुआ दिखाई देता है । जर्मन भूतत्व विशारदों ने कालाहारी मरूस्थल में इन्हें देखा एवं इन्सलबग' नाम से पुकारा । इसे बोनहार्ट नाम भी दिया जाता है । क्योंकि बोर्नहार्ट नामक विद्वान ने ही इसको सर्वप्रथम पहचाना था ।

(14) मेसा एवम् बूटे (Mesa's and Buttes) : कोलारेडो, टेक्साज, यूटाह और अरीजोना में क्षैतिज रूप में बिछी हुई असमान कठोरता वाली चट्टानों के द्वारा तीव्र पार्श्वों एवं सीढ़ियों वाली विशिष्ट मेज के आकार की पहाड़ियाँ बन गई हैं । इनके बीच से होकर मरूस्थल से बाहर उत्पन्न हुई शक्तिशाली नदियाँ इन्हें काटकर गुजरती है । ऐसी छोटी चट्टानीय पहाड़ियों को वहाँ मेंसा (Mesas) या बूटे (Buttes) कहकर पुकारते हैं । ये घाना, सहारा, बोसवाना, मोजाम्बिक, नाइजीरिया, यूगाण्डा, गोबी, पश्चिमी आस्ट्रेलिया, आटाकामा आदि मरूस्थलों में देखे जाते हैं।

(15) भू–स्तम्भ (Hoodos or Demoiselles) : शुष्क मरूस्थलों में जहाँ कठोर चट्टानों के नीचे असंगठित मलबे युक्त चट्टान बिछी होती है वहाँ हवा से सतत प्रहारों के फलस्वरूप नीचे की असंगठित चट्टानें घिस जाती है और कई ऊँचे –ऊँचे टीले बन जाते हैं । ऐसी स्थिति में भीषण वर्षा होने से अल्पकालीन, मौसमी जलधाराएँ द्रुत गति से उस असंगठित मलबे युक्त चट्टान का अपरदन करती है और इस प्रकार वायु एव जल के सम्मिलित प्रभाव से अन्त में एक लम्बवत् खड़ा स्तम्भ रह जाता है जिसे मृतिका स्तम्भ (Earth Pillars) कहते हैं । ऐसे मृतिका स्तम्भों पर कठोर चट्टानीय भाग शीर्ष पर स्थित होता है तो उस भू–आकार को भू–स्तम्भ (Demoiselles or Hoodos) कहकर पुकारते है । ये भू–स्तम्भ दूर से देखने पर कटी हुई चिमनियों की तरह दिखाई देते है इसलिए इन्हें दुर्गीय चिमनी (Castellated Chimmneys) भी कहा जाता है (चित्र - 9.20) ।

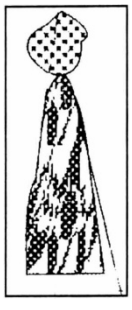

चित्र - 9.20 : भू –स्तम्भ

(16) जालीदार शिला (Stone Lettice) :शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क मरूस्थलों में जब धूलिकणों से लदी हवा के सम्मुख विचित्र वैभिन्य कठोरता वाली संधी युक्त चट्टान आ जाती है तब उस चट्टान के कोमल भाग अपवाहन एवं अपघर्षण से अपरदित हो जाते है । पीरणामस्वरूप

जाली के समान शिला का निर्माण होता है जो जालीदार शिला' कहलाती है । राकी पर्वतों में बालुका प्रस्तर की जालीदार शिलाएँ दृष्टव्य हैं ।

(17) वात खिड़की एवं वात पुल (Windworn Window & Bridge) :शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क मरूस्थलों में प्रवाहित वायु के सामने कोई कोमल चट्टान जो चारों ओर से कठोर चट्टान द्वारा घिरी हुई है, आ जावे तो हवा उस कोमल चट्टान को निरन्तर अपघर्षण एव अपवाहन की क्रिया द्वारा नष्ट कर देती है । अन्त में जब कोमल चट्टान नष्ट हो जावेगी तब उस समूची चट्टान में आर–पार बड़ा छिद्र हो जावेगा । इसे वात निर्मित खिड़की कहते हैं । कालान्तर में हवा के अपघर्षण से नीचे की चट्टान भी कटने लगती है एवं एक मेहराब की सी आकृति बन जाती है । इसे वात निर्मित पुल कहा जाता है ।

(18) वायु निर्मित छिद्र (Windworn Hollow).: रेतीले मरुस्थलों में हवा जब तीव्र गति से चलती है तो किसी कृत्रिम या भौतिक भू–आकार के सहारे जड़ में कटाव अधिक करती है क्योंकि वहाँ हवा का चक्कर बनना शुरू हो जाता है । इस प्रकार के चक्कर बालुका स्तूपों के पार्श्वों पर भी लगते रहते है जहाँ पर हवा नीचे के भाग में टीले के अन्दर की तरफ उसे काटना शुरू कर देती है । कालान्तर में यह स्थान चौड़ा एवं गहरा हो जाता है । इसे वायु निर्मित छिद्र कहते हैं । अन्त में हवा के अधिक कटान के बाद यह छिद्र इसकी छत गिरने के कारण समाप्त हो जाता है एव यहाँ वायु गर्त बनना प्रारम्भ हो जाता है । इस प्रकार के वायु निर्मित छिद्र थार मरूस्थल में कई जगह पाये जाते हैं ।

(19) उखड़ने वाली चट्टानें (Stripping Rocks) : शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क मरुस्थलों में हवा के एक ही दिशा से लगातार चलने पर उसके सामने खड़ी क्षैतिजीय (Horizontal) चट्टान के बायें एवं दाहिने दोनों किनारों पर तीव्र कटान होता रहता है । चट्टान के धरातल से लगे हुए भाग को हवा अधिक काटती है एवं शीर्ष पर तेज धार वाले किनारे बाहर निकले रहते हैं । कालान्तर में इस प्रकार के अपघर्षण से शीर्ष वाला तेज और पतला किनारा टूटकर गिर जाता है तथा चट्टान फिर पूर्ववत् आकृति में आ जाती है किन्तु आकार छोटा हो जाता है । इस प्रकार अपघर्षण का कार्य फिर शुरू हो जाता है और कालान्तर में सम्पूर्ण चट्टान की सारी ऊपरी पर्त उखाड़कर हवा के अपघर्षण से फेंक दी जाती है । इसे उखड़ने वाली चट्टान कहते हैं । थार मरूस्थल में जहाँ – जहाँ चट्टानें हवा की दिशा के अनुकूल बिछी हुई पाई जाती है वहाँ इस प्रकार का भू – आकार देखने को मिलता है (चित्र – 9. 21) । बीकानेर–जैसलमेर के बीच सड़क के सहारे इन्हें देखा जा सकता है । इस प्रकार का धरातल दक्षिणी पश्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका, कोलोरेडा, न्यू मेक्सिको, अरीजोना, केलिफोर्निया आदि में दृष्टव्य है ।

सन्निघर्षण से बने भू–आकार वास्तव में प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष होते हैं । यद्यपि मरूस्थल की भू–दृश्यावली के कारण यही छोटे–छोटे बालू कण होते हैं जो न केवल अपरदन ही करते वरन् निक्षेपित भी होते रहते हैं । अत: आपस में टकराने से बालू कण बारीक होते जाते हैं और इनका आकार .002 से.मी. से .02 से मी. औसतन होता है । कुछ बालू कण .1 से.मी. या इससे भी बड़े होते हैं । राजस्थान के पश्चिमी भाग में आँधी में यही कण

उड़ा करते हैं । चुरू जिले में 26 जनवरी, 1968 एव 8 अप्रैल, 1969 को इन बालू कणों से लदी आँधी आई जिसमें इतने छोटे–छोटे कण थे कि पूर्णत: बन्द कमरे में भी उन दिनों औसतन एक किलोग्राम धूलिकण प्रवेश कर गये थे । अत: सन्निघर्षण का कार्य भी अपरदन के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है ।

(20) वायु परिवहन (Transportation) : जिस प्रकार बहता हुआ जल, लहरें, बर्फ आदि वहन कार्य करते है उसी प्रकार हवा भी काफी तीव्र रूप में वहन कार्य करती हैं ।

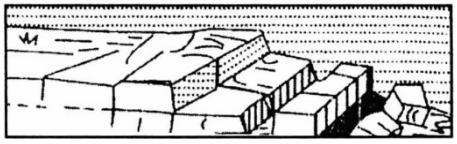

चित्र – 9.21 : पिण्ड विघटन

9.3.2 वायु निक्षेपण (Wind Deposition)

वायु में सूक्ष्म, हल्के पदार्थ जो उड़ाकर ले जाये जाते है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म अधर लटकी हुई अवस्था मे बहते रहते हैं । भारी और बड़े कंकड़ सतह पर लुढ़कते हुए चलते है, अति भारी पत्थर के टुकड़े एक बार उड़ाये जाते है एवं दूसरी बार लुढ़का–लुढ़काकर आगे बढ़ाया जाता है । अत: सभी उपर्युक्त प्रकार के पदार्थो को हवा मन्द गति पड़ने पर या नमी प्राप्त करने पर या वर्षा के साथ पृथ्वी तल पर छोड़ देती है। हवा द्वारा उड़ाये गये समस्त भार (Load) पर भिन्न आकारों तथा भिन्न धरातलीय रूपरेखा होने के कारण विभिन्न स्थानों एवं विभिन्न रूपों में निक्षेपित करती है । कंकड, गिट्टियाँ (Pebbels) पत्थर के टुकड़े आदि मरूस्थल में ही यत्र–तत्र फैले हुये या एक अवरोध के सहारे जमा हो जाते हैं जबकि सूक्ष्म एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण मरूस्थल के किनारों या मरूस्थलीय क्षेत्र के बाहर जाकर गिरते है । मरूस्थल में बालू के निक्षेपण से बालुका स्तूप एवं मरूस्थल के बाहर बालू कणों के जमने से लोयस का जमाव होता है । समुद्रों तटों या झील के किनारों पर भी बालू कणों के जमने से बालुका स्तूपों का निर्माण हो जाता है ।

9.3.3 वायु निक्षेपण से बने भू–आकार

1. लोयस (Loess) : शुष्क मरूस्थलों से सामयिक एवं अनवरत रूप से वायु द्वारा धूलिकण (सिल्ट) उड़ाकर समीपस्थ क्षेत्र में जमाए जाते है । इस प्रकार के विस्तृत जमाव उत्तरी चीन में पाये जाते है जो मंगोलिया के मरूस्थलों से उड़ाकर उत्तरी–पश्चिमी (पछुआ) हवाओं द्वारा लाये जाते है । इस प्रकार के जमाव यूक्रेन क्षेत्र के पश्चिम में, यूरोप के हरसीनियन उच्च प्रदेशों के आरटोइस (Artois) और पीकार्डी (Picardy) पठारों के मध्य में भी पाये जाते हैं जो उत्तरी यूरोप के हिमनद द्वारा प्लीस्टोसीन हिम युग में निर्मित उत्तरी मैदान से उड़ाकर लाई गई मिट्टी से बने हैं । उत्तरी अफ्रीका से काफी मिट्टी सूडान, उत्तरी कांगो, नाइजीरिया, माली आदि दक्षिण पश्चिम के राष्ट्रों को जाती है जहाँ यह निक्षेपित की जाती है । इसी प्रकार अरब के मरूस्थल से धूलिकण लाल सागर में चले जाते हैं और सहारा से

अन्ध महासागर को पार कर इंगलैण्ड एवं पूर्वी–दक्षिणी अमेरिका में भी धूलिकण पहुँच जाते हैं । इस प्रकार की मिट्टी द्वारा निर्मित सपाट भाग को 'लोयस' के मैदान कहते हैं ।

लोयस शब्द अल्सास (जर्मनी) क्षेत्र के एक लोयस गाँव से लिया गया है । इस प्रकार की सिल्ट इस गाँव से जमना शुरू हुई जो कालान्तर में मोटी एवं बड़ी होती गई और यह सोवियत संघ, तुर्किस्तान आदि को पार करती हुई चीन के शांसी –शेंशी प्रान्तों में सर्वोच्च विकास पर पहुँच गई । इसके लिए होम्स महोदय ने लिखा है - "Loess is an accumulation of wind worn dust and silt, washed down from the air by rain and retained by the proptective grip of the grasses of the steppe."

लोयस के बारे में सर्वप्रथम अध्ययन रिचथोफन (Richthofen) ने किया एवं चीन में इसके उद्गम की विचारधारा को स्पष्ट किया ।

इस लोयस का रग सामान्यत: पीला या हल्का भूरा होता है एवं कण बारीक होते हैं जो परतों के रूप में एक जगह पर जमा होते रहते हैं । इसी कारण से चीन में 100 मीटर से 400 मीटर मोटी परत लोयस की जम गई है जिसके नीचे नदी घाटियाँ, छोटी पहाड़ियों आदि दब चुकी है । अब सड़कों के निकालने, घाटियों के गहरे होने से यह मालूम हो गया है कि लोयस एक सख्त जमाव है जो बिना बाहरी शक्ति के विशेष हस्तक्षेप के अस्त–व्यस्त नहीं होता । चीन के लोयस प्रदेश में नदियों की घाटियों द्वारा कटान होने से अवनालिकाएँ (Gullies), उत्खात भूमि (Badland) आदि का निर्माण हो गया है । इस क्षेत्र में सीढीनुमा कृषि प्रणाली से उत्तम प्रकार की कृषि सम्भव हो सकी है । इस मिट्टी में गुफाओं के आकार के घर किसान बना लेते हैं जो असुरक्षित होते हैं । सर 1556 में चीन में इस प्रकार के घरों मे रहने वाले करीब 10 लाख किसान भूकम्प आने से काल के गाल में पहुँच गये ।

2. बालुका स्तूप (Sand Dunes) : स्पष्ट है कि जहाँ विश्व के धरातल का 1/5 भाग मरूस्थलीय है वहाँ औसतन रूप से मरूस्थलों का 1/5 भाग बालुका स्तूपों के नीचे घिरा है। हवा अपने अपरदन एवं अपवाहन द्वारा एक स्थान से मिट्टी काटकर दूसरे स्थान पर जमा करती है । इस जमाव से बने भू–आकारों को बालुका लूप' कहते है । यह जमाव का कार्य विशिष्ट परिस्थितियों में ही सम्भव होता है । बेगनाल्ड महोदय ने बताया कि बालुका स्तूप की आकृति, आकार एवं विस्तार उसमें प्राप्त सामग्री की उपलब्धि, धूलिकणों की आकृति एवं आकार, हवा की भिन्न भिन्न शक्ति एवं दिशा, धरातल का उबड़ खाबड़पन या समतलता; वायु मार्ग में अवरोध एवं उसका स्कूल रूप; जमाव के स्थान की विस्तृतता प्रभूति तत्वों पर निर्भर करती है ।

इनके आधार पर मरूस्थलीय बालुका स्तूपों को निम्न प्रकारों में विभक्त कर सकते हैं –

(i) विस्थापित बालू (Sand Drifts) : औसत धरातल से ऊपर उठी हुई चट्टानों या अन्य अचानक ही भूतल से ऊपर उठने वाले प्राकृतिक या कृत्रिम अवरोध के सहा अस्थायी

रूप से बालू जम जाती है जो कुछ ही समय बाद उड़कर चली जाती है । ऐसे अस्थायी जमाव को विस्थापित बालू के लूप कहते है । थार मरूस्थल में ये बहुलता से देखे जा सकते हैं ।

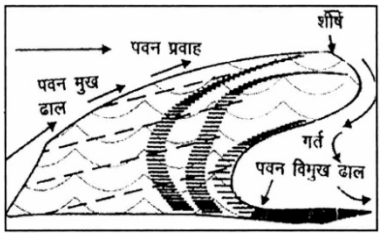

चित्र – 9.22 : बरखान

(ii) अर्द्धचन्द्राकार बालुका स्तूप या बरखान (Crescentic dunes or Barchans) :

बरखान जो वास्तव में तुर्किस्तानी नाम है एवं सभी जगह अपना लिया गया है, आकृति में अर्द्धचन्द्राकार या धनुषाकार होता है । बरखान स्वतन्त्र इकाई के रूप में बनते हैं जो या तो बिखरे हुए देखे जाते हैं या श्रृंखलाबद्ध एक ही दिशा में मधुमक्खियों की तरह एक से दूसरा जुड़ा हुआ रहता है । कभी–कभी ये एक ही स्थान पर बस्तियों के रूप में भी पाये जाते है जो प्राय: पार्श्वों द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए रहते हैं (चित्र– 9.22) । सरदारशहर (राजस्थान) के पास सभी प्रकार के बरखान को यत्र–तत्र है । इस प्रकार की आकृतियाँ जयपुर–बीकानेर राष्ट्रीय राजमार्ग संख्या 11 के समानान्तर चलने पर भी दिखाई पड़ती है । सांभर झील में गिरने वाली मेढ़ा नदी की निचली घाटी में अनगिनत एक से दूसरे माला के रूप में जुड़े हुए बरखान देखने को मिलते हैं ।

बरखान अधिकांशत: हवा की अनुप्रस्थ दिशा में पाये जाते हैं, किन्तु कभी–कभी हवा की दिशा में भी बन जाते हैं । लेखक ने सरदारशहर चुरू सड़क के पास भालेरी नामक स्थान पर पश्चिम व दक्षिण–पश्चिम से आने वाली हवा के समानान्तर ही बरखान की संरचना देखी है । इनके अग्र भाग के पार्श्वों पर दोनों ओर सींगों के आकार में मिट्टी जम जाती है एवं अग्र प्रदेश का मध्य भाग तीव्र ढाल वाला बन जाता है । राजस्थान में इनके अग्र प्रदेश के निकले हुए भागों के मध्य जिसमें वर्षा के दिनों में पानी एकत्रित हो जाता है खरीफ की कृषि विशेष चाव के साथ की जाती है । बरखान का ढाल पवनाभिमुख (Windward) दिशा में धीमा एवं प्रतिवाती (Leeward) दिशा में लम्बवत् (Concave) होता है । क्योंकि पवनाभिमुख की ओर हवा धीरे–धीरे मिट्टी जमाती हुई आती है एवं अग्र भाग पर आते –आते एकदम खोह में कूदकर भँवर रूप (Eddies) में बहना पड़ता है । अत: खोह की वायु वहाँ की मिट्टी को तेजी से उड़ाकर पार्श्वों में निकले हुए सींगों पर डाल देती हैं । बरखान की ऊँचाई प्रतिवाती दिशा या खिसकने वाली दिशा (Slip–face) के पृष्ठ पर सर्वोच्च होती है । ऊँचाई में बरखान इस सर्वोच्च शिखर की बालू के धँसकने (Avalanching) तक बढ़ता रहता है । बरखान के सींग (Horn) जब बड़े होते रहते है । तब टीला शीघ्रता से आगे बढ़ता है क्योंकि जब तक ये निकले हुए भाग हवा निकलने के लिए अवरोध उपस्थित नहीं करते

है और टीले के मध्य भाग के बराबर उनमें हवा की गति में व्यतिक्रम डालने की शक्ति नहीं हो जाती तब तक टीला बढता ही जाता है । इसके बाद उसकी आकृति एवं आकार जब तक हवा उसी दिशा में चलती रहती है प्राय: निर्धारित हो जाता है (चित्र – 9.22) ।

साधारणतया बरखान की लम्बाई उसकी ऊँचाई से कई गुना अधिक होती हैं । बरखान की सामान्यत : ऊँचाई 30 मीटर तक होती है किन्तु कभी–कभी 150 से 200 मीटर तक भी हो जाती है । इसी प्रकार लम्बाई भी 1 किलोमीटर से लेकर 100 किलोमीटर तक देखी गई है । बरखान की स्थिरता एवं विकास के लिए एक दिशा से बहने वाली हवा अधिक उपयोगी होती है । उत्तरी अफ्रीका के मरूस्थल में उत्तरी–पूर्वी व्यापारिक हवाएँ इस प्रकार के बालुका स्तूप बनाने के लिए उत्कृष्ट दशाएँ प्रदान करती है । सहारा मरूस्थल में बरखान बालुका स्तूपों की श्रृंखलाओं के मध्य हवा के प्रभाव द्वारा एक लम्बा रास्ता बन जाता है जिसे वहाँ गासी (Gassi) कहते हैं एवं काफिलों के आने जाने का स्थायी मार्ग बन जाता है । इस प्रकार के मार्ग का निर्माण बालुका स्तूपों के मध्य में श्रृंखलाबद्ध रूप में कभी–कभी सीधा फासला हो जाने पर वायु इस पर अपनी सारी शक्ति के साथ इसे वायु सुरंग (Wind tunnel) के रूप में उपयोग कर प्रवाहित होती है और इस क्षेत्र को बालू रहित रहने देती है । इस प्रकार से सीधे रास्ते का निर्माण होता है ।

बरखान के निर्माण के विषय में मतैक्य नहीं है । बरखान का समारम्भ कोई विशेष वृहत् बाधा के फलस्वरूप होता नहीं माना जाता, क्योंकि इनका निर्माण अधिकांशत: समतल भागों में ही देखा गया है । शीतकाल में जब हवा थार मरूस्थल में पश्चिम से न चलकर विभिन्न दिशाओं से चलती है तब कुछ बालू किसी सूक्ष्म अवरोध के सहारे (झाड़ी, कंकड़ों का ढेर, बालू का ढेर इत्यादि) जमा होती रहती हैं । ग्रीष्मकाल में जब हवा पश्चिम से चलती है तब उस बालू के प्रभाव का सहारा लेकर बालुका स्तूप का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है एव 6 महीने में अपना पूर्ण सत्रीय विकास कर लेता है । इनके बारे में कुछ विद्वानों का मत है कि इनका प्रारम्भ भी किसी बड़ी बाधा के फलस्वरूप होता है किन्तु इनकी औसतन स्थिति को देखकर विचार कम संगत जान पड़ता है ।

(iii) अनुदैर्ध्य या लम्बे बालुका स्तूप (Linar Ridges or Londgitudinal Dunnes) :

ये बालुका स्तूप सहारा में सीफ (Seifs) के नाम से जाने जाते हैं । साधारणतया अनुदैर्ध्य बालुका स्तूप लम्बी, समानान्तर एवं समान श्रृंखलाओं के रूप में बनते है, जिनकी चोटियाँ भिन्न एवं अलग–अलग होती है । एक के बाद दूसरा बालुका लूप इस प्रकार से सन्नध रहता है जैसे किसी दैत्य के आरे के दाँते होते हैं (चित्र– 9.23) । समानान्तर बालुका स्तूप वायु की प्रवाह दिशा के समानान्तर रेतीले मरूस्थलों में बनते हैं । इनकी ऊँचाई कई मीटर तक एवं लम्बाई 5 किलोमीटर तक साधारणत : देखी जा सकती है । चित्र – 9.23 : सीफ का विकास

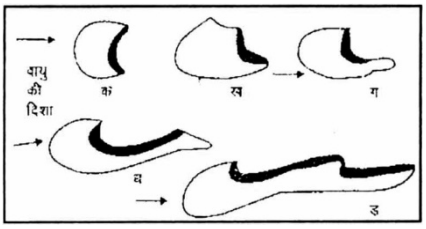

चित्र - 9.23 : सीफ का विकास

(iv) अनुप्रस्थ या आड़े बालुका स्तूप (Transverse Sand dunes) : आर्द्र भागों, शुष्क या अर्द्ध शुष्क मरूस्थलों में जब हवा दीर्घकाल तक एक ही दिशा से चलती रहे तब वायु की दिशा के लम्बवत् अनुप्रस्थ या आड़े बालुका स्तूपों की रचना होती है । इनकी रचना रेतीले मरूस्थलों में धीमी वायु द्वारा लगातार रूप से बालू को जमाते रहने के फलस्वरूप होती है । ये बालुका स्तूप भी समानान्तर रूप में बनते है एवं इनकी ऊँचाई तथा दो स्तूपों के मध्य की दूरी वायु शक्ति एवं बालू कणों की मात्रा पर निर्भर करती है । ये बालुका स्तूप प्राय: पेड–पौधों के समूहों द्वारा एक–दूसरे से अलग होते है । अनुप्रस्थ बालुका स्तूप शुष्क एवं नम दोनों ही प्रकार की जलवायु में नदी तट, झील तट, मरूद्यान आदि के पास बहुतायत से देखे जाते हैं । दक्षिणी पश्चिमी मानसून द्वारा भारत के पश्चिमी तट पर भी इनकी रचना होती है (चित्र– 9.24) ।

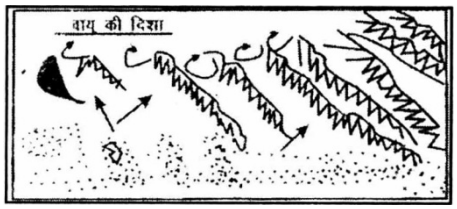

चित्र – 9.24 : आड़े बालुका स्तपों का फैलाव

(v) बालुका स्तूपों का स्थान्तरण (Migration of Sand dunes) : जब तक बालुका स्तूपों की मिट्टी स्वतन्त्रतापूर्वक उड़ती रहती है तब तक बालुका स्तूप अस्थायी ही रहते हैं । झंझावात् तूफान, आँधी आदि आने पर पवनाभिमुख की दिशा से मिट्टी उड़कर आगे की ओर बढ़ती रहती है । यह मिट्टी बालुका स्तूप के शिखर पर पहुँचकर हवा के अप्रभावित क्षेत्र (Wind Shadow zone) में पड़ जाती है और इसके प्राकृतिक विश्राम कोण (Natural angle of repose) करीब 30 डिग्री से 350 डिग्री पर निस्तब्ध हो जाती है । यह क्रम निरन्तर चालू रहता है और अन्त में बालुका स्तूप आगे की ओर बढ़ता रहता है । साथ ही बालुका स्तूप का शिखर भी अंधड़ की शक्ति के कारण आधी चलने की दिशा में आगे बढ़ता रहता है और अन्त में सम्पूर्ण स्तूप ही आगे की ओर खिसक जाता है (चित्र – 9.25) ।

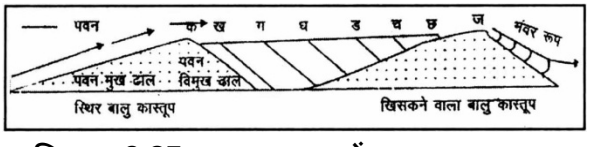

चित्र – 9.25 : बालूका स्तूपों का स्थानान्तरण

यह क्रम धीमा तथा क्रमानुसार होता है किन्तु कहीं–कहीं, कभी–कभी तीव्र गति से भी होता है । थार मरूस्थल में सरदारशहर कस्बे के पूर्व में बालुका स्तूप केवल मार्च–अप्रैल, 1968 में आगे खिसककर 3 वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में फैल गये । ये बालुका स्तूप इस समय में करीब 500 मीटर तक आगे खिसके थे । बालुका स्तूपों का आगे खिसकना किसी बाधा के उपस्थित होने पर ही सम्भव होता है । यह बाधा वनस्पति का लगातार आवरण, वृक्षों की पंक्ति या बालुका स्तूपों पर स्थिर करने के लिए लगाये हुए पेड–पौधों के रूप में हो सकती है । बालुका स्तूपों का आगे खिसकना बहुत हानिकारक होता है । सुमेरियन, बैबीलोनियन, मोहनाजोदड़ो, हडप्पा एवं चन्दूदडों तथा मिश्र की सभ्यता के विनाश के कारणों में से एक यह भी माना जाता है । फ्रांस के लैण्डस प्रदेश में बालुका स्तूपों के आगे बढने के परिणामस्वरूप कई गाँव नष्ट हो गये। राजस्थान के बालुका स्तूप प्रतिवर्ष मरूस्थली करण की प्रक्रिया के अन्तर्गत स्थानान्तरित होते रहते है । किन्तु सरकार इस ओर शीघ्रता से विचार कर रही है एवं इस ओर जोधपुर में स्थित केन्द्रीय शुष्क क्षेत्रीय शोध संस्थान (Central Arid Zone Research Institute) का कार्य सराहनीय है ।

(vi) परवयलिक बालुका स्तूप (Parabolic Sand Dunes) : शुष्क या अर्द्ध शुष्क मरूस्थलों के जिन भागों में वायु का वेग अधिक होता है उन भागों से अपवाहन द्वारा बालू को उड़ाकर वायु प्रवाह के विरूद्ध मार्ग में जमा कर देने से इस प्रकार के "परवयलिक" बालुका स्तूपों की रचना होती है । ये स्तूप लम्बे एवं आकृति में परवलयाकार होते हैं । ये वायु के बहने की दिशा में धीमी ढाल वाले रथ प्रतिवाती दिशा में खड़े ढाल वाले होते हैं । ये प्राय: वनस्पति से आवृत्त रहते हैं अर्थात् छोटी–छोटी घास उग आती है इसलिए ये आगे की ओर बहुत कम बढ़ते हैं । ये बालुका स्तूप राजस्थान के गंगानगर जिले में प्रमुखता से देखे जा सकते हैं । इस प्रकार के बालुका स्तूपों के बनने के लिए बालू के साथ बारीक मिट्टी की भी आवश्यकता होती है जो इस नहरी क्षेत्र में उपलब्ध है । इसलिए इनका विस्तार वहाँ देखा जा सकता है (चित्र–9.26) ।

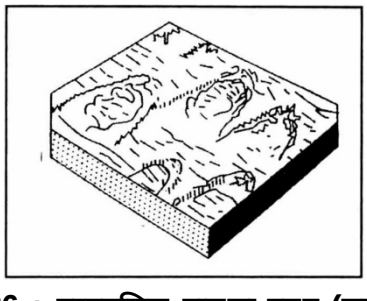

चित्र – 9.26 : परवयलिक बालुका स्तूप (मरूस्थल क्षेत्र)

(vii) बालू की चादर (Sand Sheet) : बालू का विस्तृत क्षेत्र जो समतल हो या उबड़–खाबड़ एवं जिसमें उपर्युक्त प्रकार के बालुका स्तूपों की रचना स्पष्टतया नहीं देखी जा सकती हो ऐसे बालू के आवरण को 'चालू की चादर'' के नाम से पुकारते हैं । राजस्थान

में जयपुर, सीकर, झुँझुनूँ जोधपुर, जैसलमेर, बाड़मेर एवं नागौर जिले इसी प्रकार की बालू की चादर के उदाहरण प्रस्तुत करते है ।

(viii) समुद्रतटीय बालुका स्तूप (Coastal Sand dune) : बालू तटीय समुद्रों के किनारों पर जब हवा समुद्र से तट की ओर बहती है तब किनारे पर पड़ी हुई मिट्टी स्थल की ओर लाकर जमा करती रहती है परिणामस्वरूप बालुका स्तूपों का निर्माण हो जाता है । फ्रांस के पश्चिमी तट (बिस्के की खाड़ी) पर 8 कि.मी. चौड़ी और 240 कि.मी. लम्बी बालू की पट्टी है । बेल्जियम, नीदरलैण्ड, डेनमार्क एवं जर्मनी के तटों पर भी तटीय बालुका स्तूप देखे जाते हैं उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट पर एव भारत के पूर्वी तट पर इन बालुका स्तूपों की भरमार देखी जा सकती है ।

(ix) झील तटीय बालुका स्तूप (Lake shore Sand Dunes) : झीलों के तटों पर भी इस प्रकार के बालुका स्तूप बन जाते है । सुपीरियर, मीशीगन, विनीपेग आदि झीलों के तटों पर हिम निक्षेपित बालू पर पछुवा हवाओं के प्रभाव से बालुका स्तूपों का निर्माण हो गया है । ये बालुका स्तूप अधिकांशत: वनस्पति से ढक गये हैं इसलिए अधिक विनाशकारी नहीं समझे जाते ।

(x) नदी तटीय बालिका स्तूप (Riverine Sand dunes) : शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क मरुस्थलों की नदियों की घाटियों में हवा द्वारा बालू उड़ाकर जमाने से कई बालू उड़ाकर जमाने से कई बालुका स्तूपों का निर्माण हो जाता है । राजस्थान में लूनी के किनारे, उत्तर प्रदेश में गंगा के किनारे, संयुक्त राज्य अमेरिका में अरकन्सास, कोलम्बिया, सेक नदियों के किनारे, फ्रांस में गार्डों एव ग्वाडलकवि, अर्कियो की घाटियों में, दक्षिणी रूस में वोल्गा, डान, नीपर, नीस्टर, पाकिस्तान में सिंध नदी, इजराइल में जोरडन नदी एवं मिश्र में नील नदी के किनारे देख जा सकते है ।

(xi) उर्मि चिह्न (Ripple Mark) : मरुस्थलों में रेत के ऊपर लहरों की आकृति के समान रेत के ही चिह्न बन जाते हैं । जो उर्मि चिह्नों के नाम से पुकारे जाते हैं और ये पास–पास ही जल तल पर उठने वाली लहरों के क्रम के समान देखी जाती हैं । ये वायु दिशा के लम्बवत् बनती हैं अत: वायु क्रम बदलने पर इनकी बनावट में भी परिवर्तन आ जाता हैं (चित्र – 9.27) । उनके बीच में कठोर चट्टानों वाले भाग छोटी पहाड़ियों, उभरी हुई चट्टानों एवं अपरदित अवशेषों के रूपों में रह जाते हैं जो विभिन्न आकार एवं आकृतियों में देखे जा सकते हैं । यद्यपि प्रवाह प्रणाली को देखने से यह क्षेत्र प्रौढ़ावस्था में प्रतीत होता है किन्तु प्राय: उच्च उच्चावच यौनवावस्था का स्पष्ट प्रमाण होता है । उत्तरी अमेरिका में अलबर्टा, मोन्टाना, व्योमिंग, उत्तरी एवं दक्षिणी डेकोटा, कोलोरेडो, न्यूमेक्सिको, यूटाह, अरीजोना, नेवादा और केलिफोर्निया में, भारत में बुंलदेलखण्ड, बघेलखण्ड एवं चम्बल रेवाइन्स, चीन में कान्सू प्रदेश आदि प्रमुख हैं।

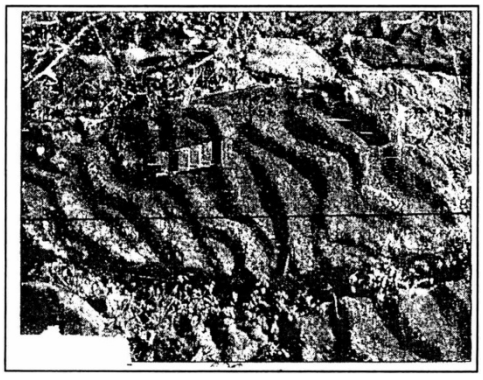

चित्र - 9.27 : उर्मि चिह्न

(xii) प्लाया झीलें (Playas): शुष्क या अर्द्ध शुष्क मरूस्थल की अल्पकालीन, छोटी–छोटी नदियाँ मरूस्थल के बाहर न बहकर चारों ओर से किसी झील में आकर गिर जाती हैं जिसे प्लाया झील कहते हैं । इन झीलों में क्ले, सिल्ट, नमक आदि जमे हुए रहते हैं और ये झीलें भी अस्थायी होती हैं । वर्षा के समय में इनका विस्तार बढ़ जाता है एव शुष्कता प्राप्त होते कुछ ही क्षेत्र में ये रह जाती हैं । सांभर झील, डीडवाना, पंचभद्रा, पोकरन आदि राजस्थान की ऐसी ही झीलें हैं । संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण–पश्चिम के हर बेसीन और कटक क्षेत्र में इस प्रकार की झीलें पाई जाती हैं । इनमें भूमिगत पानी समीप होने पर पेंदा मुलायम और रंध्रमय होता है किन्तु अगर आभ्यन्तरिक जल –तल गहरा होता है तब पेंदा सख्त और गाढ़ा होता है ।

कापीय शंकु (Alluvial cone)

मरूस्थलीय क्षेत्र की नदियाँ पहाड़ी ढाल के नीचे या घाटी के मुहाने अर्थात् बेसीन में, कई धाराओं में बँट जाती हैं और डेल्टा के समान त्रिकोणाकार रूप में कापीय शंकुओं का निर्माण करती है इन्हें शुष्क डेल्टा (Dry Delta) भी कहते है । ये कालान्तर में हवा के प्रभाव से अपरदित होकर उत्खात भूमि को जन्म देते है ।

बाजदा (Bajadas)

चारों और जिसमें शुष्क धाराएँ आकर मिलती है, उस बेसीन के पेंदे और समीपस्थ उच्च प्रदेश को मिलाने वाली सीमा पर नदियों द्वारा सम्मिलित रूप से कई कापीय शंकुओं का सम्मिलित कापीय क्षेत्र बना दिया जाता है । ऐसे परस्पर मिलने वाले जलोढ़ शंकुओं से निर्मित मन्द ढालयुक्त एवं कम उबड़–खाबड़ मैदान को "बाजदा"' कहते हैं । वारसेस्टर के अनुसार, Bajadas are compound alluvial fans which in many deserts, make continuous sheets of alluviums, miles in length at the border zone between the basin floors and the surrounded highlands."

ये शैल–मलवा, कंकड़, बजरी आदि से बनते हैं जो मरूस्थलीय नदियों के प्रवाह या पैक प्रवाह (Mud flow) से प्राप्त होते हैं । बाजदा का धरातल अन्तप्रवाह प्रणाली की घाटियों द्वारा काट दिया जाता है । बाजदा के आगे रेतीला क्षेत्र होता है और उसके आगे बीच में पंक स्तर रहता है। जब ये नदियाँ गायब हो जाती हैं तब पानी कंकड़–पत्थरों के नीचे होकर सम्पूर्ण बाजदा के

नीचे–नीचे चलता हुआ प्लाया झील में चला जाता है या कभी–कभी पातालतोड़ कुओं के लिए आदर्श स्थिति प्रदान करता है । राजस्थान में करौली जिले में टोडाभीम के पास इसी प्रकार के बाजदा से पातालतोड़ कुओं और खूब कूपों का निर्माण सम्भव हो सका है जिनसे सैकड़ों एकड़ भूमि पर सिंचाई की जाती है । केलिफोर्निया में अवाट्ज पर्वतों (Avawatz Mountains) के किनारे और कुकामोंगा (Cucamonga) क्षेत्र में बाजदा देखे जा सकते हैं । मध्य एशिया में ये विशेष रूप से देखे जा सकते हैं ।

बाजदा का ढाल काफी भिन्न होता है । उच्च प्रदेश या पर्वत प्रदेश के समीप 80 से 100 तक और बेसीन के पेंदे पर यह ढाल 10 भी मुश्किल से होता है। इसमें गिरने वाली प्रत्येक नदी से निर्मित कांपीय शंकु का क्षेत्र 300 के करीब विस्तृत होता है। अत: बाजदा और पेडीमेन्टस में अन्तर करने के लिए, ढाल, बनावट आदि ही प्रमुख होते हैं (चित्र – 9.28) ।

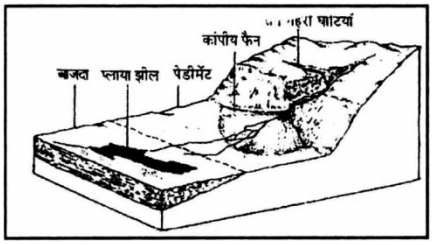

चित्र – 9.28 : मरूस्थलीय प्रदेश में विभिन्न स्थलाकृतियाँ

चट्टानीय मैदान या पेडीमेन्ट्स (Rock Plains or Pediments)

शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क प्रदेशों में लम्बे ढालयुक्त चट्टानों चौरस मैदान जो पर्वत, पठार या किसी भी उच्च प्रदेश के पदों से कुछ किलोमीटर बाहर की ओर फैला हो, पेडीमेन्टस् कहलाते हैं । इनका निर्माण विभिन्न प्रकार एवं संरचना की चट्टानों के नदियों द्वारा काटकर समतल मैदानी भाग बनाने से होता है । दूर से देखने पर बाजदा एवं पेडीमेन्टस् के बीच अन्तर स्पष्ट करना कठिन होता है किन्तु समीप से अध्ययन करने पर इन दोनों के निर्माण की विधि का पूर्ण पता बा जाता है । बाजदा प्रधानतया रचनात्मक कार्यों से बनते हैं । कंकड़–पत्थर, बालू बजरी आदि अन्त प्रवाह प्रणाली द्वारा किसी बेसिन में जमा की जाती है और फलस्वरूप बाजदा का जन्म होता है । पेडीमेन्ट्स अपरदनात्मक कार्य के फलस्वरूप, बनते हैं । अधिकांशत: इनका निर्माण पर्वत, पठार या अन्य किसी कठोर उच्च प्रदेश के अग्र भागों पर विखण्डन, अपरदन आदि क्रियाओं द्वारा संहारात्मक प्रहार से होता है और उच्च प्रदेश का नदियाँ शीर्षस्थल की ओर कटान करती हुई अन्त में एक समतल मैदानी भाग का निर्माण करती हैं । वह कटा–फटा पर्वतीय भाग 'पेडीमेन्ट'' अग्रभाग में मिल जाता है एवं निचला किनारा अधिकांशत: पर्वतीय अग्रभाग में मिल जाता है एवं निचला किनारा क्रमश: मरूस्थल के बेसिन के निम्न भाग में मलवे के नीचे शनै: शनै: अभिनत होता है । पेडीमेन्ट के विकास काल में अन्तिम अपरदन चक्र की अवस्था को छोडकर सभी अवस्थाओं में पेडीमेन्टस् के धरातल और पर्वतीय अग्रभाग के मध्य के ढाल में अचानक परिवर्तन होता है । किसी भी पेडीमेन्ट का पर्वतीय अग्र भाग के समानान्तर पार्श्वीकृत चित्र (Profile) खींचने पर धरातल समतल प्रकट होता है, जैसा कि बाजदा में देखा गया है। पेडीमेन्टस् का अधिकतर सतह प्राय: नतोदर (Concave) होता है ।

ब्लेक वेल्डर (Black Welder) महोदय ने संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी पश्चिमी मरूस्थली भू–भागों में पेडीमेन्टस् का झुकाव 1/2 डिग्री से 7 डिग्री और औसत ढाल 21/2 डिग्री का बताया गया है, किन्तु कुछ का 3 डिग्री भी औसतन ढाल अंकित किया है (चित्र–9.28) ।

बोध प्रश्न-2

1. मरुस्थल कितने प्रकार के होते है?

   .....

   .....

2. वायु अपरदन कितने प्रकार से होता है?

   .....

   .....

3. ज्यूगेन बनने की प्रक्रिया बताएं।

   .....

   .....

4. निम्न में से कौनसा भू–आकार वायु निक्षेपण से बनता है?

   .....

   .....

   (अ) गाबा (व) त्रिकोणात्मक पत्थर

   (स) बरखान (द) भू–स्तम्भ

5. बरखान के आगे क्या होते है?

   .....

   .....

9.4 कार्स्ट प्रदेश के भू–आकार (Land Forms of Karst Region)

चूने की चट्टानों के प्रदेश में कार्बन–डाइ–ऑक्साइड जल तीव्र घुलनशील क्रिया करता है । परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार की स्थलाकृतिकयों का विकास होता है ।

कार्स्ट स्थलाकृतियों के विकास की आवश्यक परिस्थितियों : – विजिक, जे. (Cvijic J.) ने कार्स्ट प्रदेश के विकास के लिये कुछ आधारभूत आवश्यकताओं को माना है । वह कार्स्ट अपरदन चक्र के लिये भी आवश्यक हैं-

1. समुचित मोटाई तथा शुद्ध चूने का पत्थर हो जो सतह से अधिक गहराई पर नहीं हो । डोलोमाइट भी कार्स्ट स्थलाकृतिक विकास के उपयुक्त है किन्तु वह चूने के पत्थर के समान घुलनशील नहीं होता ।
2. तहें तनिक नत हों तथा जिनकी संरचना में भ्रंशन हुआ हो तथा चट्टानें टूटी–फूटी हों उसमें जोड़ तथा परते हों । इन्हीं जोड़ों तथा दरारों से पानी भीतर तक पहुँचता है और घुलन की क्रिया प्रारम्भ होती है ।

3. समुद्र की सतह से स्थल की समुचित ऊँचाई हों ।
4. भूमध्य सागरीय अथवा उससे मिलती–जुलती जलवायु हो जिससे सतह पर वनस्पति का हल्का आवरण हो । वर्षा इतनी हो कि भूमिगत जल का समुचित भण्डार बन सके । शुष्क तथा अर्द्ध शुष्क प्रदेश में कार्स्ट का समुचित विकास नहीं हो पाता । यदि वहाँ कार्स्ट स्थलाकृतियाँ मिलती हैं तो वे पूर्व की आर्द्र जलवायु का परिणाम हैं ।
5. चूने के पत्थर के ऊपर अपारगम्य (Impremeable) चट्टान का आवरण हो जिसके ऊपर सामान्य अपवाहन प्रणाली विकसित हुई हो ।
6. कार्स्ट के विकास की अनुकूल परिस्थितियाँ तब होती हैं, जब किसी भी उच्च प्रदेश में गंभीरभूति घाटियाँ (Entrenched Valleys) हों तथा चट्टानों में जोड़ तथा दरारें हो ।

वास्तव में यदि सम्पूर्ण चट्टान छिद्रसंयुक्त हो और पानी उसमें भर जाता हो तो यह परिस्थिति कार्स्ट के विकास के उपर्युक्त नहीं है । कठोर चट्टान में जब बड़ी संख्या में जोड़, भ्रंश तथा तहें हो या चट्टान टूटी–फूटी हों, तथी घुलनशील क्रिया से कार्स्ट स्थलाकृतियाँ विकसित होती हैं । यही कारण है कि इंगलैण्ड तथा दक्षिणी फ्रांस में कार्स्ट स्वरूप पूर्ण विकसित नहीं हुआ है जबकि इंडियाना में हुआ है ।

भूमिगत जल (Under Ground Water)

पृथ्वी की सतह के नीचे जल मृत चट्टानों, चट्टानों के छिद्रों तथा दरारों में स्थित जल को, "भूमिगत जल" कहते हैं । कुए, पाताल, तोड़ कुएँ, जल स्रोत, गौसर आदि भूमिगत जल के ही प्रमाण हैं । पृथ्वी की ऊपरी सतह के नीचे मिलता हैं इसलिए इसे अध: जल तल (sub–surface water) भी कहते हैं ।

भूमिगत जल के स्रोत (Source of Underground Water)

भूमिगत जल के निम्न स्रोत हैं –

(i) **वर्षा, जल एवं हिम :** वर्षा या हिम पिघलने से प्राप्त जल (आकशों जल) सतह के नीचे चट्टानों की संधियों, दरारों, चट्टानों के संस्तरण तल (Bedding Plane) से होकर नीचे अपारगम्य चट्टानों तक पहुँचकर रूक जाता है, एकत्रित हो जाता है तथा भूमिगत जल का रूप धारण कर लेता है । उसका जल तल सूखा पड़ने पर नीचा चला जाता है ।

(ii) **सहजात तल (Connate Water) :** सागर या झीलों में निक्षेपित जल परतदार चट्टानों के छिद्र तथा सुराखों में स्थित जल को तलछट जल या सहजात जल कहते हैं । यह जल उत्थान के समय ऊपर उठकर भूमिगत जल का भाग बन जाता है ।

(iii) **मैग्मा जल (Magmatic Water) :** ज्वालामुखी उद्गार के समय मैग्मा के ऊपर आते समय मैग्मा चट्टानों में प्रवेश कर जाता है तथा वाष्पीय पदार्थ घनीभूत होकर भूमिगत जल बन जाता है, वहीं मैग्मा जल कहता हैं ।

चूने के पत्थर के प्रदेश में भूमिगत जल की परिस्थिति विभिन्न स्तरों पर भिन्न–भिन्न होती है–

1. सतह के ठीक नीचे की तहों में जलाशय तथा पानी के बहने के मार्ग बन जाते हैं । तेज वर्षा या आँधी –तूफान के समय यह जल से भरे जाते हैं अन्यथा सूखे पड़े रहते हैं ।

2. इसके नीचे का स्तर कभी सूखा तथा कभी जल से आपूरित रहता है । वहाँ जल समुचित समय तक रहता है लेकिन स्थायी रूप से नहीं ।
3. निम्नतम सतह जहाँ भूमिगत जल निरन्तर भरा रहता है । जलधाराएँ भूमिगत मार्गों से बहती रहती हैं, जलाशय भी जल से भरे रहते हैं ।

कार्स्ट प्रदेश की अपरदनात्मक स्थलाकृतियाँ (Erosional Land Forms of Karst Region)

कार्स्ट प्रदेश में भूमिगत जल अन्य अपरदनकारी शक्तियों के समान ही अपरदन, परिवहन एवं निक्षेपण का त्रिपद कार्य करता है एवं विभिन्न प्रकार की भू–आकृतियों का निर्माण करता है । भूमिगत जल का अपरदनात्मक कार्य निम्न रूपों में सम्पन्न होता है ।

(i) **घुलन क्रिया (Solution) :** जब पानी कार्बन डाइ–ऑक्साइड के सम्पर्क में आता है तब सक्रिय घोलक कारक बन जाता है । यह कठोर जल (Hard water) छिद्रों से होकर धरातल के नीचे पहुँचकर चट्टानों के घुलनशील पदार्थ को अलग कर देता है और अन्ततः चट्टानों को ढीली कर विभाजित कर देता है जिससे अपरदन होता है ।

(ii) **जलगति क्रिया (Corrasion) :** जल जब भूत चट्टानों तक पहुँचता है तब अपने साथ चट्टानों के घुलनशील पदार्थ बहाकर नीचे ले जाता है ।

(iii) **अपघर्षण (Corrasion) :** भूमिगत जल के साथ बहने वाला मलवा, कंकड़, पत्थर घिसकर घर्षण और अपरदन करते हैं ।

(iv) **सत्रिघर्षण (Attrition) :**भूमिगत जल के साथ चलने वाली कंकड़, चट्टानी टुकड़े आपस में भिड़कर टूटते हैं ।

1. **लेपीज (Lapies) :** जहाँ चूने के पत्थर की सतह धरती के ऊपर दिखती है वहाँ जोड़ों तथा दरारों में घुलनशील क्रिया से संकरी गहरी नालियों का जाल सा बन जाता है । सम्पूर्ण सतह कटी –फटी हो जाती है । इनको लेपीज (Lapies) कहते हैं । इंगलैण्ड के यॉर्कशायर प्रान्त के इंगलबरों जिले में यह स्थालकृति विस्तृत सतह पर देखी जा सकती है । यहाँ घुलन कटाव इतना अधिक हो चुका है और नालियाँ इतनी विकसित हैं कि पैदल चलना कठिन हो जाता है । इन नालियों में पेड–पौधे उग जाते हैं जिससे उनकी गहराई का अनुमान करना कठिन हो जाता है (चित्र – 9.29) ।

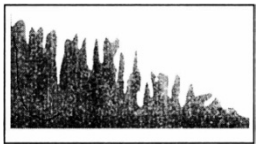

चित्र – 9.29 : लेपीज

2. **टेरा रोशा (Terra Roass)** : भूमि में रिसते हुए जल से सतह पर अथवा सतह के निकट लाल अवशिष्ट मिट्टी मिलती है, यह चिकनी मिट्टी (Clay Soil) होती है जो सतह पर बिछी मिलती है अथवा जोड़ों और दरारों में भर जाती है । तीव्र ढलानों पर यह नहीं मिलती है, किन्तु हल्की ढलवाँ अथवा समतल भूमि पर टेरारोशा का निक्षेपण मिलता है । इसकी मोटाई कुछ फीट से लेकर कई फीट तक हो सकती है और नीचे की चट्टान का पूर्ण आवरण

बना लेती है । यह उष्ण प्रदेश की लाल या पीली लैटराइटिक मिट्टी में मेल खाती हुई होती है लेकिन टेरारोशा शीतोष्ण प्रदेशों जैसे उत्तरी यूरोप में भी मिलती है ।

3. **श्रेणियाँ एवं शिखिरिकाये (Ridges and Pinnacles) :** जब भूमिगत जल की सतह समुचित गहराई पर होती है तब वर्षा का जल चट्टान की जोड़ों और दरारों से रिसकर भीतर जाता है । जहाँ दरारें– एक दूसरे को काटती हैं, विकसित करती हैं या जहाँ मिलती हैं घुलनशील क्रिया अधिक तीव्र होती है । परिणामत : छोटी–छोटी शिखिरिकाओं (Ridges and Pinnacles) का निर्माण हो जाता है । इनकी दीवारें खड़ी, नुकीली तथा संकरी होती है तथा लेपीज का विकास होता है ।

   डालमेशियन प्रदेश (यूगोस्लाविया) में लेपीज के विविध रूप देखे जा सकते हैं । यह विभिन्न रूप चूने की चट्टान की रासायनिक संरचना, गठन, ढाल तथा वनस्पति की मात्रा पर निर्भर करता है । कुछ प्रदेशों में सतह पर लेपीज नहीं दिखती किन्तु टेरारोशा का आवरण हटाने पर लेपीज युक्त सतह मिलती है, जैसे–इंडियाना, कंटुकी प्रदेश । लेपीज की भिन्न –भिन्न कार्स्ट प्रदेशों में अलग –अलग नाम से पुकारते हैं । इंगलैण्ड में इसे 'क्लिन्ट'', जर्मनी में केरेन, सर्बिया में बोगाज नाम से पुकारते हैं ।

4. **घोलरंध्र तथा अन्य सम्बन्धित स्थलाकृतियाँ (Sink holes and Related Landforms)** : कार्स्ट प्रदेश की साधारणत: पाई जाने वाली स्थालाकृति घोल रंध्र है । कास्ट प्रदेश में ये सैकड़ों हजारों की संख्या में मिलते हैं । इस प्रदेश के कुछ भाग के मानचित्रण से यह तथ्य स्पष्ट हुआ है। मैलेट (1945) के अनुमान किया की इंडियान–कंटुकी कार्स्ट प्रदेश में तीन लाख से अधिक घोल रंध्र विकसित हो गये हैं । कुछ कार्स्ट प्रदेशों में घोलरंध्र बहुत कम संख्या में या लगभग नहीं के बराबर पाए गये हैं । शुष्क प्रदेशों में अथवा जहाँ सतही जल बहुता शीघ्रता से बह जाता है, घोलरंध्र विकसित नहीं हो पाते तथा पृथ्वी के भीतर की ओर पानी की रिसन भी कम होती है । उत्तरी–पश्चिमी आस्ट्रेलिया तथा न्यू मैक्सिको में एसे प्रदेश मिले हैं।

   घोलरंध्र वास्तव में धरती की सतह पर बने गढ्ढे मात्र हैं, वे कुछ फीट से 100 फीट या उससे अधिक गहरे हो सकते हैं । क्षेत्रफल में कुछ वर्गगज से कई एकड़ तक के मिलते हैं । साधारणत: ये कुप्पी (Funnel) के आकार के होते हैं । ऊपर के चौड़े और गहराई में संकरे होते जाते हैं । लेकिन इनके अनेक आकार मिलते हैं ये रंध्र घुलनशील क्रिया से बनते हैं अत : जहाँ कई जोड़ तथा दरारें मिलती हैं, इनका आकार बड़ा हो जाता है (चित्र – 9.30)।

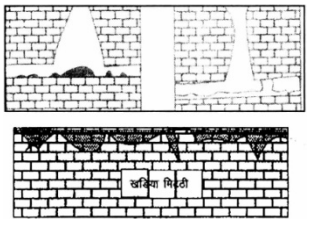

चित्र – 9.30 : घोल रंध्र

5. **डोलिन रंध्र, निपात रंध्र एवं विलयन रंध्र :** साधारणत: घोल रंध्र दो वर्गों में रखे जा सकते हैं – एक जो घुलनशील क्रिया से बनते हैं और दूसरे भीतर घुलन क्रिया के बाद ऊपर की चट्टानों के धँस जाने के बाद बनते हैं इन्हें क्रमश: घोल रंध्र तथा निपात रंध्र (Solution and Collapsed Sink) प्रथम रंध्रों के लिये डोलिन रंध्र (Doline Sink) कहते हैं तथा दूसरे के लिए निपात रंध्र (Collapsed Sink) के नाम दिये जाते हैं यह यूगोस्लाविया में डोलिन रंध्र के नाम से पुकारे जाते हैं । यह साधारणत: बड़ी संख्या में पाए जाने वाले रंध्र हैं । जबकि निपात रंध्र तीव्र ढलाने वाले पथरीले तथा ऊपर की चट्टानों के धँसने से बनते हैं । फिर भी प्रौढ़ावस्था में भी इनकी संख्या अधिक नहीं होती है (चित्र – 9.31) ।

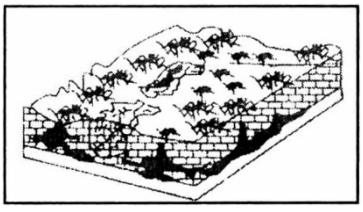

चित्र – 9.31 : कार्स्ट धरातल

6. **विलियन रंध्र (Swallow Hole) :** वर्षा का जल जब विलयन रंध्र से होता हुआ भूमिगत जल में जा मिलता है। ऐसे रंध्रों को विलयन रंध्र कहते है।
7. **विलियन पैन :** डोलिन के समान एक अन्य स्थालकृति विलयन पैन (Solution Pan) कहलाती है। यह अपेक्षाकृत बड़े आकार के किन्तु छिछले गट्टे होते हैं। कई बार इन घोल रंध्रों में चिकनी मिट्टी का निक्षेपण होने से जल के भीतर प्रवेश का मार्ग अवरूद्ध हो जाता है। तब इनमें तालाब या झीलें बन जाती हैं इनका जलस्तर भूमिगत जल के स्तर के बराबर हो सकता है। फ्लोरिडामें इस प्रकार के अनेक तालाब मिलते हैं इन्हें घोलरंध्र तालाब या कार्स्ट झीलें (Sink hole ponds of karst lakes) कहते हैं (चित्र–9.32) ।

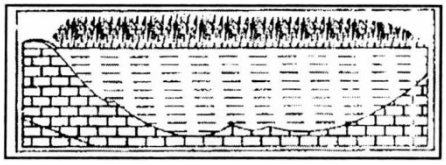

चित्र – 9.32 : विलियन पैन

8. **संयुक्त घोल रंध्र :** जिन कार्स्ट प्रदेशों में विलयन रंध्र सैकड़ों की संख्या में मिलते हैं वहाँ घुलन क्रिया से उनका आकार बढ़ता जाता है तथा वे आपस में जुड़कर भी बड़े आकार के होते जाते हैं । इन्हें संयुक्त घोल रंध्र (Compound Sink holes) कहते हैं ।
9. **कैबर्न युवाला (Caverns Uvala)** : भूमिगत गुफाओं की छतों के धँसने से भी विशाल गड्ढे बन जाते हैं बोस्निया (यूगोस्लाविया) में इन्हें युवाला (Uvala) कहते हैं । इनकी तलहटी किसी अन्य कठोर चट्टान अथवा चिकनी मिट्टी के निक्षेपण की मिलती है । कई बार यहाँ भूमिगत धाराएँ बहती हुई देखी जा सकती हैं (चित्र – 9.33) ।

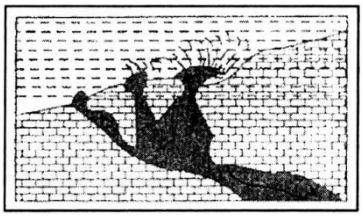

चित्र – 9.33 : यूवाला, चूर्ण (चूना) क्षेत्रीय कंगूरी कटानी मार्ग

10. **पौलजे (Polje) :** एक विशेष प्रकार के घोल रंध्र को पौलजे (Polje) कहते है । इनकी उत्पति तथा आकार कई प्रकार का हो सकता है । बोस्निया में पाए जाने वाले पौलजे लम्बे आकार के बेसिन होते है, जिनकी तलहटी समतल है तथा किनारे प्रपाती कगार जैसे हैं । यह कई वर्ग मील का प्रदेश हो सकता है जब कि युवाला केवल कुछ एकड़ आकार का गड्ढा होता है । पश्चिमी बल्कान में पाया जाने वाला एक पौलजे 40 मील लम्बा तथा 3–7 मील चौड़ा पाया गया है ।

    कार्स्ट मैदान : जहाँ सतह पर हल्का नत अथवा समतल बिछा चूने की चट्टानों का मैदान मिलता है वहाँ वर्षा का जल भीतर रिसता है और कालान्तर में वहाँ अनगिनत घोल रंध्र विकसित हो जाते है । दक्षिणी इंडियाना में इस प्रकार का मैदान देखा जा सकता है । ऐसे मैदान वर्षा का जल चूने के पत्थर के भीतर अपने बहने का मार्ग बना लेता है । सतह पर छोटी तथा नदियाँ भी नहीं बन पातीं। केवल बाड़ी नदियाँ जो एसे प्रदेश के बाहर अपनी गंभीरीभूत घाटी में बहती हुई मिलती है । नदियों की तलहटी में भी घोल रंध्र विकसित होते हैं जिनसे होकर उनका जल भी भूमिगत होता जाता है । कुछ छोटी नदियाँ तो एक ही रंध्र में समा जाती हैं जबकि बड़ी नदियों का जल अनेकों रंध्रो में समाहित होता है । कई बार यह भूमिगत धाराएँ कई मील तक बहकर पुन: सतह पर निकल आती है । दक्षिणी इंडियाना की लास्ट नदी (Lost River) तथा इटली की रेका नदी इसका उदाहरण है । इस प्रकार भूमिगत होने के बाद सतह पर नदियों की सूखी घाटियाँ देखी जा सकती हैं जो इस बात का प्रमाण है कि भूमिगत मार्गो के विकास के पूर्व यह नदियाँ चूने के पत्थर की सतह पर साधारण नदियों के समान बहती थीं । धीरे–धीरे यह सूखी घाटी (Dry bed) अपना अस्तित्व खो देती है ।

11. **अन्ध घाटी (Blind Valley) :** जहाँ यह नदी भूमिगत होती है उसके ऊपर की घाटी घुलन तथा कटाव से गहरी तथा गंभीरीभूत होती जाती है । यह नदी क्योंकि घोल रंध्रों से भूमिगत हो जाती है इसको प्रच्छन्न घाटी या अंध घाटी (Blind Valley) कहते है । अधिक वर्षा होने पर यह अध घाटी जल से आपूरित होकर झील का रूप ले लेती है ।

12. **विलयन घाटी (Solution Valley) :** अंध घाटी से भिन्न कार्स्ट प्रदेश में एक अन्य घाटी देखी जाती है जिसे विलयन घाटी (Solution Valley) कहते है । जहाँ सतह पर अन्य कोई खंडज चट्टान (Classic Rock) मिलती है, नदियाँ इन्हें काटकर के नीचे की चूने की चट्टान में गंभीरीभूत होती जाती हैं । क्रॉफोर्ड उच्च प्रदेश (इंडियाना) में इस प्रकार की अनेक घाटियाँ मिलती है । यहाँ इन घाटियों के बीच–बीच में बलुआ पत्थर की पहाड़ियाँ मिलती है। सत ही अपवाहन धीरे–धीरे भूमि में विलोपित होता जाता है । बलुआ पत्थर तथा क्ले

की पहाड़ियों से उतरने वाली नदियाँ इन गहरी विलयन घाटियों के घोल रंध्रों मे समाती जाती है ।

13. **भूमिगत कंदरा (Cavern) तथा प्राकृतिक सुरंग :** चूने के पत्थर के प्रदेशों में सतह के जल के निरन्तर भूमिगत होने से दरारों और जोड़ों में घुलन क्रिया होती है और इन्हीं से होकर यह जल बहता है और अन्ततः भूमिगत जल से मिल जाता है अथवा चूने के पत्थर के नीचे अपारगम्य (Impermeable Rock) के आने पर इन भूमिगत मार्गों से निकलकर सतह पर बहने लगता है । कालान्तर में घुलन क्रिया से यह भूमिगत मार्ग बड़े होते जाते हैं और चूने की चट्टान में इनका पूरा जाल बन जाता है । सतह से विभिन्न स्तरों तथा गहराई तक यह जाल मिलता है इन्हें भूमिगत सुरंग तथा भूमिगत कंदराएँ कहते हैं । यह मीलों लम्बी होती हैं तथा सभी तक पहुँच पाना कठिन होता है ।

    ब्रिटेन, फ्रांस, यूगोस्लाविया, इंडियाना तथा कंटुकी में भूमिगत गुफाओं तथा सुरंगो का वैज्ञानिकों ने मीलों तक घुसकर अध्ययन किया तथा उनमें विकसित अन्य स्थलाकृतियों का अध्ययन भी विस्तार से किया गया है ।

14. **प्राकृतिक पुल (Natural Bridge) :** भूमिगत सुरंग का एक अच्छा उदाहरण वजीर्निय के स्कूटी प्रान्त की सुरंग है जिससे होकर रेल्वे लाइन बिछाई गई है । यह 900 फीट लम्बी, औसत 75 फीट ऊँची तथा 130 फीट चौड़ी है । जब कन्दरा की छत धसक जाती है तो उसकी छत का शेष भाग जो दोनों पार्श्वो को जोड़ता है वह प्राकृतिक पुल कहलाता है (चित्र - 9.34) ।

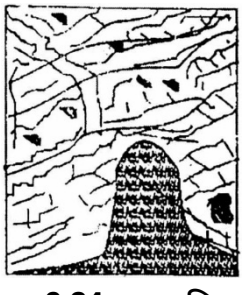

चित्र – 9.34 : प्राकृतिक पुल

भूमिगत जल के निक्षेपात्मक कार्य

जल में अनेक खनिज घुले रहते हैं । इसलिए निक्षेपण से कई आश्चर्यजनक भौम्याकारों का जन्म होता है । भूमिगत जल घोल में मेग्निशियम, केल्शियम कार्बोनेट, सिलिका एवं लोहा अधिक मात्रा में पाया जाता है । भूमिगत निक्षेपण से आश्चुताश्म, निश्चुताश्म, स्तम्भ, ड्रिपस्टोन, गन्थिका, केलिश आदि स्थलाकृतियों का जन्म होता है । निक्षेपण के लिए भूमिगत जल के तापमान की कमी, दबाव की कमी तथा घोलन शक्ति में कमी, वाष्पीकरण, रासायनिक क्रिया और गैसों की कमी तथा भूमिगत जल की मन्द गति, अवरोध प्रमुखता से उत्तरदायी है ।

निक्षेपण से बनी स्थलाकृतियाँ

1. **आश्चुताश्म (Stalactite) :**भूमिगत कन्दराओं में भूमिगत जल तल नीचा हो जावे या समस्त जल समाप्त हो जावे तब कन्दरा की ऊपरी छत से जल रिस कर टपकने लगता है।

यह जल अधिक तापमान के कारण वाष्पीकरण के फलस्वरूप सूखने लगता है या उससे कार्बन डाइ–आक्साइड गैस मुक्त हो जाती है । परिणामत: जल की घुलन शक्ति तथा पदार्थों को धारण करने की शक्ति घट जाती है । इसी के फलस्वरूप कन्दरा के नीचे सीलिंग और पेंदे पर निक्षेपण का कार्य प्रारम्भ हो जाता है । यह निक्षेपण लम्बे किन्तु पतले स्तम्भों के रूप में होते हैं । सीलिंग से चिपके हुए चौड़े आधार एवं नुकीले नीचे की ओर इंगित भाग सहित जो स्थलाकृति बनती है उस स्तम्भाकार स्थलाकृति को स्टेलैक्टाइट आश्चुताश्म कहते हैं । उन्हें अवशैल या आकाशीय स्तम्भ भी कहते हैं (चित्र– 9.35) ।

2. **स्टेलेग्माइट या निश्चुताश्म (Stalagmite) :** कन्दारा की छत से रिसकर भूमिगत जल की कुछ मात्रा गुरूत्वाकर्षण के कारण आश्चुताश्म से विलग हुई जल की बूँदें जिनमें चूना घुला रहता है कन्दरा के पेंदे पर आकर टपकने लगती है । इनसे निक्षेपण होने लगता है । धीरे–धीरे निक्षेप द्वारा इन स्तम्भों की ऊँचाई बढ़ती जाती है जिनका आधार चौड़ा तथा ऊँचाई नुकीली होती है ऐसे स्तम्भों को स्टेलेग्माइट या निश्चुताश्म कहते हैं ।इन्हें लोग शिव के रूप में मानकर पूजा करते है । उदयपुर के पास झामेश्वर एवं पंचमढ़ी के महादेव प्रसिद्ध हैं।
3. **कन्दरा स्तम्भ (Cave Pillars) :** आश्चुताश्म की लम्बाई निश्चुताश्म की अपेक्षा अधिक होती है एवं शीघ्र बढ़ती हैं । जब आश्चुताश्म एवं निश्चुताश्म दोनों एक दूसरे से मिल जाते हैं तब एक स्तम्भ का निर्माण होता है जो कन्दरा के बीच में कोने में या किसी भी पार्श्व पर बन जाता है, उसे कन्दरा स्तम्भ कहते है । संयुक्त राज्य अमेरिका की न्यू मेक्सिको प्रान्त की कार्ल्सवाद कन्दरा में हजारों कन्दरा स्तम्भ हैं । पंचमढ़ी के पास कन्दरा के ऐसे कई स्तम्भ पाये जाते हैं ।

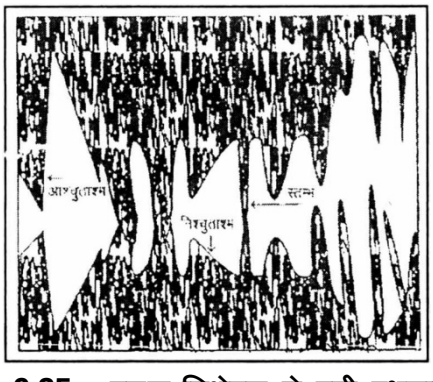

चित्र – 9.35 : प्रमुख निक्षेपण से बनी स्थलाकृतियाँ

बोध प्रश्न-3

1. घोल रन्ध्र के बनने की प्रक्रिया समझाइये ।

   .....

   .....

2. यूवाला और पोल्जे में क्या अन्तर है?

   .....

   .....

3. गुफा का निर्माण कैसे होता है?

.....

.....

4. निम्नलिखित भू–आकारों में कौनसा भू–आकार अपदरन से निर्मित नहीं है?
   (अ) पोल्जे (ब) आश्चुताश्म
   (स) विलय रन्ध्र (द) प्राकृतिक पुल
5. आश्चुताश्म और निश्चुताश्म कहाँ बनते है?

.....

.....

9.5 समुद्री तट

धरातल एवम् समुद्र के मिलन स्थल पर जहाँ समुद्री लहरों का कार्य दिखाई देता है वह समुद्री तट कहलाता है ।

9.5.1 लहरें तथा उनका कार्य

तटीय प्रदेशों के स्वरूप परिवर्तन तथा उनके स्थलाकृतिक विकास में सबसे महत्वपूर्ण कारक लहरें है । अत: उनकी प्रकृति एवं उनकी प्रक्रियाओं को समझना आवश्यक है । इनके कार्य, लहरों की लम्बाई, ऊँचाई तथा आवर्तन (Frequency) को देखना आवश्यक होता है । यहाँ तक कि अब लहरों की जलवायु (Wave climate) का अध्ययन भी आवश्यक हो गया है ।

लहरों का उठना, हवा के चलने तथा उसकी गति पर निर्भर करता है । कितने समय तक वह खुले समुद्र पर चलकर तटों तक पहुँची है जिससे लहरें आई, यह भी महत्वपूर्ण है । इस विस्तार को तरंग परास (Fetch) कहते हैं ।

गहरे समुद्र में चलने वाली लहरें अपने साथ जल को आगे नहीं ले जातीं, जल प्रत्येक लहर के साथ ऊपर नीचे उठता गिरता है । जल कणों की वृताकार गति होती है । यह क्रिया गहरे तालाब में भी देखी जा सकती है । जल पर तैरती पत्तियाँ प्रत्येक लहर के साथ ऊपर उठती है और नीचे होती है, लहर के साथ वे आगे नहीं बढ़ती । ऐसी लहरों को दोलन तरंग (Wave of Oscillation) कहते हैं । खुले समुद्र में यह लहरें 1 से 5 मीटर तक ऊँची होती हैं । तेज लहरों की ऊँचाई 10 से 15 मीटर तक हो जाती है । यहाँ लहरों की लम्बाई 70 से 250 मीटर तथा उनकी गति 25 से 80 कि.मी. प्रति घण्टा होती है ।

समुद्री अपरदन (Marine Erosion)

समुद्री लहरें तटीय चट्टानों को कई ढ़ंगों से कमजोर कर अपरदित करती है । अपरदन क्रिया के विभिन्न रूप निम्न हैं :-

1. **द्रवचलित क्रिया (Hydraulic Action)** जब समुद्री लहरें हथौड़े के समान तटीय चट्टानों क समान तटीय चट्टानों पर प्रहार करती है तो उनके साथ आए कंकड़ पत्थर इस प्रहार को

अधिक प्रभावक बनाते हैं । इस प्रक्रिया में चट्टानें कमजोर होकर टूटती है । इसे जलीय क्रिया कहते हैं ।

2. **अपघर्षण (Corrasion) :** लहरों के साथ आए कंकड़ पत्थर प्रत्येक लहर के साथ तेजी से आगे पीछे लुढ़कते हैं तथा तटीय चट्टानों को तोड़ते हैं ।
3. **सन्निघर्षण (Attritaion) :** उपरोक्त क्रियाओं में कंकड–पत्थर स्वयं टूटकर बालू तथा मिट्टी में परिवर्तित होते हैं । इसे सन्निघर्षण कहते हैं ।
4. **संक्षारण (Corrosion) :** जल के निरन्तर सम्पर्क के कारण चट्टानों में रासायनिक प्रक्रियाएँ होती हैं और वे कमजोर होती है । जल घुलनशील क्रिया करता है । शीत प्रदेशों में हिम के बार–बार जमने तथा पिघलने से यांत्रिक ऋतुक्षरण भी होता है । साथ ही तटीय चट्टानें बार बार भीगती और सूखती है जिससे भी ऋतुक्षरण होता है । चूने की चट्टानों के प्रदेश में जैविक तक जैविक अपरदन भी होता है ।

लहरों के अपरदन द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ

सागर तट पर सागरीय जल की लहरों द्वारा अपरदन से निम्न भू–आकारों का निर्माण होता है।

1. **तटीय भृगु (Coastal Cliff) :** समुद्री तट पर लहरों के आघात/प्रतिघात से उसके सम्मुख चट्टान का निचला प्रभावित भाग अनवरत लहरों से कटता रहता है तथा वह भाग अन्दर तक खोखला हो जाता है । कालान्तर में उसके ऊपर का लटका हुआ भाग मुख्य स्थल खण्ड से विदर द्वारा टूट जाता है एवं अपने ही बोझ से गुरूत्वाकर्षण के कारण टूटकर सह में गिर जाता है । परिणामस्वरूप तट एक खड़ी दीवार के समान टूटे हुए स्थल पर दिखाई देता है । यही लम्बवत् रूप से खड़े किनारों वाला अपरदित भाग तटीय भृगु कहलाता है (चित्र– 9.36) ।

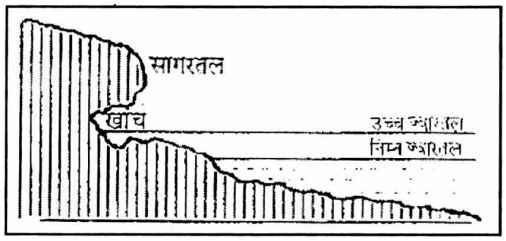

चित्र – 9.36 : सागरीय क्लिफ का निर्माण

2. **खांच या नाच (Notch) :** जब समुद्री लहरें तट पर प्रहार करती हैं तो सम्मुख चट्टानीय स्थल में गहरा अर्द्ध वृताकार गड्ढा बना देती है उसे खाँच या नोच कहते है ।
3. **गुफा (Cave) :** जब खाँच का छिद्र बड़ा हो जावे तथा गुफा का रूप धारण कर ले तो उसे समुद्री गुफा' का नाम दिया जाता है (चित्र– 9.37) ।
4. **समुद्री मेहराब या प्राकृतिक मेहराब (Natural Arch) :** सखी लहरों द्वारा जब सागरीय गुफा में पानी के दबाव के कारण दो और से समुद्री गुफाओं के विकास होने पर जब वे परस्पर मिल जाती है तो एक 'प्राकृतिक पुल'' जैसा मेहराब बन जाता है या समुद्र में निकले हुए स्थल खण्ड में पुल जैसी आकृति बन जाती है उसे "समुद्री मेहराब" कहते हैं ।

5. **वात छीद्र (Blow out) :** समुद्री गुफा या समुद्री मेहराब में ज्वार के समय या सुनामी' लहरों के समय पानी के दबाव से छत में एक छिद्र दरार के द्वारा बन जाता है । इस छिद्र में होकर लहरों द्वारा धकेली गई हवा सीटी बजाती हुई बाहर निकलती है और हवा के साथ पानी भी फव्वारे के रूप में बाहर निकलता है । इसलिए ऐसे छिद्र को "वातछिद्र" कहते हैं (चित्र– 9.37) ।
6. **समुद्री स्तम्भ (Stack) :** जब प्राकृतिक पुल पर निरन्तर लहरों का प्रहार जारी रहता है तब मेहराब टूटकर गिर जाता है और उसका समुद्र की ओर का एक भाग स्तम्भ के रूप में दूर खड़ा रह जाता है उसे समुद्री स्तम्भ कहतें है (चित्र– 9.37) ।

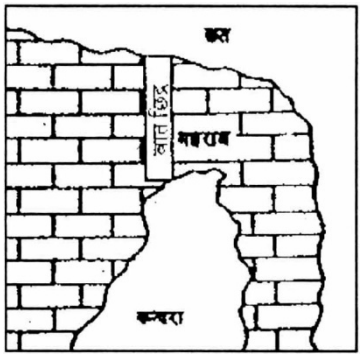

चित्र – 9.37 : कन्दरा एवं वात छिद्र

7. **खिसकता भृगु (Shifting Cliff) :** समुद्री तट पर एक बार भृगु बन जाने के बाद पुन: लहरों का कार्य तट पर निरन्तर जारी रहता है । पुन: एक नया खांच निर्मित होता है एवं धीरे–धीरे कटाव के बड़े होने से कगार का आधार नष्ट हो जाता है । फलत: कगार निराश्रित होकर नीचे गिर पड़ता है । फलत: भृगु निरन्तर पीछे खिसकता रहता है । इसे ही "परर्वसकन भृगु" कहते हैं ।
8. **तरंग घर्षित चबूतरा (wave–cut Plateform) :** जल लगातार भृगु पीछे खिसकता रहता है तब तरंगों के कटाव से समुद्री जल के नीचे एक अपरदित प्लेट फार्म का निर्माण हो जाता है । इसे तरण घर्षित चबूतरा कहते हैं, इसे 'महावेदी" के नाम से भी पुकारते हैं (चित्र– 9. 38) ।

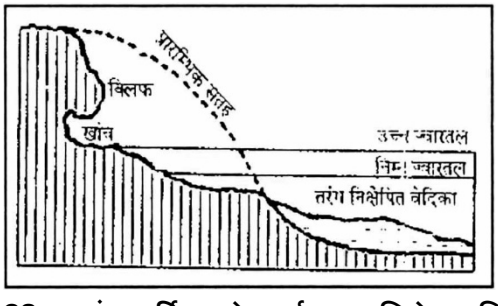

चित्र – 9.38 : तरंग घर्षित प्लेटफार्म तथा निक्षेप जनित वेदिका

9. **अण्डाकार कटान या लघु निवेशिका (Caves) :** समुद्री तट पर कठोर एवं कोमल चट्टानों के स्तर उत्तरोतर पाये जाने से लहरों द्वारा कोमल चट्टान शीघ्रता से अपरदित हो जाती है तथा कठोर चट्टानों के भाग में ''अण्डाकार कटान'' या 'लघु निवेशिका'' कहते हैं
10. **खाड़ियाँ एवं समुद्राभिमुख कगार (Bays and Promontaries) :** तटीय भागों में जहाँ कोमल एव कठोर चट्टानों के स्तर क्रमवत रूप में पाये जाते हैं वहाँ कोमल चट्टान शीघ्र कट जाती है और तट में एक खाड़ी का रूप ले लेती है, क्योंकि उसके दोनों ओर कठोर चट्टानों के कगार समुद्र में दूर तक फैले रह जाते हैं वे अपरदित नहीं हो पाते । इस प्रकार अपरदित कोमल चट्टानों का स्थल खण्ड में घुसा हुआ भाग खाड़ी (Boy) कहलाता है एव समुद्र में बाहर निकला भाग "समुद्राभिमुख कगार" कहलाता है । मर्मगोआ बन्दरगाह (गोवा) की खाड़ी, ऐसी ही खाड़ी है (चित्र - 9.39) ।

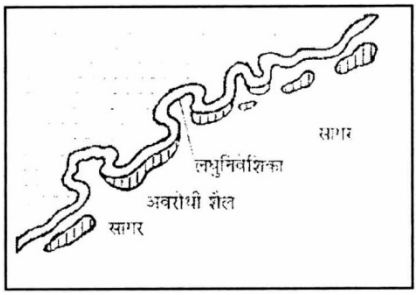

चित्र – 9.39 : लघु निवेशिका / खाड़ियाँ व समुद्र

भारत के पश्चिमी तट पर रत्नागिरि से बुलसर तथा दकन ट्रैप तट तक जहाँ ट्रर्शियरी काल की परतदार चट्टानों की पतली तह मिलती है, गोआ तथा मैसूर में धारवाड़ के उत्तर में रवेदार चट्टानें तट पर हैं । यहाँ तटीय मैदान लगभग नहीं के बराबर है । यहाँ समुद्री कगार तथा सूक्ष्मवलित तटरेखा (Crenulated shore line) मिलती है। वहाँ खंभेनुमा जोड़ (Columnar Structure) वाली दकन द्वीप भी मिलता है । चट्टानों में क्षैतिज जोड़ हैं जहाँ से चट्टानें टूटती हैं। Inter Trappean (आन्तरिक तुम्फित) तहों के कारण सीढ़ीनुमा कगार भी विकसित हुआ है । अत : नीस, ग्रेनाइट तथा बेसाल्ट चट्टानों एवं तट के डूबने के कारण यहाँ समुद्री कगार तथा उससे सम्बन्धित स्थलाकृतियां विकसित हुई है ।

लहरों के निक्षेपण से सागरीय किनारे पर निर्मित भू – आकार

सागरीय लहरें अपरदन के कार्य के साथ निक्षेपण का कार्य भी करती है । कटे हुए मलवे को समुद्री किनारे पर जमा कर देती है तथा विभिन्न प्रकार के विचित्र, मनमोहक भू – आकारों को जन्म देती हैं वे निम्न हैं –

1. **पुलिन (Beach) :** समुद्री तट का वह क्षेत्र जो दीर्घ ज्वार की नीची जल सीमा और वेगवती लहरों के उच्चतम बिन्दु के मध्य स्थित भाग पर अपरदित मलवे के निक्षेपण से जिस समतल मैदानी स्थल का निर्माण होता है उसे पुलिन (Beach) कहते हैं। केरल तट के पुलिन अपने सौन्दर्य एवं मनमोहकता की दृष्टि से विश्व विख्यात हैं ।

2. **कस्प पुलिन (Cusp Beach) :** समुद्री किनारे पर अधिकांश पुलिनों के सागरवर्ती भाग में निक्षेप के द्वारा बालू कंकड़, पत्थर, बजरी आदि के जमाव से लम्बे, पतले, कटक बन जाते हैं जो सागर की ओर फैले रहते हैं ऐसे पुलिन 'कांस्य पुलिन' कहलाते ।
3. **रोधिका (Bars) :** इनका निर्माण समुद्री किनारे लहरों के अपरदन द्वारा निर्मित तरंग घर्षित चबूतरे पर समीप या दूर समानान्तर रूप में लहरों के जमाव कार्य से कभी कटक या बांधों का निर्माण हो जाता है उन्हें रोधिका (Bars) कहते हैं ।
4. **अपतट रोधिका (Off Share Bar) :** समुद्री तट से दूर समुद्र तट में तट के समानान्तर दीवार के रूप में लहरों के निक्षेपण कार्य से जो रोधिका बन जाती है और जिसका तट से कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं रहता वह "अपतट रोधिका" कहलाती है । यह समुद्री लहरों से सम्बन्धित तट को निर्माण के बाद सुरक्षा भी प्रदान करती है । इन रोधिकाओं तथा पुलिन के मध्य 'लैगून झील" का भी निर्माण हो जाता है (चित्र – 9.40) ।

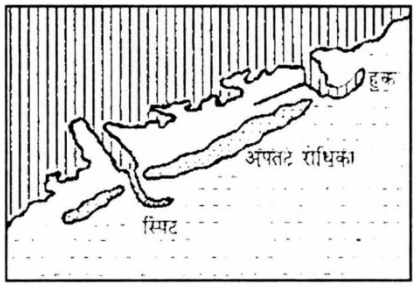

चित्र – 9.40 : अपतट रोधिका तथा स्पिट

5. **तटीय रोधिका (Coastal Bar) :** लहरों द्वारा तट के पास निक्षेपण से जिस रोधिका का निर्माण होता है वह तटीय रोधिका कहलाती हैं।
6. **स्पिट (Spit) :** जब समुद्री किनारे पर लहरों द्वारा निक्षेपित मलवा जिह्वा के रूप में सागर में निकल जाता है तब जो आकृति बनती है उसे स्पिट कहते है (चित्र – 9.40) ।
7. **हुक या अंकुश (Hook) :** जब समुद्री किनारे पर स्पिट का सागर की ओर निकला भाग तट की ओर पुन : मुड़ जाता है तब उसकी आकृति हाकी के हुक के समान हो जाती है उसे अंकुश कहते हैं (चित्र - 9.40) ।
8. **छल्ला या लूप (Loop) :** जब अंकुश जमाव के द्वारा इतना मुड़ जावे की वह स्थल खण्ड या तट से आकर मिल जावे एवं फन्देनुमा आकृति बन जावे तो उसे ' लूप " कहते हैं । यदि यही लूप किसी द्वीप के चारों ओर विकसित हो जावे तो उसे ' लूप रोधिका " कहते है (चित्र – 9.40)।
9. **संयोजक रोधिका (Connecting Bar)** : दो स्थलों के शीर्ष मिलाने वाली रोधिका या तट से किसी द्वीप को मिलाने वाली रोधिका जो लहरों के निक्षेप से बनती है उसे ' संयोजक रोधिका " कहते हैं (चित्र – 9. 41) ।

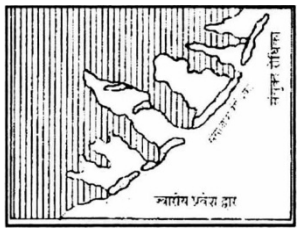

चित्र – 9.41 : विभिन्न प्रकार की रोधिकाएँ

10. **टोम्बोलो (Tombola) :** तट के किसी द्वीप या शीर्ष स्थल से किसी द्वीप को मिलाने वाली रोधिका को ' टोम्बोलो " कहते हैं (चित्र – 9.42) ।

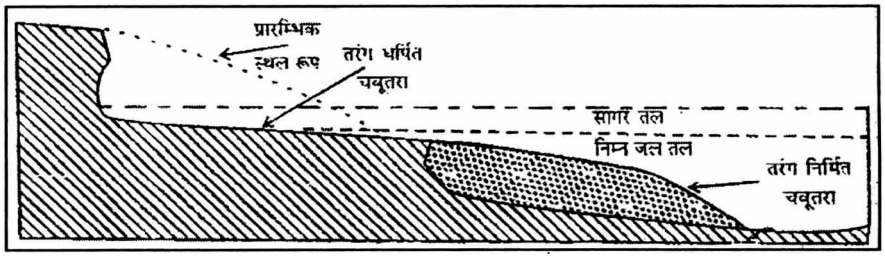

चित्र – 9.42 : तटों का अपरदन

समुद्री किनारों का वर्गीकरण (Classification of Shore Lines)

डी. डब्ल्यू जॉनसन (D.W.Johnson,1919) के अनुसार समुद्री किनारों का वर्गीकरण निम्नानुसार किया गया है

1. **निमग्न समुद्री किनारा :** सागर तल में उभार आने या सागरीय किनारें का ही अवतलन हो जावे और अधिकांश भाग जलमग्न हो जावे, जैसे द्वाराक तट पर उसे "निमग्न समुद्री किनारा" कहते हैं । इसमें अनेक शीर्षस्थल, खाड़ियाँ त था द्वीप पाये जाते हैं (चित्र – 9.43)।

चित्र – 9.43 : निमग्न समुद्री किनारा

2. **उन्मग्न समुद्री किनारा :** उन्मग्न तटों का आविर्भाव तट तथा किनारों की अपेक्षा नीचा हो जाना उन्मग्न तटों को जन्म देता है । इसमें खांच, अन्त : सागरीय रोधिकायें आदि पाई जाती हैं (चित्र – 9.44) ।

चित्र – 9.44 : उन्मग्न समुद्री किनारा

3. **डालमेशियन तट (Dalmation Coast)** : तट के समानान्तर विशाल एवं विस्तृत पर्वत श्रेणी यदि जलमग्न हो जावे तो उसके मध्य घाटियों में जल भाग रह जाता है तथा समुद्र के किनारे लम्बाकार द्वीप बने जाते हैं, ऐसे तटों को 'डालमेशियन तट'' कहते हैं । यूगोस्लाविया या एड्रियाटिक सागर के तट इसके उतम उदाहरण हैं (चित्र – 9. 45) ।

4. **फियोर्ड तट :** जब हिमानी क्षेत्रों में हिमानी की घाटियाँ समुद्र के पठारी भाग से उतरती हुई बिना किसी निक्षेपण विशेष के समुद्र में प्रविष्ट हो जाती हैं, उसे –फटे हिमानी निर्मित तट को 'फियोर्ड तट'' कहते हैं । चिली, नार्वे का तट इसका सर्वोतम उदाहरण हैं (चित्र – 9. 46) ।

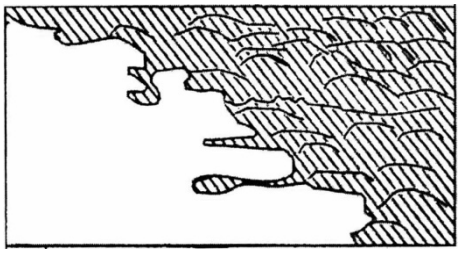

चित्र – 9.46 : फियोर्ड तट

5. **तटस्थ समुद्री किनारा:** जलमग्नता या उन्मग्नता से प्रभावित क्षेत्र जहाँ दोनों प्रकार आकृतियाँ पाई जाती हैं, वे 'तटस्थ समुद्री किनारे '' कहलाते हैं (चित्र – 9. 47) ।

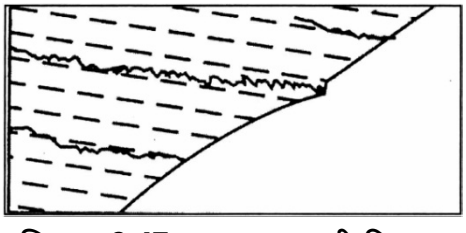

चित्र – 9.47 : तटस्थ समुद्री किनारा

6. **मिश्रित समुद्री किनारा :** ऐसे तट जो कई बार उन्मग्नता एवं निमग्नता से प्रभावित हो हैं, उन पर मिश्रित आकृतियाँ पाई जाती हैं । वे मिश्रित 'समुद्री किनारे '' कहलाते हैं (9.48) ।

चित्र – 9.48 : मिश्रित समुद्री किनारा

7. **हैफ तट :** शुष्क मरूस्थलों के किनारों पर बालू के निक्षेप अधिक मिलने पर रोधिकायें, अंकुश, भेजिह्य आदि आकृतियाँ बन जाती हैं । ऐसे तटों को 'हैफ तट'' कहतें हैं । फ्रांस का गरोन (सोमन सेंट सागर) तट इसका उतम उदाहरण हैं (चित्र– 9. 49) ।

चित्र–9.49 : हैफ तट

8. **रिया तट :** जब क्यूरी बनाने वाली नदियों के पठारी तट जलमग्न हो जाते हैं तथा घाटियाँ दिखाई देती हैं, उन्हें 'रिया तट'' कहतें हैं । घाटियों के जलमग्न होने से ज्वार नदमुख बनते हैं (चित्र–9.50)।

चित्र – 9.50 : रिया तट

बोध प्रश्न-4

1. सखी तट और सखी किनारे में अन्तर बताईये ।

   .....

   .....

2. लहरों के अपरदन से बने कोई से पाँच भू –आकारों के नाम लिखिए ।

   .....

   .....

3. कन्दरा का निर्माण लहरों से कैसे होता है? बताइये ।

   .....

   .....

4. निम्न में से कौनसा भू –आकार लहरों के निक्षेपण से नहीं बनता है?

   (अ) स्पिट

   (ब) टोम्बोलो

   (स) खाड़ी एवम् समुद्राभिमुख गार

   (द) हुक

5. तट कितने प्रकार के होते हैं? कोई चार नाम लिखो ।

.....

.....

9.6 सारांश (Summary)

इस ईकाई में हिमनद ,वायु, भूमिगत जल एवम् लहरों के अपरदनात्मक एवम् निक्षेपण के कार्यो का विवरण दिया गया है । संरचना, प्रक्रम एवम् अवस्था के अनुरूप ही अपरदन का काम होता है । इसमें विखंडन सहयोग करता है और प्रत्येक प्रक्रम द्वारा नये विशिष्ट भू– आकारों का निर्माण होता है ।

9.7 शब्दावली (Glossary)

- **सर्क :**हिमानी द्वारा पर्वतीय ढलानों पर आरामकुर्सी जैसा गढ़ढा बन जाता है उसे ही सर्क कहते
- **यू आकार की घाटी :** हिमानी द्वारा अंग्रेजी के अक्षर U के आकार की खड़े किनारे वाली घाटी बन जाती है उसे यू आकार की घाटी कहते हैं ।
- **आश्चुताश्प**: चूने के प्रदेशों में गुफा की सिलिंग पर जो निक्षेपण से नीचे की ओर इंगित अर्द्ध स्तम्भ बन जाता है उसे आश्चुताश्प कहते हैं ।
- **बाजदा :** पहाड़ियों के नीचे तलहटी में शंकु आकार में धूलि के समतल जमाव को जो मरूस्थलों में होता है तथा रचनात्मक भू – आकार का निर्माण होता है उसे बाजदा कहते हैं।

9.8 सन्दर्भ मन्द (Reference Books)

1. सिंह, सविन्द्र : **भौतिक भूगोल,** वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर (उ.प्र.), 2003
2. मामोरिया, सी. बी एवम् जैन : **भौतिक भूगोल,** साहित्य भवन, आगरा (उ.प्र.), 2007
3. शर्मा, एच. एस., शर्मा, एम. एल., मिश्रा, आर.एन. : **भौतिक भूगोल,** पंचशील प्रकाशन, जयपुर (राज.), 2007
4. Woodridge and Morgan: **Physical Basics Of Geography**, U.K.,1965
5. Strahler, A.N.: **Physical Geography**, Johnwiley & Sons, U.S.A.,1964

9.9 बोध प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1. सर्क एक आरामदायक कुर्सी की भांति पर्वत चोटियों के ढालों पर कटाव से गद्देनुमा भू– आकार का निर्माण कर देता है उसे सर्क कहते हैं ।
2. यू – आकार की घाटी के किनारे सीधे होते हैं जब कि वी आकार की घाटी के किनारे तिरछे और तली गहरी होती है ।
3. मेष शिलायें ।

4. पांच प्रकार के ।

बोध प्रश्न – 2

1. तीन प्रकार के ।
2. चार प्रकार के ।
3. ज्यूगेन क्षैतीजिय कोमल, कठोर चलनी स्तर होने पर बनता है ।
4. बरखान ।
5. सींग ।

बोध प्रश्न – 3

1. घोल रंध्र चूने के प्रदेशों में छिद्रों से पानी प्रवेश होने पर बनते हैं ।
2. युवाला छोटे आकार का होता है पोल्जे बड़े होते हैं ।
3. भूमिगत जल द्वारा ।
4. आश्चुताश्प ।
5. चूने के प्रदेशों में ।

बोध प्रश्न – 4

1. समुद्री तट पर लहरें कार्य करती है जबकि किनारे पर निक्षेपण होता है ।
2. वातछिद्र, खिड़की, खाड़ियाँ, भृगु, कगार ।
3. कन्दरा का निर्माण वातछिद्र से हवा निकलती है तथा अन्दर लहरों के कटाव से कन्दरा बन जाती हे ।
4. खाड़ी एवम् समुद्र में मुख कगार ।
5. हेफ तट, डालोमानीयन तट, फियोर्ड तट, उन्मग्न तट ।

9.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. हिमानी अपरदन से बने भू –आकारों के नाम बताओ ।
2. मरूस्थलों में बालुका स्तूप कितने प्रकार के पाये जाते हैं?
3. आश्चुताश्प एवम् निश्चुताश्प के बनने की प्रक्रिया बताओ ।
4. निम्न मैं से कौनसा भू–आकार हिमानी निर्मित नहीं है?

   (अ) सर्क (ब) कंधीनुमा टीला

   (स) आडे बालुका स्तूप (द) एस्कर

इकाई 10: वायुमण्डल का संगठन एवं संरचना (Composition and Structure of Atmosphere)

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.2 प्रस्तावना
10.3 वायुमण्डल का संगठन
10.4 वायुमण्डल की संरचना
10.5 वायुमण्डल की मानव के लिए उपयोगिता
10.6 सारांश
10.7 शब्दावली
10.8 बोध प्रश्नों के उतर
10.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

10.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप समझ सकेगें कि :

- वायुमण्डल क्या है
- वायुमण्डल की रचना कैसे होती है,
- वायुमण्डल का संगठन,
- वायुमण्डल की संरचना,
- वायुमण्डल का मानव के लिए महत्व ।

10.1 प्रस्तावना (Introduction)

वायुमण्डल पृथ्वीतल के चारों ओर गुरूत्वाकर्षण बल से आर्वत/फैला हुआ वायु का आवरण है । हमारे लिए प्राणवायु–आक्सीजन, पेड पौधों के लिए नाइट्रोजन तथा कार्बन आक्साइड तथा विभिन्न गैसें जिनसे वनस्पति जगत, जीव जगत एवम् मानव जगत लाभान्वित होता है तथा इन्हीं के कारण पृथ्वी पर जीव पाया जाता है । अतः वायुमंडल सभी के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

10.2 वायुमण्डल का संगठन (Composition of Atmosphere)

पृथ्वी के चारों ओर के गैसीय आवरण को वायुमण्डल कहते हैं । यह गैसों का घेरा अदृश्य रूप में पाया जाता है । सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि 'वायुमण्डल एक घना गैसों का आवरण है जो पृथ्वी के चारों ओर से पृथ्वी को लिफाफे के रूप में घेरे हुए है एवम् धरातल से गुरूत्वाकर्षण के द्वारा जुड़ा हुआ है ।

"Atmosphere is a thick gaseous envelop which surrounds the earth from all sides and it attached to the earth surface by gravitational force". (Kendrew) । यह वायुमण्डल रंगहीन, गंधहीन एवम् स्वादहीन होता है । इसकी अनुमानित ऊँचाई हजारों किलोमीटर है । पृथ्वी के चारों ओर 11,850,000 ट्रिलीयन पौंड वायुमण्डलीय भार बना रहता है ।

वायुमण्डल में विभिन्न प्रकार की गैसें, जलवाष्प एवम् धूलकण पाये जातें हैं । सम्पूर्ण वायुमण्डल का 50 प्रतिशत एम एन. 6 किलोमीटर की ऊँचाई तक तथा 97 प्रतिशत भाग 29 किलोमीटर की ऊँचाई तक पाया जाता है । वायुमण्डल में पाई जाने वाली प्रमुख गैसों का अनुपात ऊँचाई एवम् मानव जीवन के लिए और वनस्पति तथा जीव जन्तुओं के लिए महत्व निम्न सारणी में दिया गया है ।

क्र.सं.	**गैसों के नाम**	**मात्रा (%में)**	**ऊंचाई (Km)**	**महत्व**
1	नाइट्रोजन	78	100 km तक	वनस्पतियों के जीवन एवं विकास मे सहायक
2	ऑक्सीजन	21	100 km तक	श्वसन एवं ज्वलन क्रिया मे सहायक
3	ऑर्गन	0.93	125 km से अधिक	बिजली के बल्ब मे
4	कार्बन डाई–ऑक्साइड	0.03	20 km तक	प्रकाश के संश्लेषण मे (In Photosynthesis)
5	नियान	0.0018	125 km से अधिक	निष्क्रिय गैस
6	हिलियम	0.0005	125 km से अधिक	निष्क्रिय गैस
7	ओजोन	0.00006	125 km तक	समताप मण्डल मे उपस्थितपराबैगनी किरणों (उल्त्रवीओलेट Rays)को अवशोषित करती है
8	हाइड्रोजन	0.00005	125 km से अधिक	पानी के निर्माण मे सहायक
9	अन्य(जीनन क्रिप्टन, मीथेन आदि)	0.00759	125 km से अधिक	निष्क्रिय गैस

1. **गैसें :** यद्यपि वायुमण्डल कई प्रकार की गैसों का मिश्रण है लेकिन मुख्य रूप से इसमें दो ही गैस–नाइट्रोजन (78 प्रतिशत) एवं ऑक्सीजन (21 प्रतिशत) बहुलता से मिलती है जिनका सम्पूर्ण वायुमण्डल में 99 प्रतिशत भाग होता हैं । इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं

समस्त जीवधारियों के लिए अनिवार्य गैस आक्सीजन है, जिसके अभाव में कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता । इसके अतिरिक्त प्रज्वलन के लिए भी यह गैस नितान्त आवश्यक है । वायुमण्डल में नाइट्रोजन गैस का महत्वपूर्ण कार्य ऑक्सीजन को तनु (Dilute) करके प्रज्वलन (Combustion) का नियमन करना है । वनस्पतियों के विकास में भी नाइट्रोजन का विशेष महत्व होता है । तीसरी महत्वपूर्ण गैस कार्बन–डाई–ऑक्साइड (CO_2) है । जो वस्तुओं के जलने से एवं विभिन्न जीवधारियों के श्वसन क्रिया के फलस्वरूप वायुमण्डल में मिल जाती है । वनस्पतियाँ दमन; उपयोग प्रकाश–संश्लेषण (Photosynthesis) अर्थात् खाना बनाने में करती है । कार्बन के द्वारा वनस्पतियाँ अपने उत्तकों (Tissues) का निर्माण करती है एवं इसके द्वारा छोडे गये ऑक्सीजन का उपयोग जीवधारी अपने श्वसन क्रिया के लिये करते हैं ।

प्रकाश संश्लेषण **सूर्य प्रकाश**

$6CO_2 + 6H_2O$ $C6H_{12}O_6$ + $6\ O_2$

कार्बनडाइआक्साइड पानी सर्करा ऑक्सीजन

पृथ्वी के ऊर्जा बजट में यह गैस एक महत्वपूर्ण कारक मानी जाती है । यह ऊपरी वायुमण्डल तथा पृथ्वी से निकलने वाली ऊष्मा का अवशोषण कर लेती है जिसका आधा भाग पुन : पृथ्वी को लौटा देती है । इसके अतिरिक्त वायुमण्डल में होने वाली ऊर्जा प्रवाह (Flow of Energy) को भी प्रभावित करती है । यद्यपि वायुमण्डल में इस गैस की मात्रा स्थिर (0.03 प्रतिशत) है । फिर भी पिछले 100 वर्षो में इसकी मात्रा में वृद्धि मानी जा रही है । एक अनुमान के अनुसार सन् 1890 से 1970 तक वायुमण्डल में CO_2 की मात्रा में दस गुनी वृद्धि हुयी है । कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार इस गैस की मात्रा में होने वाली वृद्धि से वायुमण्डल के निचली परतों के तापमान में वृद्धि हो जायेगी, जिसके फलस्वरूप बड़े पैमाने पर जलवायु परिवर्तन हो सकता है । उद्योगों, कारखानों, परिवहन की धुंआ आदि से कार्बन डाइ आक्साइड में निरन्तर वृद्धि हो रही है ।

ओजोन वायुमण्डल की अन्य महत्वपूर्ण गैस है । यह वायुमण्डल के समतापमण्डल के ऊपर ओजोन मण्डल परत में पाई जाती है जो सूर्य से निकलने वाली पराबैंगनी किरणों (Ultra violet Rays) का अवशोषण करती है और इस प्रकार सौर विकिरण का केवल उतना ही भाग धरातल पर पहुँचने दिया जाता है जितना आवश्यक एवं उपयोगी होता है ।

2. **जल –वाष्प :** वायुमण्डल में जलवाष्प की मात्रा 0 से 5 प्रतिशत के बीच पायी जाती है । भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर जाने पर इसकी मात्रा में कमी होती चली जाती है । जलवाष्प का 90 प्रतिशत भाग वायुमण्डल में 5 कि मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है । ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सूर्यताप प्रति सैकेंण्ड 1.6 करोड़ टन जल को वाष्प में परिवर्तित कर देता है ।

   यदि वायुमण्डल में उपस्थित समस्त जलवाष्प को पृथ्वी पर एक साथ गिरा दिया जाय तो धरातल पर 25 से मी. ऊँचा जल एकत्रित हो जायेगा । वायुमण्डल में होने वाली सभी क्रियायें जैसे बादल, वर्षा, तुषार, हिमपात, ओस, तथा ओला आदि जलवाष्प पर आधारित

होते हैं । यह सौर विकिरण तथा पार्थिव विकीरण के कुछ भाग को सोख लेती है । वायुमण्डल की स्थिरता भी इसके द्वारा नियंत्रित होती है ।

3. **धूल –कण :** सूर्य के प्रकाश में धूल के ठोस तथा सूक्ष्म कण स्वतन्त्रतापूर्वक घूमते रहते हैं। ये धूलकण भूतल की मिट्टी के अतिरिक्त धुआँ, ज्वालामुखी की धूल, पुष्प पराग एवं समुद्री लवण आदि से उत्पन्न होते हैं । जलवायु की दृष्टि से इसका बड़ा महत्व है । इन कणों के द्वारा सौर विकिरण का आशिक अवशोषण कर लिया जाता है । इन कणों के द्वारा सौर विकिरण का परावर्तन तथा प्रकीर्णन भी होता है । परिणामस्वरूप आकाश का नीला रंग, सूर्योदय, सूर्यास्त और गोधूली आदि समय जो लाल रंग दिखाई देता है वह धूल कणों के कारण ही है । वायुमण्डल में ये आर्द्रता ग्राही नाभिक (Hygroscopic Nuclea) का कार्य करते हैं । जिनके चारों ओर ही जल सीकर (Water Droplets) एवं हिम सीकर (Ice Droplets) का निर्माण होता है । जल सीकर एव हिम सीकरों के समूह को ही बादल कहते हैं ।

10.3 वायुमण्डल की संरचना (Structure of the Atmosphere)

तापक्रम व वायुदाब के आधार पर वायुमण्डल को 4 भागों में बाँट सकते है –

1. सममण्डल (Homosphere)
2. विषममण्डल (Heterosphere)
3. बाह्यमण्डल (Exosphere)
4. चुम्बकीय मण्डल (Magnetosphere)

1. **सममण्डल (Homosphere)** – इसकी ऊँचाई 80 कि मी. तक पाई जाती है । इसमें विभिन्न गैसों की मात्रा में विशेष परिवर्तन नहीं पाया जाता है । तापक्रम के आधार पर इसे 3 भागों में बाँटते हैं ।

   (A) क्षोभमण्डल या परिवर्तन मण्डल (Troposphere) : यह वायुमण्डल की सबसे निचली और सघन परत हैं, जिसमें वायुमण्डल के कुल भार का 75 प्रतिशत भाग केन्द्रित हैं । वायुमण्डल की यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण परत है, क्योंकि सभी मौसमी घटनायें जैसे – कुहरा, बादल, ओला, तुषार, आंधी, तूफान, वर्षा, मेघ गर्जन एवं विद्युत प्रकाश इसी भाग में घटित होती है । ऊँचाई में वृद्धि के साथ तापमान में गिरावट इस स्तर की सबसे बड़ी विशेषता है । इसमें तापल्हास दर औसतन 1 डिग्री सेल्सियस/165 मी. अथवा 6.5 डिग्री सेल्सियस/1000 मी. होता है जिसे सामान्य ताप पतन दर (Normal lapse Rate) कहते हैं । इसकी ऊँचाई 6 किमी. से 16 कि मी. के बीच पायी जाती है । इसकी ऊँचाई पर अक्षांशों तथा मौसम के परिवर्तन का प्रभाव पड़ता है। अर्थात् विषुवत् रेखा (16 कि मी.) से ध्रुवों (6 कि मी.) की ओर जाने पर ऊँचाई घटती जाती है । इसके अतिरिक्त ग्रीष्म ऋतु में इसकी ऊँचाई अधिक और शीत ऋतु में कम पायी जाती है । क्षोभ मण्डल के शीर्ष भाग पर स्थित संक्रमण स्तर जो इसे समताप मंडल से अलग करता है उसे क्षोभ सीमा (Tropopause) कहा जाता है । इसकी

मोटाई 1.5 कि.मी. पायी जाती है । इसकी ऊँचाई का सम्बध समुद्र तल के तापमान एवं वायुदाब से होता है । यह सभी प्रकार के मेघों तथा तूफानों की बाह्य सीमा निर्धारित करती है । सभी प्रकार के संवहन धाराओं का यहाँ अन्त हो जाता है । इसमें परिवर्तन मण्डल एवम् समताप मण्डल दोनों की विशेषतायें पाई जाती है ।

(B) समतापमण्डल (Stratosphare) : इस मण्डल में तापक्रम लगभग समान होता है । इसकी ऊँचाई के विषय में मतभेद है । धरातल से इसकी ऊँचाई 30 कि.मी. तक माना जाती है । कुछ वैज्ञानिकों ने इसकी ऊँचाई 50 कि.मी. तक माना है । इसमें समताप रेखायें समानान्तर न होकर लम्बवत् होती हैं! इस मण्डल की मोटाई ध्रुवों पर सबसे अधिक होती है । यह मण्डल मौसमी हलचल से रहित होता है । इस मण्डल की खोज सर्वप्रथम टीजरेन्स डी बोर्ट (Teisserence De Bort) ने 1902 में की थी । 50 कि मी. की ऊँचाई पर समताप मण्डल सीमा या स्ट्रेटोपाज (Stratopause) की संक्रमण पेटी पायी जाती है जो इसे मध्य मण्डल से अलग करती हैं ।

(C) ओजोन मण्डल (Ozonosphere) : इसमें 15 से 35 कि मी. के बीच ओजोन मण्डल (Ozonosphere) पाया जाता है । जीवित पदार्थो के लिए यह एक रक्षाकवच का काम करती है । इस आवरण के कारण सूर्य से आने वाली पराबैंगनी किरणें (Ultra Violet Rays) पृथ्वी की सतह तक नहीं पहुँच पाती है क्योंकि यह गैस इन विकिरण तरंगों का अवशोषण कर लेती है । सम्पूर्ण सौर्यिक किरणों की मात्रा में पराबैंगनी किरणें अथवा लघु तरंगों की मात्रा 6 प्रतिशत होती है । ओजोन मण्डल में ओजोन (O_3) गैस जिसमें ऑक्सीजन के तीन अणु होते हैं, पाये जाते हैं । ऐसा कहा जा रहा है कि इस पर्त में बिखराव हो रहा है । इस बिखराव का मुख्य कारण क्लोरोफ्लूरोकार्बन (Chlorofluorocarbons) CFCS को माना जा रहा है । इसे हैलोजीनियस (Halogeneous) गैस भी कहते हैं । यह वायुमण्डल में जेट यान, स्प्रेकैन डिस्पेन्सर, वातानुकूलक (Air Conditioners) प्रशीतनक (Refrigerators) तथा फसलों पर दवाईयों के छिड़काव आदि से पहुँचती है । CFCS(Chlorine+Flourine+Carbon+Sulphur) का मिश्रण होता है । इसमें से क्लोरीन वायुमण्डल में उपस्थित जलवाष्प से मिलकर हाइड्रोक्लोरिक एसिड (HCl) का निर्माण करती है ।

$CL_2 + H_3O$ HCR+ O

यह हाइड्रो क्लोरिक एसिड ओजोन में पाये जाने वाले ऑक्सीजन के 3 अणुओं को 2 भागों में बाँट देती है ।

O_3 O_2 +O

इस बिखराव से ओजोन मण्डल में एक छिद्र बन गया है जो अन्टार्कटिका महाद्वीप पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । यह अनुमान लगाया जा रहा है कि इसका आकार बराबर बड़ा होता जा रहा है । जिससे पराबैंगनी किरणों का अधिक भाग धरातल पर आ रहा है । जिससे वायुमण्डल के तापक्रम में बराबर वृद्धि हो रही है । ध्रुवों के पास

बर्फ बराबर पिघलता जा रहा है जिसमें समुद्र तल ऊपर उठने की सम्भावना प्रकट की जा रही है साथ –साथ विभिन्न प्रकार की बिमारियों जैसे कैंसर, चर्म रोग आदि के बढ़ने की सम्भावना प्रकट की जा रही है । ओजोन का सर्वाधिक घनत्व 20 से 25 कि.मी. के मध्य पाया जाता है ।

(D) मध्यमण्डल (Mesosphere) : वायुमण्डल में इसकी ऊँचाई 50 – 80 कि.मी. के बीच मानी जाती है । इसमें तापमान में ऊँचाई के साथ ह्यास होता जाता है । सूर्य के प्रकाश में यह पर्त रेडियो तरंगों को अवशोषित करती है । यही कारण है कि दिन में कम आवृति पर भी रेडियो ट्रांसमिशन (Radio Transmission) प्राप्त होता है ।

(2) **विषममण्डल अथवा आयन मण्डल (Heterosphere or Ionosphere) :** इसकी ऊँचाई 80 से 640 कि मी. के बीच पायी जाती है । इस मण्डल में स्थित वायुमण्डल की विभिन्न परतों के रासायनिक एवं भौतिक गुणों में विषमता पायी जाती है । इसे थर्मोस्फीयर (Thermosphere) भी कहते हैं । इसमें तापमान ऊँचाई के साथ –साथ बढ़ता जाता है । इस भाग में गैसें अत्यधिक विरल हो जाती है । यह मण्डल अनेक आयनिकृत परतों (Ionized Layers) में है जो निम्नलिखित हैं –

(A) D पर्त (D Layer) : इसकी ऊँचाई 80 से 100 कि मी. तक पायी जाती है । यह परत दीर्घ रेडियों तरंगों का परावर्तन करती है तथा मध्यम और लघु तरंगों को सोख लेती है ।यह परत केवल दिन में पाई जाती है । सूर्यास्त के साथ ही यह विलीन हो जाती है।

(B) E पर्त (E Layers) : धरातल से 100 से 150 कि मी. के बीच यह परत पायी जाती है । इसे केनेली हेवीसाइड (Kennelly Heviside) परत भी कहते हैं । इसके द्वारा मध्यम व उच्च तरंगों का धरातल की ओर परावर्तन होता है । रात्रि में यह परत समाप्त हो जाती है । रेडियो की मध्यम तरंगें यहाँ से परावर्तित हो जाती है ।

(C) F पर्त (F Layers) : यह 150 – 380 कि मी. के बीच पायी जाती है । इसे ऐपलिटन पर्त (Appleton Layer) भी कहते हैं । ये मध्यम तथा दीर्घ तरंगों को धरातल की ओर परावर्तित करती हैं । दिन के समय यह 2 भागों में एफ 1 और एफ 2 परतों में बँट जाती है । इसी सतह से रेडियो की लघु तरंगों मे परावर्तित हो जाती है ।

(D) G पर्त (G Layers) : इसकी ऊँचाई 380 से 640 कि मी. के बीच पायी जाती है । यहाँ से किसी प्रकार की तरंगों का परावर्तन नहीं होता है । इसी मण्डल में उत्तरी ध्रुवीय प्रकाश (Aurora borealis) तथा दक्षिणी ध्रुवीय प्रकाश (Aurora Australis) के दर्शन होते हैं जो क्रमश : आर्कटिक एवम् अन्टार्कटिक क्षेत्र में देखे जाते हैं ।

(3) **बर्हिमण्डल (Exosphere) :** इस परत का विशेष अध्ययन Lyman Spitzer ने किया । इसकी ऊँचाई 640 से 1000 किमी. तक मानी जाती है । ऐसा माना जाता है कि इस परत में पदार्थ गुरूत्वाकर्षण शक्ति से आजाद हो जाते हैं । वायुमण्डल का यह सबसे ऊपरी भाग है।

(4) **चुम्बकीय मण्डल (Magnetosphere) :** इसमें 1000 किमी. से ऊपर का भाग सम्मलित किया जाता हैं । इसकी ऊँचाई एवं इस मण्डल के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकी है । इसमें ऋणाविष्ट कण (Electron Negative) तथा घनाविष्ट कण (Proton Positive) की कल्पना की जाती है तथा इसे वॉन एलिन विकिरण पेटियों (Van Allen Radiation Belts) के नाम से पुकारा जाता है ।

वायुमण्डल का स्तरीकरण चित्र – 10.1 से स्पष्ट है ।

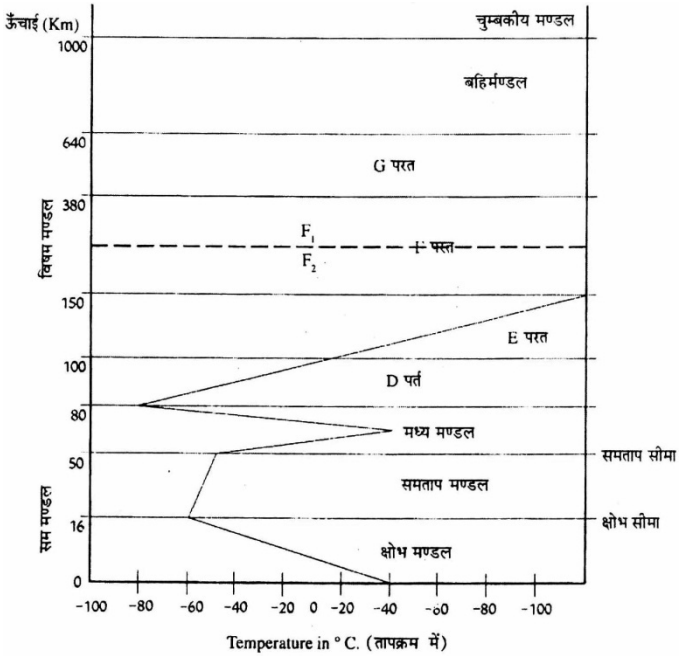

चित्र – 10.1 : वायुमण्डल का स्तरीकरण

वायुमण्डल की मानव के लिए उपयोगिता

वायुमण्डल मानव के जीवन, वनस्पति जगत और जीव जगत के लिए जीवन का आधार है । इससे प्राणवायु आक्सीजन प्राप्त होती है । ज्वलनशीलता भी आक्सीजन के कारण ही चिर स्थायी है । ज्वलनशीलता को समाप्त करने के लिए कार्बन – आक्साइड आवश्यक है वह भी वायुमण्डल से मिलती है । नाइट्रोजन एवम् कार्बन आक्साइड वनस्पति जगत के जीवित रहने तथा प्रकाश संश्लेषण की क्रिया के लिए जरूरी है । इतना ही नहीं वरन् बादल वर्षा, मेघ, तड़ित झंझा, आँधी, तूफान भी इसी वायुमण्डल के कारण रेडियो, मोबाइल, पेजर, ईमेल, इंटरनेट आदि स भी विविध वायुमण्डलीय तरंगों के कारण ही कार्य करते हैं । फसलों की उत्पति, प्रकाश, ध्रुवीय प्रकाश, वायुमण्डल की विभिन्न घटनायें इसी कारण होती हैं । अपक्षय, अपरदन, विखंडन आदि सभी इसी वायुमण्डल के कारण होते हैं ।

बोध प्रश्न – 1

1. वायुमण्डल पृथ्वी के चारों ओर क्यों फैला हुआ है?
   (अ) गुरूत्वाकर्षण के कारण (ब) वायुमण्डल के भार के कारण
   (स) पृथ्वी के गति के कारण (द) कोई नहीं

2. वायुमण्डल के संघटन में कौनसी चीजें पाई जाती है?

_____

_____

3. वायुमण्डल में प्राण वायु कौनसी है?

_____

_____

4. वर्षा की नमी किनसे बनती है?

(अ) पानी से (ब) धूलिकण से

(स) हिमसीकर से (द) जलवाष्प से

5. वायुमण्डल की परतों के नाम बताओ ।

_____

_____

10.5 सारांश (Summary)

वायुमण्डल हमारे पृथ्वी के चारों ओर खोल के रूप में पृथ्वी की गुरूत्वाकर्षण शक्ति के कारण पाया जाता है । इसमे गैसें धूलिकण, जलवाष्प आदि पाई जाती है जो मानवजगत, वनस्पति जगत एवम् जीव जगत सभी के लिए अति आवश्यक है । वायुमण्डल की संरचना, विविध एवम् विस्मयकारी है । इसमें भिन्न तापक्रम मण्डल जहाँ ऊँचाई के साथ –साथ सामान्य ताप पतन दर से तापमान घटता जाता है जबकि सम तापक्रम मण्डल में तापमान समान रहता है । वर्षा, मेघ गर्जन, तड़ित झंझा, आधी, तूफान सभी विस्मयकरी घटनायें वायुमण्डल में ही घटित होती हैं । पराबैंगनी किरणों का अवशोषण, रेडियो तरंगें, ईथर का प्रयोग आदि सभी वायुमण्डल की ही देन है । फसलों की उत्पति, जीव जगत का प्रादुर्भाव, मानव जगत का अस्तित्व सभी वायुमण्डल के कारण हैं । भूगोल की समस्त अपरदन चक्र, विखंडन, अपक्षय, अनाच्छादन सभी वायुमण्डल के कारण होती है । जल, पावक, समीर सभी आद्य तत्व वायुमण्डल के कारण ही है। अत : वायुमण्डल हमारे लिए अति महत्वपूर्ण है । इसकी संरचना भिन्न तापक्रम मण्डल, समताप मण्डल, ओजोन मण्डल, आयन मण्डल, विषम मण्डल, मध्य मण्डल, बाह्य मण्डल, एवम् चुम्बकीय मण्डल द्वारा होती है ।

10.6 शब्दावली (Glossary)

- **वायुमण्डल :** वायु का मण्डल वायुमण्डल कहलाता है ।
- **भिन्न तापक्रम मण्डल :** जिस मण्डल में तापमान में भिन्नता पाई जाती है ।
- **समताप मण्डल :** जिस मण्डल में लगभग तापमान समान होता है ।
- **ओजोन मण्डल :** जिस मण्डल में ओजोन गैस की प्रधानता होती है ।
- **आयन मण्डल :** जिस मण्डल में आयन गैस की प्रधानता होती है ।

- **बाह्य मण्डल :** जो मण्डल हमारे परिवेश से बाहर का है ।

10.7 संदर्भ गन्ध सूची (Reference Books)

1. शर्मा, एच.एस., शर्मा, एम. एल., मिश्रा, आर. एन. : **भौतिक भूगोल**, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2007
2. भल्ला, एल. आर. : **भौतिक भूगोल**, कुलदीप पब्लिकेशनस, अजमेर, 2004
3. सिंह, सविन्द्र. **भौतिक भूगोल**, वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर, 2007

10.8 बोध प्रश्नों के उतर

1. गुरूत्वाकर्षण,
2. गैसें, धूलकण, जलवाष्प आदि,
3. आक्सीजन,
4. धूलकण एवम् जल वाष्प,
5. भिन्न तापक्रम मण्डल, समताप मण्डल, ओजोन मण्डल, आयन मण्डल, बाह्य मण्डल ।

10.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. वायुमण्डल किसे कहते हैं?
2. वायुमण्डल का संगठन बताइये ।
3. वायुमण्डल की संरचना बताइये ।
4. वायुमण्डल का महत्व बताओ ।

इकाई 11: सूर्यातप, तापमान एवं ऊष्मा संतुलन (Insolation, Temperature and heat Balance)

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 सूर्यातप

- 11.2.1 सूर्यातप की परिभाषा
- 11.2.2 सूर्यातप प्राप्ति के साधन
- 11.2.3 वायुमण्डल के गर्म एवम् ठण्डे होने की क्रियायें
- 11.2.4 अधिकतम एवम् न्यूनतम तापमान
- 11.2.5 सूर्यातप को प्रभावित करने वाले कारक
- 11.2.6 तापमान का लम्बवत वितरण

11.3 तापक्रम की विलोमता एवम् प्रकार

- 11.3.1 तापक्रम का क्षैतिज वितरण
- 11.3.2 जनवरी एवम् जुलाई का तापमान
- 11.3.3 तापक्रम का प्रादेशिक वितरण (तापकाटिबन्ध)
- 11.3.4 सूर्यताप एवम् पृथ्वी का उष्माबजट
- 11.3.5 सूर्याभिताप को प्रभावित करने वाले कारक

11.4 सारांश

11.5 शब्दावली

11.6 संदर्भ ग्रंथ

11.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.0 उद्देश्य (Objectives)

इस ईकाई के अध्ययन के उपरान्त हम समझ सकेगें कि

- सूर्यातप किसे कहते हैं,
- सूर्यातप प्राप्ति के क्या–क्या साधन हैं,
- सूर्यातप का धरातल पर औसत वितरण, सूर्यातप को प्रभावित करने वाले कारक,
- वायुमण्डल का उच्चतम एवम् न्यूनतम तापमान,
- औसत तापमान एवम् तापान्तर,
- तापक्रम की विलोमता,

- तापक्रम का क्षैतिज वितरण,
- तापक्रम का प्रादेशिक वितरण,
- वायुमण्डल एवम् पृथ्वी की ऊष्मा का संतुलन ।

11.1 प्रस्तावना (Introduction)

हमारी पृथ्वी को अधिकांश ताप, प्रकाश एवम् ऊर्जा सूर्य से ही प्राप्त होती है । तापमान की अधिकता एवम् न्यूनता दोनों ही दशायें मानव, जीव जगत एवम् वनस्पति जगत के लिए हानिकारक है । सूर्य से हमें प्रकाश एवम् ऊष्मा भी मिलती है । प्रकाश तथा ऊष्मा के बिना कोई भी पौधा उग नहीं सकता है तथा प्रकाश संश्लेषण की क्रिया भी वायुमण्डलीय तापमान से ही होती है । स्पष्ट है, मानव एवम् जीव जन्तुओं की भोजन की श्रृंखला बिना वायुमण्डल के तापमान के बिना प्रारम्भ ही नहीं हो सकती । अत : वायुमण्डल के तापमान के बारे में हमें अध्ययन करना अति आवश्यक है ।

11.2 सूर्यातप (Insolation)

11.2.1 सूर्यातप की परिभाषा

सूर्यातप वह दर है जिससे पृथ्वी की क्षैतिजीय सतह द्वारा प्रत्यक्ष विकिरण उष्मा प्राप्त होती है।

11.2.2 सूर्यातप प्राप्ति के साधन

धरातल पर सूर्यातप रश्मियों (Rays) के रूप में सूर्य से प्राप्त होता है । इनमें प्रमुख रश्मियाँ तीन हैं : –

(i) **लघु तरंगें (Short waves) :** इन्हें पराबैंगनी किरणें भी कहते हैं । इनकी लम्बाई 0.44 मा.इ. से भी कम होती है अर्थात् 1/250 एम एस. से 1/700 एम एम होती है । ये 186000 मील प्रति सैकिण्ड की गति से गमन करती है ये सम्पूर्ण सूर्य शक्ति का मात्र 6 प्रतिशत होती है जिनका केवल 2 प्रतिशत भाग पृथ्वी तल तक आ पाता है । इन्हें ओजोन मण्डल मे अधिकांशत : शोषित कर लिया जाता है । इन्हीं के द्वारा प्राप्त सौर्यिक ऊर्जा को विकिरण या सूर्यातप कहते है ।

(ii) **मध्य तरंगें (Medium waves) :** ये कुल सूर्य शक्ति का 52 प्रतिशत भाग होती है । इनकी लम्बाई 0.44 एम. एम. से से 0.84 एम. एम. के बीच होती है । प्रधानतया ये सफेद रंग की होती है किन्तु कभी–कभी इन्द्रधनुष सम रंग में भी दिखाई देती है ।

(iii) **लम्बी तरंगें (Long Waves) :** ये सम्पूर्ण रश्मियों की 42 प्रतिशत होती है तथा इनकी लम्बाई 0.84 एम. एम. से बड़ी होती है । इन लम्बी तरंगों द्वारा पृथ्वी के (सौर विकिरण) प्राप्त ऊर्जा वायुमण्डल में प्रवाहित होती है ।

वायुमण्डलीय तापमान

11.2.3 वायुमण्डल के गर्म तथा शीतल होने की क्रियायें

मुख्य रूप से सौर्यिक विकिरण पृथ्वी को संचालन (Conduction), संवहन (Convection) तथा विकिरण (Radiation) की विधियों से प्राप्त होता है । विकिरण से प्राप्त ऊर्जा से ही पृथ्वी गर्म एवम् ठण्डी होती है ।

वायुमण्डल के गर्म एवं ठण्डा होने की क्रियायें : वायुमण्डल को गर्म करने में सबसे महत्वपूर्ण योगदान पार्थिव विकिरण का होता है । इसमें कुछ भौतिक क्रियायें होती हैं, जिससे वायुमण्डल के गरम एवं ठण्डा होने का क्रम जारी रहता है । ये निम्नलिखित हैं : –

(1) प्रत्यक्ष सूर्यातप से वायुमण्डल का गर्म होना : वायु की निचली परतों में उपस्थित जल वाष्प तथा धूलकण के द्वारा उसके कुछ भाग (14%) का अवशोषण कर लिया जाता है । ट्रिवार्था के अनुसार धरातल से लगभग 2 किमी. की ऊँचाई तक की वायु को सूर्यातप का 7 प्रतिशत भाग गर्म करता है । शेष भाग ऊपरी वायुमण्डल को उष्मा प्रदान करता है । सौर विकिरण के इस सूक्ष्म अंश के द्वारा धरातल के निकट की वायु के तापमान में होने वाला परिवर्तन नगण्य होता है । इस प्रकार वायुमण्डल द्वारा अवशोषित सौर ऊर्जा अथवा परावर्तित ऊर्जा का वायुमण्डल के ऊष्मन एवं शीतलन में विशेष महत्व नहीं होता हैं ।

(2) संचालन (Conduction) : इस क्रिया के अन्तर्गत एक अणु स्पर्श द्वारा दूसरे अणु को ऊष्मा प्रदान करता है । वायु की प्रत्येक निचली परत से उससे सम्बन्धित ऊपरी परत की ओर ऊष्मा का संचार होता है । अत : धरातल से ज्यों –ज्यों दूरी बढ़ती जाती है वायु के तापक्रम में निरन्तर कमी होती जाती है । यह विधि ऊष्मा संचार की अत्यन्त मन्द प्रक्रिया है । वास्तव में वायु ऊष्मा की अच्छी चालक नहीं होती है फलत : धरातल से केवल कुछ फीट (लगभग एक मीटर) तक ही वायुमण्डल का भाग गर्म हो पाता है । मुख्य रूप से गर्मी में तथा दिन के समय यह क्रिया अधिक प्रभावशाली होती है ।

(3) संवहन (Convection) : सौर्यिक विकिरण से ऊष्मा प्राप्त करने के बाद धरातल गर्म होने लगता है जिस कारण उसके सम्पर्क में आने वाली वायु गर्म होकर ऊपर उठती है तथा फैलकर हल्की हो जाती है । इसके विपरीत ऊपर स्थित वायु अपेक्षाकृत ठण्डी होने के कारण भारी होने से नीचे उतरती है और ये गर्म वायु के द्वारा रिक्त स्थान की पूर्ति करने के लिए उस ओर प्रवाहित होने लगती है । इसके फलस्वरूप वायुमण्डल में संवाहनिक प्रणाली (Conventional System) उत्पन्न हो जाती है । गर्म वायु में उत्पन्न संवहन धारायें धरातल से प्राप्त की हुई ऊष्मा को वायुमण्डल में काफी ऊँचाई तक ले जाती है तथा वायु की ऊपरी परतों को गर्म करती है । क्षोभमण्डल में धरातल से कई किलोमीटर की ऊँचाई तक ऐसी धारायें प्राय : उत्पन्न होती हैं । इस कारण क्षोभमण्डल को संवहन कटिबन्ध (Convective Zone) भी कहते हैं । विषमताओं से उत्पन्न वायु विक्षोभ (Turbulence) 60 मी. से 3000 मी. की ऊँचाई तक वायुमण्डल की विभिन्न तापमान वाली वायु की परतों में मिश्रण उत्पन्न कर देती है । वायुमण्डल के ऊष्मन के लिये संवहन विधि अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

(4) विकिरण (Radiation) : सूर्य से जब सौर विकिरण तरंगों द्वारा निकलता है तो वह लघु तरंगों द्वारा सीधा पृथ्वी पर विकिरण विधि से पहुंच जाता है इस क्रिया को विकिरण कहते हैं । यह विकिरण लघु एव दीर्घ तरंगों के रूप में होता है । वायुमण्डल सौर्यिक विकिरण का 14 प्रतिशत भाग जलवाष्प एव धूलकणों के द्वारा अपने में शोषित कर लेता है । पृथ्वी सौर्यिक विकिरण द्वारा प्रसारित ऊर्जा का 51 प्रतिशत भाग प्राप्त करती है । ऊष्मा प्रात करने के पश्चात् पृथ्वी की सतह गर्म होकर विकिरण करना प्रारम्भ कर देती है । पृथ्वी अपना विकिरण दीर्घ तरंगों के रूप में करती है । पृथ्वी द्वारा विकिरण की ऊष्मा का अधिकांश भाग (लगभग 90 प्रतिशत) वायुमण्डल में उपस्थित जलवाष्प, कार्बन डाई आक्साइड, ओजोन धूलकण आदि द्वारा अवशोषित कर ली जाती है । इसमें जलवाष्प का महत्व सर्वाधिक है ।

11.2.4 वायुमण्डलीय ताप (Temperature of the Atmosphere)

वायु का ताप तापमापी (Thermometer) नामक यंत्र से नापते हैं । तापमापी सामान्यत : अधिकतम न्यूनतम तापमापी, दीवार तापमापी आदि प्रकार के होते हैं ।

उच्चतम ताप (Maximum Temperature) : दिन भर के सबसे ऊँचे ताप को दैनिक अधिकतम ताप (Daily or Diurnal Maximum Temperature) कहते हैं । दिन में दोपहर को सूर्य सबसे ऊँचा होता है परन्तु उच्चतम ताप दोपहर 12 बजे न होकर 2 – 4 अपरान्ह के बीच होता है । यदि महीने भर के सबसे ऊँचे ताप को नोट किया जाय तो महीने भर में पाये जाने वाला अधिकतम ताप मासिक उच्चतम ताप (Monthly Maximum Temperature) होता है । इसी प्रकार वर्ष का भी उच्चतम ताप मालूम किया जा सकता है । जिसे वार्षिक उच्चतम ताप (Annual Maximum Temperature) कहते हैं । यदि महीने भर तक प्रतिदिन के उच्चतम तापों का औसत निकाला जाय तो उसे औसत मासिक उच्चतम ताप (Mean Monthly Maximum Temperature) कहते हैं । इसी तरह वर्ष के लिये भी औसत वार्षिक ताप उच्चतम ताप (Mean Annual Maximum Temperature) भी निकाला जा सकता है ।

न्यूनतम ताप (Minimum Temperature) : दिन भर के सबसे न्यूनतम ताप को दैनिक न्यूनतम ताप (Daily or Diurnal Minimum Temprature) कहते हैं । ऊपरी बतायी गई विधि के आधार पर ही मासिक न्यूनतम ताप एवं वार्षिक न्यूनतम ताप (Monthly Minimum Temperature and Annual Minimum Temperature) औसत मासिक न्यूनतम ताप एवं औसत वार्षिक न्यूनतम ताप (Mean Monthly Minimum Temperature and Mean Annual Minimum temperature) भी मालूम किया जा सकता है । न्यूनतम ताप रात को 12 बजे न होकर प्रात : 4 – 5 बजे के बीच होता है, क्यों कि ऊष्मा का विकिरण सुबह तक होता रहता है ।

औसत ताप (Mean temperature) : दिन के अधिकतम तथा न्यूनतम तापक्रम के औसत को औसत दैनिक तापक्रम (Mean Daily temperature) कहते हैं ।

दिन का उच्चतम ताप + दिन का न्यूनतम ताप / 2

मासिक औसत तापक्रम (Mean Monthly temperature): इसे निकालने के लिये महीने के प्रतिदिन के औसत तापमान को जोड़ने तथा सम्पूर्ण योग में उस मास के कुल दिनों की संख्या का भाग देने से मासिक औसत तापक्रम निकल आता है ।

मासिक औसत तापक्रम =

प्रतिदिन महीने भर के दैनिक माध्य तापमानों का योग / महीनों के कुल दिनों की संख्या

वार्षिक औसत तापक्रम (Mean Annual temperature) :निकालने के लिये 365 दिन के औसत तापमान के योग में 12 महीनों से विभाजित करने से ज्ञात किया जाता है । जलवायु विज्ञान में 30 – 35 वर्षो के औसत पर वार्षिक औसत तापक्रम निकाला जाता है ।

तापान्तर (Range of temperature): दिन तथा रात के उच्चतम तथा निम्नतम तापमान के अन्तर को दैनिक तापान्तर (Daily temperature Range) कहते हैं । महीने और वर्षो के रात और दिन के तापमान के अन्तर की औसत दशा को मासिक और वार्षिक तापान्तर (Monthly and Yearly Range of temperature) कहते हैं ।

11.2.5 तापमान को प्रभावित करने वाले कारक (Factors Affecting Distribution of Temperature)

पृथ्वी के धरातल पर एक समान तापक्रम की दशायें नहीं मिलती हैं । कुछ भाग उच्च तापमान के अन्तर्गत आँके जाते हैं तथा कुछ भाग हमेशा न्यून तापक्रम के क्षेत्र हैं । इन विभिन्नताओं को प्रदर्शित करने में निम्नलिखित भौगोलिक तत्व महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं, जिसके कारण धरातल पर असमान तापक्रम की अवस्थायें मिलती है ।

(1) अक्षांश (Latitude) : सूर्याभिताप की प्रचण्डता अक्षांश पर निर्भर करती है । भूमध्य रेखा पर वर्ष भर सूर्य की लम्बवत् किरणों के कारण वहाँ सूर्याभिताप (Insolation) की अधिकतम मात्रा प्राप्त होती है । इसके विपरीत ध्रुवों की ओर किरणों के तिरछेपन में वृद्धि के कारण सूर्याभिताप की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है ।

(2) सागर तल से ऊँचाई : किसी स्थान के तापमान पर उस स्थान की समुद्रतल से ऊँचाई का गर्म करने में सबसे महत्वपूर्ण योगदान है । इसके विपरीत ध्रुवों की ओर किरणों के तिरछेपन में वृद्धि के कारण सूर्याभिताप की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है ।

(3) सागर तल से ऊँचाई : किसी स्थान के तापमान पर उस स्थान की समुद्रतल से ऊँचाई का विशेष प्रभाव पड़ता है । अर्थात् सागर तल से ज्यों –ज्यों ऊँचाई बढ़ती जाती है उसी के आधार पर तापमान में भी क्रमश : कमी आती जाती है क्योंकि वायुमण्डल सर्वाधिक ऊर्जा पृथ्वी से होने वाले विकिरण से प्राप्त करता है । फलत : जो भाग धरातल से जितना नजदीक होगा वह उतना ही अधिक तापक्रम प्राप्त करेगा । इसके समीप की वायु भी सघन होती है तथा इसमें वायु की ऊपरी परतों की अपेक्षा जलवाष्प एवं धूलकण आदि अधिक मात्रा में पाये जाते हैं ।

(4) सागर से दूरी : जो भाग सागर के नजदीक होता है वहाँ का तापमान सम बना रहता है । इसके विपरीत जो भाग सागर से जितनी ही दूरी पर होता है उसके तापमान में उतनी ही अधिक विषमता होती है । यही कारण है कि सागरवर्ती भागों में तापान्तर कम होता है तथा उससे दूर जाने पर यह बढ़ता जाता है ।

(5) जल एवं स्थल का स्वभाव : तापमान को स्थलीय भाग जल की अपेक्षा अधिक तेजी से प्रभावित करता है । क्योंकि यह जल की अपेक्षा सूर्यातप से जल्दी गर्म तथा जल्दी ठण्डा भी हो जाता है । जिसके कारण स्थलीय भाग का तापमान जल की अपेक्षा अधिक होता है। स्थल जल की अपेक्षा शीघ्र गर्म एवं शीघ्र ठण्डा भी होता है ।

(6) धरातल के गुण : धरातल की प्रकृति एवं रंग का सूर्यातप के वितरण पर विशेष प्रभाव पड़ता हैं । विभिन्न प्रकृति वाले धरातलों से विभिन्न मात्रा में सौर ऊर्जा का परावर्तन होता है । हल्के रग वाले धरातलों की अपेक्षा काले रंग के धरातलों द्वारा सूर्याभिताप का अधिक भाग अवशोषित होता है । हिमाच्छादित भागों से सौर्यिक विकिरण के अधिक मात्रा में परावर्तित हो जाने से कम ऊष्मा मिलने से तापक्रम कम हो जाता है, जबकि रेतीली मिट्टी से सौर्यिक विकिरण का अधिक अवशोषण होने से तापक्रम (दिन में) अधिक हो जाता है ।

(7) ढाल की प्रकृति : धरातल का जो भाग सूर्य के ठीक सामने पड़ता है वहाँ का तापमान सर्वाधिक होता है, क्योंकि वहाँ सूर्य की किरणें सीधी पड़ती है तथा जो भाग विपरीत अर्थात् पीछे पड़ता है वहाँ का तापमान कम होता है । क्योकि वहाँ सूर्य की किरणें तिरछी पड़ती हैं। पहाड़ी, ढालों पर इसे आसानी से अनुभव किया जा सकता है ।

(8) प्रचलित पवनें तथा वायु राशियाँ : पवनों के प्रवाह तथा वायु राशियों का भी तापक्रम पर प्रभाव पड़ता है । निचले अक्षांशों से उच्च अक्षांशों को जाने वाली पवनें तापमान अधिक तथा उच्च अक्षांशों से निम्न अक्षांश को जाने वाली हवाएँ तापमान कम कर देती है । प्रचलित पवनें समुद्री धाराओं के प्रभाव को तटवर्ती क्षेत्रों तक पहुँचाती है । स्थल भाग में समुद्रों की ओर जाने वाली पवनें वहाँ के ताप में कमी करती हैं तथा समुद्रों की ओर जाने वाली पवनें स्थल भाग के तापमान में कमी लाती है ।

(9) सागरीय धारायें : गर्म सखी धाराओं के कारण समीपवर्ती क्षेत्रों का तापमान सामान्य से ऊपर उठ जाता है । उसी प्रकार ठण्डी धारायें अपने निकटवर्ती क्षेत्रों के तापमान को कम कर देती हैं । गल्फस्ट्रीम यूरोप के उतरी पश्चिमी भाग तथा क्यूरोसिवो जापान तथा उतरी अमेरिका के पश्चिमी तट पर अधिक ताप लाती है । लेब्रोडोर पीरू, तथा कैलिफोर्निया धारायें ठण्डी होने के कारण प्रभावित क्षेत्रों में तापक्रम अधिक नीचा कर देती है ।

(10) वायुमण्डल की स्वच्छता : जिन क्षेत्रों में वायुमण्डल स्वच्छ तथा मेघरहित होता है वहाँ सौर विकिरण का वायुमण्डलीय अवक्षय (Atmosphere Depletion) अपेक्षाकृत कम होता

(11) पर्वतीय अवरोध : तापमान के वितरण में पर्वत श्रेणियों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है । पर्वतीय अवरोध किसी भी क्षेत्र के तापमान को गिरने से बचाता है । यही काम हिमालय पर्वत मध्य एशिया से आने वाली ठण्डी हवाओं के लिये करता है और शीतकालीन ठण्डी

हवाओं को रोक कर अपने दक्षिण में स्थित भारतीय भू – भाग में शीतकाल का तापक्रम गिरने नहीं देता है।

11.2.6 तापमान का ऊर्ध्वाधर वितरण (Vertical Distribution of Temperature)

जिस प्रकार भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर तापमान कम होता जाता है, ठीक उसी प्रकार धरातल से ऊँचाई में वृद्धि के साथ –साथ वायुमण्डल में तापमान घटता जाता है । वायुमण्डल में धरातल से ऊपर की ओर तापमान में हास की दर को तापमान की ऊर्ध्वाधर प्रवणता (Vertical Gradient of temperature) अथवा ताप ह्रास दर (Lapse Rate) कहा जाता है । औसत रूप से तापक्रम प्रति एक हजार फीट की ऊँचाई पर 3.6 F. (प्रति हजार मी. पर 6.5 डिग्री सेल्सियस) की दर से कम हो जाता है । तापक्रम के इस पतन को सामान्य पतन दर (Normal Lapse Rate) कहते हैं । यह तापक्रम के क्षैतिज पतन दर से 1000 गुना अधिक होता है ।

11.3 तापक्रम की विलोमता या प्रतिलोमन (Inversion of Temperature)

विशेष परिस्थिति में वायुमण्डल में कहीं –कहीं तापमान ऊँचाई के साथ –साथ गिरने के अपेक्षा बढ़ जाता है, यह स्थिति पर्वतीय घाटियों में अथवा शीतकाल में होती है । इस स्थिति में तापमान की उर्ध्वाधर प्रवणता (Vertical temperature Gradient) पलट जाती है । ऐसी विपरित तापीय दशा में वायु की शीतल परतें नीचे तथा गर्म परतें ऊपर स्थापित हो जाती है । ऐसी प्रतिलोम दशा को तापमान की व्युत्क्रमणता (Inversion of temperature) कहते हैं ।

(1) ढालू घाटियाँ : अधिक तीव्र ढाल वाली गहरी घाटियों में ठण्डी वायु तीव्रता से नीचे बहकर एकत्रित हो जाती है, जिससे तापीय प्रतिलोमन उत्पन्न हो जाता है ।

(2) ठण्डी वायु राशि का आगमन: जब ठण्डी वायु राशि किसी गर्म वायु राशि को ऊपर उठा देती है तो तापीय विलोमता की स्थिति पैदा हो जाती है ।

(3) शुष्क वायु : जब वाष्प पृथ्वी से विकिरण द्वारा निकलने वाली ऊष्मा को सोख लेती है और ताप गिरने में बाधा डालती है । शुष्क वायु में यह गुण न होने के कारण पृथ्वी शीघ्र ही ठण्डी हो जाती है ।

(4) लम्बी रातें : जितनी ही रात लम्बी होगी उतना ही अधिक विकिरण होता है एवं ताप प्रतिलोमन की सम्भावना बढ़ जाती है । उच्च अक्षांशों में रात्रि लम्बी होती है जिससे वहाँ ताप प्रतिलोमन अधिक होता है।

(5) स्थिर मौसम : स्थिर मौसम में ऊष्मा विकिरण बिना रूके होता रहता है । मौसम में परिवर्तन न होने से एक जैसी परिस्थितियाँ बहुत समय तक बनी रहती है । अत : तापीय प्रतिलोमन में बाधा नहीं पड़ती ।

(6) आकाश की स्वच्छता : रात के समय पृथ्वी से निकलने वाली ऊष्मा बादलों से टकराकर वापिस लौट जाती है जिससे पृथ्वी ठण्डी नहीं होने पाती । स्वच्छ आकाश में यह उष्मा

वापिस नहीं लौटती जिससे पृथवि का तल शीघ्रता से ठण्डा हो जाता है और तापीय प्रतिलोमन की सम्भावना बढ़ जाती है ।

(7) बर्फ से आच्छादित प्रदेश – पहाड़ी उच्च प्रदेशों त था ध्रुवीय भागों में जहाँ बर्फ जमी रहती है, वहाँ पर सौर्य विकिरण ऊष्मा का 90 प्रतिशत तक परावर्तन हो जाता है । इस कारण धरातल से विकिरण कम मात्रा में होता है, बर्फ के प्रभाव से सम्पूर्ण संलग्र वायु की परतें एकदम ठण्डी हो जाती है । तापीय प्रतिलोमन की यह एक आदर्श दशा कही जा सकती है ।

तापीय प्रतिलोमन के प्रकार (Types of Inversion temperature)

तापीय प्रतिवेदन को उत्पन्न करने वाली विभिन्न प्रक्रियाओं त था धरातल से प्रतिलोम स्तर की सापेक्षिक ऊँचाई (Relative Heights) के आधार पर इसे निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जाता है –

1. धरातलीय अथवा स्तरीय प्रतिलोमन (Ground Inversion)
   (अ) पार्थिव विकिरण प्रतिलोमन (Radiation Inversion)
   (ब) अभिवहन या सम्प्रकीय प्रतिलोमन (Advection Inversion)
2. उच्च स्तरीय प्रतिलोमन (Upper Air Inversion)
   (अ) विस्तृत वायुराशियों के अवतलन से उत्पन्न प्रतिलोमन (Subsidence Inversion)
   (ब) विक्षोभ रख संवहन द्वारा उत्पन्न प्रतिलोमन (Turbulence and Connective Inversion)
   (स) तापीय उच्च वायुमण्डलीय प्रतिलोमन (Thermal upper Attmosphere Inversion)
3. वाताग्री प्रतिलोमन (Frontal Inversion)

(अ) **पार्थिव विकिरण प्रतिलोमन (Radiation Inversion) :** इस प्रकार का प्रतिलोमन धरातल से संलग्र वायु की परतों में कुछ ऊँचाई तक पायी जाती है । इसकी उत्पत्ति का मुख्य कारण पार्थिव विकिरण (Terrestrial Radiation) जनित रात्रिकालीन शीतलता है । रात्रिकाल में पार्थिव विकिरण द्वारा ऊष्मा का तीव्र गति से ह्रास होता है, जिससे स्थल भाग रात में काफी ठण्डे हो जाते हैं, जबकि उसके ठीक ऊपर ऊष्मा का कम ह्रास होने से गर्म वायु की परत होती है । परिणामस्वरूप नीचे तापक्रम कम तथा ऊपर अधिक होने से तापीय प्रतिलोमन की स्थिति हो जाती है । इस प्रकार के प्रतिलोमन के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं (1) शीतकालीन लम्बी रातें (2) मेघ रहित आकाश अथवा उच्च स्तरीय मेघ, (3) शुष्क वायु, (4) शान्त वायुमण्डल, (5) हिमच्छादित धरातल (चित्र 11. 1) ।

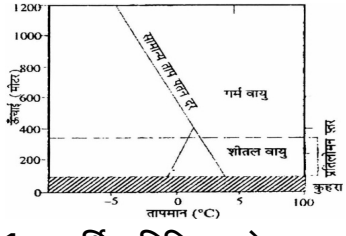

चित्र – 11.1 : पार्थिव विकिरण से उत्पन्न प्रतिलोमन

यह प्रतिलोमन निम्न अक्षांशों में 30 फीट से 40 फीट, मध्य अक्षांशों में कुछ सौ फीट तथा उच्च अक्षांशों में आधे मील की ऊँचाई तक होता है । भूमध्यरेखीय भागों में इस प्रकार की स्थिति केवल शीतकालीन रात्रियों में ही होती है, परन्तु यह स्थिति अल्पकालिक होती है । प्राय: सुबह के साढे सात बजे तक यह स्थिति रहती है तथा सूर्योदय के साथ समाप्त होने लगती है।

घाटी तापीय प्रतिलोमन (Valley Inversion of temperature) : निम्न स्तरीय तापीय प्रतिलोम पूर्ण विकसित रूप में पर्वतीय अथवा पठारी प्रदेशों की घाटियों में उत्पन्न होती है । शीतकाल की लम्बी रातों में पार्थिव विकिरण के कारण पर्वतों के ढाल अत्यधिक ठण्डे हो जाते हैं और उससे संलग्न वायु का तापमान काफी नीचे गिर जाता है । इसके विपरित घाटियों के तलस्थ (तली) भागों में विकिरण से अपेक्षाकृत कम ऊष्मा हास के कारण तापक्रम ऊँचा होने से वायु गर्म तथा हल्की रहती है । फलस्वरूप ऊपर स्थित ठण्डी वायु भारी होने के कारण नीचे बैठने लगती है । इस कारण वायु में अधोमुखी संचार (Downward Circulation) प्रारम्भ हो जाता है । ये ठण्डी हवायें घाटी तली में पहुँचकर गर्म तथा हल्की वायु को ऊपर ढकेलने लगती है जिस कारण उसमें उपरिमुखी संचार (Upward Circulation) प्रारम्भ हो जाता है । परिणामस्वरूप ऊपरी भाग में गर्म तथा निचले भाग मे ठण्डी वायु होने के कारण प्रतिलोमन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । इसे घाटी तापीय प्रतिलोमन (Valley Inversion of temperature) भी कहते हैं (चित्र 11.2) ।

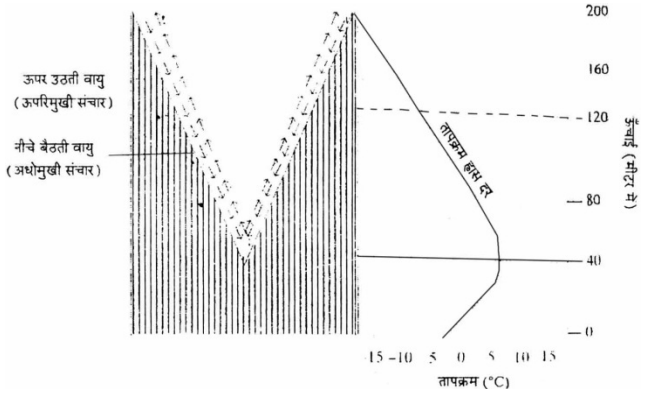

चित्र – 11.2 : घाटी तापीय प्रतिलोमन

अभिवहन प्रतिलोमन (Advection Inversion) : शीतल तथा उष्ण वायु राशियों के परस्पर मिलने से विस्तृत क्षेत्रों में तापमान की व्युत्क्रमणता उत्पन्न हो जाती है । शीतकाल में महाद्वीपों के धरातल अधिक ठण्डे हो जाते हैं । जब उनकी ओर समीपवर्ती महासागरों के ऊपर से होकर चलने वाली हवायें अथवा उष्ण कटिबन्धीय वायु राशियाँ जिनका तापक्रम अपेक्षाकृत अधिक होता है, चलती हैं तब ठण्डी वायु की परत के ऊपर उनकी स्थापना हो जाती है जिससे तापीय प्रतिलोमन उत्पन्न हो जाता है । इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु में महासागर महाद्वीपों की अपेक्षा अधिक ठण्डे होते हैं । जब महाद्वीपों पर से अधिक उष्ण स्थलीय वायु राशियाँ ठण्डे महासागर की ओर आती हैं, तब वहाँ भी तापीय प्रतिलोमन उत्पन्न हो जाती है । इसी प्रकार महासागरों से चलने वाली ठण्डी वायु राशि महाद्वीपों पर पहुँच कर उनके धरातल के निकट की वायु को ऊपर उठा देती है तथा तापमान व्युत्क्रमणता की दशा उत्पन्न कर देती है । उत्तरी

अमेरिका तथा यूरेशिया के विशाल हिमाच्छादित उत्तरी मैदानों में शीत ऋतु में महासागरीय उष्ण कटिबन्धीय वायु राशियों के आगमन के फलस्वरूप इसी प्रकार की अभिवहन प्रतिलोमन उत्पन्न होती है ।

अवतलन प्रतिलोमन (Subsidence Inversion) : इस प्रकार का प्रतिलोमन वायुमण्डल में धरातल से कुछ ऊँचाई पर वायु के नीचे उतरने से उत्पन्न होती है । वायुमण्डल में गहरी और विस्तृत वायु राशियों के बड़े पैमाने पर अवतलन तथा इस नीचे उतरती हुई वायु के पार्श्ववर्ती फैलाव से भी प्रतिलोमन उत्पन्न हो सकती है । उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च वायुभार क्षेत्रों (Subtropical High Pressure Area) में जहाँ प्रतिचक्रवातीय दशायें उत्पन्न होकर अधिक समय तक रहती है । उच्च स्तरीय तापीय प्रतिलोमन विशेष रूप से उत्पन्न होता है ।

वायु के नीचे उतरने के कारण उसमें सम्पीड़न (Compression) होता है जिसमें रूद्धोष्म ताप परिवर्तन के कारण वायु के तापमान में वृद्धि हो जाती है, फलत : वायु में ऊपर उठने की प्रवृति समाप्त हो जाती है और मौसम स्वच्छ और सुहावना होता है । इस प्रकार के प्रतिलोमन में सूखे (Drought) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है (चित्र 11.3) ।

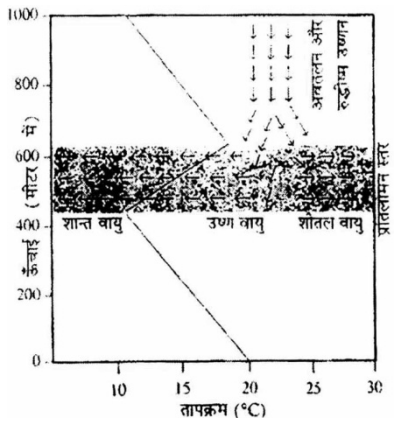

चित्र – 11.3 : वायु के अवतलन के कारण उत्पन्न उच्च स्तरीय प्रतिलोमन

विक्षोभ एवं संवहन द्वारा उत्पन्न प्रतिलोमन (Turbulence and Convective Inversion) : धरातल से कुछ ऊँचाई पर तापीय प्रतिलोमन वलकृत प्रक्रियाओं के द्वारा उत्पन्न होती है । धरातलीय घर्षण से उत्पन्न वायु की भँवरे (Eddies) वायु को नीचे से ऊपर तथा ऊपर से नीचे ले जाती है । इसके अतिरिक्त धरातल के गर्म होने पर वायुमण्डल मे उत्पन्न संवहन धारायें गर्म वायु को ऊपर ले जाती हैं और शीतल वायु नीचे की ओर उतरती है। वायुमण्डल की जिन परतों में संवहन व वि क्षोभ की क्रियायें होती हैं, उसमें वायु का भली – भांति मिश्रण हो जाता है । वायु मिश्रण की इस उपरी सीमा पर तापीय प्रतिलोमन उत्पन्न हो जाता है । उसे विक्षोभ एवम् सवंहन द्वारा उत्पन्न प्रतिलोमन कहते है ।

तापीय उच्च वायुमण्डलीय प्रतिलोमन (Thermal Upper Atmosphere Inversion of temperature) : वायुमण्डल में धरातल से 32 से 80 किमी. के बीच ओजोन गैस मिलती है, जो कि सौर्य विकिरण की पराबैंगनी किरणों (Ultra Violet Rays) का शोषण करती रहती है जिससे इस परत का तापक्रम अधिक हो जाता है । परिणामस्वरूप इसके ऊपर तथा नीचे दोनों

तरफ कम तापक्रम होने से प्रतिलोमन की स्थिति बन जाती है । इस प्रतिलोमन के लिए आवश्यक है कि वायुमण्डलीय परत में लम्बवत् या क्षैतिज गति नहीं हो अन्यथा तापक्रम में स्थानान्तरण तथा मिलावट प्रारम्भ हो जायेगी । यह प्रतिलोमन सदैव 32 किमी. से अधिक ऊँचाई पर होता है ।

वाताग्री प्रतिलोमन (Frontal Inversion of Temperature) : जब उष्ण शीतल दो प्रकार की वायु राशियाँ आस –पास होती हैं तब शीतल वायु राशि उष्ण वायु राशि के नीचे स्फान (Wedge) की भाँति फैल जाती है । इन दोनों वायु राशियों की ढालुआ सीमा (Sloping Boundry) को वाताग्र (Front) कहते हैं । वाताग्र पर गर्म वायु ऊपर तथा ठण्डी वायु उसके नीचे होती है । इसे वाताग्री प्रतिलोमन कहते है ।

11.3.1 तापक्रम का क्षैतिज वितरण (Horizontal Distribution of Temperature)

ग्लोब पर तापमान का क्षैतिजीय वितरण विशेष रूप से अक्षांश रेखाओं के आधार पर पाया जाता है । सामान्य रूप से तापक्रम भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर कम होता जाता है । प्राय : भूमध्य रेखा के निकट के भाग बादलों से आच्छादित रहते हैं । बादलों से घिरे रहने से यहाँ पर सौर विकिरण की उष्मा का बहुत सा भाग बादलों तथा जलवाष्प द्वारा शोषित हो जाता है । जिस कारण भूमध्य रेखा पर कभी भी विश्व के उच्चतम तापक्रम अंकित नहीं हो पाते हैं, जबकि कर्क तथा मकर रेखाओं पर प्राय : आकाश बादलों से आच्छादित नहीं होता है, इसलिए कर्क तथा मकर रेखाओं पर उच्चतम तापमान क्रमश : जून तथा दिसम्बर में रहता है । इनके बाद के अक्षांशों पर सूर्य की किरणें तिरछी पड़ती जाती है और तापमान में कमी आती जाती है । मानचित्र पर तापमान के प्रदर्शन के लिये समताप रेखाओं का प्रयोग किया जाता है । समान तापमान वाले स्थानों को मिलाते हुए खींची जाने वाली रेखा को समताप रेखा (Isotherm) कहते हैं । सर्वप्रथम सभी स्थानों का वास्तविक तापक्रम ज्ञात किया जाता है, तत्पश्चात उन स्थानों पर सागर तल पर समानीत तापमान ज्ञात करते हैं अर्थात् वह स्थान यदि सागर तल पर होता तो कितना तापमान होता । समान तापमान वाले स्थानों को मिलाकर रेखायें खींची जाती है । सामान्यतया समताप रेखायें पूर्व – पश्चिम को खींची जाती है । जो प्राय : अक्षांशों के समानान्तर होता है । जहाँ सागर एवं स्थल का मिलन बिन्दु होता है वहाँ समताप रेखाओं की दिशा में पीरवर्तन एवं विचलन हो जाता है । पूरे वर्ष का तापमान जनवरी एवं जुलाई के तापमान. के आधार पर अनुमानित किया जाता है, क्योंकि यह महीने ग्लोब पर उत्तरी एव दक्षिणी गोलार्द्ध मे तापमान की चरम स्थिति का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

11.3.2 जनवरी का तापक्रम

उत्तरी गोलार्द्ध में जनवरी का महीना अधिक ठण्डा होता है तथा इसके ठीक विपरीत दक्षिणी गोलार्द्ध में जनवरी के महीनें में अत्यधिक गर्मी होती है । उत्तरी गोलार्द्ध में अधिक स्थल होने के कारण समताप रेखायें अधिक वक्र तथा परस्पर निकट दिखाई पड़ती है । इसके विपरीत दक्षिणी गोलार्द्ध में जल मण्डल की प्रधानता के कारण समताप रेखाएँ अपेक्षाकृत दूर –दूर एवं कम वक्री होती है । दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा उत्तरी गोलार्द्ध में समताप रेखाओं की संख्या

अधिक होती है । उत्तरी गोलार्द्ध में विभिन्न महाद्वीपों पर जनवरी की समताप रेखायें भूमध्य रेखा की ओर काफी मुड़ जाती है, क्योंकि महाद्वीपीय प्रभाव के कारण भीतरी भागों में शीत ऋतु कठोर होती है । इसके विपरीत महासागरों का तापमान अपेक्षाकृत ऊँचा होने के कारण समताप रेखायें ध्रुव की ओर मुड़ जाती हैं (चित्र– 11.4) ।

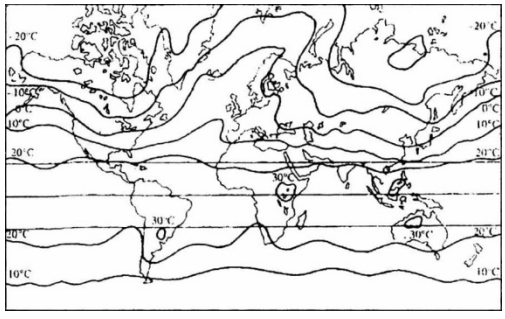

चित्र – 11.4 :जनवरी माह की समताप रेखाएँ (विश्व)

जनवरी में न्यूनतम तापमान उत्तरी पूर्वी साइबेरिया में अंकित किया जाता है और अत अत्यधिक शीतल प्रदेश ग्रीनलैण्ड में पाया जाता है । प्राय : सभी महाद्वीपों के पश्चिमी किनारे पछुआ पवनों के प्रभाव के कारण अपेक्षाकृत अधिक गर्म हो जाते हैं । उत्तरी गोलार्द्ध में महाद्वीपों पर जनवरी की समताप रेखाओं के बीच कम दूरी तापमान की अधिक प्रवणता का द्योतक है ।

जनवरी की औसत तापीय भूमध्य रेखा की स्थिति भूमध्य रेखा के दक्षिण में पायी जाती है । इस महीने में पृथ्वी पर सबसे अधिक तापमान की पेटी 30^0 द. अक्षांश के निकट महाद्वीपों के ऊपर पायी जाती है ।

जुलाई का तापक्रम

उत्तरी गोलार्द्ध में जुलाई का महीना अत्यधिक गर्म परन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध में ठण्डा होता है । इस समय सूर्य उत्तरायण में होता है तथा कर्क रेखा पर सीधा चमकता है । जुलाई में अधिकतम तापमान महाद्वीपों पर पाया जाता है । जुलाई के महीनों के मानचित्र पर समताप रेखाएँ उत्तरी गोलार्द्ध में अत्यधिक वक्राकार तथा अनियमित दिखायी पड़ती हैं । जुलाई के ताप मानचित्र पर उच्च तापमान (लगभग 32°C) की एक लम्बी विस्तृत पेटी उत्तरी अफ्रीका से दक्षिणी –पश्चिमी एशिया होती हुयी पश्चिमोत्तर भारत तक फैली हुई है । संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी –पश्चिमी भाग में उच्च तापमान की ऐसी ही दूसरी पेटी पायी जाती है ।

जुलाई में उत्तरी –पूर्वी साइबेरिया समान अक्षांश में स्थित अन्य भागों की अपेक्षा अधिक गर्म हो जाता है । इसका कारण महाद्वीपीयय प्रभाव हैं । उत्तरी गोलार्द्ध में जुलाई में महासागरों की अपेक्षा महाद्वीप अधिक गर्म होते हैं । इसी गोलार्द्ध में जनवरी की अपेक्षा जुलाई की समताप रेखायें कम तथा दूर –दूर पायी जाती हैं । इस महीने में यद्यपि सभी समताप रेखायें उत्तर की ओर खिसक जाती हैं, तथापि उनकी सामान्य प्रवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं पाया जाता है । इस समय महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में ताप –प्रवणता में विशेष अन्तर नहीं पाया जाता, किन्तु महाद्वीपों के आन्तरिक भागों तथा पूर्वी किनारों पर ताप –प्रवणता क्षीण हो जाती है । इस महीने में दक्षिणी गोलार्द्ध में समताप रेखायें लगभग समानान्तर होती है । जबकि एशिया,

अफ्रीका एवं उत्तरी अमेरिका महाद्वीपों पर अण्डाकार होती है, जिसके केन्द्र में उच्च तापमान मिलता है । जुलाई की समताप रेखायें महाद्वीपों पर उत्तरी ध्रुव तथा महासागरों पर भूमध्य रेखा की ओर मुड़ जाती है ।

11.3.3 तापक्रम का प्रादेशिक वितरण

तापक्रम के वितरण तथा उनकी विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए ग्रीक विचारकों ने ग्लोब को तीन प्रमुख कटिबन्धों में विभाजित किया था (चित्र – 11.5) ।

(i) **उष्ण कटिबन्ध (Torrid Zone) :** इसका विस्तार दोनों गोलार्द्धों में $23\frac{1}{2}^0$ अक्षाशों तक (अर्थात् कर्क रेखा से मकर रेखा तक) होता है । सूर्य प्राय : विषुवत् रेखा पर ऊर्ध्वाधर रहता है, परन्तु यह विषवत् रेखा के दोनों ओर सरकता भी रहता है । उत्तरी गोलार्द्ध में $23\frac{1}{2}^0$ उत्तर तक और दक्षिणी गोलार्द्ध में $23\frac{1}{2}^0$ दक्षिण तक सूर्य में एक बार अवश्य ऊर्ध्वाधर (Vertical) हो जाता है, परन्तु इन अक्षांशों के परे सूर्य कभी ऊर्ध्वाधर नहीं होता । अत: इन अक्षांशों के बीच ($23\frac{1}{2}^0$ N से $23\frac{1}{2}^0$ S तक) का क्षेत्र उष्ण कटिबन्ध कहलाता है । भूमध्य रेखा के आसपास वाले भाग में वर्ष भर ऊँचा तापक्रम रहने के कारण शीत ऋतु नहीं होती, परन्तु कर्क तथा मकर रेखाओं के पास ग्रीष्म तथा शीत ऋतु सीधे ऊपर आती है ।

(ii) **शीतोष्ण कटिबन्ध (Temperate Zone) :** इसका विस्तार दोनों गोलार्द्धों में $23\frac{1}{2}^0$ से $66\frac{1}{2}^0$ अक्षांश के बीच पाया जाता है । इन भागों में दिन तथा रात्रि की अवधि अधिक होती है, किन्तु 24 घण्टे से कम । इस भाग में न तो अधिक सर्दी पडती है न ही अधिक गर्मी । यहाँ ग्रीष्म तथा शीत ऋतु में विशिष्ट अन्तर होता है ।

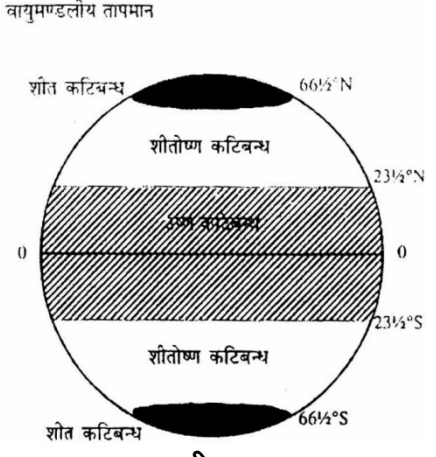

वायुमण्डलीय तापमान

(iii) **शीत कटिबन्ध (Frigid Zone):** इसका विस्तार दोनों गोलार्द्धों में $66\frac{1}{2}^{0}$ से ध्रुवीय केन्द्रों के बीच होता है । यहाँ सूर्य की किरणें बहुत तिरछी होती हैं, जिससे यह कटिबन्ध सदैव शीतल ही रहता है । यहाँ दिन व रात्रि की अवधि 24 घण्टे से अधिक होती है । ध्रुवों के पास 6 महीने का दिन तथा 6 महीने की रात्रि होती है । सूर्य कभी भी लम्बवत् नहीं हो पाता ।

11.3.4 सूर्यताप एवं पृथ्वी का ऊष्मा बजट (Insolation and Heat Budget of the Earth)

अंग्रेजी भाषा में इन्सोलेशन शब्द In+Sol+ation अर्थात् In Coming Solar Radiation का संक्षिप्त रूप है । अर्थात् सूर्य में विकीर्ण ऊर्जा का जो भाग पृथ्वी की ओर प्रवाहित होता है उसे सूर्यातप या आतपन कहते हैं । पृथ्वी तथा वायुमण्डल 'को ऊष्मा सूर्य से ही प्राप्त होता है ।

(i) **लघु तरंगें (Short Waves) :** इन तलों को पराबैंगनी किरणें (Ultraviolet Rays) कहते हैं । इनकी लम्बाई 0.44 एम. एम. से कम होती है । ये वायुमण्डल की ऊपरी परत से ओजोन गैस तथा ऑक्सीजन गैस द्वारा शोषित कर ली जाती है । ये तरंगें सम्पूर्ण सूर्य शक्ति का केवल 6 प्रतिशत ही होती है जिनमें से केवल 2 प्रतिशत भाग पृथ्वी तल तक आ पाता है ।

(ii) **मध्य तरंगें (Medium Waves) :** ये कुल सूर्य शक्ति का 52 प्रतिशत भाग होती है, जो 0.44 से 0.84 एम. एम. के बीच की लम्बाई की होती है । ये सफेद रंग की होती है । कभी – कभी सात रंगों में भी दिखायी देती है । इन तरंगों के द्वारा वायुमण्डल गर्म नहीं होता है ।

(iii) **लम्बी तरंगें (Long Waves) :** लम्बी तरंगें सम्पूर्ण सूर्य तरंगों की 42 प्रतिशत होती हैं इनकी लम्बाई 0.84 एम. एम. से कुछ बड़ी होती है । इन तरंगों से पार्थिव विकीरण द्वारा वायुमण्डल गर्म होता है ।

धरातल पर सूर्याभिताप का औसत वितरण (Average Distribution of Insolation on the earth's Surface) : धरातल पर सूर्यातप का वितरण सभी स्थानों पर समान रूप में नहीं पाया जाता है। वितरण की दृष्टि से इसे 2 भागों मैं बाँटा जा सकता है–

1. देशान्तर रेखाओं के आधार पर (Along a Meridian)
2. चुने हुए अक्षांशों के आधार पर (For selected Latitudes)

1. **देशान्तरों रेखाओं के आधार पर (Along a Meridian)**

(अ) वार्षिक (Annual): सूर्यातप का सर्वाधिक वितरण विषुवत रेखा के पास होता है । ध्रुवों की ओर इसकी मात्रा में बराबर कमी आती जाती है । ध्रुवों के पास सूर्यातप की मात्रा भूमध्य रेखा पर पाये जाने वाली मात्रा का 140 भाग होता है । इसका प्रमुख कारण सूर्य किरणों का पृथ्वी के साथ बनने वाला कोण एवं सूर्य प्रकाश की अवधि है।

(ब) विषुव/संपात (Equinox) : बसन्त एवं शरद (Spring and Autumn) : यह स्थिति मार्च एव सितम्बर में होती है, जब सूर्य भूमध्य रेखा पर लम्बवत् चमकता हैं । इस समय दोनों गोलार्द्धो में सभी अक्षांशों पर लगभग समान सूर्य प्रकाश पाया जाता है । अन्य जलवायुवीय दशाएँ भी दोनों गोलार्द्धो में लगभग एक समान होती है ।

(स) संक्रान्ति (Solstices) : ग्रीष्म तथा शीत (Summer and Winter) : संक्रान्ति की स्थिति जून एवं दिसम्बर में पाई जाती है । जून में सूर्य कर्क रेखा पर जबकि दिसम्बर में मकर रेखा पर लम्बवत् चमकता हैं । इन स्थितियों में दोनो ही गोलार्द्धो में सूर्यातप का असमान वितरण पाया जाता है । ग्रीष्म संक्रान्ति के समय जब सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध में कर्क रेखा पर लम्बवत् होता है, ध्रुवों पर दिन की अवधि सर्वाधिक होती है । सर्वाधिक सूर्यातप 40 डिग्री अक्षांश के आस –पास होता है ।

2. **चुने हुए अक्षांशों के आधार पर :** यदि ग्लोब पर वार्षिक सूर्यातप के अक्षांशीय वितरण पर ध्यान दिया जाय तो इसे निम्न मण्डलों में विभक्त किया जा सकता है (चित्र – 11. 6) ।

(A) निम्न अक्षांशीय या अयनवर्ती मण्डल (Low Latitudinal Zone) : इसका विस्तार कर्क तथा मकर रेखाओं के बीच पाया जाता है । दिसम्बर व जनवरी में लगभग 400 इकाई सूर्यातप की मात्रा इस क्षेत्र को प्राप्त होती है, जबकि मार्च व सितम्बर में लगभग 500 इकाई सूर्यातप की मात्रा प्राप्त होती है । इस प्रकार संप्राप्ति तथा विषुवत के बीच लगभग 100 इकाई सूर्यातप की मात्रा का अन्तर पाया जाता है । सूर्य के उत्तरायण तथा दक्षिणायन होने के कारण इस मण्डल में प्रत्येक स्थान पर सूर्य की किरणें वर्ष में दो बार लम्बवत् पड़ती हैं, जिस कारण प्रत्येक स्थान वर्ष में दो बार अधिकतम तथा दो बार न्यूनतम सूर्यातप प्राप्त करता है । इसको छोडकर यह भाग वर्ष भर उच्च तापक्रम रखता है एवं इसमें ऋतु परिवर्तन कम पाया जाता है ।

(B) मध्य अक्षांशीय मण्डल (Mid latitudinal Zone) : इसका विस्तार $23\frac{1}{2}^0$ से $66\frac{1}{2}^0$ अक्षांश के बीच दोनों गोलार्द्धो में पाया जाता है । न्यूनतम सूर्यातप लगभग 100 इकाई दिसम्बर व जनवरी में प्राप्त होता है, जबकि अधिकतम सूर्यातप लगभग 500 इकाई जून में प्राप्त होता है । दो संक्रान्ति के बीच लगभग 400 इकाई का अन्तर होता है । जबकि एक संक्रान्ति तथा एक विषुव के बीच लगभग 200 इकाई सूर्यातप का अन्तर पाया जाता है।

वर्ष में किसी भी समय सूर्यातप अनुपस्थित नहीं रहता है अर्थात् यह कभी भी शून्य तक नहीं पहुँचता है। इस मण्डल के प्रत्येक स्थान पर वर्ष में एक बार अधिकतम एवं एक बार न्यूनतम सूर्यातप की मात्रा प्राप्त होती है। ऋतुवत् असमानतायें अधिक पायी जाती है।

(C) उच्च अक्षांशीय अथवा ध्रुवीय मण्डल (High Latitudinal or Polar Zone): इसका विस्तार $66\frac{1}{2}^0$ से 90^0 अक्षांश के मध्य दोनों गोलार्द्धों में पाया जाता है। मार्च से सितम्बर के मध्य सूर्यातप की मात्रा शून्य इकाई से अधिक पायी जाती है जबकि अन्य महीनों में यह शून्य से कम होता है। जून में अधिकतम 300 इकाई की सूर्यातप की मात्रा प्राप्त होती है। एक संक्रांति तथा विषुव के बीच लगभग 300 इकाई का अन्तर पाया जाता है। यहाँ वर्ष में एक बार उच्चतम व एक बार न्यूनतम सूर्यातप प्राप्त होता है।

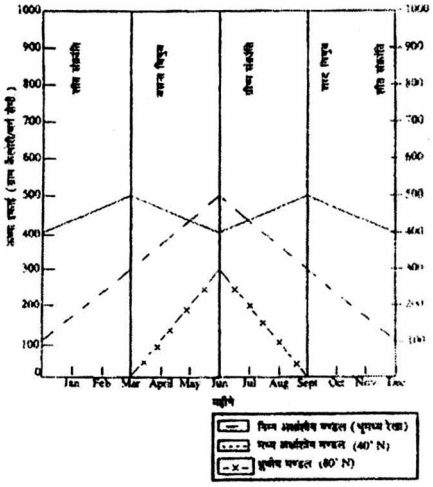

चित्र – 1.16 : सूर्यातप की मात्रा (विभिन्न अक्षांशों पर)

11.3.5 सूर्याभिताप के वितरण को प्रभावित करने वाले कारक

किसी निश्चित स्थान पर सूर्यातप की मात्रा ऋतु तथा वायुमण्डलीय दशाओं के अनुसार घटती बढ़ती रहती है । धरातल पर सूर्य से प्राप्त होने वाली ऊर्जा की मात्रा को निम्नांकित खगोलीय तथा भौतिक कारक निर्धारित करते हैं ।

(1) सूर्य की किरणों की कोणीय स्थिति या आपतन कोण (Angle of Incidence) : सूर्य की किरणें किसी न किसी कोणीय स्थिति में जरूर होती है । जिस समय जिस स्थान पर सूर्य की किरणें तिरछी पड़ती हैं, वहाँ पर सूर्यातप कम होता है क्योंकि किरणों को वायुमण्डल की अधिक दूरी तय करनी पड़ती है तथा उनकी अधिक ऊर्जा रास्ते में ही खत्म हो जाती है । सूर्य की किरणें भूमध्य रेखा पर सीधी पड़ती है तथा ध्रुवों की तरफ जाने पर उसका तिरछापन बढ़ता जाता है । सूर्य की किरणों का कोण धरातल के साथ जितना अधिक होगा सूर्यातप की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी । यद्यपि धरातल का कम भाग इससे प्रभावित होगा । सूर्य के किरणों का धरातल के साथ बनने वाला कोण यदि कम होता है उस स्थिति में यद्यपि धरातल का अधिक भाग सूर्यातप से प्रभावित होगा परन्तु यह भाग कम सूर्यातप की मात्रा प्राप्त करेगा(चित्र – 11.7) ।

(2) दिन की अवधि (Duration ऑफ Day) : दिन की अवधि कम होने पर सूर्यातप की मात्रा अधिक होने पर सूर्यातप की मात्रा भी अधिक प्राप्त होती है । भूमध्य रेखा पर वर्ष भर

दिन और रात 12 घण्टे के होते हैं । 21 मार्च एवं 23 सितम्बर को जब सूर्य की किरणें भूमध्य रेखा पर लम्बवत् पड़ती है पृथ्वी पर सर्वत्र रात और दिन 12 घण्टे के होते हैं । 21 जून को उत्तरी गोलार्द्ध में सबसे बड़ा दिन तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में सबसे लम्बी रात होगी । ग्रीष्म या कर्क संक्रांति को उत्तरी ध्रुव पर 24 घण्टे का दिन तथा दक्षिण ध्रुव पर 24 घण्टे की रात्रि होती हैं इसके विपरित शीत अथवा मकर संक्रांति में दक्षिणी ध्रुव पर 24 घण्टे का दिन तथा उतरी ध्रुव पर 24 घण्टे की रात्रि होगी ।

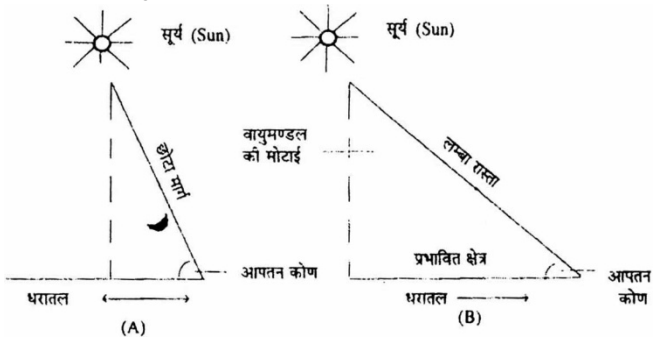

चित्र – 11.7 : सूर्य तथा पृथ्वी की सापेक्षिक स्थिति (दूरी)

सारिणी – 11. 1 : विभिन्न अक्षांशों में दिन की अधिकतम लम्बाई में)

अक्षांश(डिग्री मे) :	0	17	31	41	44	58.5	63.4	66.4	67.4	69.8	78.2	90.0
दिन की अवधि (घंटों/माह मे)	12	13	14	15	16	18	20	24	1माह	2माह	4 माह	6 माह

सारिणी– 11.2 : में विषुवत् रेखा से उत्तरायण तथा दक्षिणायन की स्थिति में सूर्यातप की निरन्तर घटती हुई मात्रा को प्रतिशत में दिखलाया गया है ।

अक्षांश(डिग्री मे) :	0	10	20	30	40	50	60	70	80	90
सूर्यातप(%मे) :	100	99	95	88	79	68	57	47	43	42

(3) पृथ्वी से सूर्य की दूरी (Distance between Earth and Sun) : पृथ्वी अण्डाकार पथ पर सूर्य की परिक्रमा करती है । इससे सूर्य से उसकी दूरी में परिवतन होता रहता है । औसत रूप से सूर्य तथा पृथ्वी के बीच की दूरी 149000000 किमी. है । 3 जनवरी को पृथ्वी एवं सूर्य के बीच निकटतम दूरी 147000000 किमी. का पायी जाता है । इस स्थिति को उपसौर (Perihelion) कहते है । 4 जुलाई को सूर्य तथा पृथ्वी के बीच अधिकतम दूरी 152000 000 किमी. का पाया जाता है । इस स्थिति को अपसौर (Aphelion) कहते हैं (चित्र – 11.8) । साधारण नियमों के अनुसार अधिकतम दूरी होने पर न्यूनतम तापमान तथा निकटतम दूरी होने पर अधिकतम तापमान होना चाहिये, जबकि

यह स्थिति बिलकुल उल्टी होती है । जनवरी के महीने में जब पृथ्वी सूर्य से निकटतम दूरी पर होती है उस समय उत्तरी गोलार्द्ध में शीतकाल के स्थान पर ग्रीष्मकाल होना चाहिये । इसी तरह जुलाई में ग्रीष्मकाल के बजाय शीतकाल होना चाहिये । वास्तव में यह स्थिति दिन की अवधि व आपतन कोण के कारण होता हैं ।

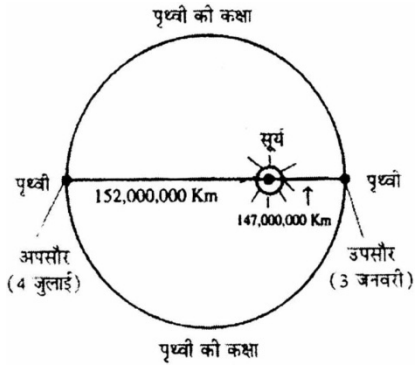

चित्र – 11.8 सूर्य तथा पृथ्वी की सापेक्षिक स्थिति (दूरी)

(4) सौर कलंक (Sun Spots) : सूर्य की सतह पर दिखाई देने वाले धब्बों की संख्या अधिक होने पर सौर विकिरण की तीव्रता में वृद्धि तथा इनकी संख्या कम होने पर विकिरण में न्यूनता दिखाई पड़ती है ।

(5) वायुमण्डल का प्रभाव (Effect of Atmosphere) : वायुमण्डल में धूल के कण, गैसें, जल वाष्प आदि पदार्थ होते हैं जो कि सौर्य विकिरण या सूर्यातप का क्रमश : शोषण (Absorption), परावर्तन (Reflection), बिखरन (Scattering) करते रहते है । वायुमण्डल में गुजरने वाली सूर्यातप की किरणों का शोषण, परावर्तन एवं बिखरन निम्नलिखित 3 बातों पर निर्भर करती है ।

(i) वायुमण्डल की पारदर्शकता,

(ii) सूर्य किरणों का पृथ्वी पर कोण

(iii) अवरोधक पदार्थो की मात्रा

अत : वायुमण्डल में जितनी शुद्धता होती है उतना ही अधिक सूर्यातप पृथ्वी पर आसानी से आ जाता है । जितनी अधिक वायुमण्डल में अशुद्धता होगी उतना ही कम सूर्यातप पृथ्वी तक पहुँच पायेगा ।

(6) स्थल व जल का प्रभाव (Effect of Land and Water) : जल की अपेक्षा स्थल ताप का कुचालक है इस कारण जल भाग में सूर्यातप अधिक गहराई तक पहुँचता है (लगभग 17 मी तक) एवं स्थल भाग पर यह कम गहराई तक प्रवेश करपाता है लगभग (1 मी. तक) इसके अतिरिक्त स्थल की अपेक्षा जल में अनेक क्रियायें जैसे धाराओं का चलना, ज्वार भाटा, ड्रिफ़्ट आदि होती रहती हैं । जल पर जल वाष्प की अधिक मात्रा पायी जाती है जो सूर्यातप की मात्रा को अवशोषित करती है । अत : स्थल भाग जल भाग की तुलना में जल्द गर्म होता है ।

(7) धरातल का रंग व स्वरूप (Colour and Nature of Land) : धरातल के रंग एवं स्वभाव के अनुसार सूर्यातप भिन्न –भिन्न मात्रा में प्राप्त होता है । यदि वनस्पति के कारण धरातल का रंग हरा है तो वहाँ सूर्यातप की कम मात्रा प्राप्त होगी । इसके अतिरिक्त यदि धरातल का रंग लाल है तो वहाँ सूर्यातप की अधिक मात्रा प्राप्त होगी । धरातलीय स्वरूप जैसे पर्वत, पठार, मैदान आदि पर सूर्यातप अलग – अलग मात्रा में प्राप्त होता है । मैदानों की अपेक्षा पर्वतों के अनुकूल ढालों पर सूर्यातप की अधिक मात्रा प्राप्त होगी ।

सारिणी – 11.3

धरातलीय स्वरूप	परिवर्तित विकिरण की % मात्रा
बर्फ की सतह	70–90
बालू	20–30
घास के मैदान	14–37
शुष्क मैदान	15–25
आर्द्र मैदान	10
वन	5–10
पानी	3–5
घने बादल	70–80
हल्के बादल	25–50
काली मिट्टी	8–14

वायुमण्डल तथा पृथ्वी की ऊष्मा का संतुलन (Heat Balance of the Atmosphere and the Earth) : पृथ्वी में चाहे ताप शक्ति जितनी अधिक मात्रा में प्राप्त होती है यह विकिरण द्वारा उतनी ही तापशक्ति को पुन : लौटा देती है । यही कारण है कि पृथ्वी रख वायुमण्डल न लगातार गर्म होते है और न ठण्डे । अर्थात् पृथ्वी को सौर्यिक विकिरण से जितनी अधिक ऊर्जा मिलेगी पृथ्वी के द्वारा भी उतनी ही अधिक ऊर्जा का निष्कासन होता रहता है । यदि पृथ्वी कम ऊर्जा का निष्कासन करती है तो सूर्य विकिरण की मात्रा से पृथ्वी का तापक्रम शनै : शनै : बढ़ने लगता है । इसके विपरीत यदि सौर्यिक विकिरण की मात्रा कम तथा पृथ्वी से विकिरण अपेक्षाकृत अधिक होता है तो उस स्थिति से पृथ्वी का तापक्रम शनैः शनै : कम होता रहता है। यह तभी सम्भव है जबकि सूर्य की किरणों को वायुमण्डल की मोटी परत एवं अधिक दूरी तय करनी पड़े । इस प्रकार यदि सम्पूर्ण पृथ्वी पर प्राप्त होने वाले ताप संतुलन (Heat Balance of the Earth) के आकड़ों का अध्ययन किया जाये तो यह सत्यता से काफी दूर जा बैठते हैं। सिमसन महोदय ने उत्तरी गोलार्द्ध के विभिन्न अक्षांशों पर सौर्यिक विकिरण की जो मात्रा मिलती है, उसे सारणी – 11.4 में दर्शाया है ।

सारिणी – 11. 4 : सौर्यिक विकिरण की प्राप्ति तथा वापसी
(उत्तरी गोलार्द्ध में ग्राम कैलोरी प्रति वर्ग सेमी. प्रति मिनट)

अक्षांश	सौर्यिक विकिरण की प्राप्ति	सौर्यिक विकिरण ह्रास	अंतर
0.0^0	0.339	0.271	+0.068
10^0	0.334	0.282	+0.052
20^0	0.320	0.284	+0.036
30^0	0.297	0.284	+0.013
40^0	0.267	0.282	–0.015
50^0	0.232	0.277	–0.042
60^0	0.193	0.272	–0.079
70^0	0.160	0.260	–0.100
80^0	0.144	0.252	–0.108
90^0	0.140	0.252	–0.112

पृथ्वी द्वारा होने वाला विकिरण दीर्घ तरंगों के रूप में होता है जिसे दीर्घ तरंग धरातलीय (पार्थिव) विकिरण (Long wave Terrestrial Radiation) कहते हैं ।

सौर्य विकिरण का सम्पूर्ण ताप पृथ्वी तल तक नहीं पहुँचता है । सम्पूर्ण सौर्यिक विकिरण का केवल $\frac{1}{2}$ अरबवाँ भाग ही पृथ्वी तक आ पाता है । बाकी ताप वायुमण्डल द्वारा शोषण, परावर्तन, प्रकीर्णन की क्रिया द्वारा नष्ट कर दिया जाता है । सूर्य से विकीर्ण ऊर्जा का 35 प्रतिशत भाग मौलिक रूप से शून्य में वापस लौटा दिया जाता है । इसमें से 6 प्रतिशत वायुमण्डल में प्रकीर्णन द्वारा, 27 प्रतिशत वायुमण्डल में स्थित बादलों से परावर्तन द्वारा तथा 2 प्रतिशत पृथ्वी की सतह से परार्वतन द्वारा शून्य में वापस लौटा दिया जाता है । अत : सौर्यिक ऊर्जा के इस 35 प्रतिशत भाग का वायुमण्डल तथा पृथ्वी को गर्म करने में कोई हाथ नहीं होता । शेष 65 प्रतिशत भाग में से वायुमण्डल द्वारा (जलवाष्प, बादल, धूलिकणों गैसों आदि) 14 प्रतिशत भाग का अवशोषण कर लिया जाता है । इस तरह केवल 51 प्रतिशत ऊर्जा ही पृथ्वी को प्राप्त हो पाती है । इसमें से 24 प्रतिशत भाग प्रत्यक्ष सूर्य प्रकाश से प्राप्त होता है तथा शेष 17 प्रतिशत विसरित दिवा प्रकाश (Diffuse Day Light) द्वारा प्राप्त होता है। सूर्य से प्राप्त यही 51 प्रतिशत ऊष्मा ही पृथ्वी की वास्तविक बजट है। यदि इससे कम मात्रा में पृथ्वी को ताप प्राप्त होता है तो सर्दी पड़ने का भय रहता है और यदि अधिक ताप पृथ्वी को प्राप्त होता है तो धरातल पर अधिक गर्मी का भय रहता है। वायुमण्डल की ऊष्मा बजट सौर्यिक ऊर्जा का 48 प्रतिशत होती है। इसमें से वायुमण्डल सौंर्य विकिरण से 14 प्रतिशत ऊर्जा का प्रत्यक्ष अवशोषण कर लेता है तथा शेष 34 प्रतिशत पृथ्वी से होने वाले दीर्घ तरंग विकिरण से प्राप्त करता है (चित्र – 11.9) ।

पृथ्वी तथा वायुमण्डल के ऊष्मा बजट को सारणी– 11.5 के रूप में व्यक्त किया जा जा सकता

सारिणी– 11.5 : प्रवेशी सौर्यिक विकिरण की मात्रा (Incoming Solar Radiation)

प्रकीर्णन तथा परावर्तन द्वारा क्षय सौर्यिक विकिरण		
(अ) बादलों से परावर्तित	27 प्रतिशत	
(ब) धरातल से परावर्तित	02 प्रतिशत	35 प्रतिशत
(स) शून्य में वायुमण्डल द्वारा प्रकीर्णन (Scattered)	06 प्रतिशत	
शेष सौर्यिक विकिरण की मात्रा		
(अ) पृथ्वी की ऊष्मा–बजट		
1. प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त	34 प्रतिशत	
2. विसरित दिवा प्रकाशसे प्राप्त	17 प्रतिशत	51 प्रतिशत
(ब) वायुमण्डल की ऊष्मा–बजट		
1. प्रवेशी सौर्यिक विकिरण का प्रत्यक्ष अवशोषण	4 प्रतिशत	14 प्रतिशत 65 प्रतिशत
2. बहिर्गामी पार्थिव विकिरण द्वारा प्राप्त	34 प्रतिशत	
योग		**100 प्रतिशत**

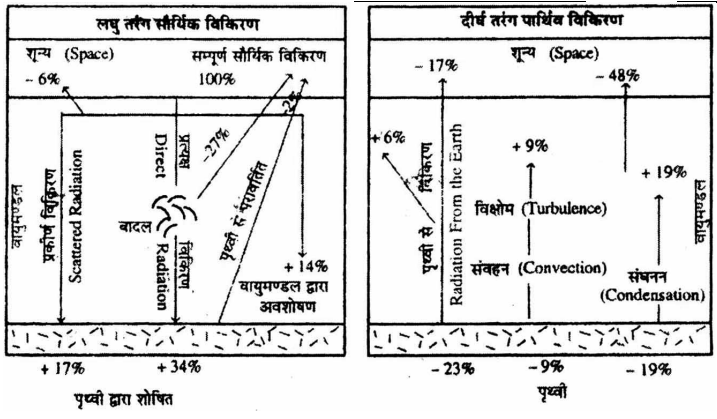

चित्र – 11.9 : पार्थिव तथा वायुमण्डलीय उष्मा का सन्तुलन

ऊष्मा संतुलन (Heat Balance): सूर्य से ऊष्मा प्राप्त करने के पश्चात पृथ्वी भी ऊर्जा का विकिरण करना प्रारम्भ कर देती है ताकि धरातल पर ऊष्मा का लगातार संचयन हो सके । पृथ्वी द्वारा होने वाले विकिरण दीर्घ तरंगों के रूप में होता है । इसी पार्थिव विकिरण (Terrestrial Radiation) से वायुमण्डल का निचला भाग गर्म होता है । पृथ्वी का यह नियम है कि सूर्य से प्राप्त की हुई 51 प्रतिशत ऊर्जा को शून्य तथा वायुमण्डल में किसी –न –किसी प्रकार से वापस कर देता है जिससे वह अपना औसत वार्षिक तापक्रम नियमित रूप से सामान्य रख सके । 23 प्रतिशत भाग का धरातल से दीर्घ तरंगों के रूप में विकिरण हो जाता है इसका 17 प्रतिशत भाग सीधे शून्य में चला जाता है । 6 प्रतिशत भाग प्रभावी विकिरण के रूप में वायुमण्डल को गर्म करता हैं धरातल से 9 प्रतिशत ऊष्मा विक्षोभ (Turbulence) तथा संवहन (Convection) के रूप में खर्च हो जाती है तथा शेष 19 प्रतिशत ऊष्मा वाष्पीकरण में खर्च हो जाता है । इस प्रकार धरातल से 51 प्रतिशत ऊष्मा वापस विकीर्ण हो जाती है, जिस कारण

पृथ्वी की सतह पर प्रवेशी सौर्यिक विकिरण द्वारा प्राप्त ऊष्मा तथा बर्हिगामी पार्थिव विकिरण द्वारा खर्च की गयी ऊष्मा की मात्रायें समान हो जाती है, जिससे धरातल पर ऊष्मा बनी रहती है ।

वायुमण्डल कुल 48 प्रतिशत (14 + 6 + 9 + 19) ऊष्मा प्राप्त करता है, जिसमें से 14 प्रतिशत प्रवेशी सौर्य विकिरण, 6 प्रतिशत प्रभावी विकिरण (Effective Radiation), 9 प्रतिशत विक्षोम तथा संवहन से संघनन की गुप्त ऊष्मा (Latent Heat of Condensation) से प्राप्त करता है । इस प्रकार 48 प्रतिशत ऊर्जा वायुमण्डल द्वारा शून्य में बिखेर दी जाती है। इस प्रकार वायुमण्डल तथा पृथ्वी द्वारा 65 प्रतिशत ऊष्मा का 17 प्रतिशत भाग पृथ्वी से तथा 48 प्रतिशत भाग वायुमण्डल से शून्य में वापस चला जाता है (सारिणी – 11. 6) ।

सारिणी – 11.6 : पार्थिव उष्मा एवं वायुमण्डलीय उष्मा संतुलन

(i) **पार्थिव ऊष्मा संतुलन (Terrestrial Heat Balance)**

प्राप्त ऊष्मा	नष्ट ऊष्मा
51 प्रतिशत	23 प्रतिशत विकिरण द्वारा तथा
	9 प्रतिशतविक्षोम संवहन द्वारा
	19 प्रतिशत वाष्पीकरण द्वारा
	योग : 51 प्रतिशत

(ii) **वायुमण्डलीय ऊष्मा संतुलन**

प्राप्त ऊष्मा	नष्ट ऊष्मा
14 प्रतिशत सौर्यिक विकिरण से	
6 प्रभावी विकिरण से	
9 प्रतिशत विक्षोम तथा संवहन से	योग 48 प्रतिशत
19 प्रतिशत संघनन की गुप्ता ऊष्मा से	शून्य में विकिरण

बोध प्रश्न – 1

1. पृथ्वी तक सूर्यातप किन –किन तरंगों से पृथ्वी तक पहुँचता है? नाम लिखें ।

   ———————————————————————————————

   ———————————————————————————————

2. पृथ्वी का ठण्डा एवम् गर्म होने की कौनसी भौतिक क्रियायें है?

   ———————————————————————————————

   ———————————————————————————————

3. औसत तापमान कैसे निकालते है?

   ———————————————————————————————

   ———————————————————————————————

4. निम्म में से कौनसा कारक सूर्यातप को प्रभावित नहीं करता है?

(अ) अक्षांस (ब) सह तल से से ऊँचाई

(स) ज्वारभाटा (द) समुद्र से दूरी

5. घाटी प्रतिलोमन का कारण बतावें ।

_____

_____

11.4 सारांश (Summary)

पृथ्वी पर तापमान का एकमात्र स्त्रोत सूर्य है । सूर्य से पृथ्वी की ओर मात्र $\frac{1}{2}$ अरबवां हिस्सा ही पृथ्वी की ओर आ पाता है । शेष परावर्तित हो जाता है या प्रकीर्णन हो जाता है या वायुमण्डल द्वारा सोख लिया जाता है या परावर्तन हो जाता है । इसके साथ ही पृथ्वी के हर भाग में समान मात्रा में तापमान नहीं प्राप्त होता । इसीलिए विषुवत रेखा के पास तापमान अधिक पाया जाता है जबकि ध्रुवों की ओर कम पाया जाता है । तापमान के तीन कटिबन्ध उष्ण कटिबन्ध, शीतोष्ण कटिबन्ध एवम् शीत कटिबन्ध प्रमुख है । सूर्यातप दिन में 12 बजे के समीप सबसे अधिक आता है किन्तु वायुमण्डल को गर्म होने में समय लग जाता है । इसलिए अपरान्ह 2.00 बजे अधिकतम तापमान अंकित किया जाता है । इसी प्रकार न्यूनतम तापमान प्रातःकाल 4 से 5 बजे के बीच अंकित किया जाता है । ऊँचाई पर तापमान प्रति 165 मीटर पर 10 सेल्सियस कम हो जाता है । तापक्रम के वितरण में कहीं –कहीं विभेदन भी पाया जाता है जो तापक्रमीय प्रतिलोमन कहलाता है । सूर्याभिताप पृथ्वी के वायुमण्डल में मात्र 48 प्रतिशत ही प्राप्त होता है वह भी कई कारकों पर निर्भर है । तापमान की प्राप्त मात्रा के आधार पर ही आज कहीं बर्फ का साम्राज्य है तो कहीं तापमान की अधिकता के कारण मरूस्थल हैं । ये सभी बातें मनुष्य के जीवन एवम् प्रतिक्रिया को प्रभावित करती है । इसलिए भूगोल में तापमान अध्ययन का विशेष महत्व है ।

11.5 शब्दावली (Glossary)

- **सूर्यातप :** सूर्यातप वह दर है जिससे पृथ्वी की क्षैतीजीय सतह द्वारा प्रत्यक्ष विकिरण उष्मा प्राप्त होती है ।
- **संवहन :** पृथ्वी के वायुमण्डल को या द्रव पदार्थ को गर्म/ठण्डा करने की विधि है या भौतिक क्रिया है जिसमें गर्म पदार्थ / हवा ऊपर जाती है एवम् ठण्डी हवा नीचे आती है ।
- **विकिरण** : वह भौतिक क्रिया जिसमें प्रकाश, ऊर्जा, ताप, सूर्य से सीधा लघु रश्मियों द्वारा धरातल पर फेंक दिया जाता है और पृथ्वी को प्राप्त होता है वह विकिरण विधि कहलाती है।
- **औसत ताप :** अधिकतम एवम् न्यूनतम तापमान को जोड़कर दो का भाग देने पर भागफल औसत ताप कहलाता है ।
- **तापान्तर :** अधिकतम तापमान एवम् न्यूनतम तापमान के अन्तर को तापान्तर कहते है ।

- **प्रतिलोमन :** सामान्य ताप नियमों के विरूद्ध तापमान का पाया जाना तापीय प्रतिलोमन कहलाता है ।
- **समताप रेखा :** धरातल पर समान तापमान वाले स्थानों को मिलाकर खीची जाने वाली की कल्पित रेखाओं को सम ताप रेखायें कहते है ।

11.6 संदर्भ ग्रंथ सूची (Reference Books)

1. शर्मा, एच. रू., शर्मा, एम. एल., मिश्रा, आर. एन. : **भौतिक भूगोल,** पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2007
2. भल्ला, एल. आर : **भौतिक भूगोल**, कुलदीप पब्लिकेशनस, अजमेर, 2004
3. साईवाल, सेह : **भौतिक भूगोल**, 2007
4. सिंह, सविन्द्र : **भौतिक भूगोल,** वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर, 2007

11.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. पृथ्वी तक सूर्यातप, लघु, मध्यम एवम् दीर्घ तरंगों द्वारा प्राप्त होता है ।
2. पृथ्वी के ठण्डा एवम् गर्म होने की संवाहन, संचालन एवम् विकिरण की क्रियायें है ।
3. अधिकतम एवम् न्यूनतम को जोड़कर दो का भाग देने से औसत तापमान आवेगा ।
4. ज्वार भाटा
5. घाटी वायु में आधोमुखी एवम् ऊपरी मुखी संचार के कारण तापमान प्रतिलोमन हो जाता है उसे घाटी तापीय प्रतिलोमन कहते है ।

11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सूर्याभिताप किसे कहते हैं?
2. सूर्याभिताप को प्रभावित करने वाले कारक बताईये ।
3. प्रतिलोमन के प्रकार बताईये ।
4. विश्व में तापीय कटिबंधों की जानकारी दीजिये ।
5. पृथ्वी के उष्मा बजट के बारे में बताइये ।

इकाई12: वायुमंडलीय दाब तथा पवनें; आद्रर्ता एवं वर्षा (Atmospheric Pressure and Wind : Humidity and Rainfall

इकाई की रूपरेखा .

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 वायुमंडलीय दाब

12.2.1 वायुदाब को प्रभावित करने वाले कारक

12.2.2 वायुमंडलीय दाब का वितरण

12.2.2.1 उर्ध्वाधर वितरण.,

12.2.2.2 क्षैतिज वितरण.

12.3 पवन

12.3.1 पवनों को नियंत्रित करने वाले कारक :

12.3.2 पवनों का वर्गीकरण

12.4 वायुमंडलीय आर्द्रता

12.4.1 आर्द्रता का मापन

12.4.2 वायुमंडलीय आर्द्रता के स्रोत.

12.4.3 संघनन के विभिन्न रूप

12.4.4 मेघों का वर्गीकरण

12.5 वर्षण

12.5.1 वर्षण के सिद्धांत .

12.5.2 वर्षा के प्रकार

12.5.3 वृष्टि का वितरण

12.6 सारांश

12.7 शब्दावली

12.8 संदर्भ ग्रंथ

12.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

12.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप समझ सकेगें –

- वायुदाब, पवनें आर्द्रता तथा वर्षण के अर्थ,

- वायुमंडलीय दाब का वितरण तथा वायुदाब को प्रभावित करने वाले कारक,
- पवनों के प्रकार, वायुदाब से उनका संबंध तथा वायुदाब और पवन पेटियों का स्थानान्तरण,
- आर्द्रता को व्यक्त करने की विधियाँ,
- वृष्टि के प्रकार तथा उनका वितरण ।

12.1 प्रस्तावना (Introduction)

इस इकाई में हम वायुमण्डल के चार प्रमुख तत्वों का अध्ययन करेगें । भौगोलिक दृष्टिकोण से वर्षा एवं तापमान जलवायु के दो महत्वपूर्ण तत्व कहे जाते हैं किन्तु वायुदाब परोक्ष रूप से तापमान, वर्षा एवं पवन को बहुत अधिक प्रभावित करता है । पवन या वायुधारा का जन्म वायुदाब के अंतर से ही हो पाता है । वायु के घनत्व उसके तापमान और दबाव में गहरा संबंध होता है । सूर्यातप की मात्रा में कटिंबधीय भिन्नता तथा कुछ अन्य कारक पृथ्वी पर असमान वायु दाब पैदा करते हैं ।वायु में उपलब्ध आर्द्रता की मात्रा भले ही कम हो किन्तु उसके बिना शायद पृथ्वी पर जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती । पवन सम्पूर्ण पृथ्वी पर जल के वितरण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है अन्यथा सारी वर्षा समुद्र के ऊपर ही सीमित रह जाती ।

12.2 वायुमंडलीय दाब (Atmospheric Pressure)

वायु मे भार होता है और इसलिए यह दबाव डालती है । पृथ्वी के चारों ओर फैला वायुमंडल कई प्रकार के गैसों का मिश्रण है और हजारों किलोमीटर की ऊँचाई तक फैला है । धरातल या समुद्र तल पर प्रति वर्ग इकाई क्षेत्रफल (प्रतिवर्ग सेंटीमीटर या इंच आदि) पर इसके ऊपर स्थित वायुमंडल के स्तम्भ (सभी परतों) के भार (दबाव) को वायु कहते है । दाब को हम प्रत्यक्ष रूप से देख या महसूस नहीं कर पाते लेकिन यह हमारे मौसम के परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । पवन, उष्मा और आर्द्रता को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में सहायक होता है, अन्यथा पृथ्वी पर सारी वर्षा सागरों तक ही सिमटी रहती । किन्तु इस पवन का जन्म वायुदाब के अंतर से ही होता है । तापमान में अंतर हवा के घनत्व में परिवर्तन लाता है जिसके कारण वायुदाब में परिवर्तन होता है और हवा में क्षैतिज गति उत्पन्न होती है जिसे पवन कहते है ।

वायुदाब को कई प्रकार से मापा जाता है । जलवायु वैज्ञानिकों द्वारा वायुदाब को मापने के लिए बैरोमीटर का उपयोग किया जाता है । वायुदाब के माप की आधुनिक इकाई मिलीबार (mb) है। एक मिलीबार एक वर्ग सेंटीमीटर पर एक ग्राम भार के बराबर होता है । एक हजार मिलीबार का वायुमंडलीय दबाव एक वर्ग सेंटीमीटर पर 1.053किलोग्राम भार के बराबर होता है (100mb=1.053 kg/cm^2)। दूसरे शब्दों में, 1000 मिलीबार का वायुदाब पारा के 750 मिलीमीटर ऊँचे स्तम्भ के भार के बराबर होता है । समुद्र तल पर औसत वायुदाब 1013.25 मिलीबार या 760 मिलीमीटर के बराबर होता है।

मानचित्र पर वायुमंडलीय दबाव के वितरण को समदाब रेखाओं के माध्यम से दर्शाया जाता है । समदाब रेखा (Isobar) वह काल्पनिक रेखा होती है जो धरातल या समुद्रतल के समान दवाब वाले स्थानों को मिलाते हुए खींची जातीं हैं ।

12.2.1 वायुदाब को प्रभावित करने वाले कारक (Factors affecting air pressure)

पृथ्वी पर सभी जगह वायुदाब एक समान नहीं होता है । यह समय एवं क्षेत्र के अनुरूप बदलता रहता है । तापमान, ऊँचाई और पृथ्वी की घूर्णन गति वायुदाब को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक

(i) वायुदाब पर तापमान का प्रभाव (Impact of Temperature on Air Pressure)

- जब वायु का तापमान बढ़ता है तो वायुदाब में कमी आती है । क्योंकि जब हवा गर्म होती है तो यह फैलती है और हवा के कण दूर–दूर होने लगते है और इनके द्वारा उत्पन्न दबाव अधिक क्षेत्र में विभाजित हो जाता है ।
- जब वायु का तापमान घटता है तो इसके दबाव में वृद्धि होती है क्योंकि जब हवा ठंढी होती है तो यह सिकुड़ती है, तथा इसके कण पास –पास आते है जिससे कणों के द्वारा उत्पन्न दबाव कम क्षेत्र पर पड़ने के कारण दबाव बढ़ जाता है ।
- जब हवा ऊपर से नीचे उतरती है तो धरातल पर वायुदाब मे वृद्धि होती है क्योंकि हवा के कण ऊपर से नीचे आते हुए सघन होते जाते हैं । इस सघनता के कारण कण एक दूसरे से बहुत अधिक टकराते हैं और उष्मा पैदा करते हैं, फलस्वरूप नीचे उतरती हुई हवा के दबाव में वृद्धि के साथ उसके तापमान में भी वृद्धि होती है ।
- जब हवा ऊपर उठती है तो उसके दबाव में कमी आती है क्योंकि इसके कण विरल होते जाते है और कणों के बीच का टकराव बेहद धीमा हो जाता है । हवा के तापमान में कमी के साथ इसके दबाव में भी कमी आती है ।

यदि केवल तापमान ही वायुदाब को प्रभावित करता तो विषुवत रेखा पर सबसे कम तथा ध्रुवों पर सर्वाधिक वायुदाब होता, जो वास्तव में है नहीं । क्योंकि, तापमान के साथ ऊँचाई और पृथ्वी की घूर्णन गति भी वायुदाब को प्रभावित करती है (चित्र– 12.1) ।

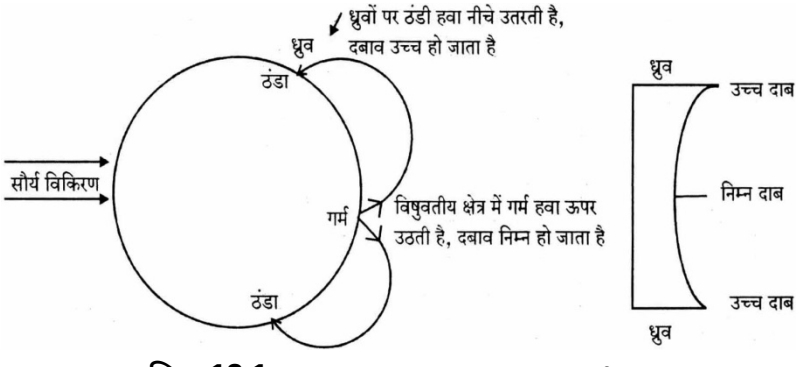

चित्र–12.1 : तापमान का वायुदाब पर प्रभाव

(ii) वायुदाब पर ऊँचाई का प्रभाव (Impact of Altitude on Air Pressure) :

पृथ्वी तल से ऊँचाई बढ़ने के साथ वायुदाब में कमी आती है। यही कारण है कि समुद्रतल पर अधिक वायुदाब तथा किसी पर्वत की चोटी पर कम वायुदाब होता है। समुद्र तल पर प्रतिवर्ग क्षेत्रफल (प्रतिवर्ग सेन्टीमीटर या मीटर) वायुमंडल के सभी परतों का भार पर्वत चोटी की अपेक्षा अधिक होती है इसलिए वहाँ वायुदाब भी अधिक होती है। इसी प्रकार ऊपर से नीचे उतरती हुई हवा के दबाव में वृद्धि होती जाती है क्योंकि हवा के आयतन में तो कमी होती जाती है किन्तु इसमें उपस्थित हवा के कण उतने ही रह जाते हैं जिससे अपेक्षाकृत कम आयतन में हवा के अत्यधिक कणों के द्वारा बाहर की तरफ दबाव पड़ने से वायु दाब मे वृद्धि हो जाती है। जब हवा ऊपर उठती है तो इसके आयतन में वृद्धि होती है फलस्वरूप उसमें उपस्थित हवा के कण अधिक आयतन में फैलने के कारण बाहर की ओर कम दबाव डाल पाते हैं, फलत: कुल दाब में कमी होने लगती है (चित्र– 12.2) ।

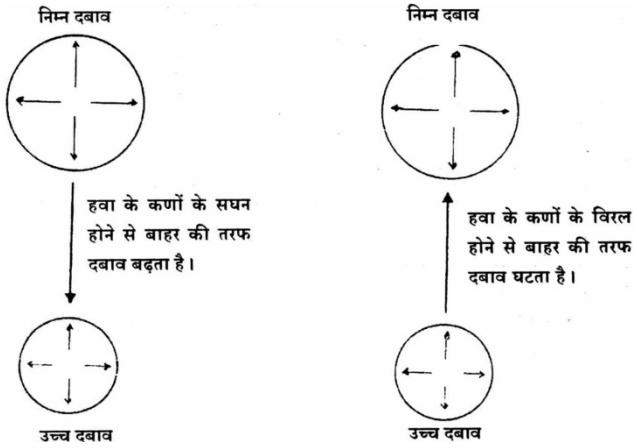

चित्र–12.2 : वायुदाब पर ऊँचाई का प्रभाव

(iii) वायुदाब पर पृथ्वी के घूर्णन गति (गतिक कारक) का प्रभाव (Impact of Earth's Rotation on Air Pressure) :

यदि सिर्फ पृथ्वी के घूर्णन गति का वायुदाब पर प्रभाव देखा जाए तो ध्रुवों पर सापेक्ष विक्षेप बल सर्वाधिक होने के कारण हवाऐं दोनों ध्रुवों से विषुवत रेखा की ओर विक्षेपित होती रहेंगी । जिसके परिणामस्वरूप ध्रुवों पर निम्न दाब तथा विषुवत रेखा पर उच्च दाब की स्थिति रहेगी । किन्तु वास्तविक स्थिति इसके विपरीत है क्योंकि पृथ्वी की धुर्णन गति के अतिरिक्त तापमान भी वायुदाब को बहुत अधिक प्रभावित करती है । पृथ्वी पर वायुदाब की वास्तविक स्थिति को समझने के लिए तापमान तथा पृथ्वी की घूर्णन गति, दोनों ही के प्रभाव का अध्ययन आवश्यक है । ध्रुवों पर बेहद ही कम तापमान के कारण हवा सिकुड़ जाती है तथा उनके घनत्व में वृद्धि हो जाती है जिससे वहाँ उच्च दबाव की स्थिति रहती है । भूमध्यरेखीय क्षेत्रों में अत्यधिक गर्मी के कारण हवा फैलती है उसके घनत्व में कमी आती है तथा अपने स्थान से ऊपर की ओर पलायन करती है जिससे वहाँ निम्न दाब की स्थिति रहती है । विषुवतीय और ध्रुवीय क्षेत्रों की बीच उपोष्ण उच्च वायुदाब और उपध्रुवीय निम्न वायुदाब के दो कटिबंध हैं जिनका निर्माण तापमान के कारण नहीं हुआ है बल्कि पृथ्वी की घूर्णन गति के कारण हुआ है । विषुवतीय निम्न वायुदाब कटिबंध की गर्म हवा ऊपर उठती है और ठण्डी होने लगती है । यह ऊपर

पहुँचकर दोनों ध्रुवों की ओर आगे बढ़ती है तथा और भी ठण्डी होती जाती है । जिससे इनका घनत्व बढ़ता जाता है और ये भारी होती जातीं हैं । दोनों कटिबंधों में 20^0 से 35^0 अक्षांशों के ऊपर पहुँचकर अपने अधिक घनत्व तथा भार के कारण यह नीचे उतरने लगती है । इन अक्षांशों पर धरातल पर उच्चदबाव की पेटियों का निर्माण होता है । इन्ही अक्षांशों पर हवा के नीचे उतरने का दूसरा कारण यह है कि ऊँचाई पर विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर जाती हुई हवा कोरिओलिस बल के कारण पूर्व की ओर विक्षेपित होती हैं तथा 20^0 से 35^0 अक्षांशों की बीच यह इतनी अधिक विक्षेपित हो जाती है कि इनकी दिशा पश्चिम से पूर्व की ओर हो जाती है ये हवाऐं ऊँचाई पर वहीं जमा होती जाती हैं जिससे एक अवरोध पैदा होता है । हवा के घनत्व तथा भार मे वृद्धि का तीसरा कारण यह है कि विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर अक्षांश वृतों के छोटे होने के कारण हवा कम स्थान में संकुचित होती जाती है जिससे इनका घनत्व बढ़ता है और ये नीचे उतरने लगती हैं । ऊँचाई पर हवा के भार में वृद्धि के कारण यह हवा उत्तर में कर्क रेखा तथा 35^0 उ अक्षांश तथा दी क्षण में मकर रेखा तथा 35^0 द. अक्षांश के मध्य उच्च वायुदाब कटिबन्धो का निर्माण करतीं हैं । धरातल पर नीचे उतरने के बाद ये हवायें दो दिशाओं में बढ़ती है एक भूमध्य रेखीय निम्न दाब क्षेत्र की ओर तथा दूसरी उपोष्ण निम्न दाब की ओर। भूमध्य रेखीय निम्न दाब की ओर आने वाली हवा यहाँ से लगातार ऊपर उठने वाली हवाओं की क्षतिपूर्ति करता है और इसी प्रकार ध्रुवों की ओर जाने वाली (धरातलीय) हवा 45^0से 66.30^0 उत्तर तथा दक्षिण मे स्थित निम्न दाब क्षेत्र से ऊपर उठती हुई हवा की क्षतिपूर्ति करता है । संक्षेप में हम कह सकते है कि धरातल पर पवन उच्च दबाव की पेटियों से निम्नदबाव की पेटियों की ओर बहती है । ऊँचाई पर, इसके विपरीत, पवन धरातलीय निम्न दाब पेटी से धरातलीय उच्च दाब पेटी की ओर बहती है (चित्र– 12.3) ।

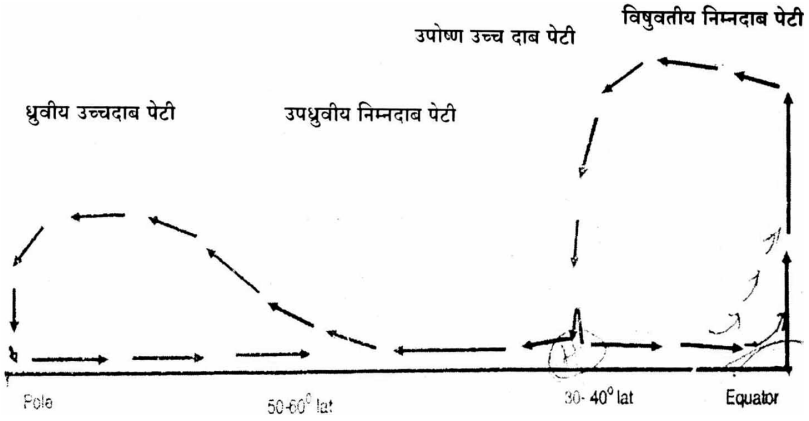

चित्र – 12.3 : वायुदाब संचरण तथा वायुदाब पेटियाँ

12.2.2 वायुमंडलीय दाब का वितरण (Distribution of Air Pressure)

पृथ्वी की सतह समान नहीं हैं –कहीं सागर है तो कहीं स्थल कहीं ऊँचे पहाड़ है तो कहीं गहरी घाटियाँ और समतल मैदान । इसी असमानता के कारण धरातल पर वायुमंडलीय दाब का वितरण भी असमान है । इस असमानता का अध्ययन हम दो भागों मे करेंगे

(i) वायुदाब का ऊर्ध्वाधर वितरण

(ii) वायुदाब का क्षैतिज वितरण

12.2.2.1 वायुदाब का ऊर्ध्वाधर वितरण (Vertical Distribution of Air Pressure)

ऊँचाई के साथ हवा का दाब हमेशा घटता है किन्तु इनके घटने की दर हमेशा एक समान नहीं होती है क्योंकि वायुदाब हवा के घनत्व, तापमान, जलवाष्प की मात्रा त था गुरूत्वाकर्षण शक्ति से प्रभावित होती हैं । ये सभी तत्व मिलकर वायु के लम्बवत (स्तम्भ) भार का निर्धारण करते हैं । चूँकि समय और क्षेत्र के अनुसार उपयुर्क्त सभी तत्व परिवर्तनशील हैं इसलिए ऊँचाई और वायुदाब के बीच कोई सार्वभौम आनुपातिक सबंध नहीं होता । सामान्यत : क्षोभमंडल में वायुदाब घटने की औसत दर प्रति 300 मीटर की ऊँचाई पर लगभग 34 मिलीबार है । तालिका –12.1 औसत, ऊँचाई तथा तापमान के सब ध को स्पष्ट करता है ।

तालिका – 12.1 : वायुदाब, तापमान एवं ऊँचाई

वायुदाब (Mb)	ऊँचाई (m)	तापमान (c.)
1013.25	सागरतल	15.0
898.76	1000	8.5
785.01	2000	2.0
701.01	3000	–4.5
616.0	4000	–11.0
540.48	5000	–17.5
264.00	10,000	–49.9
11.97	30,000	–46.6
0.22	60,000	–26.1
0.0003	1,00,000	–78.1

स्त्रोत : (U.S. Standard Atmosphere, 1976) (Washington DC : NOAA, 1976), PP 53 to 68

उपर्युक्त तालिका वैज्ञानिक गणना, वायुदाब इंजिनियरिंग इत्यादि में "मानक वायुमडंल" के रूप में उपयोग किया जाता है किन्तु, जैसा कि पहले भी बताया गया है कि यह सार्वभौमिक नहीं हो सकता । सागर तल से 5.5 मीटर ऊँचाई पर वायुदाब सागरतल के औसत वायुदाब का) तथा 11 किलोमीटर की ऊँचाई पर (रह जाता है ।

12.2.2.2 वायुदाब का क्षैजित वितरण (Horizontal Distribution of Air Pressure)

पृथ्वी पर विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर वायुमण्डलीय दाब के अक्षांशीय वितरण को वायुदाब का क्षैतिज वितरण कहते है । भूमण्डल पर वायुदाब को प्रभावित करने वाले कारकों की भिन्नता के कारण वायुदाब का वितरण भी विषम है । यदि पृथ्वी को एक ही प्रकार के धरातल से निर्मित

(जल या स्थल) माना जाय तो इस पर मुख्यत : चार वायुदाब पेटियों का निर्माण होगा तथा ये कटिबंध अक्षांशों के समानान्तर होंगे । वायुदाब की इन चार पेटियों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :

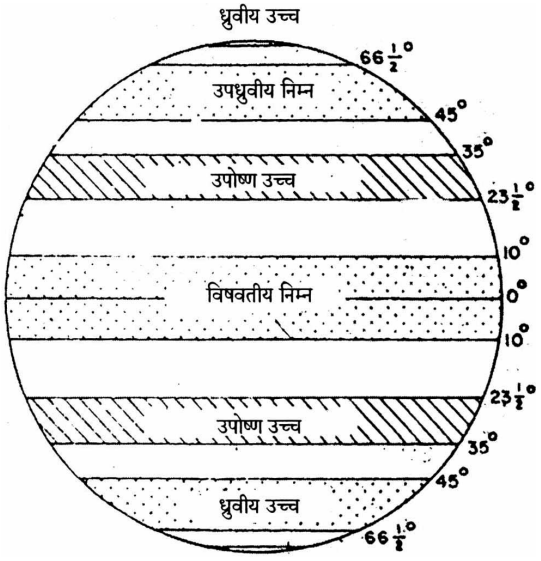

चित्र–12.4 : वायुदाब कटिबन्ध

(A) ताप जनित-
(i) विषुवतीय निम्न दाब की पेटी
(ii) ध्रुवीय उच्च दाब की पेटी
(B) गति जनित -
(iii) उपोष्ण उच्च दाब की पेटी
(iv) उपध्रुवीय निम्न दाब की पेटी

विषुवतीय निम्न दाब की पेटी को छोड़कर शेष तीनों पेटियाँ जोड़े (उत्तरी गोलार्द्ध और दक्षिणी गोलार्द्ध) में हैं । इस प्रकार भूमण्डल पर कुल सात वायुदाब की पेटियाँ बनती है (चित्र–12.4) ।

(i) विषुवतीय निम्न वायुदाब की पेटी (Equatorial Low Pressure Belt) : इसका विस्तार 10^0 उत्तर से 10^0 दक्षिण तक पाया जाता है । यहाँ साल भर अत्यधिक गर्मी पड़ने के कारण धरातल बहुत गर्म हो जाता है और इसके सम्पर्क के कारण वायु गर्म और हल्की होकर संवहनीय धारा के रूप में ऊपर उठती है । वर्षपर्यन्त उच्च तापमान के कारण यहाँ निम्न दबाव की स्थिति बनी रहती है । यहाँ धरातलीय क्षैतिज पवन का अभाव पाया जाता है क्योंकि इस कटिबंध की ओर आने वाली पवन इसकी सीमाओं के समीप पहुँचते ही गर्म होकर ऊपर उठने लगती है और धाराओं (Air Current) में परिणत हो जाती है । यही कारण है कि इस कटिबंध को डोलड्रम या शांत कटिबंध के नाम से भी जाना जाता है। धरातल के 3–4 किलोमीटर ऊपर पवन प्रवाह सक्रिय हो जाता हैं क्योंकि संवहनीय धारायें दो भागों में विभाजित होकर दोनों ध्रुवों की ओर अग्रसर होतीं हैं ।

(ii) ध्रुवीय उक्त दाब की पेटी (Polar High Pressure Belt) यह कटिबंध ध्रुवीय क्षेत्रों (दोनों गोलार्द्ध) के चारों ओर बेहद सीमित स्थान तक फैला है और इसका निर्माण भी तापजनित (Thermal) कारणों से होता है । यहाँ सूर्यातप की कमी के कारण साल भर

तेज सर्दी, हिमपात आदि की स्थिति बनी रहती है । फलस्वरूप इस कटिबंध पर अवस्थित हवा बहुत ठंडी होने के कारण भारी हो जाती है तथा उच्च दबाव की स्थिति वर्ष पर्यन्त बनी रहती है । उच्च दबाव के कारण ध्रुवों से धरातल पर साल भर उपध्रुवीय निम्न वायुदाब क्षेत्र की ओर धरातल पर साल भर ध्रुवीय पूर्वी पवन बहती है तथा उप ध्रुवीय निम्नवायुदाब क्षेत्र से ऊपर उठने वाली हवा ऊँचाई पर ध्रुवों की ओर बहती है तथा ठण्डी होकर ध्रुवों पर नीचे उतरती है ।

(iii) उपोष्ण उच्च वायुदाब पेटी (Temperate High Pressure Belt) : उपोष्ण उच्च वायुदाब की पेटी दोनों गेलार्द्धो में 23^0 से 35^0 अक्षांशों के मध्य पायी जाती है । शीतकाल के महीने छोड़ कर यहाँ साल भर उच्च तापमान पाया जाता है जिससे यहाँ निम्न दाब पेटी का निर्माण होना चाहिए, किन्तु वास्तविकता में ऐसा नहीं है । यहाँ हमेशा उच्चदाब बना रहता है क्योंकि इस पेटी का निर्माण पृथ्वी की घूर्णन गति के कारण होता है । विषुवत रेखीय निम्न दाब कटिबंध से ऊपर उठी हुई हवा इस कटिबंध पर हमेशा नीचे उतरती रहती है जिससे यहाँ हमेशा उच्च दाब की स्थिति बनी रहती है । अत्यधिक क्षीण और परिवर्तनशील पवनों के कारण इस उच्च वायुदाब कटिबंध में, जिसे 'घोड़े का अक्षांश' (Horse Latitude) भी कहते हैं, वायुमंडल बहुत शांत रहता है । प्राचीन काल में जब स्पेन से घोड़े लेकर व्यापारी नई दुनिया (उत्तरी अमेरिका) की ओर चलते थे तो इन अक्षांशों में पवन के न चलने के कारण नाव की गति अत्यंत धीमी हो जाती थी । ऐसे में घोड़े के व्यापारी नाव को हल्का करने के लिए कुछ घोड़ों को समुद्र में फेंक दिया करते थे । इसी कारण से इन अक्षांशों को अश्व अक्षांश कहा जाने लगा ।

(iv) उपध्रुवीय निम्न वायुदाब पेटी (Sub–Polar Low Pressure Belt) : यह कटिबंध दोनों गोलार्द्धो में 45^0 उत्तरी और दक्षिणी अक्षांशों से क्रमश : आर्कटिक और अंटार्कटिक वृत्त तक फैला हुआ है । इस कटिबंध का निर्माण भी गतिक कारकों से हुआ है । उपोष्ण कटिबंध तथा ध्रुवीय क्षेत्रों (उच्च दाब) से आने वाली पवनें क्रमश : 45^0 उत्तरी और दक्षिणी अक्षांशों तथा आर्कटिक और अंटार्कटिक वृत्तों के बीच टकराती है तथा ऊपर उठ जाती है । इन दो विपरीत दिशा तथा विपरीत गुणों (ठंण्डी और गर्म) वाली पवनों के तापमान में अत्यधिक अतर के कारण इस कटिबंध में चक्रवाती आंधियों तथा निम्न वायुदाब की स्थिति बनती है ।

वायुदाब का क्षैतिज वितरण वर्षपर्यन्त समान नहीं रहता । उपर्युक्त सभी कटिबंध सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायण होने तथा जल और स्थल के असमान रूप से गर्म होने के कारणों क्रमश 5^0 उत्तर और 5^0 दक्षिण की ओर खिसक जाती है । उत्तरी गोलार्द्ध में गर्मी के मौसम में तापीय विषुवत रेखा (Thermal equator) या उच्चतम तापमान की रेखा भौगोलिक विषुवत रेखा के उत्तर में अवस्थित होती है । फलस्वरूप वायु दाब कटिबंध अपनी वार्षिक औसत स्थिति से 5^0 उत्तर की ओर खिसक जाती है । सूर्य के दक्षिणायण होने पर तापीय विषुवत रेखा की अवस्थिति भौगोलिक विषुवत रेखा के दक्षिण में होती है जिससे वायुदाब कटिबंध अपनी औसत स्थिति से 5^0 दक्षिण की ओर खिसक जाती है । दक्षिणी गोलार्द्ध में सागर का विस्तार अधिक

होने के कारण कटिबंधों का खिसकाव उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा कम होता है । स्थलीय और सागरीय भागों का वितरण भी वायुदाब के वितरण को प्रभावित करता है । उत्तरी गोलार्द्ध में जाड़े के मौसम में स्थलीय भाग अत्यधिक ठण्डे हो जाते हैं जबकि उन्हीं अक्षांशों के सागरीय भागों का तापमान अपेक्षाकृत अधिक होता है । इस कारण स्थलीय भाग में उच्च वायुदाब तथा सागरीय भाग में निम्न वायुदाब रहता है । उत्तरी गोलार्द्ध के शीत ऋतु के समय दक्षिणी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु होती है और वायुदाब की स्थिति अलग होती है ग्रीष्म ऋतु में स्थानीय भाग पर स्थित वायु अत्यधिक गर्म होकर ऊपर उठ जाती है और वहाँ निम्न दाब की स्थिति बनती है जबकि सागरीय भाग के ऊपर वायु अपेक्षाकृत ठण्डी होती है और वहाँ उच्च वायुदाब विकसित होता है । मौसम के बदलाव के साथ दोनों गोलार्द्धो के स्थलीय और महासागरीय भागों पर वायुदाब की स्थिति विलोम हो जाती है (चित्र–12.5) ।

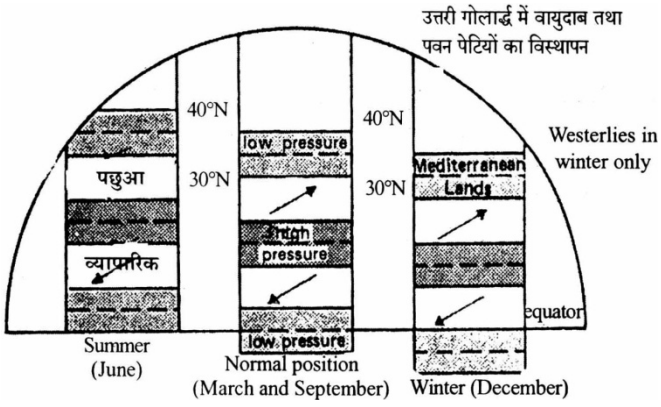

चित्र–12.5 : उत्तरी गोलार्द्ध में वायुदाब तथा पवन पेटियों का विस्थापन

वायुदाब का ऋतुवत वितरण (Seasonal Distribution of Air Pressure)

विश्व के मानचित्र पर वायुदाब के क्षैतिज वितरण को समदाब रेखाओं के माध्यम से दर्शाया जाता है जिस प्रकार दिन और रात तथा ग्रीष्म और शीत ऋतु में तापमान में अंतर होता है, उसी प्रकार वायुदाब में भी दैनिक तथा ऋतुवत अंतर होता है । समदाब रेखा वो कल्पित सममूल्य रेखाऐं होती है, जो समान वायुदाब वाले स्थानों को परस्पर मिलाते हुए खींची जाती है। ग्रीष्म और शीत ऋतु में वायुदाब की स्थिति को स्पष्ट करने की लिए जुलाई तथा जनवरी माह की समदाब रेखाओं का उपयोग किया जाता है । समदाब रेखाओं के बीच परस्पर दूरियाँ वायुदाब में अंतर की दिशा और उसकी दर को अभिव्यक्त करती है । मानचित्र पर जिस दिशा में दाब अधिकतम तेजी से घट रही हो उस दिशा में दूरी की प्रति इकाई पर दाब के घटने की दर को दाब प्रवणता कहते है । (चित्र–12.6) समदाब रेखाऐं यदि बेहद पास–पास हों तो यह तीव्र दाब प्रवणता की द्योतक है जबकि दूर–दूर स्थित समदाब रेखा मंद **दाब प्रवणता** (या मंद दाब का ढाल) की द्योतक होती है ।

जनवरी की समदाब रेखाएँ (Isobars of January)

- जनवरी में उत्तरी गोलार्द्ध में शीत ऋतु होने के कारण स्थलीय भागों में सर्वाधिक वायुदाब (मध्य एशिया–1040mb तथा उत्तरी अमेरिका 1020mb) पायी जाती है ।

- न्यूनतम वायुदाब के क्षेत्र दक्षिणी अमेरिका, दक्षिणी अफ्रिका तथा आस्ट्रेलिया के आतंरिक भागों में विकसित होते हैं क्योंकि दक्षिणी गोलार्द्ध (ग्रीष्म ऋतु) के ये स्थलखण्ड अपने समीपवर्ती महासागरों से अधिक गर्म हो जाते है ।
- दक्षिणी गोलार्द्ध में महासागरों के अधिक विस्तार के कारण समदाब रेखाऐं प्राय : सीधी होती है । जबकि उत्तरी गोलार्द्ध में जल एवं स्थल के विषम वितरण के कारण समदाब रेखाएँ टेढ़ी–मेढ़ी होती है ।
- उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तरी अटलांटिक और उत्तरी प्रशांत महासागरों पर दो प्रधान निम्नवायुदाब क्षेत्र विकसित हो जाते है जिन्हे क्रमश : आइसलैंडिक निम्न वायुदाब तथा एन्यूशिन निम्न वायुदाब के नाम से जाना जाता है ।

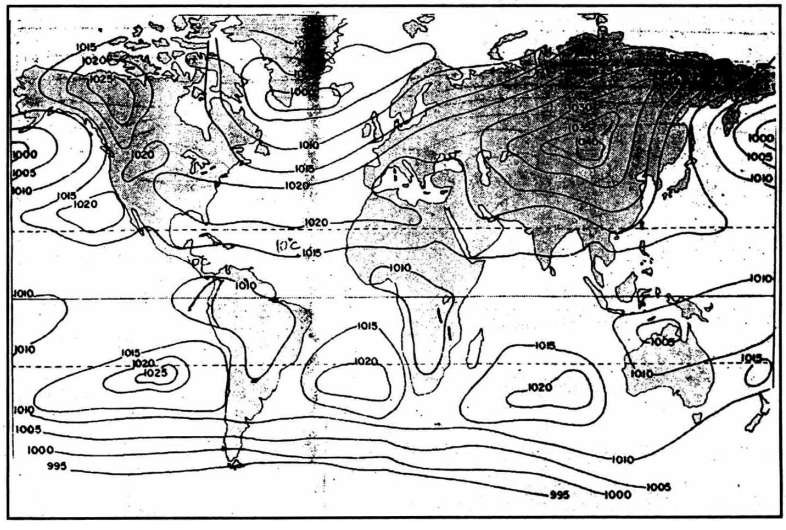

चित्र–12.6 (अ) : वायुदाब का वितरण (जनवरी) (अंक मिलीबार में)

जुलाई की समदाब रेखाऐं (Isobars of July)

- सूर्य के आभासी संचरण के साथ विषुवतीय निम्न वायुदाब कटिबंध उत्तर की ओर खिसक जाता है । यह खिसकाव एशिया महाद्वीप पर सर्वाधिक होता है ।
- उत्तरी गोलार्द्ध (ग्रीष्म ऋतु) में स्थल खण्डों के अत्यधिक गर्म होने के कारण वायुदाब कम पाया जाता है जबकि महासागरों मे अधिक । न्यूनतम वायुदाब पश्चिमोत्तर भारत (995mb) उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी भाग (1010 mb) में पाया जाता है ।
- उत्तरी गोलार्द्ध में अधिकतम वायुदाब हिन्द, प्रशान्त (1025 mb) तथा अटलांटिक (1025 mb) महासागरों में पाया जाता है ।
- दक्षिणी गोलार्द्ध में अधिकतम (1025 mb) तथा न्यूनतम वायुदाब (995 mb) महासागरों में पाया जाता है ।

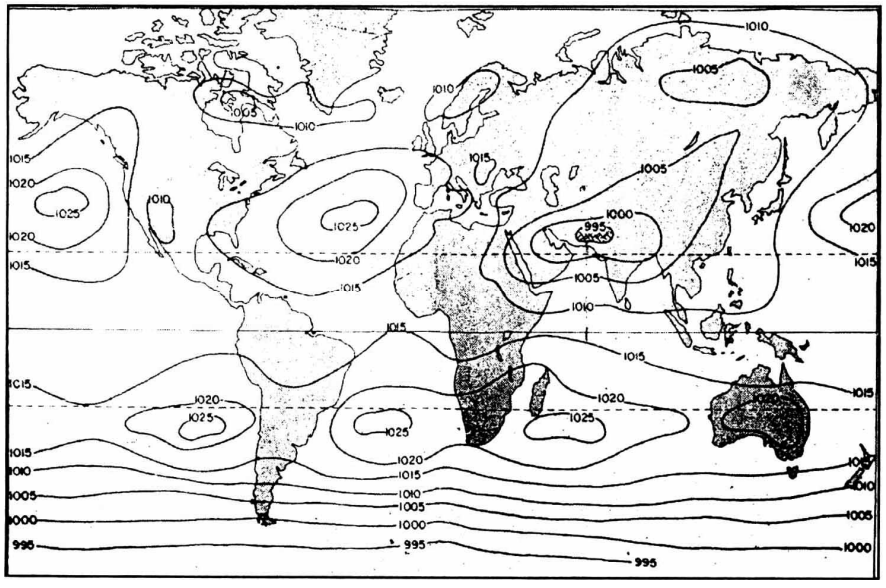

चित्र–12.6 (ब) : वायुदाब का वितरण (जुलाई) अंक मिलीबार में)

12.3 पवन (Winds)

पृथ्वी के विषम धरातल पर सूर्यातप तथा वायुदाब कहीं साल भर अधिक रहता है तो कहीं साल भर कम । किसी विशेष कटिबंध में प्रत्येक दिन सूर्यातप का अधिक मात्रा में आना तथा पार्थिव विकिरण का कम मात्रा में निकलना, उस कटिबंध के तापमान को अनवरत बढ़ाता जाऐगा और कुछ ही समय में तापमान इतना बढ़ जायेगा कि वह कटिबंध अधिक तापमान से पिघलने की स्थिति में आ जाऐगा । किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता क्योंकि, पवन (तथा जलधाराऐं) तापमान तथा दबाव की विषमताओं को संतुलित (अधिक से कम की ओर) करता रहता है । पवन न सिर्फ तापमान की विसंगतियों को दूर करता है बल्कि यह वर्षण को पूरे विश्व में पुनर्वितरित भी करता है । यदि पवन नहीं हो तो वर्षा की कल्पना मुश्किल है । दूसरे शब्दों में पवन उष्मा, दबाव, वर्षण आदि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर (अधिक से कम) ले जाने का काम करता है और एक यातायात एजेंट की भूमिका निभाता है ।

हवा के क्षैतिज संचरण को पवन कहते हैं तथा उर्ध्वाधर दिशा में गतिमान हवा को वायुधारा (Air Currents) कहते है । बायर्स के अनुसार – पवन मात्र गतिशील वायु है जिसका मापन उसके क्षैतिज घटक में किया जाता है । **ट्रिवार्था** के अनुसार, पवन ऐसी गतिशील वायु है जिसकी दिशा अनिवार्य रूप से पृथ्वी तल के समानान्तर होती है ।

12.3.1 पवनों को नियंत्रित करने वाले कारक (Factors Affecting Winds)

पवन की गति और उसकी दिशा कई कारकों से प्रभावित होती है जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(i) दाब प्रवणता (Pressure gradient) :

किन्ही दो स्थानों के बीच वायुदाब के अन्तर को दाब प्रवणता कहते हैं । दूसरे शब्दों में, जिस दिशा में दाब अधिकतम तेजी से घट रहा हो उस दिशा में दूरी की प्रति इकाई पर दाब के घटने

की दर को दाब प्रवणता कहते हैं । समदाब रेखाओं का पास–पास होना तीव्र दाब प्रवणता तथा दूर–दूर होना मंद दाब प्रवणता को दर्शाता है । पवन हमेशा उच्च वायुदाब से निम्न वायुदाब की ओर चलती है तथा दाब प्रवणता की दिशा का (उच्च से निम्न) अनुसरण करती है । पवन की गति दाब प्रवणता की तीव्रता पर निर्भर करती है ।

(ii) पृथ्वी की घूर्णन शक्ति (Rotational force of earth) :

यदि पृथ्वी में घूर्णन गति नहीं होती तो पवन ध्रुवीय उच्च दाब से विषुवतीय निम्नदाब की ओर समदाब रेखाओं से समकोण बनाते हुए बहती । किन्तु पृथ्वी के घूर्णन गति (अक्षीय गति) के कारण पवन अपनी मूल दिशा से विक्षेपित हो जाती है । फ्रांसीसी गणितज्ञ **जी.जी. कोरियोलिस** (1792–1843) ने पृथ्वी की घूर्णन गति के कारण पवन में होने वाले विक्षेपण (Deflection) की सर्वप्रथम व्याख्या की और इसलिए इस बल को **"कोरियोलिस प्रभाव"** के नाम से जाना जाता है । इस प्रभाव के कारण उत्तरी गोलार्द्ध के पवन अपनी दाहिनी ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध के पवन अपनी बायीं ओर विक्षेपित हो जाते हैं । यह प्रभाव विषुवत रेखा पर सबसे कम तथा ध्रुवों पर सर्वाधिक होता है । पवन का विक्षेपित होना पवन की गति और उसके अक्षांशीय स्थिति पर निर्भर करता है । इस विक्षेप को फेरल नामक विद्वान ने सिद्ध किया इसलिए इसे **फेरल का नियम** कहा जाता है । **बाइज बैलट (Buys Ballot)** ने भी इस विक्षेप को स्पष्ट करते हुए बताया कि पवन जिस ओर से आ रही हो उस ओर पीठ करके खड़े होने पर उत्तरी गोलार्द्ध में पीठ की दाहिनी ओर उच्च दबाब तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में बायीं ओर उच्च दबाव होगा । विक्षेपक बल वायु की गति में आने के बाद ही कार्य करती है तथा वायु की गति में वृद्धि के साथ इस बल की तीव्रता में भी वृद्धि हो जाती है । कॉरियोलिस प्रभाव न सिर्फ पवन को विक्षेपित करता है बल्कि पृथ्वी की सतह से ऊपर स्थित किसी भी गतिशील वस्तु या कण का विक्षेपण इसी नियम के अंतर्गत होता है ।

1. उत्तरी ध्रुव से न्यूयार्क शहर की ओर 1.6 किलोमीटर / सेकेण्ड की गति से छोड़ी गई मिसाइल शिकागो शहर पर गिरेगी ।
2. 750 मीटर प्रति सेकेण्ड की रफ्तार से दागा गया तोप का गोला प्रत्येक 33 किलोमीटर पर 60 मीटर विक्षेपित हो जाता है ।
3. 120 मीटर प्रति सेकेण्ड की गति से निकली हुई बंदूक की गोली एक सेकेण्ड में 2.5 मीटर विक्षेपित हो जाती है ।

(iii) घर्षण (Friction)

कॉरियोलिस बल की तरह घर्षण बल भी गतिमान पवन पर प्रभाव डालता है । धरातल की विषमताओं के कारण उत्पन्न यह बल पवन की गति के विपरीत काम करता है । तथा पवन की गति और दिशा को प्रभावित करता है पृथ्वीतल से 500 मीटर तक की ऊँचाई पर धरातलीय विषमताओं (पहाड़, पठार, मैदान, महासागर आदि के कारण घर्षण अत्यधिक होता है और पवन की गति काफी कम हो जाती है और पवन उच्च दाब से निम्न दाब की ओर सीधी न चलकर विक्षेपित हो जाती है ।

(iv) भूविक्षेपी पवनें (Geostropic wind)

पृथ्वी के विषम धरातल के ऊपर (3000 मीटर से ऊपर) धरातलीय घर्षण का प्रभाव शून्य या अत्यंत कम हो जाता है इसलिए पवन का संतुलन दबाव शक्ति त था घूर्णन शक्ति के मध्य होता है । इस सतुलन शक्ति को भूविक्षेपी शक्ति (Geostropic force) कहते हैं । इस कारण पवन समदाब रेखाओं के समानान्तर चलने लगती है, जिन्हें भूविक्षेपी पवन कहते है ।

12.3.2 पवनों का वर्गीकरण (Clasification of Wind)

पवनों को मुख्यत : दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है :

(i) **निश्चित पवन (Invariable Wind) :** इन्हें प्राथमिक पवन, प्रचलित पवन (Prevailing Wind) स्थायी या सनातनी पवन (Permanent Wind) या ग्रहीय या भूमण्डीय पवन (Planetary Wind) के नाम से भी जाना जाता है । ये पवनें अक्षांशीय उच्च वायुदाब कटिबंध से निम्न वायुदाब कटिबन्ध वर्षपर्यन्त बहती है ।

(ii) **अनिश्चित पवन (Variable Wind) :** इन पवनों के चलने का क्रम अनिश्चित या मौसमी होता है । इस श्रेणी में सामयिक पवन (Periodical wind) तथा स्थानीय पवन (Local Wind) आते हैं । सामयिक पवन या द्वितीयक पवन (Secondary Winds) मौसम के अनुसार अपनी दिशा बदल लेते हैं । जैसे–मानसून कुछ पवन अपेक्षाकृत सीमित क्षेत्र में बहते है जिनके कुछ विशेष गुण होते हैं स्थानीय पवन (Local wind) या तृतीयक पवन (Tertiary wind) कहलाते है । जैसे जल और स्थल समीर, चिनुक फोन आदि । इनका नाम साधारणत : स्थानीय भाषाओं पर आधारित होता है ।

(i) **प्रचलित या भूण्डलीय पवन (Prevailling or Planetary Wind)**

भूमण्डल पर उच्च तथा निम्न दाब की पेटियाँ लगभग स्थायी होती हैं, सिर्फ ऋतु के अनुसार इन पेटियों का खिसकाव उत्तर या दक्षिण की तरफ होता है । इन स्थायी उच्च वायुदाब की पेटियों से निम्नवायुदाब की पेटियों की ओर चलने वाली पवनें भूमण्डलीय, स्थायी, सनातनी, प्रचलित, ग्रहीय पवन आदि के नाम से जाना जाता है । व्यापारिक पवन, पछुआ पवन तथा ध्रुवीय पवन तीन प्रमुख प्रचलित पवनें

(A) व्यापारिक पवनें (Trade Wind)

व्यापारिक पवन अंग्रेजी भाषा ट्रेड विंड का हिन्दी रूपान्तरण है जो मूलत: जर्मन भाषा के ट्रेड से बना है और जिसका अर्थ होता है 'निर्दिष्ट पथ' । यह पवन एक निर्दिष्ट पथ पर एक ही दिशा में बहने वाली पवन है । ये पवनें उपोष्ण उच्च वायुदाब कटिबंधों (30^0 उत्तरी तथा 30 दक्षिणी अक्षांश) से विषुवतीय निम्न वायुदाब कटिबंध की ओर दोनों गोलार्द्धो में वर्षपर्यन्त बहती हैं । यह पवन उत्तरी गोलार्द्ध में **उत्तर पूर्वी व्यापारिक पवन** तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में **दक्षिण पूर्वी व्यापारिक पवन** के नाम से जाना जाता है (चित्र–12.7) । ये पवनें कोरियोलिस बल या फेरेल के नियम के अनुरूप उत्तरी गोलार्द्ध में अपनी दायीं ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में अपनी बायीं और विक्षेपित हो जाती हैं जिस कारण इनकी दिशा क्रमश: उत्तर पूर्वी और दक्षिणी पूर्वी हो जाती है । इन पवनों के गुण उपोष्ण और भूमध्यरेखीय प्रदेशों में अलग–अलग होती है ।

उपोष्ण कटिबंधों में वायु के लगातार, अवतलन के कारण ये शुष्क होतीं हैं, यहाँ प्रतिचक्रवतीय स्थिति पाई जाती है तथा वायुमंडल में स्थिरता पाई जाती है । ये पवनें भूमध्यरेखा की ओर आते समय महासागरों से आर्द्रता ग्रहण करती हैं और भूमध्यरेखीय क्षेत्रों में यह अति आर्द्र हो जाती हैं, वर्षा कराती हैं तथा वायुमण्डल में अस्थिरता पैदा करतीं हैं । महासागरों के पूर्वी भागों में ठण्डी समुद्री धाराओं के सम्पर्क के कारण ये अधिक शुष्क होती हैं । शीतकाल में स्थलीय भागों में ये अधिक सुदृढ तथा व्यवस्थित हो जाती हैं अन्यथा स्थल की अपेक्षा सागरों पर इनकी स्थिति अधिक सुदृढ होती है । दोनों गोलार्द्धों के उपोष्ण उच्च दाब से आने वाली व्यापारिक पवनें विषुवत रेखा पर पहुँचने के पूर्व ही संवहनीय धाराओं में बदलती हुई ऊपर उठने लगती हैं और घनघोर वर्षा कराती हैं ।

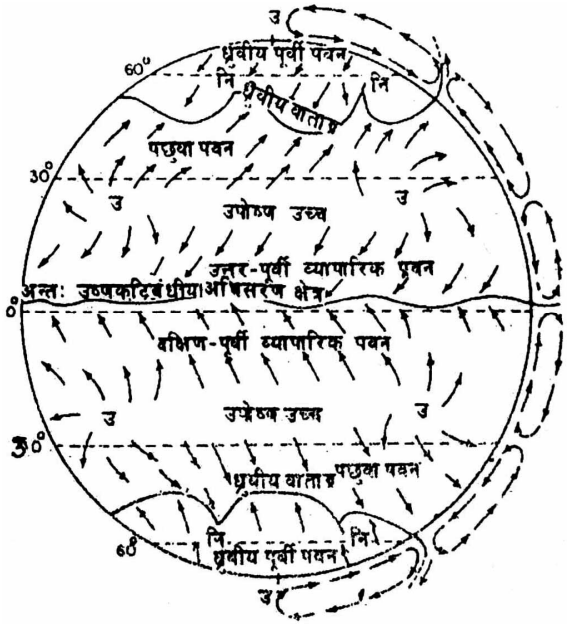

चित्र–12.7 : प्रचलित पवन

(B) पछुआ पवन (Westerlies)

दोनों गोलार्द्धों में उपोष्ण उच्च वायुदाब कटिबंध (30^0 उत्तर तथा 30^0 दक्षिण अक्षांश) से उपध्रुवीय निम्न वायुदाब कटिबंध (60^0 उत्तर और 60^0 दक्षिण अक्षांश) की ओर चलने वाली पवन को पछुआ पवन कहते है । उत्तरी गोलार्द्ध में ये दक्षिण पश्चिम से उत्तर पूर्व की ओर तथा उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तर–पश्चिम से दक्षिण पूर्व की ओर बहती है । ये पवनें अत्यधिक प्रचण्ड होती हैं तथा चक्रवात और प्रतिचक्रवात की उत्पत्ति में सहायक होती हैं । महासागरों के ऊपर से गुजरते हुए ये आर्द्र हो जाती हैं तथा अपने अक्षांशों पर महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में वर्षा कराती हैं । भूमध्यसागरीय तुल्य जलवायु वाले क्षेत्रों में शीत ऋतु में वर्षा कराने में इन्हीं पवनों का योगदान होता है । दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थल की कमी तथा सागरों की व्यापकता के कारण ये तूफानी रूप ले लेती हैं । इनकी प्रचण्डता के कारंण दक्षिणी गोलार्द्ध में इन्हें 40^0 से 50^0 दक्षिणी अक्षांशों के पास **गरजता चालीसा (Roaring Forties)** 50^0 दक्षिणी अक्षांश के पास **भयंकर पचासा (Furious Fifties)** तथा 60^0 दक्षिण अक्षांश के पास **चिखती साठा**

(Shrieking Sixties) के नाम से जाना जाता है । ये गर्म तथा आर्द्र पछुआ हवाऐं ध्रुवीय ठण्डी हवाओं से जहाँ मिलती हैं वहाँ शीतोष्ण वाताग्र का निर्माण होता है । ध्रुवों की ओर पछुआ पवन की सीमा बेहद ही अस्थिर होती है तथा मौसम के अनुसार परिवर्तित होती रहती है।

(C) ध्रुवीय पवने (Polar Winds)

दोनों ध्रुवों पर बहुत अधिक ठंड के कारण वहाँ साल भर उच्च दबाव की स्थिति बनी रहती है । इन ध्रुवों से उपध्रुवीय निम्न वायुदाब की ओर उत्तरी गोलार्द्ध में **उत्तरी–पूर्वी ध्रुवीय पवन** तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में **दक्षिणी–पूर्वी ध्रुवीय पवन** बहती है । ग्रीष्म ऋतु में वायुदाब की पेटियों के खिसक जाने के कारण इनका क्षेत्र सकुंचित हो जाता है जबकि शीतऋतु में इनका क्षेत्र विस्तृत हो जाता है । ये बहुत ठण्डी और भारी होती हैं तथा बहुत कम तापमान वाले क्षेत्रों से अधिक तापमान वाले क्षेत्रों की ओर चलने के कारण शुष्क होती हैं । उपध्रुवीय निम्न वायुदाब कटिबंध में जब पछुआ पवन ध्रुवीय पवन से टकराते हैं तो पछुआ पवन के ध्रुवीय वाताग्र पर शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवातों की उत्पत्ति होती है । ये चक्रवात उस कटिबंध मे व्यापक वर्षा तथा परिवर्तनशील मौसम के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी हैं । इन चक्रवातों की उत्पति में ध्रुवीय पवन का भी योगदान होता है ।

सामयिक पवने (Periodic Winds)

कुछ पवन समय या मौसम के अनुरूप अपनी दिशा और गुणों को बदल लेते हैं जिन्हें **सामयिक पवन** कहा जाता है। मानसुनी पवन, स्थल समीर, जल समीर, पर्वत समीर, घाटी समीर आदि सामयिक पवनों की श्रेणी में आते हैं।

पर्वत समीर और घाटी समीर (Mountain Breez and Valley Breez)

पर्वतों और घाटियों में दिन और रात के तापमान में परिवर्तन के कारण वायुदाब में भी परिवर्तन आता है जिसके फलस्वरूप इन क्षेत्रों में दैनिक समीर बहती है । दिन के समय पर्वत ढाल घाटी तल की अपेक्षा अधिक गर्म हो जाती है जिससे घाटी तल में उच्च दबाव तथा पर्वत ढाल पर निम्न दबाव हो जाती है और समीर घाटी से पर्वत की ओर चलने लगती है जिसे घाटी समीर (Valley Breeze) के नाम से जाना जाता है । रात्रि में पर्वतीय ढालों से भौमिक विकिरण काफी तेजी से होता है जिससे ये तेजी से ठण्डी हो जाती हैं, वायुदाब बढ़ जाता है तथा पर्वत ढाल से नीचे घाटी की ओर समीर बहने लगती है जिसे पर्वत समीर (Mountain Breez) कहते हैं (चित्र–12.8)

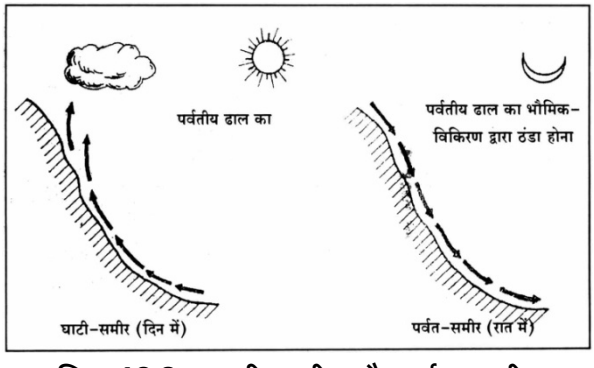

चित्र–12.8 : घाटी–समीर और पर्वत–समीर

स्थल समीर और सागर समीर (Land Breez and Sea Breez)

दिन के समय में सागर की अपेक्षा तटवर्ती स्थलीय भाग अधिक गर्म हो जाते हैं जिससे वहाँ निम्न दबाव की स्थिति पैदा हो जाती है । सागरीय भाग के अपेक्षाकृत ठण्डा रहने के कारण वहाँ उच्च वायुदाब विकसित होती है तथा सागर से स्थल की ओर धरातल पर ठण्डी समीर बहने लगती है जिसे **सागर समीर (Sea Breez)** कहते हैं । रात के समय स्थलीय भाग तेजी से भौमिक विकिरण के कारण समुद्र की अपेक्षा अधिक ठण्डे हो जाते है जिससे स्थलीय भाग पर उच्च वायुदाब तथा सह तल पर निम्न वायुदाब विकसित होता है । समुद्र के निम्न दाब को भरने के लिए स्थल से सह की तरफ पवन का बहना शुरू हो जाता है जिसे **स्थल समीर (Land Breez)** कहते हैं । स्थल समीर और सह समीर तटवर्ती भागों के तापांतर को कम करता है ।

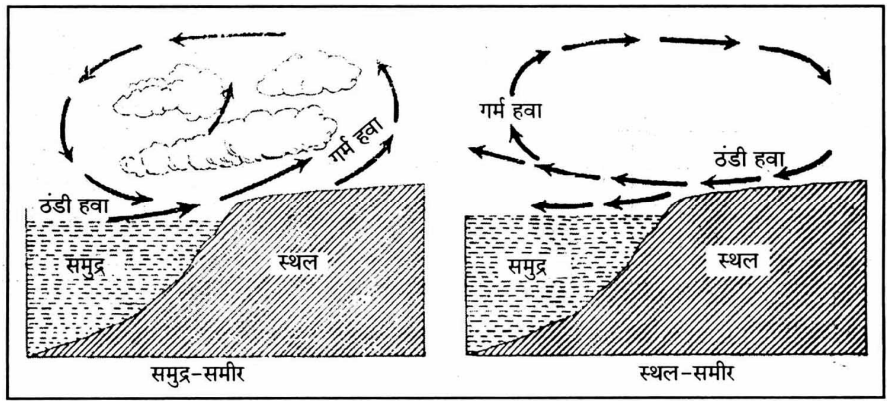

चित्र–12.9 : समुद्र–समीर और स्थल–समीर

मानसून (Monsoon)

मानसून एक ऐसा पवनतंत्र है जिसमें मौसम के अनुसार पवन की दिशा पूरी तरह उलट जाती है। 1686 में **हैली** नामक विद्वान ने मानसून की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए बताया था कि यह व्यापक स्तर पर स्थल समुद्र समीर ही है (तापीय संकल्पना)। इस संकल्पना के समर्थक कोपेन, मिलर, बायर इत्यादि कई विद्वान थे । किन्तु मानसून की यह साधारण व्याख्या अपूर्ण है । 1951 में **फ्लोन नामक** विद्वान ने बताया कि यह भूमंण्डलीय पवन तंत्र का ही रूपान्तरण है जो सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायण होने के कारण होता है । बाद में कई विद्वानों ने इस संकल्पना के साथ अन्य तथ्यों को भी जोड़ा । निष्कर्षत कहा जा सकता है कि एशिया महाद्वीप का मानसूनी तत्र नीचे धरातल पर और ऊपर क्षोभ मंडल के ऊपरी संस्तर में भूंमडलीय और क्षेत्रीय कारकों की पारस्परिक क्रिया का ही परिणाम हैं इन कारकों में क्षोभ मंडल के ऊपर बहने वाली जेट स्ट्रीम (ग्रीष्म ऋतु में पूर्व की और से आने वाली **जेट स्ट्रीम** तथा शीत ऋतु में पश्चिम से पूर्व की ओर चलने वाली जेट स्ट्रीम) ग्रीष्म ऋतु में बंगाल की खड़ी तथा अरब । अरब सागर में उत्पन्न होने वाले **अवदाब (depressions),** तिब्बत के पठार के ऊपर **प्रतिचक्रवतीय स्थिति, अल नीनों जलधारा** का अत्यधिक विकास आदि महत्वपूर्ण है ।

उत्तरी गोलार्द्ध मे ग्रीष्मकाल में स्थलीय भागों के अत्यधिक गर्म हो जाने के कारण उत्तरी–पश्चिमी भारत तथा बैकाल झील के पास न्यून वायुदाब क्षेत्र बन जाता है । इसके विपरीत

दक्षिणी गोलार्द्ध में शीतकाल के कारण दक्षिणी हिन्द महासागर तथा उत्तरी पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया के पास उच्च दाब विकसित हो जाता है । इस तरह से उच्च दाब वाले स्थानों से निम्न दाब वाले स्थलीय भागों की ओर हवाऐं चलने लगती हैं । महासागरों से गुजरते हुए ये नमी से भर जाती है और वर्षा कराती है । इन हवाओं को **दक्षिणी पश्चिमी मानसून** के नाम से जाना जाता है ।

उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु की समाप्ति और शीत ऋतु के आगमन के साथ वायुदाब की स्थिति उलट जाती है । स्थलीय भागों में उच्च दबाव तथा महासागरीय भागों में निम्न दबाव विकसित होने लगती है जिससे भारतीय उपमहाद्वीप के स्थलीय भाग से हवाऐं महासागर की ओर चलने लगती हैं । ये हवाऐं लौटती हुई **मानसून या उत्तरी पूर्वी मानसून** के नाम से जानी जाती है (चित्र–12.10) । तमिलनाडू तट पर तथा चीन, जापान आदि पूर्वी एशियाई देशों में ग्रीष्मकालीन मानसून की अपेक्षा शीतकालीन मानसून से अधिक वर्षा होती है । स्थलीय और सागरीय भागों के वायुदाब का अंतर मानसून की उत्पत्ति का इकलौता कारक नहीं है । बल्कि जेट स्ट्रीम, पश्चिमी विक्षोभ बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर में विकसित होने वाले ग्रीष्मकालीन अवदाब, तिब्बत के पठार के ऊपर वायुमडल में उत्पन्न होने वाले प्रतिचक्रवात, भूमंडलीय जलवायु को प्रभावित करने वाले कारक (अल नीनो, साउदर्न ऑसिलेशन) भी मानसून की उत्पत्ति और विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं ।

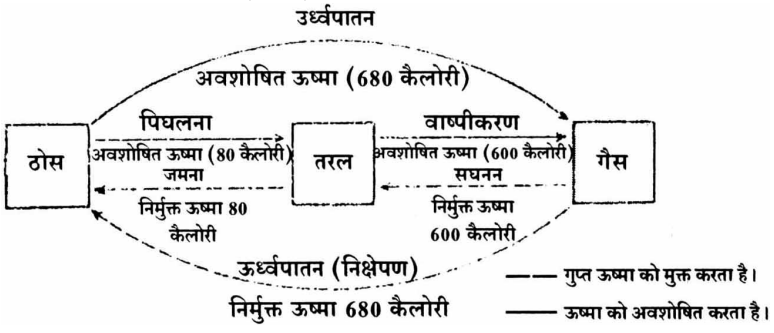

चित्र–12.10 : अवस्था का परिवर्तन

बोध प्रश्न – 1

1. कौन सी दो वायुदाब की पेटियाँ पृथ्वी के घूर्णन गति को कारण बनती हैं?

   _____

   _____

2. समदाब रेखाऐं किसे कहते हैं?

   _____

   _____

3. डोलइम (शांत कटिबंध) क्या होता है?

   _____

   _____

4. किन अक्षांशों को अश्व अक्षांश कहा जाता है?

_____

_____

5. वायुदाब की पेटियाँ उत्तर या दक्षिण की ओर क्यों खिसकती हैं?

_____

_____

6. मिलीबार क्या होता है?

_____

_____

7. पवन तथा वायुधारा में क्या अतंर है?

_____

_____

8. किन्हीं दो गर्म स्थानीय पवनों के नाम बताऐं ।

_____

_____

9. स्थलीय समीर तथा सागरीय समीर में अतंर बताऐं ।

_____

_____

स्थानीय पवन (Local Wind)

स्थानीय तापमान और दबाव के अतंर के कारण, स्थानीय पवन (Local Winds) का विकास होता है । ये हवायें किसी स्थान विशेष पर वहाँ पर चलने वाली प्रचलित पवन के विपरीत दिशा में चलती है । ये पवने छोटे स्थान तक सीमित होती हैं तथा इनकी ऊँचाई अधिक नहीं होती है। कुछ प्रमुख स्थानीय पवनें निम्नलिखित है :

फोन तथा चिनूक (Fohn and Chinook)

आलप्स पर्वत (यूरोप) की शुष्क और गर्म पवन फोन है जबकि रॉकी पर्वत श्रेणी (संयुक्त राज्य अमेरिका) की शुष्क और गर्म हवा को चिनुक के नाम से जाना जाता है । ये दोनों ही पवनें पर्वतों को पार करती हैं तथा पर्वत ढाल से नीचे उतरते समय तेजी से गर्म होती जाती हैं । नीचे उतरती हुई हवा के आयतन में कमी (वायुदाब के बढ़ने के कारण) होती जाती है परन्तु उनमें विद्यमान ऊष्मा की मात्रा उतनी ही रह जाती है जिससे प्रति वर्ग इकाई आयतन में उपलब्ध ऊष्मा की मात्रा में बढ़ोतरी होती जाती है । पर्वतों से नीचे उतरने के बाद ये पवनें काफी गर्म हो जाती हैं । रॉकी पर्वत के पूर्वी ढाल से नीचे उतरने के बाद चिनूक के कारण 24 घंटे में 40^0F । तक तापमान में वृद्धि हो जाती है । इस पवन के कारण नीचे मैदान के बर्फ पिघलने लगते है जिससे चारागाह फिर से हरा भरा होने लगता है । चिनूँ शब्द का अर्थ होता है हिमभक्षी, जो स्थानीय आदिवासी रेड इंडियन्स की भाषा का शब्द है । फोन भी आल्पस पर्वत

से नीचे उतरकर बेहद गर्म पवन हो जाती है । इस पवन के कारण आल्पस पर्वत के दक्षिणी भागों में चारागाह बर्फमुक्त हो जाता है तथा मह पकने लगती है ।

लू (Loo)

उत्तरी भारत और पाकिस्तान में मई, जून और जुलाई के महीने में बहने वाली अत्यंत शुष्क और गर्म हवा को लू कहते हैं । यह पश्चिम दिशा से बहती है तथा इसके चपेट में आने वाले लोगों में से बहुतों की मृत्यु तक हो जाती है । 45^0 से 50^0 सेल्सियस तक तापमान वाली इस हवा के कारण उत्तरी भारत में पूरे दो महीनें के लिए स्कूल, कॉलेज बंद कर दिये जाते हैं तथा दफ्तरों के समय में भी कई राज्यों मे बदलाव कर दिया जाता है ।

हरमटन (Hermattan)

यह अफ्रीका के सहारा मरूस्थल से उ.पू. तथा पूर्वी दिशा से पश्चिम की ओर चलने वाली तेज, धूलयुक्त, गर्म तथा शुष्क हवा है । स्थानीय भाषा (गिनी तट) के इस शब्द का अर्थ होता है डाक्टर । गिनी तट पर अत्यंत उष्ण और आर्द्र जलवायु के कारण लोग बीमार होने लगते हैं किन्तु इस शुष्क हवा के आगमन पर लोग ठीक होने लगते हैं ।

हरमटन की तरह ही सहारा से उत्तर की ओर चलने वाली कई अन्य धूलयुक्त, गर्म हवाऐं हैं जिनमें खमसिन (मिस्त्र) सिरोको (उत्तरी अफ्रीका) चिली (तुनिसीया) लेवेचे (स्पेन) ब्रीकफील्डर (विक्टोरिया, ऑस्ट्रेलिया) प्रमुख हैं । ये सभी स्थानीय गर्म पवनें अवदाबों से जूड़ी होती हैं तथा अवदाबों (चक्रवातों) के साथ दूर–दूर तक जाती हैं ।

मिस्ट्रल (Mistral)

यह फ्रांस तथा स्पेन में शीत ऋतु में चलने वाली अत्यंत ठण्डी और शुष्क हवा है । यह पवन आल्पस पर्वत से भूमध्यसागर की ओर रोन नदी घाटी में बहती है। इस पवन के बहने से स्थानीय तापमान शून्य से भी नीचे पहुंच जाता है । औसत 60 कि.मी. प्रति घंटे गति से चलने वाली इस पवन कि गति कभी कभी 120 कि.मी. प्रति घंटे तक भी पहुँच जाती है । एड्रियाटिक सागर में चलने वाली ऐसी ही **ठण्डी और शुष्क हवा बोरा** कहलाती है । दक्षिणी गोलार्द्ध में अर्जेन्टीना में बहने वाली **पम्पेरो** तथा न्यू साउथवेल्स, (ऑस्ट्रेलिया) में बहने वाली **साउदरलि बर्स्टर** भी अत्यंत ठंडी स्थानीय पवनों के उदाहरण हैं ।

12.4 वायुमंडलीय आर्द्रता (Atmospheric Humidity)

वायुमंडल मे उपस्थित अदृश्य जलवाष्प की मात्रा को आर्द्रता कहते हैं । वायुमंडल में जलवाष्प की मात्रा स्थान और समय के साथ बदलती रहती है । हालांकि वायुमंडल में इसका अनुपात कम ही होता है (0%से 5% तक), परन्तु यह मौसम और जलवायु के दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण होता है । यह पार्थिव विकिरण को अवशोषित करता है और इस तरह उष्मा विकिरण का सक्रिय नियंत्रक होता है । हवा में मौजूद जलवाष्प की मात्रा तूफान के विकास के लिए वायुमंडल में संचित गुप्त ऊर्जा की मात्रा को निर्धारित करती है । वृष्टि के लिए वायुमंडल की संभावित क्षमता भी इस बात पर निर्भर करती है कि किसी विशेष समय और स्थान के वायु में जलवाष्प की कितनी मात्रा उपलब्ध है । सूर्य से आने वाली विकिरण के एक बहुत बड़े भाग को बादलों के द्वारा परावर्तित किये जाने से यह पृथ्वी के तापमान को भी नियंत्रित करता है । वर्ण

के रूप में यह पृथ्वी के बहुत बड़े भू–भाग तक पहुँचकर वहाँ जीवन की स्थिति पैदा करता है । जल अपने कई गुणों के कारण जलवायु और मौसम मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाता हैं । किसी भी तरल की अपेक्षा (अमोनिया को छोड़कर) जल की विशिष्ट उष्मा सर्वाधिक होती है अर्थात, जल के तापमान में वृद्धि के लिए बहुत बड़ी मात्रा में ऊष्मा की जरूरत होती है । जल के रूप (अवस्था) में परिवर्तन हेतु जिस ऊष्मा का उपयोग होता है

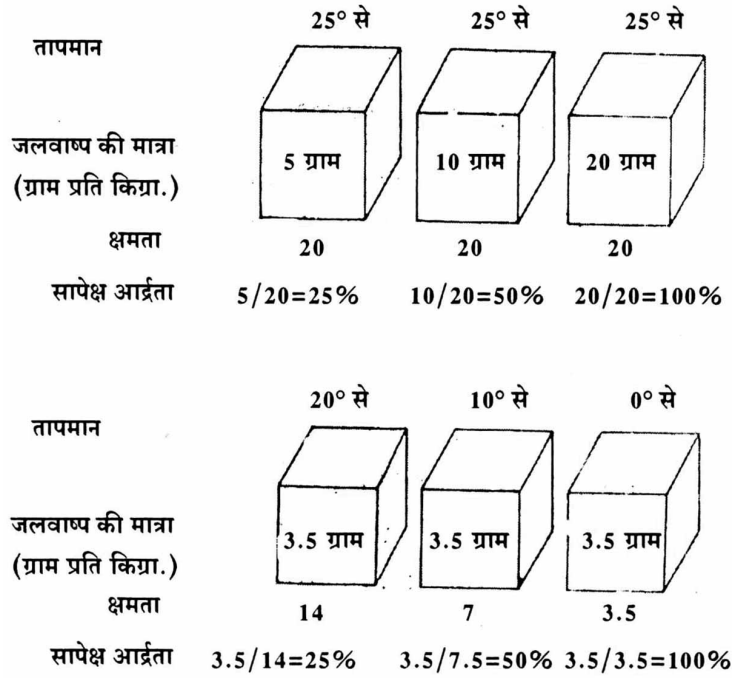

चित्र–12.11 : सापेक्ष आर्द्रता

वह ऊष्मा गुप्त ऊष्मा (Latent heat) के रूप में जलवाष्प में छुपी रहती है और इस प्रकार दिन और रात तथा एक मौसम से दूसरे मौसम के तापमान को सम बनाती है । तरल में पारे के बाद जल का पृष्ठ तनाव (Surface Tension) सर्वाधिक होता है । इसलिए जल के कण एक दूसरे से आकर्षित होकर जल की बूंदों, ओस, कुहासा आदि में परिवर्तित हो जाते हैं । जल का सबसे बड़ा गुण है इसकी अवस्था मे परिवर्तन । जल के तापमान में बदलाव के साथ यह ठोस, द्रव्य और गैस, तीनों ही अवस्थाओं में परिवर्तित हो जाता है । जल जब एक अवस्था से दूसरे में परिवर्तित होता है तो यह ऊष्मा के स्थानांतरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । जल के प्रत्येक अवस्था में परिवर्तन हेतु ऊष्मा या तो अवशोषित होती है या विमुक्त (चित्र–12.11)।

12.4.1 आर्द्रता का मापन (Measurement of Humidity)

वायुमंडल मे आर्द्रता की मात्रा को निम्न रूपों में व्यक्त किया जाता है

(i) निरपेक्ष आर्द्रता (Absolute Humidity)

हवा की प्रति इकाई आयतन में जल वाष्प की मात्रा भार को निरपेक्ष आर्द्रता कहते हैं । इसे ग्राम प्रति घनमीटर में व्यक्त किया जाता है । आर्द्रता व्यक्त करने की यह विधि अधिक प्रचलित नहीं है क्योंकि हवा का आयतन तापमान और वायुदाब के परिवर्तन के साथ परिवर्तित

हो जाता है और निरपेक्ष आर्द्रता भी बदल जाती है । उदाहरण के लिए 10^0C तापमान पर एक घनमीटर हवा 11.4 ग्राम जलवाष्प को धारण कर सकती है । हवा के इतने ही आयतन (1 घनमीटर) का तापमान यदि 21^0C हो जाए तो वह 22. 4 ग्राम जलवाष्प धारण कर सकेगा । अत : आयतन के समान रहने पर सिर्फ तापमान में वृद्धि के कारण निरपेक्ष आर्द्रता बढ़ जाती है या तापमान में कमी के साथ निरपेक्ष आर्द्रता घट जाती है ।

(ii) विशिष्ट आर्द्रता (Specific Humidity)

हवा के प्रति इकाई भार में जलवाष्प के भार को विशिष्ट आर्द्रता कहते हैं तथा इसे ग्राम प्रति किलोग्राम में व्यक्त किया जाता है । चूँकि इसे भार की इकाईयों में (ग्राम/किलोग्राम) मापा जाता है, इसलिए इस पर वायुदाब तथा तापमान में परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । निरपेक्ष आर्द्रता की अपेक्षा विशिष्ट आर्द्रता अधिक उपयोगी और विश्वसनीय है ।

(iii) सापेक्ष आर्द्रता (Relative Humidity)

किसी निश्चित तापमान पर हवा में मौजूद जलवाष्प की मात्रा तथा उसी तापमान पर हवा की जलवाष्प धारण करने की क्षमता के अनुपात को सापेक्ष आर्द्रता कहते हैं । इसे प्रतिशत में व्यक्त किया जाता है । सापेक्ष आर्द्रता में वृद्धि या कमी दो प्रकार से हो सकती है । पहला, वाष्पीकरण द्वारा हवा में और अधिक जलवाष्प मिल जाए तो सापेक्ष आर्द्रता बढ़ जाएगी । दूसरा, हवा के तापमान में वृद्धि के साथ उसकी जलवाष्प धारण क्षमता में वृद्धि हो जाएगी जिससे सापेक्ष आर्द्रता कम हो जाएगी या यदि हवा के तापमान मे कमी होती है तो उसकी जलवाष्प धारण क्षमता भी कम हो जाएगी और सापेक्ष आर्द्रता बढ़ जायेगी । आर्द्रता के मापन का यह तरीका अधिक वैज्ञानिक है ।

यदि कोई वायु किसी निश्चित तापमान पर उतनी मात्रा में जलवाष्प धारण किया हुआ हो जितनी उस तापमान पर उसमें जलवाष्प धारण करने की क्षमता हो उस वायु को संतृप्त वायु (Saturated Air) कहते हैं । संतृप्त वायु की सापेक्षिक आर्द्रता 100% होती है । यदि इससे अधिक आर्द्रता उस वायु में आयेगी तो संघनन की क्रिया शुरू हो जायेगी और अतिरिक्त जलवाष्प जल की बूंदों में परिवर्तित हो जाऐगा । अतिरिक्त जलवाष्प के वायु में मिले बिना भी वायु संतृप्त हो सकती है, यदि इसके तापमान में कमी हो जाए, क्योंकि, हवा के ठण्डी होते ही उसमें जलवाष्प धारण करने की क्षमता में कमी हो जाएगी और धारण क्षमता से अधिक जलवाष्प जल की बूंदों में परिवर्तित हो जायेगी । जिस तापमान पर संघनन का आरंभ होता हैं **ओसांक (Dew Point)** कहलाता है । यदि वायु का तापमान ओसांक से नीचे गिरता है तो अतिरिक्त जलवाष्प जलकण में बदल जाती है । जब वायु का तापमान और ओसांक (तापमान) दोनों बराबर होते हैं तो सापेक्ष आर्द्रता 100% होती है । तापमान ओसांक बिन्दु पर पहुंचने का मतलब होता है – सापेक्षिक आर्द्रता का 100% होना क्योंकि उस तापमान पर वायु अपनी जलवाष्प धारण क्षमता का शत प्रतिशत जलवाष्प धारण किया हुआ होता है और इससे अधिक जलवाष्प की उपलब्धता जल वाष्प को जल या हिमकणों मे बदल देता है ।

12.4.2 वायुमंडलीय आर्द्रता के स्रोत(Sources of Humidity)

महासागरों, वायुमंडल और महाद्वीपों (मृदा, झील, नदियाँ, हिमनदी, पादप और जंतु जगत इत्यादि) के बीच जल का आदान–प्रदान वाष्पीकरण, वाष्पोत्सर्जन, संघनन और वर्ण के द्वारा निरंतर होता रहता है । जल अपनी तीनों अवस्थाओं (द्रव, गैस तथा ठोस) में पृथ्वी पर इस अनंत संचरण में भाग लेता है, जिसे **जलीय चक्र (Hydrological Cycle)** कहते है । दूसरे शब्दों में, मुख्यत : महासागरों से जल का वाष्पीकरण, गुप्त ऊष्मा और पवन के द्वारा उनका महाद्वीपों तक परिवहन, संघनन के बाद वर्ण तथा पुन : इन जलों का महासागरों तक पहुँचना चक्रीय रूप में होता है जिसे जलीय चक्र कहते हैं । वायुमंडलीय आर्द्रता का सर्वप्रमुख स्रोत यही जलीय चक्र होता है । इस विशाल चक्र के संचरण हेतु आवश्यक ऊर्जा सूर्य से प्राप्त होती है ।

(i) वाष्पीकरण (Evaporation)

जल के तरल अथवा ठोस अवस्था से गैसीय (जलवाष्प) अवस्था में परिवर्तन की प्रक्रिया को वाष्पीकरण कहते है । वाष्पीकरण की प्रक्रिया में उष्मा का अवशोषण होता है और ये अवशोषित ऊष्मा 'गुप्त ऊष्मा' के रूप में जलवाष्प को गति देता है । जल वाष्प में छुपी हुई यह गुप्त ऊष्मा संघनन की प्रक्रिया में पुन : मुक्त होकर प्रचंड मौसम का निर्माण करती है ।

वाष्पीकरण की दर निम्नलिखित कारकों पर निर्भर करती है :

(i) तापमान के वृद्धि या कमी से वायु की जलवाष्प धारण क्षमता मे क्रमश: वृद्धि या कमी आती है और साथ ही वाष्पीकरण की गति भी तेज या धीमी हो जाती है ।

(ii) हवा में मौजूद आर्द्रता की मात्रा का वाष्पीकरण से विलोम संबंध है । यदि हवा में मौजूद जलवाष्प की मात्रा कम है तो उसकी जलवाष्प धारण करने क्षमता अधिक होगी तथा वाष्पीकरण भी अधिक होगा परन्तु हवा में यदि जलवाष्प की मात्रा अधिक है तो उसमें अतिरिक्त जलवाष्प को ढोने की क्षमता कम होगी और वाष्पीकरण की दर भी धीमी हो जायेगी ।

(iii) हवा के गतिमान होने पर वाष्पीकरण अधिक होगा क्योंकि हवा में गति के कारण जल के ऊपर टिकी हवा का संतृप्त भाग हट जाता है और असंतृप्त भाग वहाँ पहुँच जाता है

(iv) जल में लवणता के अधिक होने से वाष्पीकरण धीमी हो जाती है । समुद्र के जल में वाष्पीकरण मीठे जल की अपेक्षा 5% धीमी होती है ।

(v) भूमध्य रेखीय क्षेत्रों में वाष्पीकरण की गति अधिक तथा ध्रुवों की ओर वाष्पीकरण की गति धीमी होती है ।

(ii) वाष्पोत्सर्जन (Transpiration)

पेड़–पौधों और अन्य वनस्पतियों से होने वाले वाष्पीकरण को वाष्पोत्सर्जन कहते हैं । जब पौधों के पत्तियों की कोशिकाओं का वाष्पदाब वायुमंडलीय वाष्पदाब से अधिक होता है तो पेड़ पौधों में उपलब्ध नमी पत्तियों द्वारा वाष्प बनकर वायुमंडल में मिल जाती है । चूँकि वाष्पोत्सर्जन से हुए वाष्पीकरण की गणना आसान नहीं है इसलिए वाष्पीकरण तथा वाष्पोत्सर्जन की सम्मिलित क्रिया वाष्पण – **वाष्पोत्सर्जन (Evapotranspiration)** का परिकलन किया जाता है । यह

कई कारकों पर निर्भर करता है – (i) पत्तियों की कोशिकाओं का वाष्प दबाव (ii) वायुमंडलीय कारक – वायु की गति, तापमान, प्रकाश संश्लेषण हेतु सूर्य के प्रकाश की उपलब्धता (iii) वनस्पतिय कारक – वनस्पति का प्रकार, वनस्पति की सघनता इत्यादि (iv) मृदा में उपलब्ध नमी की मात्रा आदि ।

(iii) संघनन (Condensation)

जल के गैसीय अवस्था से तरल या ठोस अवस्था में बदलने की प्रक्रिया संघनन कहलाती है । इस प्रक्रिया में जलवाष्प में उपलब्ध ऊष्मा विमुक्त होती है जिससे उसकी अवस्था में परिवर्तन आ जाती है । संघनन की प्रक्रिया दो कारकों पर निर्भर करती है – (i) तापमान में कमी (ii) हवा की सापेक्ष आर्द्रता । यदि किसी वायु की सापेक्ष आर्द्रता बहुत अधिक है तो उस हवा के तापमान में थोड़ी सी कमी के कारण हवा ओसांक पर पहुँच जाऐगा तथा संघनन की क्रिया शुरू हो जाएगी । इसके विपरीत यदि वायु की सापेक्ष आर्द्रता बहुत कम है तो ओसांक तक पहुँचने हेतु तापमान में बहुत अधिक गिरावट की आवश्यकता होगी । संघनन के लिए एक और महत्वपूर्ण कारक है – **आर्द्रता ग्राही कणों या केन्द्रकों (hygroscopic Nuclie**) की उपलब्धता। यदि वायुमंडल में आर्द्रता ग्राही केन्द्रक प्रचुर मात्रा में है तो संघनन तेजी से होने लगेगी क्योंकि संघनन की शुरूआत आर्द्रताग्राही केन्द्रकों पर ही होती है । अच्छे किस्म (नमक) के केन्द्रकों के उपलब्ध होने पर सापेक्षिक आद्रता यदि 80% या इससे अधिक हो तब भी संघनन की शुरूआत होने लगती है जबकि इन केन्द्रकों के अभाव में सापेक्षिक आर्द्रता के 100% से अधिक होने पर भी संघनन की शुरूआत नहीं हो पाती । हवा का आयतन, तापमान, वायुदाब तथा आर्द्रता संघनन की प्रक्रिया को नियंत्रित करते हैं (चित्र–12.12) । संघनन निम्नलिखित परिस्थितियों में हो सकती है

(i) हवा का तापमान घटकर ओसांक तक पहुँच जाए किन्तु आयतन स्थिर रहे;

(ii) जब हवा का आयतन ऊष्मा की मात्रा बढ़ाए बिना ही बढ़ जाए (वायुदाब मे कमी के कारण);

(iii) जब हवा की आर्द्रता धारण क्षमता, तापमान और आयतन के संयुक्त रूप से घटने के कारण घटकर हवा में विद्यमान आर्द्रता की मात्रा से कम हो जाए; अथवा

(iv) जब हवा में आर्द्रता की और अधिक मात्रा मिल जाए ।

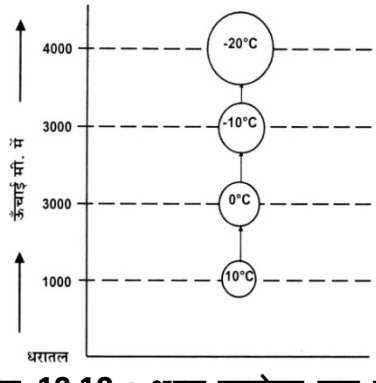

चित्र–12.12 : शुष्क रुद्वोष्म हास दर

हवा के तापमान में परिवर्तन दो प्रकार से हो सकता है ।

(i) रूद्वोष्म ताप परिवर्तन (Adiabatic Temperature Change)

(ii) अरूद्वोष्म ताप परिवर्तन (Diabatic Temperature Change)

रूद्वोष्म (अवरूद्व +ऊष्मा) प्रक्रिया में हवा के ऊपर उठने से उसके आयतन में वृद्धि (वायुदाब में कमी के कारण) होती है तथा प्रति इकाई आयतन में उपलब्ध ऊष्मा में कमी हो जाती है जिससे हवा का तापमान कम हो जाता है । रूद्वोष्म प्रक्रिया में वायु में उपलब्ध ऊष्मा न तो बाहर निकलती है न बाहर के हवा के तापमान से यह प्रभावित होती है बल्कि, सिर्फ आयतन में वृद्धि या कमी के कारण इनके तापमान में क्रमश : कमी या वृद्धि हो जाती है । आमतौर पर रूद्वोष्म प्रक्रिया से ताप परिवर्तन धरातल के समीप नहीं होता क्योंकि यहाँ हवायें एक दूसरे से मिश्रित होती रहतीं हैं जिससे उनका तापमान बदलता रहता है । हवा के उर्ध्वाधर विस्थापन से ही रूद्वोष्म ताप परिवर्तन होता है । बादलों का निर्माण होना रूद्वोष्म प्रक्रिया से तापमान में कमी के कारण होता है ।

अरूद्वोष्म प्रक्रिया से तापमान में परिवर्तन धरातल के निकटस्थ भागों में होता है क्योंकि, हवा अपने आसपास के तापमान से प्रभावित होती है । जैसे ठण्डी धरातल पर स्थिर हवा का निचला भाग स्पर्श के कारण ठंडा हो जाऐगा और संघनन की क्रिया शुरू हो जायेगी । ओस, तुषार, कुहासा, आदि की उत्पत्ति अरूद्वोष्म ताप परिवर्तन से होता है ।

रूद्वोष्म हास दर दो प्रकार का होता है – शुष्क रूद्वोष्म हास दर तथा आर्द्र रूद्वोष्म हास दर। शुष्क रूद्वोष्म हास दर (शुष्क हवा के ऊपर उठने से तापमान में कमी की दर) आर्द्र रूद्वोष्म हास दर से दोगुनी होती है ।

12.4.3 संघनन के विभिन्न रूप (Types of Condensation)

संघनन की अवस्थिति के आधार पर इसे दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है

(A) धरातल पर या उसके समीप – ओस, पाला, कुहरा, कुहासा

(B) धरातल से ऊपर – बादल

संघनन का रूप इस बात पर भी निर्भर करता है कि संघनन के समय तापमान की स्थिति कैसी थी । यदि संघनन या ओसांक के समय तापमान हिमांक के नीचे हो तो तुषार, हिम या पक्षाभ मेघों का निर्माण होता है जबकि यदि तापमान हिमांक के ऊपर हो तो ओस, कुहरा, कुहासा या बादलों का निर्माण होता है ।

A. संघनन : धरातल पर या उसके समीप (Condonsation : At or Near Surface)

(i) ओस तथा पाला (Dew and Frost)

साफ आकाश, ठंडी तथा लम्बी रातें, उच्च सापेक्ष आर्द्रता, शांत वातावरण ओस तथा पाला के बनने हेतु आवश्यक दशायें हैं । शीतकालीन रातें तीव्र पार्थिव विकिरण के कारण धरातल काफी ठंडा हो जाता है और अपने निकटस्थ वायुमंडल को भी ठंडा कर देता है । तापमान के गिरने के कारण वायुमंडल में उपस्थित जलवाष्प धरातल पर स्थित पेड़–पौधों की पत्तियों या अन्य सतहों पर जल की नन्हीं बिन्दुओं के रूप में जमा हो जाती है, जिसे ओस कहते है । यदि ओसांक

हिमांक (0^0C) से अधिक हो तो ओस का निर्माण होता है परन्तु यदि ओसांक के समय तापमान हिमांक से नीचे हो तो श्वेत तुषार (पाला) बन जाता है । पेड़–पौधों की पत्तियों पर संघनन के उपरांत ओस इसलिए भी बनती है कि पत्तियों के द्वारा वाष्पोत्सर्जन के कारण अतिरिक्त जलवाष्प से सापेक्ष आर्द्रता 100% तक आसानी से पहुँच जाती है ।

(ii) कुहरा (Fog) तथा कुहासा (Mist)

पृथ्वी के धरातल पर या बिल्कुल उसके समीप संघनन के कारण कोहरा (कुहरा) तथा कुहासा बनता है । कोहरे के जलकण का आकार कुहासा के जलकण की अपेक्षा बड़ा (खुली आँखों से दिखने लायक) होता है तथा सघन भी । इस कारण कोहरे में दृश्यता सामान्यत : एक किलोमीटर से कम तथा कभी–कभी 100 मीटर से भी कम हो जाती है । कुहासा के जलकण अत्यंत सूक्ष्म होते हैं तथा इन जलकणों को खुली आँखों से देख पाना सम्भव नहीं हो पाता है । इनकी सघनता कम होती है । इसलिए दृश्यता एक से दो किलोमीटर तक होती है ।

स्वरूप (Appearance) के आधार पर कोहरे को स्माग **(Smog=smoke + Fog**)] स्मेज (**Smaze = Smoke + haze) तथा पाला धूम** (**Forst–Smoke)** में विभाजित किया जाता है। विशाल औद्योगिक नगरों के आसपास कल–कारखानों के धुएँ तथा कोहरे के मिश्रण को **स्मॉग** कहते है । यह मटमेला होता है तथा दृश्यता बेहद कम हो जाती है । इसी प्रकार धूएँ तथा धुंध के मिश्रण से बने कोहरे को **स्मेज** का नाम दिया जाता है आर्कटिक प्रदेश में अत्यंत ठण्डे धरातल पर संघनन के कारण हिम जल के अतिशीतल असंख्य कणों का निर्माण होता है जिसे **पाला धूम** कहते है । निर्माण प्रक्रियाओं के आधार पर कोहरे को निम्नलिखित वर्गो में विभाजित किया जाता है :

- **विकिरण कोहरा (Radiaton Fog) :** भौमिक विकिरण द्वारा धरातल तथा उसके समीप की आर्द्र हवा के ठण्डी हो जाने से इस प्रकार के कोहरे का निर्माण होता है । इसकी मोटाई 1 से 30 मीटर तक होती है ।
- **अभिवहन कोहरा (Advection Fog) :** जब ठण्डे धरातल पर गर्म तथा आर्द्र हवा का क्षैतिज संचरण होता है तो उष्णार्द्र तथा ठण्डी हवाओं के मिलने से अभिवहन कोहरे का निर्माण होता है । ऐसे कोहरे का निर्माण प्राय : स्थलीय भागों में शीत ऋतु में तथा सागरीय भागों में ग्रीष्म ऋतु में होता है । इसकी मोटाई 300 से 600 मीटर तक होती है।
- **वाताग्री कोहरा (Frontal Fog) :** उष्णार्द्र हवा, जो हल्की होती है, ठण्डी तथा भारी हवा के ऊपर चढ़ने लगती है और ठण्डी हवा के सम्पर्क में आकर ठण्डी होने लगती है । यदि तापमान ओसांक तक पहुँच जाता है तो दोनों वायुराशियों को पृथक करने वाले तल (वाताग्र) के समीप कोहरा बनने लगता है जिसे वाताग्री कोहरा कहते है ।
- **वाष्प कोहरा (Steam Fog) सामान्यत :** इस प्रकार का कोहरा आर्कटिक क्षेत्रों में दिखते हैं इसलिए इसे आर्कटिक सागर स्नो के नाम से भी जाना जाता है । जब ठण्डी वायुराशि गर्म सागर के ऊपर से गुजरती है तो वहाँ उपस्थित वाष्प ठण्डी वायुराशि के सम्पर्क से संघनित होकर इस प्रकार के कोहरे का निर्माण करते हैं ।

- **पहाड़ी कोहरा (Hill Fog) :** जब उष्णार्द्र हवा पहाड़ी ढालों के सहारे ऊपर चढ़ती है तो रूद्वोष्म प्रक्रिया के कारण तापमान में गिरावट आती है और कोहरे का निर्माण होने लगता है । ऐसे कोहरे शीतोष्ण कटिबंधों मे पहाड़ी ढालों पर किसी भी मौसम मे देखे जाते हैं ।

B. धरातल के ऊपर संघनन : बादल (Condansation Above Ground : Cloud)

वायुमंडल में निलम्बित सूक्ष्म जलकणों या हिमकणों के विशाल झुंड को बादल या मेघ कहते है। इन सूक्ष्म जलकणों या हिमकणों का निर्माण साधारणत : गर्म और आर्द्र हवा के ऊपर उठकर संघनित होने से होता है । संघनन की यह क्रिया ऊपर उठती हुई वायु के ठंडी होने (रूद्वोष्म प्रक्रिया) से होती है । इनका विस्तार क्षोभमंडल तक होता है । समताप मंडल में जक्वाष्प के अभाव में बादलों का अभाव होता है इन जल या हिमकणों के निर्माण में **आर्द्रताग्राही केन्द्रकों (hygroscopic nuclie)** की आवश्यकता होती है । इन केन्द्रकों की कमी होने पर संघनन की क्रिया शुरू नहीं हो पाती ।

12.4.4 मेंघों का वर्गीकरण

सर्वप्रथम 1803 में एक ल्यूक हवार्ड (1772–1864) ने मेंघों को मुख्य एवं गौण भागों में वर्गीकृत किया तथा इन्हें लैटिन नाम दिया जो निम्न है

1. स्तर Stratus (latin–Stratum = layer)
2. कपासी Cumulus (latin–cumulus = Pile)
3. पक्षाभ Cirrus (Latin–Cirrus = hair)

यह वर्गीकरण इतना बेहतर था कि आज तक यह उपयोग में है । पूरे विश्व में समरूपता के दृष्टिकोण से 1895 में अन्तर्राष्ट्रीय मौसम परिषद ने मेघों को पहचानने और उनके नामकरण हेतु एक रीति विकसित की है । आधारभूत वर्गीकरण में अंतर्राष्ट्रीय मानकों के आधार पर मेघों को निम्नलिखित 10 वर्गों में विभाजित किया जाता है ।

1. उच्च बादल (High Cloud) (6000 से 20,000 मीटर)

(i) **पक्षाभ बादल (Cirrus clouds) :** सबसे अधिक ऊँचाई पर प्राय : छितराये रूप में रेशम के सदृश दिखते हैं, क्योंकि इनका निर्माण छोटे–छोटे हिमकणों द्वारा होता है, जब ये मेघ असंगठित त था छितराये रूप में होते हैं तो साफ मौसम की सूचना होती है, परन्तु जब संगठित होकर विस्तृत क्षेत्र में फैल जाते है तो खराब मौसम अवश्यम्भावी हो जाता है । चक्रवातों के आगमन के पहले आकाश में पक्षाभ मेघ दिखने लगते है ।

(ii) **पक्षाभ–स्तरी बादल (Cirro–Stratus Clouds) :** प्राय : श्वेत वर्ण के होते हैं जो कि आकाश में एक पतली दुधिया रग की चादर के समान फैले रहते हैं । इनके आगमन पर सूर्य तथा चन्द्रमा के चारों ओर प्रभा–मण्डल (halo) बन जाते है, जो कि निकट भविष्य में चक्रवात के आगमन की सूचना देता है ।

(iii) **पक्षाभ–कपासी बादल (cirro–cumulus clouds) :** श्वेत रंग के ये बादल या तो छोटे–छोटे गोलाकार रूपों में या लहरनुमा रूप मे पाये जाते है ।

2. मध्यम ऊँचाई के बादल (2500 से 600 मीटर) (Medium Cloud)

(iv) **मध्य स्तरी बादल (alto–stratus clouds) :** आकाश में लगातार रूप में फैले नीले अथवा भूरे रंग की पतली चादर वालें बादलों को 'स्तरी मेघ' कहते हैं । जब इनकी चादर आकाश में सघन होती है तो सूर्य एवं चन्द्रमा स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ते हैं । वास्तव में ये घने पक्षाभस्तरी मेघों के समान ही होते हैं तथा धीरे–धीरे उनमें समाविष्ट भी हो जाते हैं, परन्तु इनके कारण सूर्य तथा चन्द्रमा के चारों ओर प्रभामण्डल नहीं बन पाता है । इनमें विस्तृत तथा लगातार वर्षा होती है ।

(v) **मध्य कपासी बादल (alto cumulus clouds) :** ये पक्षाभ कपासी मेघों के समान ही गोलाकार रूप में पंक्तियों या लहरों में पाये जाते है, अन्तर केवल ऊँचाई का त था इनके विस्तृत क्षेत्र का ही है ।

3. निम्न बादल (धरातल से 2500 मीटर ऊँचे) (Low Cloud)

(vi) **स्तरी कपासी बादल (Strata–Cumulus clouds) :** इनका रंग हल्का भूरा होता है, तथा ये बड़े–बड़े गोलाकार चकत्तों के रूप में पाये जाते है । इनकी ऊँचाई 2500 से 3000 मीटर तक होती है ।

(vii) **स्तरी बादल (Stratus Clouds) :** ये बादल प्राय : कुहरे के समान होते हैं परन्तु धरातल से सटे नहीं होते हैं । इनकी रचना कई समान परतों से होती है इनका निर्माण दो विपरीत स्वभाव वाली हवाओं के मिलने से प्राय : शीतोष्ण कटिबन्ध में सर्दियों में होता है।

(viii) **वर्षा–स्तरी बादल (Nimbo–stratus clouds) :** धरातल के नजदीक पाये जाने वाले काले रंग के ये घने बादल किसी काले रंग के ये घने बादल किसी भी आकार के हो सकते है । इनकी सघनता के कारण अंधकार तक छा जाता है तथा वर्षा खूब होती है ।

(ix) **कपासी बादल (Cumulus clouds) :** ये अधिक घने तथा विस्तृत होते है । प्राय : ये लम्बे रूप में होते हैं, जिनका ऊपरी भाग गुम्बदाकार या गोभी में फूल के समान होता है, परन्तु आधार समतल होता है । इनसे प्राय : साफ मौसम का आभास होता है, परन्तु कभी–कभी ये गरजने वाले बादल भी बन जाते हैं ।

(x) **कपासी–वर्षा बादल (Cumulo–nimbus clouds) :** ये अधिक विस्तृत तथा गहरे बादल होते हैं, जिनका विस्तार ऊँचाई मे अधिक होता है, जिससे ये पर्वत सदृश्य या लम्बवत् स्तम्भ के रूप में दृष्टिगत होते हैं । इनके साथ वर्षा, ओला तथा तड़ित झंझा की अधिक सम्भावना रहती है ।

बोध प्रश्न– 2

1. हवा की प्रति इकाई आयतन मे जलवाष्प के भार को क्या कहते है?

   _____

   _____

2. ओसांक क्या होता है ?

   _____

   _____

3. संतृप्त वायु किसे कहते है ?

_____

_____

4. संघनन की प्रक्रिया में आर्द्रताग्राही केन्द्रकों की क्या भूमिका होती है ?

_____

_____

5. वायु के आयतन में परिवर्तन के कारण यदि उसके तापमान में परिवर्तन हो तो यह प्रक्रिया क्या कहलाती है ?

_____

_____

6. भौमिक विकिरण के द्वारा धरातल तथा उसके समीप की आर्द्र हवा के ठण्डी हो जाने से किस प्रकार के कुहरे का निर्माण होगा ?

_____

_____

12.5 वर्षण (Precipitation)

पृथ्वी के गुरूत्वाकर्षण के कारण जल का तरल अथवा ठोस रूप में वायुमंडल से धरातल पर गिरना वर्षण या वृष्टि कहलाता है । जब वृष्टि जल की बूँदों के रूप में होती है तो इसे जल वृष्टि या **वर्षा (Rainfall**) कहते हैं । जब तापमान हिमांक के नीचे होता है तो वृष्टि **हिम (Snow**) के रूप में में होती है तथा **हिमवृष्टि (Snowfall**) या **हिमपात** कहलाती है । इन दो प्रकार वर्षण के अतिरिक्त **सहिम वृष्टि (Sleet**) **तथा उपलवृष्टि (ओले**) भी वर्षण की श्रेणी मे आते हैं ।

आर्द्रता युक्त वायु के ऊपर उठने से उसके आयतन में वृद्धि होती है और उसके तापमान में कमी आती है । जलवाष्प संघनित होकर मेघ सीकरों (Cloud droplets) का रूप धारण करती है । संघनन के लिए सापेक्षिक आर्द्रता 100% होनी चाहिए तथा वायुमंडल में पर्याप्त मात्रा में आर्द्रताग्राही केन्द्रक भी होने चाहिए क्योंकि, संघनन की प्रक्रिया इन केन्द्रकों के अभाव में संभव नहीं हो पाती । लाखों की संख्या में मेघ सीकरों के बनने के बाद भी ये अपने कम भार के कारण वायुमंडल में बादल के रूप में निलम्बित रहते हैं अथवा धरातल पर पहुँचने के पूर्व ही वाष्पीकृत हो जाते है । मेघों के सूक्ष्म जलकण स्कन्दन (Coagulation) या संघटन (Collision) के द्वारा बड़े आकार के कणों (2/10 मिलीमीटर से अधिक व्यास) में परिवर्तित होते है तथा वर्षा की बूँदों का निर्माण होता है जो धरातल पर वर्षा के रूप में पहुँच पाता है । एक आदर्श वर्षा की बूँद (5 मिलीमीटर व्यास) कम से कम 80 लाख सूक्ष्म मेघकणों से बना

होता है । वर्षा की बूंदों (raindrops) का आकार 0.5 मिलीमीटर से बड़ा होता है जबकि फुहार (drizzle) का आकार 0.5 मिलीमीटर से छोटा होता है ।

12.5.1 वर्षण के सिद्धांत (Theories of Precipitation)

1. बर्जरॉन – फिन्डीसेन का हिमकण सिद्वांत (Ice Crystal Theory of Bergeron)

बर्जरॉन फिन्डीसेन (1993) का हिमकण सिद्धांत (Ice Crystal Theory of Bergeron Fiendeisen) निम्न दो तथ्यों पर आधारित है : –

(i) जलवाष्प, हिमकण तथा अतिशीतल (supercooed) जलबिन्दुओं का साथ–साथ पाया जाना।

(ii) जलवाष्प, हिमकण तथा अतिशीतल जल बिन्दुओं के संतृप्त वाष्प दबाव में अतंर ।

इस सिद्धांत के अनुसार वर्षा कराने वाले बादल जिनका तापमान हिमांक से नीचे । (-5^0C से– 10^0 C) होता है, में साधारणत : जलवाष्प, हिमकण तथा अतिशीतलन जबकि तीनों साथ–साथ पाऐ जाते है । आर्द्रतायुक्त पवन के ऊपर उठने पर वायु के आयतन में वृद्धि होने के कारण यह शीतल होती है जिससे मेघकणों का निर्माण होने लगता है । 0^0C पर हिमकण तथा जलकण पर वाष्प दबाव समान होता है किन्तु – 10^0C पर हिमकण की अपेक्षा अतिशीतल जल पर वाष्प दबाव 0. 266 मिलीबार अधिक हो जाता है । वाष्पदबाव में इस अंतर के कारण जलकणों का वाष्पीकरण होने लगता है तथा ये जलवाष्प हिमकणों की ओर आकर्षित होकर उन पर संघनित होने लगते हैं । इस संघनन के फलस्वरूप हिमकणों के आकार में वृद्वि होने लगती है। अनुमानत : लगभग 10 मिनट 10 लाख मेघकणों से इतने बड़े हिमकण का निर्माण हो जाता है जो तीव्र गति से धरातल पर गिरने में समर्थ होता है । नीचे गिरते हुए ये हिमकण गर्म वायुमंडल के संसर्ग में जल की बूंदों में परिवर्तित हो जाते हैं, जिससे वर्षा होती है ।

दोष : ऊष्ण कटिबंधीय महासागरों के ऊपर कपासी मेघ (cumulus cloud) 2000 मीटर की ऊँचाई पर ही घनघोर वृष्टि प्रदान करती है जबकि उसके शीर्ष का तापमान 5^0 से अधिक रहता है । ऐसे में हिमकण कीं उपस्थिति असंभव है ।

इस दोष के बाद भी यह सिद्धांत मान्य रहा है । संयुक्त राज्य अमेरिका मे शांत कपासी मेघों में कार्बन डाई आक्सॉइड के ठोस कण अथवा सिल्वर आयोडाइज्ड के सूक्ष्म कणों के बौछार से हिमकेन्द्रकों का निर्माण किया गया जिससे कृत्रिम वर्षा हुई । यह प्रयोग इस सिद्वांत की पुष्टि करता है ।

2. सिम्पसन तथा मैसॉन का टकराव संलयन सिद्धांत(Collision Colliance Theory of Simpson and Mason)

टकराव संलयन सिद्धांत का प्रतिपादन जॉर्ज सिम्पसन तथा मैसॉन ने किया तथा इस सिद्धांत को कई और विद्वानों ने परिष्कृत करने की कोशिश की जिसमें लेंगम्योर (Langmuir) प्रमुख है । यह सिद्धांत इस तथ्य पर आधारित है कि मेघ अलग अलग आकारों के जल बिन्दुओं से बना होता है । यदि मेघ में उपस्थित जल के सभी कण एक आकार के होंगे तो उनके नीचे गिरने की गति भी समान होगी और उनमें टकराव तथा संलयन नहीं हो सकेगा । किन्तु मेघ में

अलग –अलग आकार के जल कण होगें तो उनके नीचे गिरने की गति भी अलग – अलग होगी जिससे वे आपस में टकरायेगें तथा बड़ी बूँदे छोटी बूंदों को अपने में समाहित कर लेगी । लेंगम्योर के अनुसार जल के बूँदों के नीचे गिरने की गति बूँदों के आकार के समानुपाती होता है इन बूँदी का आकार उन आर्द्रताग्राही केन्द्रकों के आकार के समानुपाती होता है । जिन पर ये बूँदे, संघनित होती हैं वर्षा की अधिक बड़ी बूँदे या हिमकण जब तेजी से नीचे गिरती हैं तो उनके रास्ते में पड़ने वाली छोटी बूँदे उनमें समाहित होती जाती हैं जिससे बूंदों का आकार बढ़ता जाता है । हिमकणों का चूँकि पृष्ठ तनाव (Surface tension) कम होता है इसलिए जब ये एक दूसरे से टकराते है तो टकराकर दूर हो जाते हैं ।

नीचे गिरती हुई बूंदों की संग्रहण क्षमता (Collection efficiency) उनके अर्द्ध व्यास पर निर्भर करती है । उदाहरण के लिए 40 माइक्रोन अर्द्धव्यास की बूँद की संग्रहण क्षमता सिर्फ 10% तथा 30 माइक्रोन वाली बूँदों की मात्र 5% होती है । किन्तु यदि बूंद का अर्द्धव्यास 60 माइक्रोन से अधिक हो तो इसकी संग्रहण क्षमता (छोटी बूंदों को अपने में मिलाने की क्षमता) 50% तक हो जाती हे । निष्कर्षत : इस प्रक्रिया से वर्षा होने के लिए यह आवश्यक है कि संग्राहक बूंदों का अर्द्धव्यास 40 माइक्रोन से अधिक हो । जल की बूंदों का संलयन वायुमंडल में उपस्थित विधुत आवेश की उपस्थिति पर निर्भर करता है यदि एक धनात्मक आवेश वाली बूंद ऋणात्मक आवेश वाली बूंद से टकराती है तो उनका संलयन हो जाता है क्योंकि विद्युत आवेश उन्हें बाँधे रखने में सक्षम होती है । जल या हिम कणों के आकार में पर्याप्त वृद्वि हो जाने पर वो वायुमंडल में निलम्बित नहीं रह पाती और वर्षा के रूप में धरातल पर गिरने लगती है ।

12.5.2 वर्षा के प्रकार (Types of Rainfall)

वर्षा के लिए वायु का संतृप्त होकर संघनित होना आवश्यक होता है । संघनन की क्रिया का प्रारंभ वायु के तापमान में कमी से होता है । वायु के तापमान में कमी निम्न तीन प्रकार से हो सकती है :

(i) धरातल के अधिक गर्म होने से वायु हल्की होकर संवहनीय धारा के रूप में ऊपर उठती है ।

(ii) वायु पर्वतीय बाधा के कारण ऊपर उठती है ।

(iii) उष्णार्द्र वायु के ठण्डी वायु राशि पर चढ़ने से अथवा चक्रवातीय कारणों से ठण्डी होती है ।

इन तीन आधारों पर वर्षा को तीन प्रकारों से विभाजित किया जाता है :

(i) संवहनीय वर्षा (Convectional Rainfall)

(ii) पर्वतीय वर्षा (Orographic Rainfall)

(iii) चखातीय वर्षा (Cyclonic Rainfall)

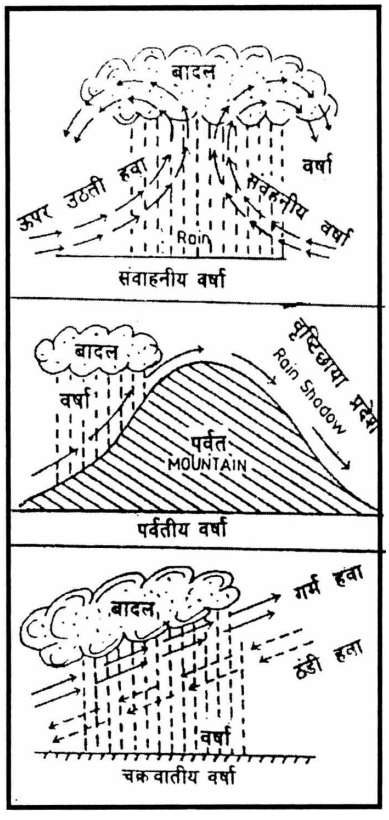

चित्र–12.13 : वर्षा के प्रकार

(i) संवहनीय वर्षा : जिन क्षेत्रों में सौर्यिक विकिरण से धरातल बहुत गर्म हो जाता है वहाँ की वायु अत्यधिक गर्म होकर ऊपर उठने लगती है । इन गर्म और नम हवाओं के ऊपर उठने से इनके आयतन में वृद्धि होती है और तापमान में कमी । फलत : एक ऊँचाई पर पहुँचकर ये हवाऐं संतृप्त हो जाती है और इनमें मौजूद आर्द्रता संघनित होकर वृष्टि का रूप ले लेती हैं । संघनन की प्रक्रिया के दौरान संघनन को गुप्त ऊआ मुक्त होती है जो वहाँ की हवा के तापमान को फिर से बढ़ा देती हैं जिससे हवा हल्की होकर पुन : ऊपर उठने लगती है और अंतत : उस सीमा तक पहुँच जाती है जहाँ पर स्थित वायु का तापक्रम और घनत्व ऊपर उठती हुई हवा के तापक्रम और धनत्व के बराबर हो इस स्तर पर पुन: संघनन से कपासी वर्षा मेघ (cumulonimbus cloud) का निर्माण होने लगता है और वृष्टि होने लगती है। वृष्टि का होना या नहीं होना ऊपर उठती हुई वायु में उपलब्ध नमी तथा सापेक्षिक आर्द्रता पर निर्भर करती है ।

इस प्रकार की वर्षा का क्षेत्र बहुत सीमित होता है और इसमें आकाश का बहुत कम भाग बादल से ढका होता है । विषुवतीय शांत कटिबंध में इस प्रकार की वर्षा है मध्यान्ह के बाद होती है तथा सायंकाल तक संवहनीय धारा के प्रभाव की समाप्ति के साथ वर्षा रूक जाती है । इसमें न्यूनतम समय में अधिकतम वर्षा होती है तथा वर्षा बिजली की चमक तथा बादलों की गरज के साथ होती है (चित्र–12.14) ।

(ii) पर्वतीय वर्षा : जब कोई पर्वतीय बाधा गर्म और आर्द्र हवा को रोकती है तो यह हवा ऊपर उठने लगती है, ठंडी होती है और वर्षा कराती है । पर्वतीय बाधा के कारण ऊपर उठती हवा के आयतन में वृद्धि होती है फलस्वरूप उसके तापमान में कमी आती है (रूद्वोष्म शीतलन) जिससे जलवाष्प संघनित होने लगती है और वृष्टि की शुरूआत होती है पर्वतीय बाधा हवा को सिर्फ ऊपर उठाने का ही काम नहीं करती बल्कि यह वर्षा के लिए कई जटिल प्रक्रियाओं की शुरूआत करती है । दूसरे शब्दों में पर्वत **"ट्रिगर प्रभाव"** को जन्म देती है । उदाहरण के लिए मात्र 3000 फीट ऊँचाई वाली पर्वतीय बाधा प्रत्यक्ष संघनन तथा वर्षा के लिए काफी नहीं होती किन्तु इतनी ऊँचाई वाले पर्वतीय क्षेत्रों में पर्याप्त वर्षा होती है क्योंकि थोड़े उत्थान से संघनन तल आ जाता है और संघनन कीं गुप्त ऊष्मा उस हवा को और ऊपर ऊठाने मे सक्षम हो जाती है । प्रत्येक संघनन और वर्षण के बाद मुक्त गुप्त ऊष्मा पुन : हवा को ऊपर उठाती रहती है और वर्षा कई चरणों में होता रहता है । पर्वतीय घाटियों के निवाय प्रभाव (Funneling effect) के कारण वायु का अभिसरण तथा उत्थान होता है । यदि चक्रवात के मार्ग में पर्वतीय बाधा आए तो चक्रवात को रोककर यह वर्षा कराने में सक्षम होती है । ऊँचे पर्वतों के ठंडे सतह के स्पर्श से भी उष्णार्द्र हवा संघनित होने लगती है । यदि पर्वतों की स्थिति सागर से नजदीक हो तथा पवन की दिशा के समकोण पर हो तो वहाँ अत्यधिक बारिश होती है क्योंकि ऐसे पवन में अत्यधिक मात्रा में आर्द्रता होती है ।

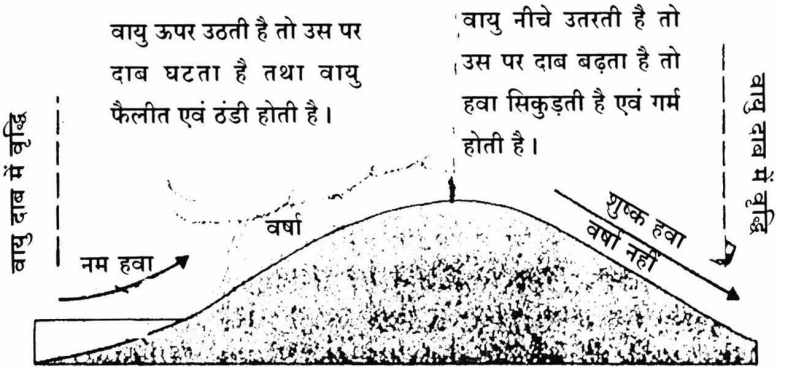

चित्र–12.14 : पर्वतीय वर्षा

पवनाभिमुख ढालों पर वर्षा की मात्रा बहुत अधिक होती है क्योंकि ऊपर उठती हुई हवा के आयतन मे वृद्धि तथा तापमान मे निरंतर कभी आता है किन्तु पवन विमुख (Leeward Side) ढाल पर चूँकि हवा नीचे उतरती है इसलिए आयतन में कमी तथा तापमान में वृद्धि के कारण सापेक्षिक आर्द्रता सतत रूप से घटती जाती है । जिससे वर्षा नहीं या बेहद कम हो पाती है ।

(iii) चक्रवातीय या वाताग्री वर्षा : जब दो विपरीत स्वभाव वाली पवनें आमने सामने से मिलती हैं तो वाताग्र का (Front) का निर्माण होता है । वाताग्र में जब आर्द्र गर्म हवा ठंडी हवा के ऊपर चढ़ जाती है तो ऊपर की आर्द्र और गर्म हवा नीचे की ठंडी हवा के संसर्ग में ठंडी हो जाती है जिससे संघनन की प्रक्रिया का आरंभ होता है और वर्षा होने लगती है । दो विपरीत स्वभाव की पवनें आमने सामने तभी आ सकती है जब उन पवनों का जन्मस्थल दो विपरीत स्वभाव वाले स्थल है । शीतोष्ण कटिबंधीय प्रदेश ऐसी पवनों के अभिसरण के

लिए आदर्श जगह होती है, क्योंकि इसके उत्तर में स्थित ध्रवीय क्षेत्र से उत्तर पूर्वी ध्रुवीय (ठंडी) पवनें आती हैं तथा इसके दक्षिण स्थित उष्ण कटिबंध से दक्षिण पूर्वी (गर्म) पवनें यहां पहुंचती हैं । इन दो प्रकार की पवनों के मिलने से चक्रवातों तथा अवदाबों (कमचतमेपवदे) का निर्माण होता है । ये चक्रवात मंद गति से ऊपर उठते हैं फलस्वरूप संघनन तथा वर्षा भी मंद गति से होती है । ऐसी वर्षा संवहनीय वर्षा के विपरीत विशाल क्षेत्र में दीर्घकाल तक होती है । शीतोष्ण कटिबंधों में अधिकांश वर्षा इसी प्रकार की होती है। भारत की मानसूनी वर्षा (द.प.मानसून) में भी बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर में बनने वाले अवदाब महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं तथा ये अवदाब जिस मार्ग से होकर गुजरते हैं उस क्षेत्र में घनघोर वर्षा होती है (चित्र–1215) ।

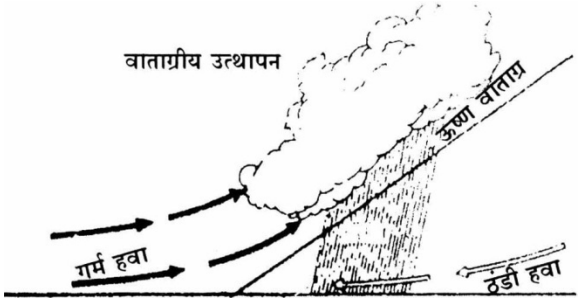

चित्र–12.15 : चक्रवाती या वाताग्री वृष्टि

12.5.3 वृष्टि का वितरण (Distribution of Rainfall)

विश्व में वर्षा का वितरण अधिक जटिल है क्योंकि वर्षा का वितरण बहुत सारे जटिल कारकों से प्रभावित होता है । सम्पूर्ण पृथ्वी का औसत वार्षिक वर्षा 97 सेन्टीमीटर है । विश्व में वर्षा का कटिबंधीय वितरण निम्न प्रकार है

1. **अत्यधिक वर्षा वाली विषुवतरेखीय पेटी :** इस पेटी में संवाहनिक वर्षा होती है इसका विस्तार 10^0 उत्तरी एवं दक्षिणी अक्षांशों के मध्य है । यहाँ प्रतिदिन मेघ गर्जन तथा विद्युत चमक के साथ दोपहर के बाद वर्षा होती है । वार्षिक वर्षा की मात्रा 175 से 200 सेमी. तक है ।
2. **व्यापारिक पवनों की वर्षा वाली पेटी :** इसका विस्तार 10^0 से 20^0 के मध्य दोनों गोलार्द्धों में है । यहाँ व्यापारिक पवनों द्वारा महाद्वीपों के पूर्वी भागों में वर्षा होती है किन्तु वर्ष का काफी भाग शुष्क रहता है मानसूनी वर्षा भी इसी पेटी में होती है ।
3. **उपोष्ण कटिबन्धीय न्यूनतम वर्षा वाली** पेटी : यह पेटी 20^0 से 30^0 अक्षांशों से मध्य दोनों गोलार्द्धों मे स्थित है । यह उच्च दाब की पेटी है अत : प्रतिचक्रवातीय (शुष्क) दशाएँ पायी जाती है । यहाँ अधिकांश मरूथल स्थित है, जिनमें वर्षा का वार्षिक औसत 25 सेमी. से कम होता है । महाद्वीपों के पूर्वी भाग में आर्द्र पवनों से ग्रीष्मकाल में अधिक वर्षा होती है अत : इस पेटी में वार्षिक वर्षा का कुल औसत 20 सेमी. तक पाया जाता है ।

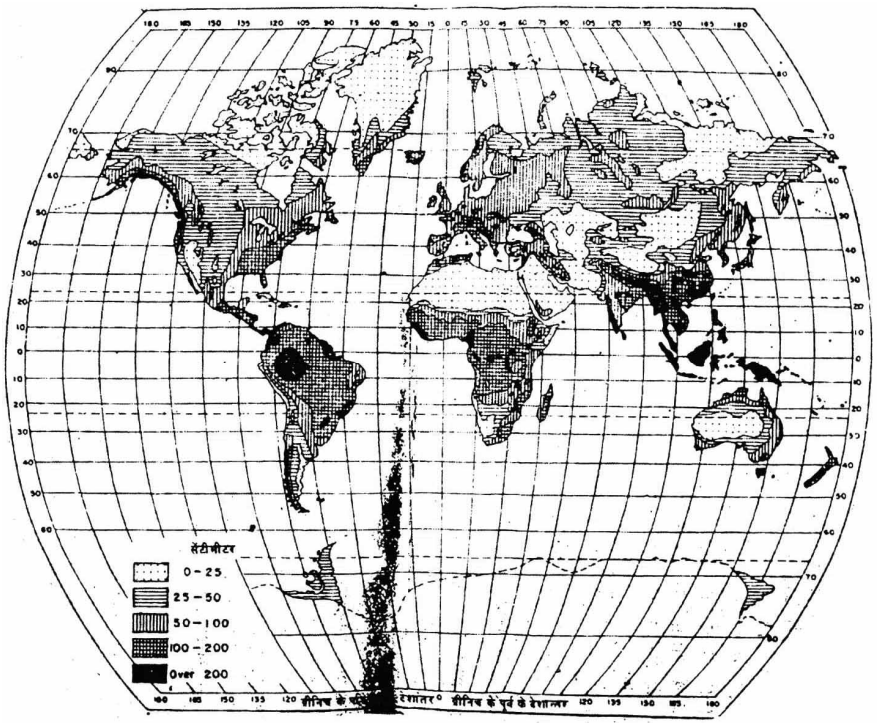

चित्र–12.16 : विश्व में वृष्टि का वितरण

4. **भूमध्यसागरीय वर्षा वाली पेटी :** इसका विस्तार 30^0 से 40^0 अक्षांशों के मध्य पाया जाता है । यहाँ शीतकाल में पछुवा पवनों एवं चक्रवातों से वर्षा होती है । यहाँ वार्षिक वर्षा का औसत 100 सेमी. तक रहता है । शुष्क ग्रीष्म ऋतु इस पेटी की प्रमुख विशेषता है क्योंकि इस समय यह पेटी शुष्क व्यापारिक पवनों के अन्तर्गत रहती है ।
5. **मध्य अक्षांशीय अधिक वर्षा की पेटी :** 40^0 से 60^0 अक्षांशों के मध्य दोनों गोलार्द्धों में पछुवा पवनों के क्षेत्र में यह पेटी स्थित है । यहाँ वार्षिक वर्षा का औसत 100 से 125 सेमी तक रहता है । महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में अधिक वर्षा होती है जो भीतरी भागों की ओर घटती जाती है । उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध में चक्रवातीय वर्षा के कारण अधिक वर्षा होती है ।
6. **ध्रुवीय न्यून वर्षा की पेटी :** 60^0 अक्षांशों से ध्रुवों की ओर वर्षा की मात्रा कम होती जाती है । ध्रुवों के निकट मात्र 25 सेमी. वार्षिक वर्षा होती है । अधिकांश वर्षा हिम के रूप में होती है ।

पेटरसन (Patterson) ने धरातल पर वर्षा की 8 पेटियाँ (विषुवतरेखीय पेटी के अतिरिक्त प्रत्येक गोलार्द्ध में 7 पेटियाँ) मानी है । उन्होनें वर्षा के मौसमी स्वभाव को वर्गीकरण का आधार माना है ।

(1) वर्ष भर अधिकतम वर्षा की पेटी – 7^0 उत्तर से 7^0 दक्षिणी अक्षांशों के मध्य ।

(2) शुष्क शीतकाल, आर्द्र ग्रीष्मकालीन वर्षा की पेटी – 7^0 से 16^0 ।

(3) हल्की ग्रीष्मकालीन वर्षा की पेटी – 16^0 से 20^0 ।

(4) सभी मौसम में शुष्क, न्यूनतम वर्षा की पेटी – 20^0 से 30^0

(5) हल्की शीतकालीन वर्षा की पेटी – 30^0 से 35^0 ।

(6) शुष्क ग्रीष्मकाल, आर्द्र शीतकाल – 35^0 से 45^0 ।

(7) वर्ष भर वर्षा, ग्रीष्मकाल मे अधिकतम – 40^0 से 70^0 ।

(8) वर्ष भर विरल वर्षा, अधिकांश हिम रूप में – 70^0 से 90^0 ।

बोध प्रश्न–3

1. वर्षा और फूहार (बौछार) में क्या अंतर है?

   .....

   .....

2. अतिशीतल जल बिन्दु क्या होता है?

   .....

   .....

3. कृत्रिम वर्षा में आर्द्रताग्राही केन्द्रकों के रूप में किसका उपयोग होता है?

   .....

   .....

4. संवहनीय वर्षा में किस मेघ से वर्षा होती हे?

   .....

   .....

5. ट्रिगर प्रभाव क्या होता है?

   .....

   .....

6. विश्व में सर्वाधिक वर्षा किस प्रदेश में होती है?

   .....

   .....

12.6 सारांश (Summary)

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत हम लोगों ने यह समझने की कोशिश की कि वायुमंडलीय दाब, पवनें, आर्द्रता एवं वर्षा क्या है तथा इन सभी का अंर्तसम्बन्ध क्या है । वायुदाब का अंतर पवनों को जन्म देता है तथा पवनें उच्च दाब से निम्न दाब वाले स्थानों की ओर चलती है । वायुदाब वायुधारा के आयतन को भी प्रभावित करती है तथा इसके फलस्वरूप हवा का तापमान भी घटता या बढ़ता है । इसी तरह वायु में आर्द्रता धारण करने की क्षमता वायु के तापमान पर निर्भर करती है क्योंकि अधिक गर्म वायु की जलवाष्प धारण क्षमता अधिक होती है तथा ठंडी हवा की जलवाष्प धारण क्षमता कम । पुन : वायु में उपलब्ध आर्द्रता उसका तापमान, वायुदाब तथा अन्य कई कारक वर्षा की मात्रा तथा उसकी तीव्रता का निर्धारण करते हैं ।

12.7 शब्दावली (Glossary)

- **वायुमंडलीय दाब:** वायु में भार होता है जिससे यह दबाव डालती है इसे वायुमंडलीय दाब कहते है ।
- **गरजता चालीसा :** 40^0 से 50^0 दक्षिणी अक्षांशों के बीच पछुआ हवाओं के तूफानी रूप को कहते है ।
- **अश्व अक्षांश :** उच्च वायुदाब 23^0 से 35^0 उत्तरी एवं दक्षिणी अक्षांशों के मध्य भाग को कहते है ।
- **फॉन :** आल्पस पर्वत (यूरोप की शुष्क और गर्म पवन) ।
- **चिनूक :** रॉकी पर्वत की शुष्क और गर्म पवन ।
- **हरमटन :** अफ्रीका के सहारा मरूस्थल से उत्तरी पूर्वी तथा पूर्वी दिशा से पश्चिम की ओर चलने वाली तेज, धुलयुक्त, गर्म एवं शुष्क हवा ।
- **लू :** उत्तरी भारत तथा पाकिस्तान में मई, जून रण जुलाई में चलने वाली अत्यन्त शुष्क और गर्म हवा ।
- **मिस्ट्रल :** फ्रांस तथा स्पेन में शीत ऋतु में चलने वाली ठंडी और शुष्क हवा ।
- **निरपेक्ष आर्द्रता :** हवा की प्रति इकाई आयतन में जल वाष्प की मात्रा भार ।
- **विशिष्ट आर्द्रता :** हवा के प्रति इकाई भार में जल वाष्प के भार को कहते है ।
- **सापेक्ष आर्द्रता :** किसी निश्चित तापमान पर हवा में मौजूद जलवाष्प की मात्रा ।
- **ओसांक :** जिस तापमान पर संघनन का आरंभ होता है ।
- **संघनन :** जल के गैसीय अवस्था से तरल अवस्था में बदलने की क्रिया ।
- **कुहरा तथा कुहासा :** पृथ्वी के धरातल पर या बिल्कुल उसके समीप संघनन के कारण कुहरा तथा कुहासा बनता है । कुहरा के जलकण का आकार कुहासा के जलकण की अपेक्षा बड़ा तथा सघन होता है ।
- **स्मॉग :** और औद्योगिक नगरों के आसपास कल –कारखानों के अं तथा कोहरे के मिश्रण को कहते है ।
- **स्मेज :** धुंए तथा धुंध के मिश्रण से बने कोहरे को स्मेज कहते है ।
- **विकिरण कुहरा :** भौमिक विकिरण द्वारा धरातल तथा उसके समीप की आर्द्रहवा के ठण्डे होने को विकिरण कहते है ।
- **अभिवचन कुहरा :** जब ठण्डे धरातल पर गर्म तथा आर्द्र हवा का क्षैतिज संचरण होता है तथा उष्णार्द्र तथा ठण्डी हवा मिलती है ।
- **वाताग्री कुहरा :** उष्णार्द्र हवा जो हल्की होती है ठण्डी तथा भारी हवा के ऊपर चढ़ने लगता है और ठण्डी हवा के सम्पर्क के आकर ठण्डी होने लगती है ।
- **पर्वतीय वर्षा :** जब कोई पर्वतीय बाधा गर्म और आर्द्र हवा को रोकती है तो यह ऊपर उठने से ठंडी होकर वर्षा करती है ।

12.8 संदर्भ ग्रंथ (Reference Book)

1. सिंह, सविन्द्र : **भौतिक भूगोल,** वसुंधरा प्रकाशन, गोरखपुर, 2000
2. शर्मा, एच.एस., शर्मा, एम.एल. व मिश्रा, आर.एन. : **भौतिक भूगोल,** पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2007
3. गौतम, अलका : **जलवायु एवं समुद्र विज्ञान,** रस्तोगी प्रकाशन, मेरठ, 2004
4. लाल, डी.एस. : **जलवायु एवं समुंद्र विज्ञान,** शारदा प्रकाशन, इलाहाबाद
5. Oliver, John E. and Hindore, John J. : **Climatolagy–An atmospheric Science,** Pearson Education, Delhi, 2002
6. Siddhartha, K. : **Atmosphere, weather and Climate,** Transworld Media and Communication Publication, Delhi, 1996

12.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1. उपोष्ण उच्च तथा उपध्रुवीय निम्न वायुदाब की पेटी ।
2. समान वायुदाब वाले स्थानों को मिलाते हुए खींची जाने वाली काल्पनिक रेखा को समदाब रेखा कहते हैं ।
3. 10^0 उत्तरी से 10^0 दक्षिणी अक्षांश जहाँ पवन के क्षैतिज संचरण का अभाव पाया जाता है, (क्योंकि अत्यधिक गर्मी के कारण पवन वायुधारा में परिवर्तित हो जाते है) शांतकटिबंध या डोलड्रम कहलाता है ।
4. उपोष्ण उच्च दाब कटिबंध ($23^{1/2^0}$ से 35^0 उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांश) को अश्व अक्षांश के नाम से जाना जाता है ।
5. सूर्य के उत्तरायण या दक्षिणायण होने के कारण
6. वायुदाब को मापने की इकाई
7. वायु का क्षैतिज संचरण, पवन तथा उर्ध्वाधर संचरण वायुधारा कहलाती है ।
8. चिनुक तथा फॉन
9. स्थल से सागर की ओर रात्रि में तथा सागर से स्थल की ओर दिन में बहने वाली समीर क्रमश : स्थल समीर, तथा सागर समीर कहलाती है ।

बोध प्रश्न – 2

1. निरपेक्ष आर्द्रता
2. वायु का वह तापमान जिस पर संघनन की क्रिया का आरम्भ होता है ।
3. जब वायु कीं सापेक्षिक आर्द्रता 100% हो, अर्थात उस तापमान पर वायु और अधिक आर्द्रता को धारण करने में असमर्थ हो तो उस वायु का संतृप्त वायु कहते है ।
4. आर्द्रताग्राही केंद्रक आर्द्रता को अपनी ओर आकर्षित करते है जिससे संघनन शुरू होता है ।
5. रूद्वोष्म प्रक्रिया

6. विकिरण कुहरा

बोध प्रश्न– 3

1. वर्षा की बूंदों का अर्द्धव्यास 0.5 मि.मी. से अधिक होता है जबकि फुहार का 0.5 मि.मी. से कम ।
2. 0 डिग्री से कम तापमान पर वायु में निलम्बित जल कण ।
3. ठोस कार्बनडाई ऑक्साइड या सिल्वर आयोडाइज्ड ।
4. कपासी वर्षा मेघ ।
5. पर्वतों के द्वारा ऊष्ण आर्द्र वायु को ऊपर उठाना जिससे संघनन हेतु कई अन्य प्रक्रियाओं का जन्म होता है ।
6. भूमध्यरेखीय प्रदेश में ।

12.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. वायुदाब किसे कहते हैं? भूमण्डल पर वायुदाब पेटियों का सचित्र वर्णन करें ।
2. वायुदाब तथा पवनों का संबंध बताते हुए भूमण्डल की सनातनी या ग्रहीय पवनों का सचित्र विवरण दीजिए ।
3. पृथ्वी पर वायुदाब की पेटियों का खिसकाव के कारणों और प्रभावों का समझाऐं ।
4. पवनों के प्रकारों को सविस्तार बताऐं ।
5. बादलों (मेघों) के प्रकार तथा उनकी विशेषताओं का वर्णन करें ।
6. आर्द्रता किसे कहते हैं? इसे व्यक्त करने की विधियों को बताऐं तापमान वायुदाब तथा आर्द्रता के बीच क्या संबंध है?
7. वर्षा की उत्पत्ति के सिद्धान्तों की समीक्षा करें ।
8. वर्षा के प्रकारों का सचित्र वर्णन करें तथा उनका विश्व वितरण बताऐं ।

इकाई 13 : वायु राशियाँ (Air Masses)

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 वायु राशियों के उत्पत्ति क्षेत्र

- 13.2.1 भूमध्य रेखीय क्षेत्र
- 13.2.2 उष्णकटिबन्धीय महाद्वीपीय क्षेत्र
- 13.2.3 उष्ण कटिबंधीय महा सागरी क्षेत्र
- 13.2.4 मानसूनीय वायु राशियों के क्षेत्र
- 13.2.5 उपध्रुवीय महाद्वीपीय वायु राशियों के क्षेत्र
- 13.2.6 ध्रुवीय सागरीय क्षेत्र

13.3 वायु राशियों का वर्गीकरण

- 13.3.1 वायु राशियों का महाद्वीपवार वितरण
  - 13.3.1.1 उत्तरी अमेरिका की वायु राशियाँ
  - 13.3.1.2 एशिया महाद्वीप की वायु राशियाँ

13.4 वाताग्र तथा चक्रवात

- 13.4.1 वाताग्रों की उत्पत्ति
  - 13.4.1.1 उष्ण वाताग्र
  - 13.4.1.2 शीत वाताग्र
  - 13.4.1.3 संशोधित वाताग्र
  - 13.4.1.4 स्थिर वाताग्र
- 13.4.2 प्रधान वाताग्र प्रदेश
  - 13.4.2.1 ध्रुवीय वाताग्र प्रदेश
  - 13.4.2.2 आर्कटिक वाताग्र प्रदेश
  - 13.4.2.3 भूमध्य सागरीय वाताग्र प्रदेश

13.5 चक्रवात

- 13.5.1 शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात
  - 13.5.1.1 स्थिति
  - 13.5.1.2 आकृति
  - 13.5.1.3 दिशा मार्ग
  - 13.5.1.4 चक्रवात का आगमन, मेघ एवं वर्षा
- 13.5.2 शीतोष्ण चक्रवातों के रूप

13.5.3 शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति

13.5.3.1 शीतोष्ण चक्रवात का जीवन चक्र

13.5.4 उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात

13.6 सारांश

13.7 शब्दावली

13.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

13.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप समझ सकेंगे –

- विशेष गुणों वाले वायु समूह को वायु राशियाँ कहते हैं,
- वायु राशियों के उत्पत्ति क्षेत्र,
- वायु राशियों का वर्गीकरण,
- वाताग्र लहरदार एवं विशेष ढाल वाला तल होता है,
- चक्रवात आकृति में वृताकार या अण्डाकार होते हैं,
- शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों की स्थिति, आकृति,
- शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति,
- उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात ।

13.1 प्रस्तावना (Introduction)

स्थानीय रूप से अनेक स्थानों पर लम्बे समय तक विशेष अनुकूल वातावरण के कारण पृथ्वी का कोई क्षेत्र अत्यधिक गर्म या अधिक ठंडा हो जाता है ऐसे प्रदेशों में संलग्र वायु भी यदि कुछ दिन तक स्थिर व शान्त रहे तो ऐसी वायु संलग्र प्रदेश के विशिष्ट गुण धारण कर लेती है ऐसे विशेष गुण निचली परतों में विकसित हो जाते हैं । इस तरह विशेष गुणों वाले वायु समूह को ही वायु राशियां कहते हैं इस प्रकार की वायु राशियां उष्ण या ठंडे प्रदेशों पर समुद्र या महाद्वीप पर कहीं भी कभी भी विकसित हो जाती हैं ।

वायु राशि विचारधारा को सबसे पहले प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व नार्वे के दो वैज्ञानिक वेहलम एवं जेकब वी जकैन्स (Vilhelm and Jacob Bjerknes) ने प्रतिपादित किया था । वर्तमान समय में यह वायु राशि का अध्ययन कहा जाता है वायु राशियों का विशेष अध्ययन ओसलों वेधशाला एव पश्चिमी यूरोप की अन्तर राष्ट्रीय ख्याति की अन्य वेधशालाओं में प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बराबर होता गया । आज मौसम विज्ञान में भी इन अध्ययनों का विशेष महत्व है क्योंकि मौसम में आने वाले अनेक प्रकार के आकस्मिक या सम्भावित परिवर्तन एवं उनका विशेष प्रभाव आने वाली वायु राशि के गुणों को अध्ययन कर आसानी से समझा जा सकता है । प्रत्येक वायु राशि के अलग –अलग ऊचांईयों पर गुण, उनकी प्रवाह दिशा गति, संसाधन का

स्वरूप उनके क्षेत्र विशेष के मौसम में होने वाले प्रभाव आदि का अध्ययन आसानी से किया जा सकता है ।

परिभाषा

1. **वायुराशि :** वायु के उस विशिष्ट एवम् विशाल पुंज को कहते हैं जिसमें तापमान एवं आर्द्रता का वितरण क्षैतिज पट्टियों में समरूप पाया जाता है ।

फिचं,ट्रिवार्था आदि

2. वायु राशियां विशाल क्षेत्र में अपने तापमान, आर्द्रता एवं विशिष्ट भौतिक गुणों में समरूप होती है ।

पीट्टसन

3. वायु का वह विशाल पुंज जिसमें भौतिक तल पर भौतिक लक्षणों की प्राय : सर्वत्र समरूपता पाई जाये, उसे वायु राशि कहते है ।

वान रियर

उपर्युक्त परिभाषाओं एवं व्याख्या के आधार पर वायु राशि के मुख्य लक्षण निम्न प्रकार के हैं ।

1. एक वायु राशि का उद्गम भूतल के विशिष्ट भाग में लम्बे समय तक वहां स्थित रहने से होता है ।
2. वायु राशि का विस्तार क्षैतिज तल पर हजारों वर्ग कि.मी. तक हो सकता है इनके एक भाग से दूसरे भाग तक विस्तार सैकड़ों कि.मी. भी हो सकता है ।
3. वायु राशि में तापमान एवं आर्द्रता का विस्तार क्षैतिज पट्टियों में होता है अर्थात ऊँचाई बढ़ने के साथ–साथ इनके लक्षणों में भी परिवर्तन आ सकता है । इस प्रकार सुविकसित वायु राशि में कई क्षैतिज पट्टियां हो सकती हैं ।
4. वायु राशियां जिन क्षेत्रों की ओर प्रवाहित होती है वहां के तापमान आर्द्रता एवं मौसम की दशा पर विशेष एवं तत्काल प्रभाव डालती है ।
5. वायु राशियां ज्यों–ज्यों अपने उद्गम स्थल से दूर जाती है त्यों–त्यों आगे के प्रदेशों से स्वयं भी प्रभावित होती है इससे वायु राशियों में तापीय व गतिय परिवर्तन होने लगते हैं उनका तापमान एवं अन्य लक्षण जैसे वायु दाब, नमी एवं गुप्त उष्मा भी प्रवाहित होती रहती है ।
6. अपने उद्गम स्थल से ज्यों–ज्यों ये वायु राशि बाहरी प्रदेशों में प्रसारित होती है उनमें संसोधन होने लगता है उसकी सघनता धीरे–धीरे घटने लगती है ऐसी वायु राशि 15 से 20 दिन में अपने अधिकांश गुण खो देती है
7. अपने उद्गम क्षेत्र के जलवायु सम्बन्धी गुण ग्रहण करने पर यह वायु राशियां बाहरी क्षेत्रों की ओर फैलने लगती है या धीरे –धीरे गतिशील होती जाती है ।
8. किसी भी वायु राशि की मौसम सम्बन्धी विशेषतायें दो मुख्य बातों पर निर्भर करती है (अ) इसका लम्बवत् तापक्रम का वितरण और (ब) इसमें आद्रता की मात्रा । लम्बवत तापक्रम का वितरण मुख्य रूप से न केवल गर्म या ठंडक की मात्रा वायु राशि में बल्कि उसमें स्थिरता की विशेषतायें प्रदर्शित होती है ।

13.2 वायु राशियों के उत्पत्ति क्षेत्र

संसार के किन प्रदेशों में किस प्रकार की वायुराशिया विकसित होती है या विकसित हो सकती है? वायु राशि के समुचित विकास के लिये विशेष वायुमंडली एवं तल सम्बन्धी दशायें या सागरीय सतह की विशेष स्थिर दशायें आवश्यक है अर्थात जिस क्षेत्र में वायु राशियां विकसित हो सकें वहाँ–

1. लम्बे समय तक वायु शान्त या स्थिर रहकर भूतल या सागर तल के अनेक विशेष गुण ग्रहण करने की क्षमता रहती है ।
2. सामान्यत : एक ही प्रकार के मौसम में ही वायु राशि अपने विशेष गुण ग्रहण कर पाती है अत : मौसम परिवर्तन समय, दो विभिन्न प्रकार की वायु के मिलने के स्थान अथवा वाताग्रों के क्षेत्र में वायु राशियाँ विकसित नहीं हो पाती हैं ।

सामान्यत : विश्व के जिन भागों में उच्च वायुदाव के क्षेत्र अथवा प्रति चक्रवातीय दशायें पाई जाती हैं वहाँ पर वायु राशियों के विकास के लिये बहुत ही आदर्श दशायें पाई जाती हैं । पृथ्वी की सतह पर वायु राशियों के प्रमुख रूप से 6 उत्पति क्षेत्र विशेष उल्लेखनीय है ।

13.2.1 भूमध्य रेखीय क्षेत्र

यह स्थल भाग के शान्त खण्डों में से एक है । यहाँ पर ऊँचे ताप एवं अधिक आर्द्रता तथा क्षेत्रिय हवाओं के अभाव धीमी गति से कहीं–कहीं व्यापारिक हवाओं के प्रमाद से उष्ण या विषुवत् रेखीय सामुद्रिक वायु राशि का अधिक विकास होता है ।

13.2.2 उष्णकटिबन्धीय महाद्वीपीय क्षेत्र

इसमें महाद्वीपीय अर्द्ध शुष्क एवं उष्ण प्रदेश का बड़ा भाग सम्मिलित है अत : ठंड में इसका क्षेत्र सिकुड़कर उत्तरी अफ्रीका तक ही रह जाता है इसमें मुख्य रूप से एशिया, अफ्रीका महा द्वीप तथा संयुक्त राज्य का मध्य एवं पश्चिमी भाग शामिल है । इस क्षेत्र की वायु राशि महाद्वीपीय उष्ण कटिबंधीय CT कहलाती है ।

13.2.3 उष्ण कटिबंधीय महासागरी क्षेत्र

उपोष्ण एवं उष्णकटिबन्धीय उच्च भार के स्थाई क्षेत्र कर्क व मकर रेखा के सागर क्षेत्रों में पाये जाते हैं । इस क्षेत्र पर उच्च वायुदाब के कारण शान्त या अश्व अक्षांश क्षेत्र पाये जाते हैं अत : इस क्षेत्र में उष्ण व आद्र सागरीय वायु राशि विकसित होती है इसे mT कहते हैं ।

13.2.4 मानसूनीय वायु राशियों के क्षेत्र

विशेषतौर से हिन्द महासागर व निकटवर्ती भू–भाग पर तथा पूर्वी चीन तथा पास के चीन सागर पर ऐसी वायु राशियां मौसम के अनुसार विकसित होती हैं । ग्रीष्मऋतु में यहां सागरीय वायु राशियों का एवं शीतकाल में महाद्वीपीय वायु राशियों का विशेष प्रभाव देखने को मिलता है ।

13.2.5 उपध्रुवीय महाद्वीपीय वायु राशियों के क्षेत्र

एशिया महाद्वीप उत्तरी अमेरिका के उपध्रुवीय एवं आन्तरिक क्षेत्र शीतकाल में विशेष ठंडे एवं बर्फीले हो जाते हैं तब यहाँ उच्च वायुदाब आदर्श दशायें पाई जाती हैं लगभग इसी समय ठंडी व शुष्क महाद्वीपीय वायु राशि विकसित होती है । इस प्रकार अंटार्कटिका महाद्वीप पर भी कुछ इसी तरह का विकास होता है इन्हें cP वायु राशि कहते हैं ।

13.2.6 ध्रुवीय सागरीय क्षेत्र

इन क्षेत्रों में भी बर्फीली ठंडी वायु राशि का विकास होता है किन्तु इनमें नमी रहने के कारण इनका प्रभाव परिवर्तनशील रहता है इन्हें mT (ध्रुवीय महासागरीय) वायु राशि कहते हैं ।

13.3 वायु राशियों का वर्गीकरण (Classification of Air Masses)

इस प्रकार ठंडी वायु राशियां उप ध्रुवीय व ध्रुवीय क्षेत्रों में उष्ण वायु राशियां, मानसूनी अथवा उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों से महाद्वीपीय वायु राशियां विशेष शान्त प्राय: एवं समतल प्राय : या लहरदार धरातल वाले अन्त : महाद्वीपीय प्रदेशों से एवं महाद्वीपीय वायु राशियां विशेष शान्त सागर क्षेत्रों (उष्ण व शीत–शीतोष्ण) से विकसित होती रहती है वायु राशियों का वर्गीकरण नीचे दिया गया है ।

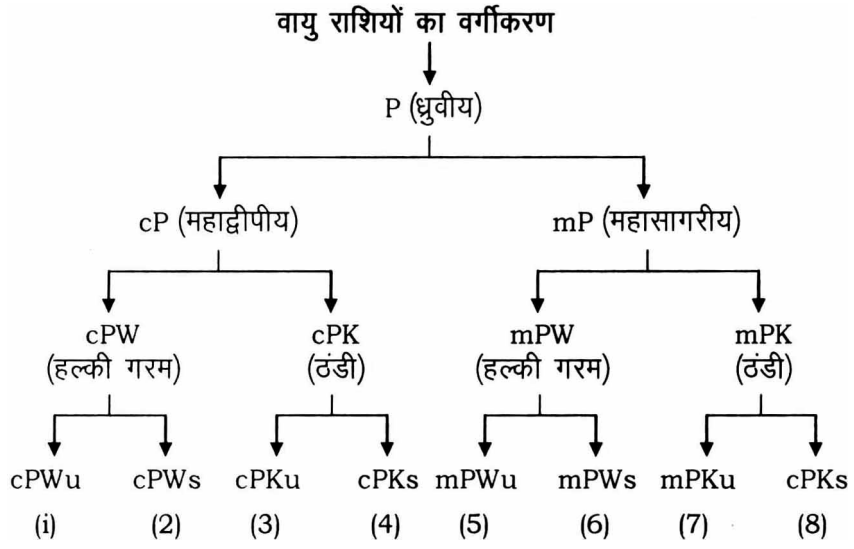

1. ध्रुवीय महाद्वीपीय हल्की गर्म अस्थिर वायु राशि (cPWu)
2. ध्रुवीय महाद्वीपीय हल्की गर्म स्थिर वायुराशि (cPWs)
3. ध्रुवीय महाद्वीपीय ठंडी अस्थिर वायु राशि (cPKu)
4. ध्रुवीय महाद्वीपीय ठंडी स्थिर वायु राशि (cPKs)
5. ध्रुवीय सागरीय हल्की गर्म अस्थिर वायु राशि (mPWu)
6. ध्रुवीय सागरीय हल्की गर्म स्थिर वायु राशि (mPWs)
7. ध्रुवीय सागरीय ठंडी अस्थिर वायु राशि (mPKu)
8. ध्रुवीय सागरीय ठंडी स्थिर वायु राशि (mPKs)

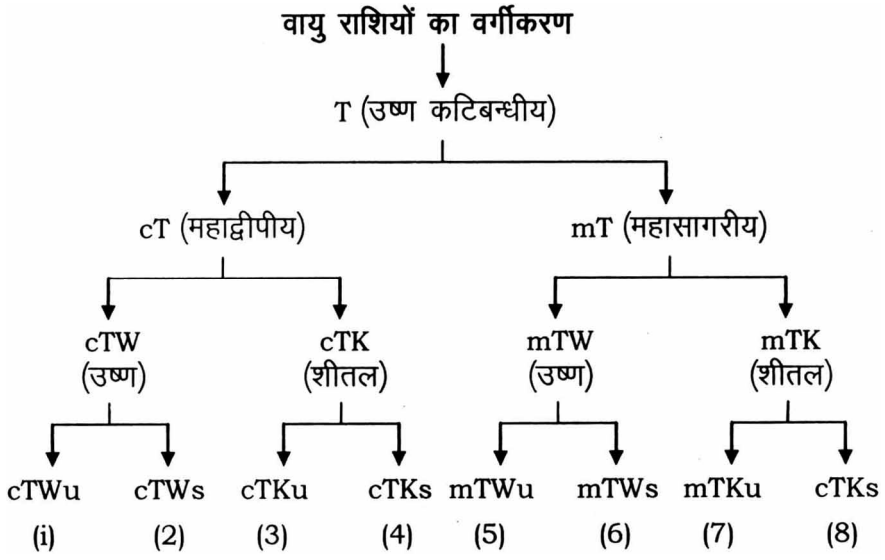

1. उष्ण कटिबन्धीय महाद्वीपीय गर्म व अस्थिर वायु राशि (cTWu)
2. उष्ण कटिबन्धीय महाद्वीपीय गर्म व स्थिर वायु राशि (cTWs)
3. उष्ण कटिबन्धीय महाद्वीपीय शीतल व स्थिर वायु राशि (cTKu)
4. उष्ण कटिबन्धीय महाद्वीपीय शीतल व स्थिर वायुराशि (cTKs)
5. उष्ण कटिबन्धीय सागरीय गर्म स्थिर वायुराशि (mTWu)
6. उष्ण कटिबन्धीय सागरीय गर्म व स्थिर वायु राशि (mTWs)
7. उष्ण कटिबन्धीय सागरीय शीतल व अस्थिर वायु राशि (mTKu)
8. उष्ण कटिबन्धीय सागरीय शीतल व स्थिर वायु राशि (mTKs)

13.3.1 वायु राशियों का महाद्वीप वार वितरण

विश्व के सभी महाद्वीपीय भागों में मौसम के अनुसार एवम् क्षेत्र विशेष के अनुसार वायु राशियों का प्रभाव रहता है वर्तमान समय की जलवायु एवं मौसम व्यवस्था ऐसी वायु राशियों की विशेषताओं से पूर्णतया प्रभावित है । अर्थात प्रत्येक महाद्वीप की वायु राशियों का अध्ययन विशेष रूप से महत्वपूर्ण होता जा रहा है नीचे महाद्वीपवार वायु राशियों का विस्तार क्षेत्र का विवरण दिया गया है ।

13.3.1.1 उत्तरीय अमेरिका की वायु राशियाँ

उत्तरीय अमेरिका महाद्वीप त्रिभुज के आकार का है जिसका आधार उत्तर की ओर है तथा अपेक्स भाग दक्षिण की तरफ निम्न अक्षांशों में स्थित है अमेरिका के विशेष आकार तथा भौगोलिक स्थिति के कारण महाद्वीप वायु राशियों की उत्पत्ति के लिये बहुत ही अनुकूल परिस्थितियां पाई जाती हैं और इन वायु राशियों में विभिन्न प्रकार की विशेषतायें पाई जाती हैं।

शीतऋतु की वायु राशियाँ

1. **ध्रुवीय महाद्वीपीय वायु राशियां (cP) :** इन वायु राशियों का विकास उत्तरीय हिमच्छादित महाद्वीपीय भाग में शीतकाल में होता है । यह वायु राशियां स्थिर रहती हैं किन्तु बसन्त

ऋतु में जब यह दक्षिण की ओर प्रवाहित होती है तो इस वायु राशि की बर्फीली वायु राशि की निचली परत कुछ गर्म होने लगती है और यह वायु राशि अस्थिर होकर विशेष प्रभावी बनती है इसका ठंडा प्रभाव मध्य संयुक्तराज्य व कभी–कभी दक्षिणी संयुक्त राज्य में भी पड़ता है जब दक्षिणी भाग में मार्च अप्रेल में तापमान गिर जाता है तो इससे कृषि एवं मानव कार्य क्षमता दोनों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है ।

2. **ध्रुवीय महासागरी वायु राशियां (mP) :** यह वायु राशियां दोनों ही ओर के महासागरों में विकसित होकर उत्तरी अमेरिका में प्रवेश करती हैं अत : इन्हें अन्ध महासागर एवं प्रशान्त महा सागरीय वायु राशि के नाम से जानते हैं ।

   ध्रुवीय महासागरीय वायु राशि जब ब्रिटिश कोलम्बीया तथा उत्तरी अमेरिका के उत्तरी तट पर पहुँचती है तो ध्रुवीय वायु राशि मेरी टाइम ध्रुवीय (mPk) वायु राशि में बदल जाती है। उत्तरी अमेरिका के तटीय क्षेत्रों में वायु राशियों के तापक्रम में तेजी से गिरावट आती है जिसके कारण वायु राशियां अस्थिर हो जाती है । इन वायु राशियों में निचले बादल बनते हैं जिनसे ठंड में वर्षा होती है । ध्रुवीय प्रशान्त महासागरीय वायु राशि का विकास बेरिंग सागर व एल्यूशियन द्वीप के आस–पास स्थल और जल पर होता है अत : ये अस्थिर वायु राशि है पछुवा हवाओं के प्रभाव से सागरीय भागों पर बहती हुई यह नमी ग्रहण कर लेती है यह राकीज पर्वत से टकराकर सर्दियों में भारी हिम वर्षा एवं गर्मियों में हल्की वर्षा करती है । चिप्स हवा इसी का पूरब की ओर का संशोधित व शुष्क रूप है ।

3. **उष्ण कटिबन्धीय महासागरीय वायु राशियों (mT) :** यह वायु राशियां भी महासागरों के दोनों ओर के भागों में विकसित होती है । अत : इन्हें अन्ध महासागरीय एवं प्रशान्त महासागरीय वायु राशि के नाम से जाना जाता है ।

   (अ) **उष्ण कटिबन्धीय अन्ध महासागरीय या खाड़ी की वायु राशि :** इस वायु राशि का विकास मुख्य रूप से मैक्सीको की खाड़ी एवं पूर्वी भाग के गर्म महासागरों में होता है। यह वायु राशि उष्ण एवं आद्र होती है जब भी मध्य संयुक्त राज्य के विक्षोभ मंडल में ध्रुवीय वायु राशि की शीतलता बढ़ जाती है तब संयुक्त राज्य के दक्षिणी तट एवं पश्चिमी द्वीप समूह में जबरदस्त वायु विक्षोभ की स्थिति एवं वाताग्र बनने से हरीकेन (उग्र उष्ण चक्रवात) इसी वायु राशि के प्रभाव से चलते हैं । ग्रीष्म ऋतु में नमी बढ़ने से यह वायु राशि विशेष अस्थिर एवं प्रभावी रहती है ।

   (ब) **उष्ण कटिबन्धीय प्रशान्त महासागरीय वायु राशि :** यह वायु राशि मैक्सीको एवं केलीर्फोनियां के पश्चिमी तटीय सागरों में विकसित होती है किन्तु केलीफोर्निया की ठंडी धारा के प्रभाव से इसके तापमान विशेष ऊँचे नहीं हो पाते हैं एवं आद्रता भी सामान्य रहती है अत : यह वायु राशि ग्रीष्मकाल की तुलना में शीतऋतु में अधिक प्रभावी रहती है भूमि अधिक ठंडी रहती है अत : तटीय भागों एवं पश्चिमी पर्वतीय ढालों पर वर्षा होती है ।

13.3.1.2 एशिया महाद्वीप की वायु राशियों

सबसे बड़े एशिया महाद्वीप में वायु राशियां विशिष्ट रूप से पाई जाती हैं इस महाद्वीप का विस्तार उत्तरी ध्रुव से भूमध्य रेखा तक पाया जाता है इस कारण यहाँ सबसे गर्म वायु राशियां एवं सबसे ठंडी वायु राशियां पाई जाती हैं । एशिया महाद्वीप में वायु दाब की विशिष्ट व्यवस्था मौसम के अनुसार सुविकसित होती है अत : यहाँ की वायु राशियों पर मानसूनी हवाओं का प्रभाव बना रहता है कई मामले में एशिया महाद्वीप एवं उत्तर अमेरिका महाद्वीप की वायु राशियों में काफी समानता पाई जाती है । यहा की मुख्य वायु राशियों की गतिशीलता एवं प्रभाव क्षेत्र पर नवीन खोज के अनुसार जेट स्ट्रीम के सीमान्तों एवं उनके प्रभावी स्वरूप का विशेष असर बना रहता है ।

1. **ध्रुवीय महाद्वीपीय ठण्डी वायु राशि :** विश्व में एशिया महाद्वीप का आन्तरिक भाग शीत ऋतु में पहले नम्बर का ठण्डी वायु राशियों का आदर्श प्रदेश है यहां की कठोर सर्दियां, बर्फीला धरातल, उच्च वायुदाब, सामुद्रिक प्रभाव का अभाव आदि सभी कारण मिलकर यहाँ आदर्श प्रति चक्रवातीय दशायें पैदा करते हैं । अत : यहां पर विशाल पैमाने पर ध्रुवीय महाद्वीपीय बर्फीली वायु राशि का विकास होता है इसी प्रभाव से हिमालय से उत्तर में केस्पीयन सागर से चीन तक कठोर बर्फीले तूफान कई दिन तक आते रहते हैं । यहाँ की जलवायु में बर्फ ग्ररिना एव स्वच्छ वायु मण्डल के विशेषतायें पाई जाती हैं । अत : कई बार दक्षिणी व पूर्वी भागों के तापमान में अचानक कई दिनों तक गिरावट आती है और यह हिमांक बिन्दु से नीचे चला जाता है इसे Cp वायु राशि कहते हैं । प्रारंभ में ये वायु राशि स्थिर होती है । बाद में पूर्वी तट के निकट यह अस्थिर होकर प्रशान्त महासागर की ओर जाती है, जापान, पीला सागर व पूर्वी चीन सागर के प्रभाव से इसमें पर्याप्त नमी पाई जाती है अत : यह अस्थिर गरम बनकर संशोधित cPWu वायु राशि बन जाती है इन्हीं के प्रभाव से पश्चिमी जापान, तटीय द्वीपों व कोरिया प्रायद्वीप के पश्चिमी भाग पर स्थानीय वर्षा या हिमपात होता है कभी –कभी इन वायु राशियों का प्रभाव पूर्वी चीन के मध्यवर्ती भाग तक भी दिखाई पड़ता है ।
2. **उष्णकटिबन्धीय महासागरी वायु राशियां :** इन्हें दो भागों में बांटा गया है ।
   (अ) प्रशान्त महासागरीय वायु राशि : हिन्देशिया एवं चीनसागर के मध्य गर्म क्यूरोसियों धारा के प्रवाह क्षेत्र में इस वायु राशि का विकास होता है । एशिया महाद्वीप में ग्रीष्मकाल में निम्न भार की दशायें विकसित होने से यह वायु राशि अस्थिर बनी रहती हैं । इसी के प्रभाव से ग्रीष्मकाल के शुरू में कभी–कभी महाद्वीप के विक्षोभ मण्डल में शीतल प्रभाव बना रहता है । इनसे दक्षिणी चीन से जापान तट तक कभी–कभी भयंकर तूफानी मौसम की दशा पाई जाती है यह भी मैक्सीको खाड़ी तट पर विकसित हरिकेन की भांति ही हानि पहुंचाने वाले होते हैं । चीन में मानसूनी वर्षा इसी वायु राशि के प्रभाव से होती है ।
   (ब) हिन्द महासागरीय उष्ण मानसून वायु राशि :दक्षिण एशिया में उत्तर भारत से सऊदी अरब तक ग्रीष्मकाल में तेजी से तापमान बढ़ने लगते हैं । एवं वायु दाब गिरने लगता

है । इसी समय यह वायु दाब भारत में अधिक गिर जाता है उसके प्रभाव से सम्पूर्ण हिन्दमहासागर में उष्ण मानसूनी वायु राशि ग्रीष्म ऋतु में तेजी से विकसित होने लगती है । इस उष्ण वायु राशि की गतिशीलता एवं उत्तर की ओर प्रवाह पर जेट स्ट्रीम धारा की सीमा का विशेष प्रभाव पड़ता है । ज्यों–ज्यों उत्तरी जैट स्ट्रीम तिब्बत की ओर खिसकती है त्यों–त्यों सागर की ओर से मानसूनी वायु राशि तेजी से भारतीय उपमहाद्वीप की ओर बढ़ती है । विशाल सागरीय तल की ओर से प्रभावित होकर इस वायु राशि में भारी मात्रा में नमी पाई जाती है इसी से विश्व की वायु राशि में ही बड़े पैमाने पर वायुमंडलीय अगाध (Atmospheric trough) विकसित होते रहते हैं यही मानसून के फूट पड़ने का भी कारण है जिसके प्रभाव से देश में दूर–दूर तक मध्यम से भारी व बहुत भारी वर्षा होती है । इसी अगाध के विकास के पहले एवं जेट स्ट्रीम के पुन : हिन्द महासागर की ओर खिसकते समय दक्षिणी बंगाल की खाड़ी में विशेष परिवर्तन की दशायें बन जाती हैं इसी से प्रतिवर्ष अप्रेल मई व नवम्बर महीनों में उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात बनते हैं ।

बोध प्रश्न–1

1. वायु राशियां किसे कहते है?

   .....

   .....

2. वायु राशियों के उत्पत्ति क्षेत्र कहां पाये जाते है?

   .....

   .....

3. ध्रुवीय वायु एशिया में कहाँ पाई जाती है?

   .....

   .....

4. उष्ण कटिबन्धीय महासागरीय क्षेत्र कहां स्थित है?

   .....

   .....

5. प्रशान्त महासागरी वायु राशि कहां पाई जाती है?

   .....

   .....

13.4 वाताग्र तथा चक्रवात (Fronts and Cyclones)

वाताग्र वह लहरदार एवं विशेष ढाल वाला तल होता है जहां कि आमने सामने से दो भिन्न–भिन्न भौतिक लक्षणों वाली अर्थात जिन वायु राशियों के ताप एवं नमी भिन्न हो, आपस में

आकर मिलती है । अत : सीमान्तों की उत्पत्ति की सम्पूर्ण क्रिया को सीमान्त उत्पत्ति प्रक्रिया कहते हैं । (चित्र 13.1)

सीमान्त की उत्पत्ति के लिये दो बातों का होना आवश्यक है ।

1. विपरीत भौतिक लक्षणों वाली वायु राशियां ।
2. एक ही तल पर विपरीत दिशा से इन वायु राशियों का आमने सामने मिलना या अभिसरण (convergence)

1. **विपरीत भौतिक लक्षणों वाली वायु राशियां :** वाताग्रों की उत्पत्ति के लिये दो विपरीत भौतिक लक्षणों वाली वायु राशियों का आमने सामने मिलना बहुत ही अनिवार्य है, नहीं तो वाताग्रों का विकास नहीं हो पाता । जब भारी ठण्डी एवं शुष्क ध्रुवीय वायु राशि या हल्की उष्ण एवं आर्द्र पछुआ पवनों का आमने सामने अभिसरण (convergence) होता है तो इस क्षेत्र में 5 से 50 कि. मी. चौड़ी वाताग्र पट्टी का विकास होता है । यहां पर शीतल व भारी वायु राशि भूमि से सटी हुई चलती है एवं गर्म व आर्द्र वायु राशि जो कि विशेष हल्की होती है ऊपर उठा देती है ।
2. **एक ही तल पर वायु राशियों का आमने सामने अभिसरण :** जब भी विपरीत भौतिक लक्षणों वाली (ताप व नमी) वायु राशियां आमने सामने मिलेंगी वहाँ पर वाताग्र उत्पत्ति हेतु यह पवने मिलेंगी तभी सीमान्तों या वाताग्रों की उत्पत्ति होगी पवनों के आमने सामने मिलने की प्रक्रिया को ही अभिसरण (convergence) कहते हैं ।

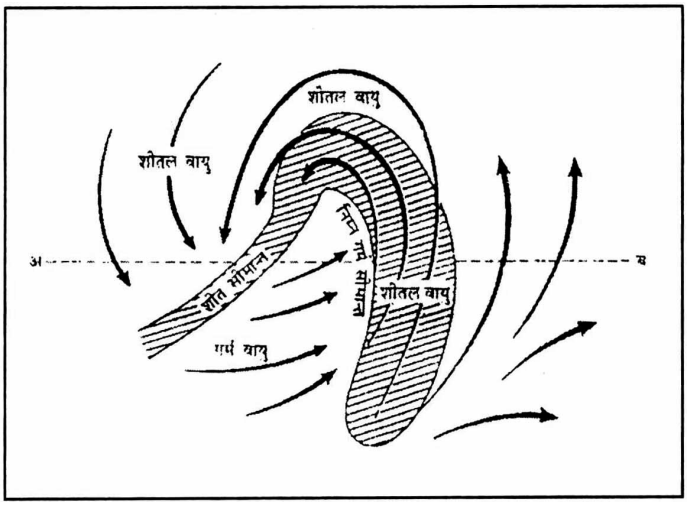

चित्र–13.1 : विकसित चक्रवात में सीमांत (वाताग्र) एवं वायुप्रवाह

13.4.1 वाताग्रों की उत्पत्ति (Frontogenesis)

पटरसन के अनुसार तल तथा धरातलीय तल को अलग करने वाली रेखा को वाताग्र कहते हैं । ट्रिवार्था के अनुसार जब कभी आमने सामने दो विभिन्न भौतिक लक्षणों वाली वायु राशियों का अभिसरण (convergence) होता है तो ऐसे क्षेत्र को वाताग्र उत्पत्ति क्षेत्र कहते हैं । वास्तव में वाताग्र तट रेखा की भांति रेखावत् नहीं होकर 5 से 50 कि.मी. की चौड़ी आकार की पट्टी होती

है । इस सम्पूर्ण तन्त्र की व्यवस्थित व्याख्या सर्व प्रथम जर्कनीय बन्धुओं (B & J Bjerknese) ने की और ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त (Polar Front Theory) प्रतिपादित किया बाद में इसमें अधिक मान्य तरंग सिद्धान्त (Wave Theory) को बीयर केनस नामक मौसम वेत्ता ने प्रस्तुत किया था । उसने बताया कि वास्तव में शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति ऐसे वाताग्रों से होती है जो कि तरंग जैसे होते हैं । वाताग्र भूतल से 500 मीटर से 3000 मीटर के मध्य विकसित होते हैं । वाताग्रों का वर्गीकरण (Classification of Fronts) ताप और आर्द्रता की भिन्नता के आधार पर वाताग्र को चार वर्गो में बांटा जा सकता है ।

1. उष्ण वाताग्र (Warm Front)
2. शीत वाताग्र (Cold Front)
3. संरोधित वाताग्र (Occluded Front)
4. स्थिर वाताग्र (Stationary Front)

13.4.1.1 उष्ण वाताग्र (Warm Front)

इस वाताग्र में उष्ण और हल्की वायु राशि अधिक आक्रामक होती है । यह शीघ्र धरातल को छोडकर शीतल वायु राशि तीव्रता से चढ़ती जाती है उष्ण वाताग्र का झुकाव न्यून कोण पर होता है इसमें शीतल हवा पीछे की ओर दबती जाती है ।

13.4.1.2 शीत वाताग्र (Cold Front)

प्राय : चक्रवात के पृष्ठ भाग में ठण्डी और भारी वायु राशि आक्रामक होती है यह गर्म और हल्की वायु राशि को ऊपर धकेल देती है अत : इसमें शीतल वायु राशि उष्ण वायु राशि को प्रतिस्थापित कर देती है इससे वायु मंडल में विक्षोभ (disturbance) उत्पन्न होता है गर्म वायु राशि के तेजी से 1 से 2 कि.मी. तक ऊपर उठने एवं ठण्डी वायु राशि के प्रभाव से हिमपात या ओला वृष्टि चक्रवात के ऐसे पृष्ठ भाग में हो जाती है ।

13.4.1.3 संरोधित वाताग्र (Occluded Front)

जब उष्ण वाताग्र निरंतर हल्की व आद्र पवनों के प्रभाव से ऊपर उठता जाता है तभी पीछे से निरंतर आगे बढ़ती हुई ठण्डी वायु राशि अपनी तीव्रगति से गर्म वायु राशि को भूमि से पूरी तरह ऊपर उठा देती है । इससे भूमि पर तो ठण्डी वायु राशि फैल जाती है किन्तु मध्य के भागों में भूमि से 50–100 मी. की ऊँचाई पर गर्म पवने प्रभावशाली रहती हैं । इसे ही संरोधित वाताग्र कहते हैं यह शीतोष्ण चक्रवातों की अन्तिम स्थिति होती है ।

13.4.1.4 स्थिर वाताग्र (Stationary Front)

जब आमने सामने बहने वाली वायु राशियां एक दूसरे के प्राय : समानान्तर बहती हैं तब उनके बीच का वाताग्र स्थिर स्थिति में आ जाता है ऐसा कुछ ही समय के लिये होता है । इसी दशा को स्थिर वाताग्र कहते हैं शीघ्र ही यहां लहरदार वाताग्र बनने लगता है क्योंकि गर्म व नम

पछुआ हवायें ध्रुवीय भारी पवनों पर आक्रामक बन कर प्रहार करती है अत : यहां उष्ण वाताग्र बनने लगता है ।

13.4.2 प्रधान वाताग्र प्रदेश

भूतल पर शीत व शीतोष्ण कटिबन्धों में निम्न प्रधान वाताग्र प्रदेश पाये जाते हैं ।

13.4.2.1 ध्रुवीय वाताग्र प्रदेश (Polar Frontal Zone)

उत्तरी व दक्षिणी गोलार्ध के (50^0 से 70^{0}' के मध्य) के उच्च अक्षांशों में विशेषकर शीतकाल में ध्रुवीय एवं उपोष्ण वायु राशियों का अभिसरण अधिक प्रभावी व गतिशील बना रहता है इससे इस क्षेत्र में लहरदार ध्रुवीय वाताग्र प्रदेश का विकास होता है यह विकास दो प्रदेशों में होता है : (अ) अन्ध महासागरीय वाताग्र का विकास उत्तरी आन्ध्रमहासागर में होता है । (ब) प्रशान्त महासागरीय वाताग्र का विकास उत्तरी एवं उत्तर पूर्वी प्रशान्त में उत्तर अमेरिका के पश्चिमी तट से झील प्रदेश तक फैला है । ध्रुवीय वाताग्र प्रदेश की क्रियाशीलता ग्रीष्मकाल में सिथिल पड़ जाती है ।

13.4.2.2 आर्कटिक वाताग्र प्रदेश (Arctic Frontal Zone)

इस वाताग्र की उत्पत्ति अपेक्षाकृत सकरे क्षेत्र में उत्तरी ध्रुव प्रदेश में होती है । यहां पर आर्कटिक महाद्वीपीय एवं आर्कटिक महासागरी गतिशील वायु राशियों के मिलने से ऐसा वाताग्र थोड़े समय के लिये सीमित आर्कटिक तटीय क्षेत्रों में विकसित होकर गतिशील रहता है।

13.4.2.3 भूमध्य सागरीय वाताग्र प्रदेश (Mediterranean)

पछुआ वायु राशि की पेटी के शीत काल में विषुवत रेखा की ओर खिसकने से भूमध्य सागर क्षेत्र में इस वाताग्र प्रदेश का विकास होता है। इसमें यूरोप व मध्य एशियाई कठोर ठण्डी व शुष्क वायु राशि उत्तरी अफ्रीका की पछुआ वायु मिश्रित नम वायु राशि से भूमध्य सागरीय पट्टी की उत्तरी सीमा पर मिलती है।

बोध प्रश्न –2

1. वाताग्र किसे कहते हैं ?

.....

.....

2. वाताग्र कितने प्रकार के होते ?

.....

.....

3. संरोधित वाताग्र किसे कहते हैं ?

.....

.....

4. स्थिर वाताग्र किसे कहते हैं?

.....

.....

13.5 चक्रवात (Cyclones)

सामान्यतया चक्रवातों को ऐसे निम्न वायु दाब केन्द्र के रूप में जाना जाता है जो वृताकार या अण्डाकार समदाब रेखाओं से घिरे होते है इसमें परिधि से केन्द्र की ओर हवायें चलने लगती हैं तथा इन हवाओं की दिशा उत्तरी गोलार्ध में घड़ी की सूईयों की दिशा के विपरीत जबकि दक्षिणी गोलार्ध में घड़ी की सुईयों के अनुरूप होती है । किसी भी स्थान के प्रत्येक दिन की मौसमी दशाओं का दीर्घकालीन औसत अवस्था ही वहाँ की जलवायु का निर्धारण करता है इसलिये चक्रवातों का मौसम तथा जलवायु में महत्वपूर्ण स्थान होता है । क्योंकि चक्रवातों के किसी भी स्थान पर पहुँचने पर वहां के मौसम में पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है चक्रवात निम्न वायु दाब का एक केन्द्र है ।

अत : चक्रवात आकृति में वृताकार (circular) या अण्डाकार होते हैं इनके केन्द्र में सबसे न्यून वायुदाब रहता है । उनमें जितनी निकट समदाब रेखायें होंगी, वायु की गति एव मौसम उतना ही उत्पाती बना रहेगा । प्राय : मध्य अक्षांशीय अथवा शीतोष्ण चक्रवातों में समभार रेखायें दूर–दूर रहती हैं जबकि उष्ण कटिबन्धीय या निम्न अक्षांशीय चक्रवातों में समभार रेखायें विशेष रूप से निकट होती हैं ।

13.5.1 शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात (Temperate cyclones)

शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात दोनों गोलार्धो में मध्य अक्षांशों अर्थात 35^0 से 65^0 अक्षांशों के मध्य के क्षेत्रों में उत्पन्न होते हैं इस कटिबन्ध उत्पन्न वायुमण्डलीय विक्षोभ पछुआ पवनों के प्रभाव में पश्चिम से पूर्व की दिशा की ओर चलते हैं ये वायु विक्षोभ केन्द्र में कम दाब तथा बाहर की ओर अधिक वायुदाब वाले होते हैं ये अधिकतर गोलाकार अण्डाकार अथवा P आकार के होते हैं । शीतोष्ण चक्रवातों में अधिकांशत : वर्षा मध्यवर्ती भाग से कुछ पहले होती है ऐसे चक्रवातों का मौसम पिछले भाग में विशेष परिवर्तनशील एवं तूफानी होता है उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों में सर्वत्र घने बादल, भारी वर्षा तूफानी पवनें इनकी विशेषता होती है । केन्द्र में सभी कुछ शान्त रहता है इसे चक्रवात की आँख कहते हैं । दोनों ही प्रकार के चक्रवातों में कई प्रकार के घने बादल छाये रहते हैं ।

चक्रवातों के प्रकार

पृथ्वी के विभिन्न क्षेत्रों में प्रभावी चक्रवातों को दो वर्गो में बांटा जा सकता है ।

(अ) शीतोष्ण कटिबन्धीय या मध्य अक्षांशीय चक्रवात (Temperate or midlatitude cyclones or lows and depressions)

(ब) उष्णकटिबन्धीय चक्रवात या हरिकेन (Tropical cyclones or Huricanes)

शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात (Temperate cyclones)

13.5.1.1 स्थिति

शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात दोनों गोलार्द्धों में मध्य अक्षांशों अथार्त 35^0 से 65^0 अक्षांशों के मध्य के क्षेत्रों में उत्पन्न होते हैं शीत ऋतु में वायुदाब पेटियों के विषुवत रेखा की ओर खिसकने पर इनका प्रभाव क्षेत्र 30^0 उत्तरी व दक्षिणी अक्षांशों तक बढ़ जाता है । उत्तरी गोलार्द्ध में विशेषकर पश्चिमी यूरोप के उत्तरी भागों में यह चक्रवात 70^0 उत्तरी अक्षों तक प्रभावी रहते हैं । इनका दिशा मार्ग प्राय : पछुआ हवाओं की पेटी के सहारे पश्चिम से पूर्व की ओर रहता है । ये वायु विक्षोभ केन्द्र में कम दाब तथा बाहर की ओर अधिक वायुदाब वाले होते हैं ।

13.5.1.2 आकृति

शीतोष्ण चक्रवातों की आकृति गोलाकार, अण्डाकार अथवा V आकार के होते हैं । यदि कोई वृताकार उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात अपने सीमान्त प्रदेश से मध्य अक्षांसीय प्रदेश में प्रवेश कर भी जाता है तो वह भी वृताकार से अण्डाकार आकृति धारण कर लेगा । इनकी लम्बाई पूर्व–पश्चिम दिशा में प्राय : 600 से 1600 कि.मी. के मध्य रहती है किन्तु कभी–कभी इनका विस्तार विशेष दशाओं में 3200 कि.मी. तक भी हो सकता है कभी–कभी इनका क्षेत्रफल दस लाख वर्ग कि.मी. तक होता है ।

13.5.1.3 दिशा मार्ग

शीतोष्ण चक्रवात निरंतर गतिशील रहते हैं यह चक्रवात पछुआ हवाओं के सहारे पश्चिम से पूर्व की ओर चलते हैं । इनकी गति 30 से 45 कि.मी. प्रति घंटा रहती है जबकि इनके भीतर बहने वाली पवनों की गति 15 से 25 कि.मी. प्रति घण्टा रहती है । अत : यह चक्रवात उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों की भांति न तो घातक होते हैं न ही भारी नुकसान करती है ।

13.5.1.4 चक्रवात का आगमन, मेघ एवं वर्षा

शीतोष्ण चक्रवात के आगमन के साथ–साथ तापमान धीमी गति से बढ़ने लगता है तब मंद हवा चलती है । कुछ घण्टों बाद या बारह घण्टे बाद बादल गहरे एवं आकाश में घने बादलों से सूर्य छिप जाता है और धीरे–धीरे वर्षा होने लगती है वायु में अस्थिरता की दशा रहने पर अधिक वर्षा होती है । इस भाग में उष्ण वाताग्र का एवं उष्ण व आर्द्र पवनों का पूर्ण प्रभाव बना रहता है ।

13.5.2 शीतोष्ण चक्रवातों के रूप

शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति मुख्यत : तापक्रम में परिवर्तन के परिणामस्वरूप होती है यद्यपि कुछ चक्रवात अन्य कारणों से भी उत्पन्न होते हैं । शीतोष्ण चक्रवातों को उनकी उत्पत्ति एवं विशेषताओं के अनुसार निम्न तीन प्रकारों में बाँटते हैं ।

1. **तापीय चक्रवात (Thermal Cyclone)**
2. **गतिक चक्रवात (Dynamic Cyclone)**
3. **उपचक्रवात (Secondary Cyclone)**

(i) **तापीय चक्रवात :** तापीय चक्रवात मुख्य रूप से सूर्य ताप से सम्बंधित होते हैं ग्रीष्मकाल में मध्य अक्षांशों में स्थलीय भाग अत्यधिक गर्म हो जाते हैं जिससे वहां पर निम्न दाब केन्द्र बन जाता है ये चक्रवात स्थायी कहलाते हैं जो अपने उत्पत्ति क्षेत्र में ही स्थिर रहते हैं । इनके द्वारा मौसम में बहुत कम समय के लिये परिवर्तन होता है । शीत ऋतु में जब उष्ण सागरीय भाग जो चारों ओर से ठण्डे स्थली भागों से घिरे होते हैं पर निम्न वायु दाब का केन्द्र बन जाता है एवं तापीय चक्रवात की उत्पत्ति होती है । फारस की खाड़ी के आस–पास के क्षेत्रों में इस तरह के तापीय चक्रवात प्रमुख रूप से उत्पन्न होते हैं ।

(ii) **गतिक चक्रवात :** गतिक चक्रवातों का निर्माण उष्ण सागरीय आर्द्र वायुराशियों तथा ठण्डी ध्रुवीय हवाओं के मिलने से होता है ये चक्रवात एक विस्तृत क्षेत्र के मौसम को प्रभावित करते हैं प्राय: गतिक चक्रवात ही शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात कहलाते हैं ।

(iii) **उपचक्रवात** : इस प्रकार के चक्रवातों का निर्माण मुख्य चक्र वात के समाप्त हो जाने के पश्चात ध्रुवीय सीमान्त की ठंडी हवा के उष्ण सागर के ऊपर प्रवाहित होने पर होता है ये चक्रवात काफी कमजोर तथा थोड़े समय के लिये ही उत्पन्न होते हैं ।

13.5.3 शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति (Origin of Temperate Cyclones)

मौसम पर चक्रवातों द्वारा पड़ने वाले महत्वपूर्ण प्रभावों को देखते हुए अनेक विद्वानों ने चक्रवातों की उत्पत्ति के सम्बंध में अपने–अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं । यद्यपि आज तक कोई भी ऐसा सिद्धान्त नहीं प्रतिपादित हो सका है जिस सिद्धान्त को पूर्ण मान्यता मिली हो । चक्रवातों की उत्पत्ति के सम्बंध में सबसे पहले सन् 1863 में फिट्जराय (Fitzroy) ने बताया कि चक्रवातों की उत्पत्ति दो विभिन्न गुणों वाली वायुराशियों के आपस में मिलने से होती है उन्होंने बताया कि उपोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र से गर्म तथा आर्द्रता पूर्ण हवायें ध्रुव प्रदेश की ओर तथा ध्रुवीय प्रदेश की ठण्डी हवायें उपोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों की तरफ चलती है बी. वर्कनीज (B. Bjerkenes) तथा उनके पुत्र जे. बर्कनीज (J. Bjerkenes) ने 1914–18 में यह पता लगाया कि शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्र वातों का वाताग्रों (Fronts) से गहरा सम्बंध है, उन्होंने शीतोष्ण चक्रवातों के सम्बंध में जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया वह ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त (Polar Front Theory) कहलाया । वर्तमान समय में यह सिद्धान्त सबसे अधिक लोकप्रिय तथा मान्य है । इस सिद्धान्त के आधार पर शीतोष्ण चक्रवातों के विकास का कारण भिन्न–भिन्न लक्षणों वाली वायु राशियों के विशेष वाताग्रों के सहारे मिलने एवं उनमें आपस में क्रिया प्रतिक्रिया होने से होता है इस तरह चक्रवात का जीवन चक्र विकसित होता है इन विद्वानों ने चक्रवात के इस जीवन चक्र को छ : अवस्थाओं में सचित्र बताया (चित्र–13.2) ।

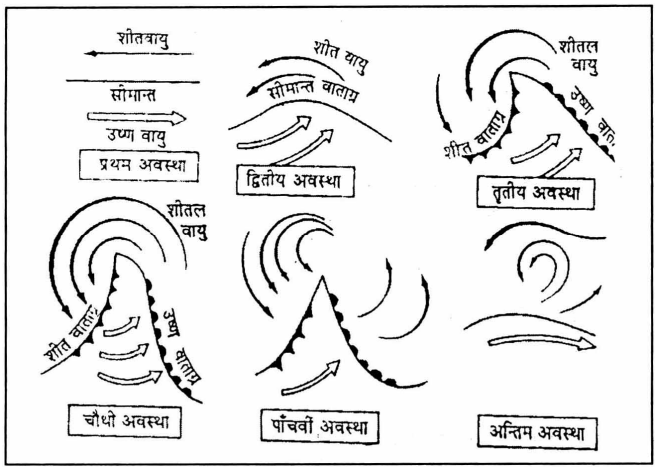

चित्र–13.2 : शीतोष्ण चक्रवात के जीवन–चक्र की छ : अवस्थाएँ

शीतोष्ण चक्रवात के विकास में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि गर्म हवा हल्की गत्यात्मक (Dynamic) एवं विशेष आद्रर्तायुक्त होती है अत : वह निरंतर ठण्डी हवा की ओर दबाव डालती हुई खुद भी ऊपर उठती जाती है इस प्रकार ठण्डी व गर्म हवाओं को पृथक करने वाला तल लहरदार बनता जाता है आगे की ओर दबाव डालती पछुआ हवायें जहां ठण्डी ध्रुवीय वायु राशि से घिरने लगती है वहीं इस लहर दो खण्ड के मध्यवर्ती भाग में निम्न वायुदाब की दशा विकसित होने के साथ ही शीतोष्ण चक्रवात विकसित रूप ले लेता है । (चित्र–13.2) तीसरी व चौथी अवस्था) । इसी समय जहाँ पूर्वी भाग में गर्म हवाओं के विशेष गतिशील प्रभाव से उष्ण वाताग्र विकसित होता जाता है वहीं इससे कुछ दूरी पर चक्रवात के पिछले भाग में ठण्डी हवायें भूमि पर रेंगती हुई अपना प्रभाव क्षेत्र पुन : स्थापित करने की कोशिश करती है अत : वहां शीत वाताग्र विकसित हो जाता है ।

इस प्रकार निरंतर विकासमान शीतोष्ण चक्रवात के पूर्वी भाग में उष्ण वाताग्र तथा पश्चिमी भाग में शीत वाताग्र विकसित अवस्था में रहता है । उष्ण वाताग्र के सहारे उष्ण वायु शीतल वायु के ऊपर उठती है इसके विपरीत शीत वाताग्र के सहारे ठंडी वायु उष्ण वायु को ऊपर की ओर ढकेलती है । चक्रवात के पूर्वी भाग में उष्ण वायु के बढ़ने के साथ ही वायुदाब का स्पष्ट व केन्द्रीय भाग विकसित हो जाता है इससे निकट की वायु तीव्रता से केन्द्र कीं ओर पहुंचने का प्रयास करती है इसके फलस्वरूप शीत वाताग्र उष्ण वाताग्र की अपेक्षा तेजी से उष्ण वाताग्र की ओर बढ़ता है । इसी कारण दोनों वाताग्र निकट आने लगते हैं । जब शीत वाताग्र उष्ण वाताग्र को ऊपर उठा देता है तभी वहां संरोधित वाताग्र (Occluded Front) बन जाता है (चित्र–13.2) इसी के साथ वहा का शीतोष्ण चक्रवात समाप्त होने लगता है ।

13.5.3.1 शीतोष्ण चक्रवात का जीवन चक्र (Life cycle of temperate cyclones)

शीतोष्ण चक्रवात की उत्पत्ति एवं जीवन चक्र छ : क्रमिक अवस्थाओं में निम्न प्रकार से पूरा होता है (चित्र–13.2) ।

प्रथम अवस्था : इसमें ठंडी वायु तथा गर्म वायु एक दूसरे के विपरीत दिशा में बहती है । यहा स्थिर वाताग्र बनते हैं ।

दूसरी अवस्था : इस अवस्था में गर्म पछुआ पवन ठण्डी वायु में प्रवेश करने का प्रयास प्रारंभ करती है जिसके परिणाम स्वरूप लहर दरा वाताग्र बनने लगता है ।

तृतीय अवस्था : इस अवस्था में चक्रवात की उत्पत्ति स्पष्ट होती जाती है इसमें उष्ण और शीत वाताग्र का विकास होता है ।

चतुर्थ अवस्था : शीत वाताग्र के तेजी से आगे बढ़ने के कारण उष्ण वृतांत (Water section) संकुचित होता जाता है यहाँ आकृति संकरे वेज या V आकार की होती जाती है ।

पंचम अवस्था : इस अवस्था में शीत वाताग्र निरंतर उष्ण वाताग्र को ऊपर उठाता जाता है इस प्रकार वहां संरोधित वाताग्र (Oceluded Front) बनता जाता है इसको चक्रवातों व मौसम मानचित्रों में एक कटी रेखा द्वारा भी बताते हैं ।

छठी एवं अन्तिम अवस्था : इस अवस्था में उष्ण वृतांत (Warm sector) पूर्णत : ऊपर उठ जाता है अत : चक्रवात समाप्त हो जाता है । इसके साथ ही पुन : प्रथम अवस्था जैसी स्थिति आ जाती हे ।

13.5.4 उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात (Tropical cyclones)

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों की उत्पत्ति कर्क तथा मकर रेखाओं के बीच होती है ये चक्रवात अत्यधिक शक्तिशाली एवं विनासकारी होते हैं । शीतोष्ण चक्रवात के समान इन चक्रवातों में समानता नहीं होती है इन चक्रवातों को अलग–अलग जगह पर भिन्न–भिन्न नामों से जाना जाता है पूर्वी द्वीपों, जापान, चीन तथा फिलियीन्स के निकट इन्हें "टाइफून" हिन्द महासागर में साइक्लोन, पश्चिमी द्वीप समूह के निकट इन्हें हरिकेन के नाम से जाना जाता है । जापान में इन्हें ताइफू (Taifu) भी कहा जाता है

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात में केवल एक ही वाताग्र होता है । इनके आकार में पर्याप्त अन्तर होता है इनका व्यास 500 से 800 कि.मी. तक पाया जाता है । इनकी ऊँचाई भी भिन्न होती है इनकी ऊंचाई धरातल से करीब 15000 मी. तक पाई जाती है ये चक्रवात काफी तीव्र गति से आगे बढ़ते हैं परन्तु कभी–कभी किसी स्थान पर कुछ समय के लिये स्थिर भी हो जाते हैं । जिससे उस स्थान पर तीव्र वर्षा होती है । ये चक्रवात सागरीय भागों में काफी तीव्र तथा स्थलीय भाग में धीमें पड़ जाते हैं इन चक्रवातों का प्रभाव महाद्वीपों के किनारे पर सर्वाधिक दिखाई देता है यहां पर ये चक्रवात अधिक विनाशकारी रूप में प्रगट होते हैं । इन चक्रवातों के केन्द्र की ओर न्यून वायु दाब पाया जाता है तथा बाहर की ओर वायुदाब में तीव्र वृद्धि दिखाई देती है इस कारण बाहर से केन्द्र की ओर तीव्र गति से हवायें चलने लगती हैं इससे भयंकर तूफानों की उत्पत्ति होती है ।

बोध प्रश्न –3

1. चक्रवात किस आकृति के होते?

   .....

   .....

2. हरिकेन किसे कहते?

.....

.....

3. शीतोष्ण चक्रवात किन अक्षांशों में पाये जाते है?

.....

.....

4. गतिक चक्रवात किसे कहते?

.....

.....

5. शीतोष्ण चक्रवात का जीवन चक्र क्या होता है?

.....

.....

6. उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात की उत्पत्ति कहां होती हे?

.....

.....

13.6 सारांश (Summary)

विशेष गुणों वाले वायु समूह को ही वायु राशियां कहते है इस प्रकार की वायु राशियां उष्ण या ठंडे प्रदेशों पर समुद्र या महाद्वीप पर कही भी कभी भी विकसित हो जाती है । वायु राशियां विशाल क्षेत्र में अपने तापमान, आर्द्रता एवं विशिष्ट भौतिक गुणों में समरूप होती है । सामान्यत : विश्व के जिन भागों में उच्च वायु दाब के क्षेत्र में अथवा प्रति चक्रवातीय दशायें पाई जाती है वहाँ पर वायु राशियों के विकास के लिये बहुत ही आदर्श दशायें पाई जाती है । ठंडी वायु राशियाँ उपध्रुवीय व ध्रुवीय क्षेत्रों में तथा उष्ण वायु राशियां मानसूनी अथवा उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में विकसित होती है ।

वाताग्र विशेष ढाल वाला तल होता है जहाँ कि आमने–सामने से दो भिन्न–भिन्न भौतिक लक्षणों वाली वायु राशियों के ताप एवं नमी भिन्न हो आपस में आकर मिलती है जब कभी आमने–सामने से विभिन्न भौतिक लक्षणों वाली वायु राशियों का अभिसरण होता है तो ऐसे क्षेत्र को वाताग्र उत्पत्ति क्षेत्र कहते है । भूतल पर शीत व शीतोष्ण कटिबन्धों में भिन्न वाताग्र प्रदेश पाये जाते है । (1) ध्रुवीय वाताग्र (2) आर्कटिक वाताग्र (3) भूमध्य सागरीय वाताग्र ।

सामान्यतया चक्रवातों को ऐसे निम्न वायु दाब केन्द्र के रूप में जाना जाता है जो वृताकार या अण्डाकार समदाब रेखाओं से घिरे होते है । इसमें परिधि से केन्द्र की ओर हवायें चलने लगती है । चक्रवातों के किसी भी स्थान पर पहुँचने पर वहाँ के मौसम में पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है चक्रवात निम्न वायु दाब का एक केन्द्र होता है । चक्रवातों में जितनी निकट समदाब रेखायें होगी, वायु की गति एवं मौसम उतना ही उत्पाती बना रहेगा । शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात दोनों गोलर्द्धों में मध्य अक्षांशों अर्थात 35^0 से 65^0 अक्षांशों के मध्य के क्षेत्र में उत्पन्न होते है। शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति एवं जीवन चक्र छ : क्रमिक अवस्थाओं में पाया जाता हे ।

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों की उत्पत्ति कर्क तथा मकर रेखाओं के बीच होती है ये चक्रवात अत्यधिक शक्तिशाली एवं विनाशकारी होते है ।

13.7 शब्दावली (Glossary)

- **वायु राशियां :** विशेष गुणों वाले वायु समूह को ही वायु राशियां कहते हैं ।
- **मानसून वायु राशि क्षेत्र :** हिन्द महासागर व निकटवर्ती भूभाग पर ऐसी वायु राशियां विकसित होती है ।
- **वाताग्र :** वाताग्र वह विशेष ढाल वाला तल होता है जहाँ दो विभिन्न लक्षणों वाली राशियाँ आपस में आकर मिलती है ।
- **ऊष्ण वाताग्र :** इसमें उष्ण और हल्की वायु राशि अधिक होती है ।
- **चक्रवात :** चक्रवात निम्न वायु दाब केन्द्र के रूप में जाना जाता है ।
- **शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात :** यह चक्रवात दोनों गोलार्द्धों में मध्य अक्षांशों के मध्य क्षेत्र में उत्पन्न होते है ।
- **उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात :** इनकी उत्पत्ति कर्क तथा मकर रेखाओं के बीच होती है ।
- **टाइफून :** चीन, जापान तथा फिलिपीन्स के निकट उष्ण चक्रवात को टाइफून कहते है ।
- **हटिकेन** : पश्चिमी द्वीप समूह में उष्ण चक्रवात को हरिकेन के नाम से जाना जाता है ।

13.8 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference Books)

1. ट्रिवार्था, जी.टी. : **जलवायु विज्ञान की रूप रेखा,** मेकग्राहिल बुक कम्पनी, लंदन
2. ब्लेयर, टी.डी. : **मौसम के तत्व (Weather elements),** ब्रिटिश हाल, न्यूयार्क
3. डब्लू जी. केन्द्र : **जलवायु विज्ञान,** आक्सफोर्ड यूनीवरसिटी प्रेस, न्यूयार्क
4. लाल, डी. एक. : **जलवायु विज्ञान,** चैतन्य पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद
5. क्रिचफील्ड, एच. जे. : **सामान्य जलवायु विज्ञान,** ब्रिटिश हाल, न्यूयार्क

13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1. वायु के उस विशिष्ट एवं विशाल युग को कहते है जिसमें तापमान एवं आर्द्रता का वितरण समरूप पाया जाता है ।
2. वायु राशियों की उत्पत्ति महाद्वीपों और महासागरों के क्षेत्र में होती है ।
3. ध्रुवीय–वायु राशियां ध्रुवीय व उप–ध्रुवीय क्षेत्र में उत्पन्न होती है ।
4. हिन्देशिया एवं चीन सागर के मध्य इस वायु राशि का विकास होता है ।

बोध प्रश्न– 2

1. वाताग्र वह लहरदार एवं विशेष ढाल वाला तल होता है जहां आमने–सामने से दो भिन्न–भिन्न लक्षणों वाली वायु राशियां आपस में आकर मिलती है ।
2. वाताग्र चार प्रकार के होते है ।

3. जब उष्ण वाताग्र ऊपर उठता जाता है तभी पीछे बढ़ती हुई ठंडी वायु राशि गर्म वायु राशि को ऊपर उठा देती है इसे संरोधित वाताग्र कहते है ।
4. जब आमने–सामने बहने वाली वायु राशियां एक दूसरे के सामान्तर बहती है तब उनके बीच का वाताग्र स्थिर स्थिति में आ जाता है ।

बोध प्रश्न – 3

1. चक्रवात वृताकार या अण्डाकार आकृति के होते है ।
2. उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात को पश्चिमी द्वीप समूह में हरिकेन कहते हैं
3. शीतोष्ण चक्रवात दोनों गोलार्धों में 35^0 से 65^0 अक्षांशों में पाये जाते है ।
4. गतिक चक्रवात ही शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात कहलाते है ।
5. शीतोष्ण चक्रवात के जीवन की छ : अवस्थायें होती है ।
6. उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों की उत्पत्ति कर्क तथा मकर रेखाओं के बीच होती है ।

13.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों की उत्पत्ति, संरचना तथा वितरण का वर्णन कीजिये ।
2. चक्रवात से क्या तात्पर्य है? शीतोष्ण चक्रवातों की विशेषताओं का वर्णन कीजिये ।
3. वाताग्र किसे कहते हैं? उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों की उत्पत्ति तथा सम्बन्धित मौसम का वर्णन कीजिये ।
4. शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों की उत्पत्ति सम्बन्धी ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त का विश्लेषण कीजिये ।
5. मध्य अक्षांशीय चक्रवातों की उत्पत्ति, वितरण एवं मौसमी प्रभावों की व्याख्या कीजिये ।
6. चक्रवात किसे कहते हैं? उष्ण कटिबन्धीय तथा शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों में अन्तर स्पष्ट कीजिये ।
7. शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को बताइये । उसके सामान्य मार्ग एवं मौसम पर प्रभाव का वर्णन कीजिये ।
8. वायु राशि क्या है? विश्व की वायु राशियों का वर्गीकरण कीजिये और उनकी विशेषताओं का वर्णन कीजिये ।
9. उत्तरी गोलार्द्ध की वायु राशियों का वर्गीकरण करते हुये उनके श्रोतों व विशेषताओं का वर्णन कीजिये ।
10. वायु राशियों की परिभाषा देते हुए उनका वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिये ।
11. वायु राशियां क्या हैं? इनका वर्गीकरण कीजिये तथा किन्हीं दो वायु राशियों की विशेषता का वर्णन कीजिये ।
12. वायु राशियों की परिभाषा देते हुए उनके उत्पत्ति क्षेत्रों का वर्णन कीजिये ।
13. वायु राशियों का वर्गीकरण कीजिये एवं एशिया तथा उत्तरी अमेरिका की वायु राशियों का वर्णन कीजिये ।

इकाई 14 : जलवायु के प्रकार : कोपेन तथा थार्नवेट के वर्गिकरण (Types of Climate : Koppen's and Thornthwaite's Classification)

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 जलवायु

- 14.2.1 जलवायु के प्रकार
- 14.2.2 जलवायु वर्गीकरण
- 14.2.3 जलवायु वर्गीकरण के उपागम
- 14.2.4 जलवायु वर्गीकरण के आधार

14.3 कोपेन का वर्गीकरण

- 14.3.1 कोपेन के जलवायु वर्गीकरण के मुख्य भाग
- 14.3.2 कोपेन के जलवायु वर्गीकरण के उप विभाग

14.4 कोपेन के जलवायु वर्गीकरण की समालोचना

14.5 थार्नवेट का जलवायु वर्गीकरण

- 14.5.1 थार्नवेट के जलवायु वर्गीकरण का आधार
- 14.5.2 थार्नवेट के जलवायु वर्गीकरण के मुख्य एंव गोण भाग

14.6 थार्नवेट के जलवायु वर्गीकरण की समालोचना

14.7 सारांश

14.8 शब्दावली

14.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

14.10 बोध प्रश्न के उत्तर

14.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

14.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप समझ सकेंगे कि –

- जलवायु क्या है,
- विश्व मे जलवायु के विभिन्न प्रकार,
- कोपेन के जलवायु वर्गीकरण का आधार,
- थार्नवेट के जलवायु वर्गीकरण का आधार,
- थार्नवेट के जलवायु वर्गीकरण के मुख्य एंव गोण भाग ।

14.1 प्रस्तावना (Introduction)

जलवायु किसी विस्तृत क्षेत्र की दीर्घकालीन मौसमी दशाओं के औसत तथा उन दशाओं में पाई जाने वाली विभिन्नताओं को प्रदर्शित करती है । विश्व के विभिन्न भागों मे जलवायु की दशाएं भिन्न–भिन्न पाई जाती है । इसका मुख्य कारण जलवायु को प्रभावित करने वाले कारक हैं जिनमे अक्षांश, समुद्र से दूरी, पर्वतों का अवरोध व दिशा, समुद्री धाराओं, पर्वतों की दिशा, समुद्र तल से ऊँचाई आदि मुख्य है ।

विश्व की जलवायु के वर्गीकरण का सर्वप्रथम प्रयास यूनानियों द्वारा किया गया । यूनानियों ने जलवायु वर्गीकरण का प्रमुख आधार ताप को माना है । मॉन्क हाऊस के अनुसार 'जलवायु का प्रादेशिक वर्गीकरण सुविधा का वर्गीकरण माना जाता है ।'

14.2 जलवायु (Climate)

किसी स्थान विशेष के मौसम की औसत दशा को जलवायु कहते हैं । प्राय : किसी स्थान या क्षेत्र की जलवायु उस स्थान पर एक लम्बी अवधि का औसत मौसम होती हैं । (Climate is often defined as the average weather over a long period) विश्व के विभिन्न भागों में जलवायु की दशाएं भिन्न भिन्न पायी जाती हैं । क्योंकि जलवायु कुछ निश्चित दशाओं द्वारा नियंत्रित होती है । इन्हें जलवायु के नियन्त्रक कारक भी कहा जाता हैं । ये कारक समय के साथ नहीं बदलते । इनका मान हजारों वर्षो तक स्थिर रहता हैं । प्रमुख नियन्त्रक कारक निम्न हैं : (i) अक्षांश (ii) देशान्तर (iii) ऊँचाई समुद्र तट से दूरी (iv) समुद्री धाराओं, पवनों की दिशा (v) वायु विक्षोभ (vii) जल व स्थल का वितरण आदि ।

14.2.1 जलवायु के प्रकार

संसार में जलवायु के लक्षणों में विषमता विद्यमान हैं । समान लक्षणों के आधार पर जलवायु प्रदेशों का निर्धारण किया जाता हैं । जिस भूखण्ड में जलवायु तत्वों के लक्षणों में समानता होती है वह एक जलवायु प्रदेश कहलाता है । जलवायु तत्वों की समानता के आधार पर सम्पूर्ण भूतल पर निम्न प्रकार की जलवायु पाई जाती है (i) भूमध्य रेखीय जलवायु (ii) सवाना तुल्य जलवायु (iv) सहारा तुल्य जलवायु (v) भूमध्य सागरीय जलवायु (vi) आर्द्र उपोष्ण चीन तुल्य जलवायु (vii) पश्चिमी यूरोप तुल्य जलवायु (viii) सेन्ट लारेन्स तुल्य जलवायु ।

14.2.2 जलवायु वर्गीकरण

जलवायु के विभिन्न आंकडों का संग्रह करके उन्हें क्रमबद्ध रूप से गठित करना, व्याख्या करना तथा उनके क्षेत्रीय विन्यास को स्पष्ट करना जलवायु वर्गीकरण कहलाता हैं । जलवायु अत्यन्त जटिल तथा अमूर्त तत्व है जो निरन्तर परिवर्तनशील रहता हैं । वास्तव में कोई भी जलवायु वर्गीकरण सम्पूर्ण नहीं होता । वर्गीकरण का आधार जलवायु के तत्व, उन तत्वों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा अन्य कारकों से सम्बन्ध आदि हो सकता है । इस प्रकार जलवायु के तत्वों का वर्गीकरण करके उनके निश्चित संयोगों के आधार पर उन्हें निश्चित श्रेणियों में रखा जाता है । यह उल्लेखनीय है कि संसार के किसी भी दो प्रदेश के सभी तत्व समान नहीं होते, अत:

सैद्धान्तिक रूप से एक प्रकार की जलवायु एक ही प्रदेश या केन्द्र विशेष में पायी जाती है, उसकी प्रादेशिक सीमा का निर्धारण सम्भव नहीं ।

14.2.3 जलवायु वर्गीकरण के उपागम

प्राकृतिक वनस्पति, जलवायु की उत्पत्ति के कारण, जलवायु के प्रभाव, आदि के आधार पर जलवायु के वर्गीकरण के तीन मुख्य उपागम है :–

1. अनुभवाश्रित वर्गीकरण (Empirical classification)
2. जननिक वर्गीकरण (Genetic Classification)
3. व्यावहारिक वर्गीकरण (Applied Classification)

अनुभवाश्रित वर्गीकरण जलवायु के विभिन्न तत्वों के पृथक या समग्र रूप से कसौटी या आधार मानकर किया जाता है । कोपेन तथा थार्नवेट का वर्गीकरण इन्हीं आधारों पर आधारित हैं इन जलवायु वेत्ताओं ने जलवायु वर्गीकरण का आधार वनस्पति माना है । जब जलवायु के वर्गीकरण में विभिन्न प्रकार की जलवायु की उत्पत्ति के कारणों को आधार माना जाता है तो वह जननिक वर्गीकरण कहलाता है । जब जलवायु का अन्य वस्तुओं पर पड़ने वाले प्रभावों को वर्गीकरण का आधार माना जाता है तो वह व्यावहारिक या क्रियात्मक वर्गीकरण कहलाता हैं ।

14.2.4 वर्गीकरण के आधार

जलवायु के अलग–अलग तत्वों को आधार मानकर जलवायु का वर्गीकरण विभिन्न जलवायु वेत्ताओं द्वारा किया गया है । मुख्य जलवायु तत्व–तापमान, वर्षा तथा प्राकृतिक वनस्पति है जिन का संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है –

1. **तापमान के आधार पर वर्गीकरण :** तापमान जलवायु का प्रमुख तत्व है । जलवायु का सामान्य, सरल और मोटा वर्गीकरण प्राचीन ग्रीक विद्वानों ने प्रस्तुत किया जो तापमान को दृष्टि में रखकर तैयार किया गया था । इसमें पृथ्वी को तीन प्रमुख जलवायु विभागों में विभाजित किया गया है – (i) उष्ण कटिबन्ध (Torrid Zone) (ii) शीत कटिबन्ध (Frigid Zone) और (iii) समशीतोष्ण कटिबन्ध (Temperate Zone).
2. **वर्षा के आधार पर वर्गीकरण :** प्राकृतिक वनस्पति, प्रवाह प्रणाली, मृदा–आर्द्रता तथा भूमिगत जल पर वर्षा का प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है । अत : ब्लेयर ने वर्षा को आधार मानकर जलवायु का निम्न पांच भागों में वर्गीकरण किया ।

क्र. सं.	जलवायु विभाग	वर्षा की प्रकृति	औसत वार्षिक वर्षा (से.मी.) में
1.	शुष्क जलवायु	अल्प वर्षा	0–25
2.	अर्द्ध शुष्क जलवायु	हल्की वर्षा	25–50
3.	उपार्द्र जलवायु	साधारण वर्षा	50–100
4.	आर्द्र जलवालु	भारी वर्षा	100–150
5.	अति आर्द्र जलवायु	अत्यधिक वर्षा	200 से अधिक

3. प्राकृतिक वनस्पति के आधार पर वर्गीकरण : जलवायु वेत्ताओं ने प्राकृतिक वनस्पति को जलवायु वर्गीकरण के लिये एक बड़ा आधार माना है । वास्तव में प्राकृतिक वनस्पतियाँ जलवायु का यथार्थ मापदण्ड होती हैं । प्रत्येक प्रकार की वनस्पति ताप और वर्षा की एक निश्चित सीमा के अन्दर ही उग सकती है । अत: विभिन्न वनस्पतियों के उगने की सीमाएं जलवायु खण्डों की ओर इंगित करती हैं ।

14.3 कोपेन का वर्गीकरण (Koppen's Classification)

आस्ट्रिया के ग्राज विश्वविद्यालय के प्रोफेसर कोपेन (Dr. Wladimir Koppen) जलवायु वैज्ञानिक के साथ साथ वनस्पति शास्त्री भी थे । उन्होनें 1918 में ताप तथा वर्षा के आधार पर संसार का जलवायु वर्गीकरण प्रस्तुत किया ।

कोपेन का वर्गीकरण अनुभाविक (Empirical) है अर्थात उन्होनें प्राकृतिक वनस्पति के विवरण के अनुभव के आधार पर यह वर्गीकरण तैयार किया । कोपेन ने अपने जलवायु वर्गीकरण की सीमायें वनस्पति सीमाओं को ध्यान में रखकर बनाई थी ।

14.3.1 कोपेन के जलवायु वर्गीकरण के मुख्य भाग

कोपेन का वर्गीकरण औसत मासिक तापमान तथा वर्षा की निश्चित मात्रा पर आधारित है । कोपेन ने संसार की जलवायु को मुख्य पाँच वर्गो में विभाजित किया और उन्हें अंग्रेजी वर्णमाला के अक्षर (A,B,C,Dएवं E) द्वारा प्रस्तुत किया जो निम्नानुसार हैं :–

(i) A उष्ण कटिबन्धिय आर्द्र जलवायु (Tropical Humid Climate) : प्रत्येक माह का औसत तापमान 18° सेल्सियस से ऊपर होता है । इस जलवायु में शीत ऋतु नहीं होती। वार्षिक वर्षा तीव्र तथा वाष्पीकरण की मात्रा वर्षा की मात्रा से कम होती हैं ।

(ii) B शुष्क जलवायु (Warm Temperate Climate) : इस जलवायु में वार्षिक वाष्पीकरण की मात्रा वार्षिक वर्षा से अधिक होती है अत: जल की कमी के कारण यहाँ सतत वाहिनी नदियों का अभाव रहता हैं ।

(iii) C उष्ण शीतोष्ण जलवायु (Warm Temperate Climate) : इस जलवायु को मध्यतापीय भी कहते हैं । सबसे शीतल महिने का ताप 18° सेल्सियस से नीचे तथा 1° सेल्सियस से ऊपर रहता है । वर्ष में कम से कम एक माह का औसत तापमान 10° सेल्सियस से ऊपर होता है । अत: इस जलवायु में शीत तथा ग्रीष्म दोनों ऋतुयें पाई जाती है ।

(iv) D शीत शीतोष्ण जलवायु :(Cold Temperate Climate) : इसमें सबसे गर्म महीने का ताप 10° सेल्सियस तथा सबसे ठण्डे महीने का ताप – 3° सेल्सियस रहता है । इस जलवायु को निम्नतापीय (Micro Thermal) कहते हैं । 10° सेल्सियस की समताप रेखा ध्रुवों की ओर वनों की सीमा को प्रदर्शित करती है ।

(v) E ध्रुवीय जलवायु : सबसे गर्म महीने का औसत ताप 10° सेल्सियस से नीचे रहता है । वास्तव में इस जलवायु में कोई ग्रीष्म ऋतु नहीं होती ।

कोपेन ने अपने पाँच मुख्य जलवायु प्रदेशों में से केवल छ वर्ग को ही वर्षा व वाष्पीकरण के अनुपात द्वारा दर्शाया है । शेष वर्गो (A,C,D तथा E) को ताप के आधार पर पृथक किया गया है । कोपेन ने इन जलवायु प्रदेशों को उपसमूहों में भी विभाजित किया है ।

14.3.2 उप विभाग (Sub Groups)

जलवायु के उपवर्ग के लिए कोपेन ने अंग्रेजी वर्णमाला के बड़े अक्षरों के साथ छोटे अक्षरों को भी सम्मिलित किया है । इसमें जलवायु के नाम के आगे दूसरा अक्षर उपवर्ग को प्रदर्शित करता हैं ।

(i) 'A' उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु :

वर्ग की जलवायु का पुन : विभाजन वर्षा एवं तापमान सम्बन्धी निम्नांकित विशेषताओं को ध्यान में रखकर किया गया है

Af : इस जलवायु में शुष्कतम महीने की वर्षा 6 सेमी. होती है । इस जलवायु के क्षेत्र में वर्ष में कोई भी मौसम शुष्क नहीं होता है और यदि होता भी है तो वह अल्पकालीन या बहुत ही संक्षिप्त होता है । Af जलवायु के अन्तर्गत पूर्वी द्वीप तथा दक्षिणी अमेरिका के अमेजन घाटी के क्षेत्र आते हैं ।

AW : वह जलवायु है जिसमें शुष्क महीने सर्दियों अर्थात् शीत ऋतु में होते हैं । भक्त जलवायु में तापमान परिसर Af से अधिक तथा वार्षिक वर्षा कम होती है । इस जलवायु के अन्तर्गत उत्तरी आस्ट्रेलिया, सूडान, मेडागास्कर, ब्राजील, कोलम्बिया और वेनेजुएला आदि देश आते हैं भारत, म्यांमार, श्रीलंका तथा चीन के कुछ भाग भी Aw जलवायु के अन्तर्गत आते हैं ।

AM : शुष्कतम महीने की वर्षा 3 सेमी. या अधिक, किन्तु 6 सेमी. से कम होनेपर जलवायु Am प्रकार की होती है । वस्तुत: उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु कटिबन्ध में कुछ क्षेत्र ऐसे हैं, जहां वर्ष का एक बड़ा भाग शुष्क रहता है या बहुत ही अल्प भाग में वर्षा प्राप्त करता है, लेकिन कुछ महीने मानसून ऋतु में इतनी अधिक वर्षा प्राप्त कर लेते हैं कि वनस्पति के विकास हेतु शुष्क महीने में भी मृदा में पर्याप्त नमी विद्यमान रहती है । Am जलवायु के अन्तर्गत भारत, पाकिस्तान, म्यांमार, अफ्रीका का गिनी तट, प्यूर्टोरिको तथा चीन आते हैं ।

As : वह जलवायु है जिसमें शुष्क महीने अर्थात 6 सेमी. से कम वर्षा प्राप्त करने वाले शुष्क महीने ग्रीष्म ऋतु में होते हैं । यद्यपि उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु कटिकध में शुष्क काल प्राय : शीत ऋतु में ही होता है अत: As जलवायु के क्षेत्र यहां नहीं मिलते हैं तथापि चेन्नई (13° उत्तरी अक्षांश तथा 80° पूर्वी देशान्तर) उत्तर–पूर्वी मानसून के पवनाभिमुखी भाग मे होने के कारण शीत ऋतु में अच्छी वर्षा प्राप्त करते हैं तथा वृष्टिछाया प्रदेश में होने के कारण ग्रीष्म ऋतु में प्राय: शुष्क रहते हैं । फलत: यह कोपेन के As जलवायु के मानदण्डों पर खरा रहता है ।

(ii) B शुष्क जलवायु (Dry Climate)

वनस्पति के लिए प्रभावकारी नमी की मात्रा केवल वर्षा की मात्रा पर ही निर्भर नहीं करती अपितु उस स्थान के वाष्पीकरण और वष्पोत्सर्जन पर भी निर्भर करती है । इसी आधार पर कोपेन ने शुष्क और आर्द्र जलवायु के बीच सीमांकन हेतु r=2(t+7) समीकरण की सहायता ली है । इस समीकरण में r = औसत वार्षिक वर्षा (सेमी.) तथा t = औसत वार्षिक तापमान (डिग्री सेन्टीग्रेड) है । इस समीकरण द्वारा प्राप्त किसी स्थान की वास्तविक वार्षिक वर्षा की मात्रा r अर्थात् 2(+7) से कम है तो उस स्थिति की जलवायु शुष्क (B) होगी । कोपेन के अनुसार यह समीकरण उन्हीं स्थानों के लिए लागू हो सकेगा जहां 6 ग्रीष्म महीनों (यानि उत्तरी गोलार्द्ध में अप्रेल से सितम्बर) तथा 6 शीत महीनों (यानि उत्तरी गोलार्द्ध में अक्टूबर से मार्च) की वर्षा कुल वार्षिक वर्षा की 70 प्रतिशत से अधिक न हो । यदि 70 प्रतिशत से अधिक वर्षा 6 ग्रीष्म के महीनों में होती है तो r=2(t+14) समीकरण तथा यदि 70 प्रतिशत से अधिक वर्षा 6 शीत के महीनों में होती है तो (=2(t+1) समीकरण के द्वारा जलवायु की शुष्कता का निर्धारण किया जाएगा । कोपेन ने वार्षिक वर्षा की मात्रा के आधार पर शुष्क जलवायु को दो समूह यथा BS (स्टेपी जलवायु) जिसमें वाषिाक वर्षा r से कम, किन्तु t/2 से अधिक हो तथा BW (रेगिस्तानी जलवायु) जिसमें वार्षिक वर्षा r/2 या उससे कम हो, में बांटा है । कोपेन ने अपने संशोधित वर्गीकरण में तापमान के आधार पर शुष्क जलवायु को दो भागों में बांटा है यथा (i) शीत–शुष्क जलवायु जिसमें औसत वार्षिक तापमान 18° सेन्टीग्रेड से कम होता है तो उसके लिए संकेत K लिखा जाता है । (ii) उष्ण शुष्क जलवायु :– जिसमें औसत वार्षिक तापमान 18° सेन्टीग्रेड से अधिक होता है । इसे संकेत K द्वारा प्रदर्शित किया जाता है ।

इस प्रकार वार्षिक वर्षा एवं तापमान के आधार पर शुष्क जलवायु को अग्रांकित समूहों में बांटा गया है।

BWh : उष्ण कटिबन्धीय रेगिस्तानी जलवायु । वार्षिक वर्षा r/2 या उससे कम तथा औसत वार्षिक तापमान 18°C से अधिक ।

BSh : उष्ण कटिबन्धीय स्टेपी जलवायु । वार्षिक वर्षा r से कम, किन्तु r/2 से अधिक तक तथा औसत वार्षिक तापमान 18° सेन्टीग्रेड से अधिक।

BWk : मध्य अक्षांशीय शीत रेगिस्तानी जलवायु । वार्षिक वर्षा r/2 या उससे कम तथा औसत वार्षिक तापमान 18° सेन्टीग्रेड से कम । तारिम बेसिन, गोबी, तुर्किस्तान, मध्य ईरान ।

Bsk : मध्य अक्षांशीय शीत स्टेपी जलवायु । वार्षिक वर्षा r से कम, किन्तु r/2 से अधिक तथा औसत वार्षिक तापमान 18° सेन्टीग्रेड से कम ।

पृथ्वी पर शुष्क क्षेत्र मुख्यत: दोनों गोलार्द्धो के उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च वायुदाब क्षेत्र में पाए जाते हैं । सहारा रेगिस्तान, अरब का रेगिस्तान, ईरान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान, उत्तर पश्चिमी भारत, राजस्थान (भारत), पश्चिम चीन, मंगोलिया, तजाकिस्तान, उजबेकिस्तान के दक्षिणी भाग, मेक्सिको के भीतरी भाग उत्तरी गोलार्द्ध के मुख्य शुष्क क्षेत्र हैं । दक्षिणी अमेरिका

का पश्चिमी तट, 20° दक्षिणी अक्षांश से दक्षिण का अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया का अधिकांश भाग भी शुष्क जलवायु के अन्तर्गत आता है ।

उपोष्ण कटिबन्धीय शुष्क क्षेत्र प्राय: उष्णकटिबन्धीय महाद्वीपीय वायुराशि के प्रभाव में रहते हैं ताकि कोपेन के वर्गीकरणानुसार BWh अथवा BSh जलवायु के अन्तर्गत आते हैं जबकि उच्च अक्षांशों के शुष्क क्षेत्र BSK, BWk, BSk' तथा BWk' जलवायु के अन्तर्गत आते है । इनकी शुष्कता बड़े महाद्वीपों के अत्यधिक भीतरी भागों में इनकी स्थिति के कारण है, जहां महासागरीय वायु धाराएं पहुंचने से पहले ही अपनी सारी नमी खो देती हैं । पर्वत श्रृंखलाएं भी इन क्षेत्रों की शुष्कता बढाने में सहयोग देती हैं । Bk जलवायु क्षेत्र सर्दियों में ध्रुवीय वायुराशियों तथा गर्मियों में उष्ण–कटिबन्धीय महाद्वीपीय वायु राशियों के प्रभाव में रहते हैं अत: इन्हे तापमान का मौसमी अन्तर अधिक देखने को मिलता है ।

(iii) C उष्ण शीतोष्ण जलवायु (Warm Temperate Climate)

'C' जलवायु प्रदेश वस्तुत : उष्ण कटिबन्ध और ध्रुवीय जलवायु के बीच में निश्चित मौसम पीरवर्तनयुक्त मध्य तापीय जलवायु क्षेत्र है । 'C' जलवायु क्षेत्र अपेक्षाकृत निचले अक्षांशों में जहां शीत ऋतु मृदु (Mild) होती है, में पाए जाते हैं । महाद्वीपों के परिश्चमतटीय भागों के पवनाभिमुखी क्षेत्रों में तथा उच्च अक्षांशों में भी C जलवायु मिलती है ।

कोपेन ने पूरे वर्ष में शुष्क अवधि के आधार पर 'C' जलवायु को तीन भागों में विभाजित किया है :

Cs : इस जलवायु में शुष्कतम महीनों (गर्मियों में) की वर्षा सर्वाधिक आर्द्र महीनों (सर्दियों में) की वर्षा के एक–तिहाई से कम होती है । गर्मियों में शुष्कतम महीने की वर्षा की मात्रा भी 3 सेमी. या कम होनी चाहिए ताकि Cs जलवायु क्षेत्रों की उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के मध्य अक्षांशीय पश्चिम तटीय क्षेत्रों से पृथक् किया जा सके । उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका में मध्य अक्षांशीय पश्चिमतटीय क्षेत्र सर्दियों में अधिकतम वर्षा तो प्राप्त करते हैं, लेकिन वहां की ग्रीष्म ऋतु इतनी शुष्क नहीं होती कि उन्हें Cs जलवायु के अन्तर्गत रखा जा सके । Cs जलवायु शुष्क ग्रीष्म ऋतुयुक्त मध्य अक्षांशीय भागों में भूमध्य सागर के आस–पास, मध्य और दक्षिणी कैलीफोर्निया, दक्षिणी अफ्रीका तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया के कुछ भागों में पाई जाती है । यह प्राय: महाद्वीपों के पश्चिमी तटों पर पाई जाती है । यहां शीत ऋतु में वर्षा होती हैं, किन्तु ग्रीष्म काल शुष्क होता है । यहां शीत ऋतु में तापमान 5° से 10° सेल्सियस तथा ग्रीष्म ऋतु में तापमान 21° से 26° सेल्सियस के मध्य रहता है । इस जलवायु क्षेत्र में वर्षा 38 से 63 से.मी. होती है । 30° से 45° अक्षांशों के मध्य दोनों गोलार्द्धों में यह जलवायु महाद्वीपों के पश्चिमी किनारों पर पाई जाती है । इन जलवायु क्षेत्रों में ग्रीष्म ऋतु शुष्क होने का कारण महासागरों के ऊपर उपोष्ण कटिबन्धीय प्रति चक्रवातीय कोशिकाओं का ध्रुवों की ओर विस्तार होना है । इसके कारण से नीचे उतरती वायु (अवतलन वायु) इन जलवायु क्षेत्रों में ग्रीष्म ऋतु में तापमान में वृद्धि करती है और शुष्क एवं स्वच्छ दशाएं प्रदान करती हैं

। जब शीत ऋतु में इन प्रतिचक्रवातीय कोशिकाओं का विस्तार भूमध्य रेखाओं की ओर हो जाता है तो इनका स्थान इन अक्षांशों से गुजरने वाले वाताग्रीय चक्रवात ले लेते हैं जो यहां शीत ऋतु में पर्याप्त वर्षा प्रदान करते हैं ।

Csa : उष्ण ग्रीष्मकालीन जलवायु जिसमें सबसे गर्म महीने का औसत तापमान 22° सेल्सियस या इससे अधिक हो । भूमध्य सागर के आस –पास, काला सागर के आस–पास, आस्ट्रेलिया के दक्षिण–पश्चिमी तट इस जलवायु के अन्तर्गत आते हैं ।

Csb : उष्ण ग्रीष्मकालीन जलवायु जिसमें सबसे गर्म महीने का औसत तापमान 22° सेन्टीग्रेड से कम हो, किन्तु कम से कम 4 गर्म महीनों का औसत तापमान 10° या इससे अधिक हो । मोरक्को, ट्यूनीशिया, अल्जीरिया के उत्तरी भागों, दक्षिणी अफ्रीका के पश्चिमी तट, आस्ट्रेलिया के दक्षिणी–पश्चिमी तट, चिली, केलिफोर्निया आदि में यह जलवायु पायी जाती है । Csa और Csb जलवायु क्षेत्रों में वार्षिक तापान्तर का परिसर Cfa जलवायु की तुलना में कम पाया जाता है ।

Cf : इस जलवायु में कोई भी मौसम शुष्क नहीं होता है और ग्रीष्मकाल के शुष्कतम माह में भी वर्षा 3 सेमी से अधिक होती है । इस जलवायु में शुष्कतम महीने (सर्दियों में) की वर्षा, सर्वाधिक आर्द्र महीने (गर्मियों में) की वर्षा के 1/10 से कम होनी चाहिए ।

सबसे गर्म और सबसे ठण्डे महीने के औसत तापमान की सीमाएं निर्धारित करके कोपेन ने जलवायु 'C' को पुन: तीन निम्नांकित समूहों में विभाजित किया है :

a = उष्ण ग्रीष्मकालीन जलवायु जिसमें सबसे गर्म महीने का औसत तापमान 22°C या इससे अधिक हो ।

b = उष्ण ग्रीष्मकालीन जलवायु जिसमें सबसे गर्म महीने का औसत तापमान 22°C से कम हो किन्तु कम से कम 4 गर्म महीनों का औसत तापमान 10° या इससे अधिक हो ।

c = ठण्डी ग्रीष्मकालीन जलवायु जिसमें अत्यधिक गर्म महीने का तापमान 22° सेन्टीग्रेड से कम हो और 4 से कम (एक से तीन महीने) ऐसे महीने हों जिनका औसत तापमान 10° सेन्टीग्रेड या इससे अधिक रहता है ।

Cfa और Cwa जलवायु आर्द्र उपोष्ण कटिकन्धीय जलवायु (Humid Subtropical Climate) :

ये जलवायु क्षेत्र दोनों गोलार्द्धों में 20° से 35° अक्षांशों के बीच महाद्वीपों के पूर्वी भाग में पाए जाते हैं । Cfa जलवायु क्षेत्रों में पूरे वर्ष भर वर्षा का वितरण लगभग समान रहता है । वर्षा का वार्षिक औसत 75 से 150 सेमी. के मध्य है । ग्रीष्म ऋतु में यह क्षेत्र आर्द्र महासागरीय वायु के प्रभाव में रहते है । यहां तापमान अधिक रहते हैं । सर्वाधिक गर्म माह का औसत तापमान 27° सेन्टीग्रेड तथा दैनिक अधिकतम औसत तापमान से 30° से 38° सेन्टीग्रेड के बीच रहते हैं । ग्रीष्म ऋतु में अधिकांश वर्षा संवहनीय (Convectional) होती है । इस ऋतु में कुछ क्षेत्रों में उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात भी आते हैं जिनसे वर्षा की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा प्राप्त होती है । इन जलवायु क्षेत्रों में सबसे ठण्डे माह का औसत तापमान 5° से 12° सेन्टीग्रेड

के मध्य रहता है । यहां शीत ऋतु अपेक्षाकृत मृदु होती है यद्यपि कभी –कभी पाला (Frost) भी गिरता है । यहां शीत ऋतु में होने वाली वर्षा वाताग्रीय चक्रवातों से सम्बन्धित है ।

Cwa जलवायु दक्षिणी एवं पूर्वी एशिया में Am तथा Aw जलवायु क्षेत्रों के उत्तर में पाई जाती है । Cwa जलवायु क्षेत्रों में शीत ऋतु शुष्क होती है । साइबेरियाई प्रतिचक्रवातों से हवा के अपसरण से ध्रुवीय वाताग्रों और चक्रवातों का प्रभाव Cwa जलवायु क्षेत्रों में न होने के कारण यहां शीत ऋतु लगभग शुष्क होती है । इस जलवायु क्षेत्र में वार्षिक तापान्तर का परिसर Cfa जलवायु क्षेत्रों की तुलना में अधिक पाया जाता है । Cwa जलवायु क्षेत्रों में शीत ऋतु धूपदार एवं अपेक्षाकृत ठण्डी होती है । यहां वार्षिक वर्षा का औसत 100 सेमी. है जो 75 से 200 सेमी. के बीच होती है ।

Cfb और Cfc जलवायु महासागरीय पश्चिम तटीय जलवायु (Marine West Coast Climate) :

ये जलवायु क्षेत्र दोनों गोलार्द्धों में 35° से 60° अक्षांशों के बीच महाद्वीपों के पश्चिमी तटों पर पाये जाते हैं । उत्तरी गोलार्द्ध में ये जलवायु क्षेत्र भूमध्यसागरीय जलवायु (Csa और Csb) क्षेत्रों के उत्तर में विस्तृत हैं । यहा वर्षभर पर्याप्त वर्षा होती है । ये क्षेत्र वर्ष भर पछुआ हवाओं एवं वाताग्रीय चक्रवातों के प्रभाव क्षेत्र में रहते हैं । इन चक्रवातों की स्थान विशेष पर उपस्थिति और तीव्रता से ही वर्षा की मात्रा स्थान–स्थान पर भिन्नता लिए हुए होती है । यद्यपि इन क्षेत्रों में वार्षिक वर्षा का औसत 50 से 250 सेमी. है । तथापि वे स्थान 500 सेमी. से भी अधिक वर्षा प्राप्त करते हैं जहां महासागरीय आर्द्र हवाएँ पर्वत श्रृंखलाओं से टकराकर भारी वर्षा करती है । इस जलवायु क्षेत्र में अधिकांश स्थानों पर वर्षा वाले दिनों (rainy Days) की संख्या वर्षभर में 150 से भी अधिक है । शीत और बसन्त ऋतु में कोहरा एक सामान्य घटना है, लेकिन यहां हरीकेन, टारनेडो एवं तूफानी चक्रवातों का अभाव है । शीत ऋतु में यहां कभी –कभी प्रचण्ड वायुगतियुक्त झंझावात अवश्य आते हैं । इन जलवायु क्षेत्रों में वार्षिक तापमान का परिसर 10° से 15° सेन्टीग्रेड के बीच पाया जाता है । औसत वार्षिक तापमान 7° से 13° सेन्टीग्रेड के मध्य रहते हैं । इन क्षेत्रों में शीत ऋतु मृदु होती है जबकि ग्रीष्म ऋतु में तापमान कभी भी 20° सेन्टीग्रेड से अधिक नहीं रहते हैं ।

उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैण्ड में पर्वत श्रृंखलाओं के उत्तर–दक्षिणी विस्तार ने Cfb तथा Cfc जलवायु क्षेत्रों को संकरी तटीय पट्टी में सीमित कर दिया है, लेकिन दूसरी ओर यूरोप में आल्प्स और पिरेनीज पर्वत श्रृंखलाओं के पूर्व–पश्चिम विस्तार से Cfb और Cfc जलवायु का विस्तार आन्तरिक भागों में 2000 किमी. की दूरी तक पूर्वी जर्मनी और पोलैण्ड में हुआ है ।

(iv) D शीत–शीतोष्ण जलवायु (Cool Temperate Climate) :

A और A आर्द्र जलवायु से D आर्द्र जलवायु इस बात में भिन्न है कि D जलवायु में सर्दियों के महीने हिम से ढके हुए रहते हैं । इन महीनों में वनस्पतियां सुप्तावस्था में होती हैं, लेकिन ग्रीष्म ऋतु के दौरान वर्षा और तुषारापात द्वारा जितनी मात्रा में जल की प्राप्ति होती है वह

वर्षभर वनस्पतियों के लिए पर्याप्त रहती है । 'D' जलवायु में उष्णतम महीने का तापमान 10° सेन्टीग्रेड से अधिक तथा सबसे शीत माह का तापमान 3° सेन्टीग्रेड या इससे कम होना चाहिए। वर्षा की मात्रा के आधार पर D° जलवायु को तीन वर्गो में विभाजित किया गया है :

Ds : इसमें शुष्कतम महीने (ग्रीष्म ऋतु में) की वर्षा सबसे आर्द्र महीने (शीत ऋतु में) की वर्षा के एक–तिहाई से कम हो अथवा 3 सेमी. से कम हो ।

Dw : शुष्कतम महीने (शीत ऋतु में) की वर्षा सबसे आर्द्र महीने (ग्रीष्म ऋतु में) की वर्षा से 1/ 10 से कम हो ।

Df : वर्षा S और D की सीमा में न पड़े ।

तापमान के आधार पर D जलवायु को चार उपवर्गो में विभाजित किया गया है । इनमें से तीन जलवायु उपवर्गों यथा a, b और c के लिए तापमान की सीमाएं वही हैं जो 'C' जलवायु में ए, इ और ब के लिए निर्धारित की गई हैं । चौथे उपवर्ग अर्थात् d अत्यधिक शीत जलवायु को व्यक्त करता है इसके लिए सबसे ठण्डे महीने का औसत तापमान – 38° सेन्टीग्रेड से भी कम होना चाहिए ।

a = उष्णतम महीने का औसत तापमान 22° सेन्टीग्रेड या इससे अधिक हो ।

b = उष्णतम महीने का औसत तापमान 22° सेन्टीग्रेड से कम हो तथा चार या अधिक महीनों का तापमान 10° सेन्टीग्रेड या इससे अधिक हो ।

c = उष्णतम महीने का औसत तापमान 22° सेन्टीग्रेड या इससे अधिक हो ।

d = सबसे ठण्डे महीने का औसत तापमान – 38° सेन्टीग्रेड से कम हो ।

आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु (Humid Continental Climate)Dfa, Dfb, Dwa, Dwb:

यह जलवायु वस्तुत : उत्तरी गोलार्द्ध में ही पाई जाती है । उत्तरी गोलार्द्ध में जिन अक्षांशों के मध्य यह जलवायु पाई जाती है, उन अक्षांशों के मध्य दक्षिणी गोलार्द्ध में महाद्वीपीय भागों की अनुपस्थिति है । Dfa, Dfb, Dwa, और Dwb जलवायु वर्ग उत्तरी गोलार्द्ध में 30° से 60° अक्षांशों के बीच उत्तरी अमेरिका के मध्यवर्ती तथा पूर्वी भाग एवं एशिया महाद्वीप के पश्चिम तथा पूर्वी भाग में विद्यमान हैं । वस्तुत: इन क्षेत्रों में ध्रुवीय और उष्ण कटिबन्धीय वायुराशियां आपस में मिलती हैं । इन जलवायु क्षेत्रों में शीत ऋतु और ग्रीष्म ऋतु के तापमानों में अत्यधिक अन्तर पाया जाता है । Df जलवायु क्षेत्रों में वर्ष भर पर्याप्त वर्षा होती है । शीत ऋतु में वर्षा वाताग्रीय चक्रवातों से होती है जबकि ग्रीष्म ऋतु में ध्रुवीय वाताग्रों के उत्तर की ओर प्रत्यावर्तन से इन क्षेत्रों में महासागरीय उष्णकटिबन्धीय वायुराशियों से संवाहनिक वर्षा होती है । शीत ऋतु में अधिकांश वर्षा हिम–वर्षा के रूप में होती है। फलत : एक से चार माह तक धरातल हिमाच्छादित रहता । इसी समय यहां चलने वाली ब्लिजार्ड (हिमकणों से युक्त बर्फीली आधी जो प्रचण्ड शीत लहर के रूप में चलती है) तापमान को हिमांक से नीचे पहुंचा देती है ।

जब कभी इन जलवायु क्षेत्रों में उष्ण कटिबन्धीय वायुराशियां पहुँच जाती हैं तो शीत ऋतु मृदु (Mild) हो जाती हैं और जब कभी ये क्षेत्र ध्रुवीय वायुराशियों के प्रभाव में आ जाते हैं तो शीत लहर के कारण तापमान अत्यधिक नीचे हो जाते हैं । ऋतुओं के अनुसार परिवर्तनशील मौसम

इन जलवायु क्षेत्रों की महत्वपूर्ण विशेषता है, विशेषकर पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा में, जहां उच्च अक्षांशों से निम्न अक्षांशों और निम्न अक्षांशों से उच्च अक्षांशों के मध्य वायुराशियों के प्रवाह को कुछ स्थलाकृतिक कारक बाधित करते हैं ।

इन जलवायु क्षेत्रों में औसत तापमान एक से अधिक महीनों में हिमांक से नीचे रहते हैं । वर्ष में लगभग 150 से 200 दिन पाला रहित होते हैं । वार्षिक वर्षा का औसत 50 से 125 सेमी. है । इन क्षेत्रों के दक्षिणी भागों में वार्षिक वर्षा का औसत अपेक्षाकृत अधिक है । पूर्वी एशिया विशेषकर मंचुरिया और कोरिया में Dwa और Dwb प्रकार की जलवायु पाई जाती है । इन क्षेत्रों में मानसून के प्रभाव से ग्रीष्मकाल में प्रचुर वर्षा होती है जबकि शीतकाल शुष्क होता है । शीतकाल में यहां महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुराशि चलती है जो साइबेरियन प्रतिचक्रवात से अपसरित होती है ।

महाद्वीपीय उपआर्कटिक जलवायु (Continental Sun–artic Climate) Dfc, Dfd, Dwc, Dwd :

आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु के उत्तर में 50° से 70° अक्षांशों के मध्य महाद्वीपीय उपआर्कटिक जलवायु का विस्तार है । यह जलवायु उत्तरी अमेरिका में अलास्का से न्यूफाउण्डलैण्ड तथा यूरेशिया में स्कैण्डिनेविया से साइबेरिया तक पाई जाती है । कठोर एवं लम्बी शीतऋतु, धूप वाले दिनों की कम संख्या, कम हिम वर्षा और कम आर्द्रता इस जलवायु की प्रमुख विशेषता है। एशिया में साइबेरियन प्रतिचक्रवात महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुराशि का उत्पत्ति क्षेत्र है फलत: आन्तरिक भागों के इन जलवायु क्षेत्रों में तापमान – 40° से – 50° सेन्टीग्रेड तक पाया जाता है । उत्तरी अमेरिका में इस जलवायु के अन्तर्गत सम्मिलित क्षेत्रों में शीत ऋतु अपेक्षाकृत कम कठोर होती है ।

महाद्वीपीय उपआर्कटिक जलवायु क्षेत्रों में औसत मासिक तापमान 6 से 8 महीनों तक हिमांक से नीचे ही रहते हैं । वर्ष में पाला–रहित दिनों की संख्या 50° से 90° होती है । धरातलीय सतह कई महीनों तक हिम से आच्छादित ही रहती है । ग्रीष्म ऋतु छोटी और मृदु होती है । इस ऋतु में इन क्षेत्रों से गुजरने वाले चक्रवातों से वर्षा होती है । वर्षा वाताग्रीय होती है जो सागरीय उष्णकटिबन्धीय वायुराशि से सम्बन्धित होती है । ग्रीष्म ऋतु में औसत तापमान 16 सेन्टीग्रेड तक रहते हैं । कुछ आन्तरिक क्षेत्रों में तापमान 25 सेन्टीग्रेड तक पहुंच जाते हैं । ग्रीष्म एवं शीत ऋतु में तापमानों की इस अतिशयता के कारण ही महाद्वीपीय उपआर्कटिक जलवायु क्षेत्रों में वार्षिक तापमान का परिसर पृथ्वी पर सर्वाधिक पाया जाता है । वार्षिक तापमान का यह परिसर इस जलवायु के अधिकांश क्षेत्रों में 30° सेन्टीग्रेड तक तथा मध्य साइबेरिया में 60° सेन्टीग्रेड तक पाया जाता है । यहां वार्षिक वर्षा का औसत 50° सेमी. से कम होता है । अधिकांश वर्षा ग्रीष्म ऋतु में ही होती है । जिन तटों के समीप गर्म समुद्री धराएं बहती है, वे अपेक्षाकृत अधिक वर्षा प्राप्त करते है । ऐसे क्षेत्र महासागरीय उपआर्कटिक जलवायु (Marine Subarctic Climate) के अन्तर्गत आते हैं ।

(v) E ध्रुवीय जलवायु : ध्रुवीय प्रदेशों के वे भाग जहां उष्णतम महीने का तापमान 10° सेन्टीग्रेड से कम पाया जाता है, जलवायु के अन्तर्गत सम्मिलित किए जाते हैं । ध्रुवीय क्षेत्रों के

बाहर ऊँचाईयों पर स्थिर कुछ स्थान भी तापमान की इस सीमा के अन्तर्गत आते हैं । ऐसे क्षेत्रों को 'H' जलवायु से सम्बोधित किया जाता है ।

कोपेन ने जलवायु को दो वर्गो में विभाजित किया है

ET : इसमें उष्णतम महीने का तापमान 0° सेन्टीग्रेड से कुछ ऊपर आ जाता है । इन क्षेत्रों में टुण्ड्रा वनस्पतियां पाई जाती हैं । हा जलवायु 60° से 75° अक्षांशों के मध्य उत्तरी अमेरिका के आर्कटिक तटीय क्षेत्र, यूरेशिया के आर्कटिक तटीय क्षेत्र तथा ग्रीनलैण्ड के तटीय क्षेत्रों में पाई जाती हैं । यहा औसत वार्षिक तापमान हिमांक से नीचे रहते हैं और वार्षिक तापमान परिसर भी अधिक रहते हैं । ग्रीष्म ऋतु मृदु होती है जिसमें दैनिक अधिकतम तापमान 10° सेन्टीग्रेड से 18° सेन्टीग्रेड तक रहते हैं । दिन की अवधि लम्बी होने के उपरान्त भी सूर्य की तिरछी किरणों और बहुधा मेघाच्छादित आकाश होने के कारण सूर्यातप की अल्प मात्रा ही प्राप्त हो पाती है । इस जलवायु क्षेत्र में जहां औसत वार्षिक तापमान 9° सेन्टीग्रेड और इससे कम रहता है वहां धरातलीय सतह सदैव हिमाच्छादित रहती है । शीत ऋतु लम्बी एवं कठोर होती है । 6 से 10 माह तक तापमान हिमांक से नीचे रह सकते हैं विशेषकर आर्कटिक वृत्त के उत्तरी क्षेत्रों में । यहा वर्षा का वार्षिक औसत 35 सेमी. से कम है । अधिकांश वर्षा हिम के रूप में होती है । खुले समुद्रों एव हिमाच्छादित समुद्री सतह के बीच वाले क्षेत्रों में विकसित चक्रवातीय तूफानों से अधिकांश वर्षा होती है । इस जलवायु क्षेत्र में पाला और हिमपात की सम्भावना वर्षभर बनी रहती है ।

EF : जिसमें उष्णतम महीने का तापमान 0° सेन्टीग्रेड से भी नीचे रहता है । ये क्षेत्र स्थायी रूप से बर्फ की मोटी परतों से ढके रहते हैं ।

वस्तुत : यह हिम जलवायु 65° अक्षांश से उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव के बीच ग्रीनलैण्ड और अण्टार्कटिका के हिमाच्छादित क्षेत्रों और आर्कटिक महासागर के हिमाच्छादित भाग में पाई जाती है । ये ही क्षेत्र आर्कटिक वायुराशियों के स्रोत क्षेत्र भी है। यहा वार्षिक तापमान वर्षभर हिमांक से नीचे रहते है । वार्षिक तापान्तर भी अधिक रहते हैं । शीत ऋतु का औसत मासिक तापमान – 20° से – 65° सेन्टीग्रेड रहता है । यहा 6 माह की रात्रि की समाप्ति के समय सबसे न्यूनतम तापमान पाए जाते है । इसी जलवायु क्षेत्र में पृथ्वी के सबसे न्यूनतम तापमान आलेखित किए जाते है । अण्टार्कटिका में स्थित शोध केन्द्र वोस्टोक पर – 89° सेन्टीग्रेड तापमान आलेखित किया गया है जो पृथ्वी पर सबसे न्यूनतम तापमान है । टह जलवायु क्षेत्र में दैनिक तापान्तर बहुत ही कम रहते है । यहा वार्षिक वर्षा का औसत 5 से 50 सेमी. के मध्य है । अधिकांश वर्षा हिम के रूप में तटीय क्षेत्रों में होती हैं यह वर्षा इन क्षेत्रों में प्रवेश होने वाले चक्रवातों से होती है जो हिम वर्षा के साथ –साथ ब्लिजार्ड भी साथ लेकर आते हैं ।

14.4 कोपेन के जलवायु वर्गीकरण की समालोचना (Evaluation of Keeppen's Climatic Classification)

जलवायु वर्गीकरण के अब तक जितने भी तरीके अपनाये गये उनमें सर्वश्रेष्ठ तरीका कोपेन का है । कोपेन ने अपने जलवायु वर्गीकरण में अंग्रेजी के बड़े वर्णाक्षरों का उपयोग तथा उपवर्गीकरण हेतु अंग्रेजी वर्णाक्षरों के बड़े अक्षरों के साथ छोटे अक्षरों का उपयोग किया । इससे वृहद जलवायु प्रदेश तथा उसके उपविभागों को सरलता से समझा जा सकता हैं ।

कोपेन का जलवायु का वर्गीकरण स्वभावत: आनुभाविक है तापमान और वर्षा की मात्रा के प्रभावों पर आधारित हैं । यद्यपि कोपेन का जलवायु वर्गीकरण आज भी बहुत लोकप्रिय है परन्तु फिर भी इनके वर्गीकरण की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि कोपेन ने तापमान और वर्षा की मात्रा के आधार पर ही संसार की जलवायु का विभाजन कर दिया । जबकि इसमें इन्होंने भूपृष्ठ की संरचना, पवनों की दिशा, गति, वायुदाब में अन्तर, समुद्री धाराओं के प्रभाव, ताप की विषमता आदि मौसम के अन्य तत्वों पर ध्यान नहीं दिया । अत: कोपेन का वर्गीकरण निम्न मैदानी भागों के लिये तो उपयुक्त है परन्तु उच्च प्रदेशों के लिये अनुपयुक्त हैं ।

बोध प्रश्न – 1

1. कोपेन के जलवायु वर्गीकरण में भारत की जलवायु है –
   (अ) AW (ब) Bsh
   (स) CWg (द) इनमे से कोई नही
2. कोपेन का वर्गीकरण है –
   (अ) अनुभवाश्रित वर्गीकरण (Empirical classification)
   (ब) जमनिक वर्गीकरण (Genetic classification)
   (स) व्यावहारिक वर्गीकरण (Applied classification)
   (द) इनमें से कोई नहीं
3. कोपेन के वर्गीकरण में Bw का अर्थ है –
   (अ) वर्षा का वार्षिक औसत 60 सेन्टीमीटर से कम
   (ब) वर्षा का वार्षिक औसत 60 सेन्टीमीटर से अधिक
   (स) वर्षा का वार्षिक औसत 25 सेन्टीमीटर से कम
   (द) वर्षा का वार्षिक औसत 25 सेन्टीमीटर से अधिक
4. कोपेन के वर्गीकरण मे 8 का अर्थ ३ –
   (अ) सबसे गर्म महीने का औसत ताप 10° सेल्सियस से ऊपर
   (ब) सबसे गर्म महीने का औसत ताप 10° सेल्सियस से नीचे
   (स) औसत वार्षिक ताप 10° सेल्सियस
   (द) सबसे ठण्डे महीने का औसत ताप 10° सेल्सियस

14.5 थार्नवेट का जलवायु वर्गीकरण (Thornth Waite's Classification)

अमरीकी ऋतु वैज्ञानिक थार्नवेट का जलवायु वर्गीकरण कोपेन के जलवायु वर्गीकरण से काफी मिलता हैं, इन्होंने अपने वर्गीकरण में औसत तापमान, वर्षा तथा वनस्पति के साथ–साथ आर्द्रता को भी ध्यान मे रखा है । थार्नवेट ने जलवायु तथा प्राकृतिक प्रदेशों में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है । इन्होंने 1931 ई. तथा 1943 ई. में दो अलग अलग जलवायु वर्गीकरण प्रस्तुत किये थे । इनके जलवायु विभाजन का मुख्य आधार (1) वर्षण प्रभाविता (Precipitation effectiveness), तथा (2) तापमान दक्षता (temperature efficiency) है (चित्र – 14.1) ।

14.5.1 थार्नवेट के जलवायु वर्गीकरण के आधार

वर्षण – प्रभाविता के आधार पर वर्गीकरण (Precipitation effectiveness based cllassification) थार्नवेट ने सम्पूर्ण वार्षिक वर्षा के उस भाग को लिया है जो उस क्षेत्र विशेष की वनस्पतियों को प्रभावित करता है । सर्वप्रथम इन्होंने वर्षण तथा वाष्पन का अनुपात ज्ञात किया । इसके लिए निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग किया –

इसके बाद इन्होंने 12 महीने की वर्षण–प्रभाविता (P/E) अनुपात का योग कर वर्षण प्रभाविता की सूची तैयार की । इसके लिए निम्नांकित सूत्र का प्रयोग किया : –

(1) P/E अनुपात $= 15\left(\frac{p}{T-10}\right)$

(2) P/E सूचकांक $= \sum^{12} 15\left(\frac{p}{T-10}\right)$

वर्षण प्रभाविता के सूचकांकों के आधार पर इन्होंने सम्पूर्ण भूपटल को 5 आर्द्रता प्रदेशों मे विभाजित किया तथा इनको विशेष प्रकार की वनस्पतियों से सम्बन्धित किया. –

वर्षण प्रभाविता पर आधारित जलवायु समूह

आर्द्रता प्रदेश	वनस्पति के प्रकार	P/E सूचकांक
A. अत्यधिक आर्द्र प्रदेश	वर्षा–वन	128 से अधिक
B. आर्द्र प्रदेश	वन	64–127
C. उपार्द्र प्रदेश	घास के मैदान	32–63
D. अर्द्धशुष्क प्रदेश	स्टेपी	16–31
E. शुष्क प्रदेश	मरूस्थल	16 से कम

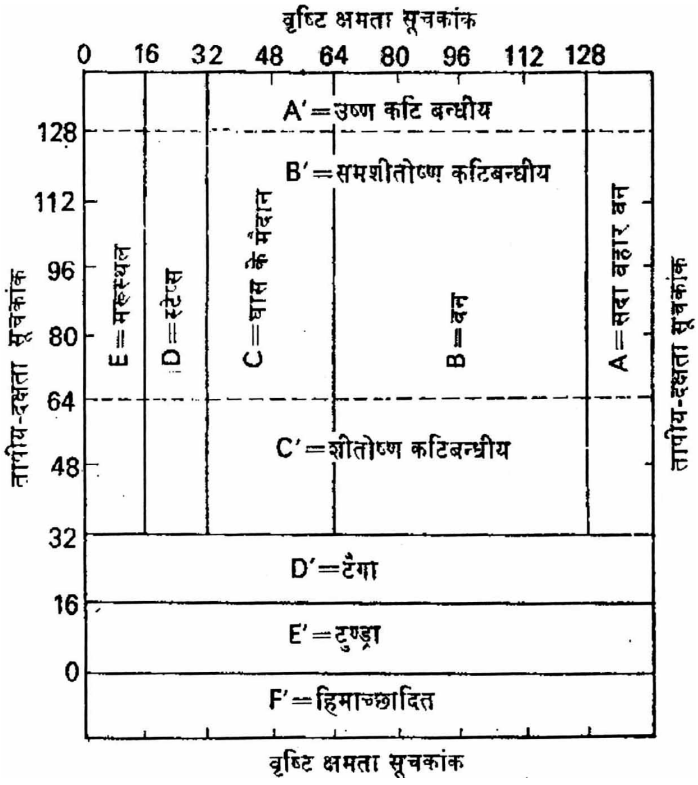

चित्र– 14.1 : थार्नवेट के अनुसार विश्व में जलवायु के प्रमुख विभाग

वर्षा के मौसमी वितरण के आधार पर प्रत्येक जलवायु प्रदेश को 4 उप–प्रदेशों मे विभाजित किया इसमें r,w,s तथा d अक्षरों का प्रयोग किया -

e = वर्ष भर पर्याप्त वर्षा

w = शीतकाल मे पर्याप्त वर्षा

s = ग्रीष्म काल मे कम वर्षा

d = सभी मौसम मे न्यून वर्षा

वर्षण प्रभाविता पर आधारित जलवायु–समूह

A	B	C	D	E
Ar	Br	Cr	Dr	Er
As	Bs	Cs	Ds	Es
Aw	Bw	Cw	Dw	Ew
Ad	Bd	Cd	Dd	Ed

तापीय दक्षता के आधार पर वर्गीकरण (Temperature Efficiency Based Classification)

थार्नवेट ने तापीय दक्षता अनुपात तथा तापीय दक्षता सूची तैयार कर विश्व को 6 प्रमुख जलवायु प्रदेशों मे बांटा है । तापीय दक्षता तथा सूची के परिकलन के लिए निम्नांकित सूत्र का प्रयोग किया –

(1) तापीय दक्षता अनुपात $(T/E) = \left[\frac{T-32}{4}\right]$

(2) तापीय दक्षतासूची (T/E सूचकांक) $\left[\sum^{12}\left(\frac{T-32}{4}\right)\right]$

तापीय दक्षता पर आधारित जलवायु -समूह

	तापक्रम प्रदेश	T/E सूचकांक
A'	उष्ण कटिबन्धीय प्रदेश	128 तथा इससे अधिक
B'	मध्य तापीय प्रदेश	64 – 127
C'	सूक्ष्म तापीय (टैंगा) प्रदेश	32 – 63
D'	टुन्ड्रा प्रदेश	16 - 31
E'	हिमाच्छादित जलवायु प्रदेश	1 – 15
F''	तुषार (तिवेज)	0

इस प्रकार वर्षण प्रभाविता, वर्षा के मौसमी वितरण तथा तापीय दक्षता के आधार पर जलवायु के 120 वर्ग (5 x 4 x 6) बनाये जा सकते है । किन्तु थार्नवेट ने इनमें से निम्न 32 जलवायु वर्गो को ही प्रस्तुत किया है

14.5.2 थार्नवेट के जलवायु वर्गीकरण के मुख्य एवं गोण भाग

जलवायु प्रदेश (Climatic Regions) :

A	AA'r	उष्ण कटिबन्धीय तर जलवायु – सभी महीनों मे पर्याप्त वर्षा ।
	AB'r	मध्य तापीय तर जलवायु – सभी मौसम में वर्षा
	AC'r	सूक्ष्म तापीय तर जलवायु – सभी महीनों में वर्षा ।
B	BA'r	उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु – सभी मौसम मे वर्षा ।
	BA'r	उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु - शीतकाल मे कम वर्षा ।
	BB'r	मध्य तापीय आर्द्र जलवायु – सभी मौसम में वर्षा।
	BB'w	मध्य तापीय आर्द्र जलवायु – शीत काल मे कम वर्षा ।
	BB's	मध्य तापीय आर्द्र जलवायु – ग्रीष्म काल में वर्षा ।
	BC'r	सूक्ष्म तापीय आर्द्र जलवायु – सभी काल में वर्षा ।
	BC's	सूक्ष्म तापीय आर्द्र जलवायु – ग्रीष्म काल में कम वर्षा ।
C	CA'r	उष्ण कटिबन्धीय उपार्द्र जलवायु – सभी मौसम में वर्षा ।
	CA'w	उष्ण कटिबन्धीय उपार्द्र जलवायु – शीत काल में कम वर्षा ।
	CA'd	उष्ण कटिबन्धीय उपार्द्र जलवायु – सभी मौसम में कम वर्षा ।
	CB'r	मध्य तापीय उपार्द्र जलवायु – सभी मौसम में वर्षा ।

	CB'w	मध्य तापीय उपार्द्र जलवायु – शीत काल में कम वर्षा ।
	CB's	मध्य तापीय उपार्द्र जलवायु – ग्रीष्म काल में कम वर्षा ।
	CB'd	मध्य तापीय उपार्द्र जलवायु – सभी मौसम में कम वर्षा ।
	CB'r	सूक्ष्म तापीय उपार्द्र जलवायु – सभी मौसम में वर्षा ।
	CB'w	सूक्ष्म तापीय उपार्द्र जलवायु – ग्रीष्म काल में कम वर्षा ।
	CC'd	सूक्ष्म तापीय उपार्द्र जलवायु – सभी मौसम मे कम वर्षा ।
D	DA'w	उष्ण कटिबन्धीय अर्द्ध -शुष्क जलवायु – शीत काल में कम वर्षा ।
	DA'd	उष्ण कटिबन्धीय अर्द्ध–शुष्क जलवायु – सभी मौसम में कम वर्षा ।
	DB'w	मध्य तापीय अर्द्ध–शुष्क जलवायु – शीत काल में कम वर्षा ।
	DB's	मध्य तापीय अर्द्ध–शुष्क जलवायु – ग्रीष्म काल में कम वर्षा ।
	DB'd	मध्य तापीय अर्द्ध–शुष्क जलवायु – सभी मौसम में कम वर्षा ।
	DC'd	सूक्ष्म तापीय अर्द्ध–शुष्क जलवायु – सभी मौसम में कम वर्षा ।
E	EA'd	उष्ण कटिबन्धीय शुष्क जलवायु – सभी मौसम में कम वर्षा ।
	EB'd	मध्य तापीय शुष्क जलवायु – सभी मौसम में कम वर्षा ।
	EC'd	मध्य तापीय शुष्क जलवायु – सभी मौसम में कम वर्षा ।
	D'	टैंगा तुल्य जलवायु
	E'	टुन्ड्रा तुल्य जलवायु
	F'	ध्रुवीय जलवायु (सतत् हिमाच्छादित)

थार्नवेट का जलवायु वर्गीकरण कोपेन की अपेक्षा अच्छा माना जाता है । इसमें कम संकेताक्षरों का प्रयोग किया गया है । फलस्वरूप अध्ययन सरल एंव बोधगम्य है ।

14.6 थार्नवेट की जलवायु वर्गीकरण की समालोचना

थार्नवेट ने वर्षण प्रभाविता तथा ताप प्रभाविता सूचकों को वर्गीकरण का आधार बनाया । कोपेन के वर्गीकरण की तुलना में थार्नवेट का वर्गीकरण अधिक मान्य हैं । थार्नवेट का वर्गीकरण केवल जलवायु के तत्वों पर आधारित हैं यद्यपि इस वर्गीकरण की सीमायें काफी जटिल हैं फिर भी सरल संकेतों के प्रयोग के कारण अधिक वर्ग होने पर भी यह अधिक सरल हैं ।

बोध प्रश्न – 2

1. थार्नवेट के जलवायु वर्गीकरण का आधार है ।
   (अ) वर्षा की प्रभावशीलता (ब) वर्षा का मौसमी वितरण
   (स) तापीय दक्षता (द) उपर्युक्त तीनों
2. थार्नवेट के जलवायु वर्गीकरण के अनुसार भारत की जलवायु है –
   (अ) CBw (ब) Caw
   (स) DAw (द) DBw
3. थार्नवेट के वर्गीकरण में r का अर्थ है –

(अ) प्रत्येक मौसम में यथेष्ट वर्षा (ब) ग्रीष्म ऋतु मे अधिक वर्षा

(स) शीत ऋतु मे कम वर्षा (द) इनमें से कोई नही

4. थार्नवेट के जलवायु वर्गीकरण के उपविभाग भारत मे पाए जाते है –

(अ) BAw (ब) AAr

(स) DAw (द) उपर्युक्त तीनों

14.7 सारांश (Summary)

कोपेन का वर्गीकरण आनुभाविक तथा मात्रात्मक है । इन्होंने 1900 ई. में वनस्पतियों के आधार पर संसार को जलवायु प्रदेशों मे वर्गीकृत किया । कोपेन ने 1918 में तापमान तथा वर्षा के आधार पर वर्गीकरण का संशोधित रूप प्रस्तुत किया । जबकि थार्नवेट ने अपने वर्गीकरण में जलवायु तथा प्राकृतिक प्रदेशों में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया । इन्होंने भी 1931 व 1943 में दो अलग अलग वर्गीकरण प्रस्तुत किए । आज भी दोनों ही वर्गीकरण लोकप्रिय एवं सर्वमान्य हैं ।

14.8 शब्दावली (GLossary)

- **आनुभावकि वर्गीकरण (Empirical Classification) :** प्राकृतिक वनस्पति के वितरण के अनुभव को देखकर तैयार किया गया वर्गीकरण ।
- **जननिक वर्गीकरण (Genetic Classification) :** विभिन्न प्रकार की जलवायु के जलवायु की उत्पत्ति के कारणों को आधार मानकर किया गया वर्गीकरण ।
- **व्यावहारिक वर्गीकरण (Applied Classification) :** जलवायु का अन्य वस्तुओं पर पड़ने वाले प्रभावों को आधार मानकर किया गया वर्गीकरण ।
- **उष्ण कटिबन्ध :** शीत रहित कटिबन्ध आयन वृत्तों के मध्य
- **शीत कटिबन्ध :** ग्रीष्म ऋतु विहीन ध्रुवीय कटिबन्ध
- **शीतोष्ण कटिबन्ध :** उष्ण व शीतोष्ण
- **वर्षण की प्रभाविता :** सम्पूर्ण वर्षा का वह भाग जो वनस्पति की उत्पत्ति को प्रभावित करता है जिसे P/E द्वारा दर्शाया गया है।
- **तापीय दक्षता :** औसत मासिक ताप को मासिक वाष्पीकरण से विभाजित किया जाता है । जिसे T/E द्वारा दर्शाया गया है ।

14.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भल्ला, एल.आर : **भौतिक भूगोल,** कुलदीप प्रकाशन, जयपुर, 2006
2. चौहान, वी. एस. एवं गौतम, अलका : **भौतिक भूगोल,** रस्तोगी प्रकाशन, मेरठ, 2007
3. शर्मा, एच. एस. शर्मा, एम. एवं मिश्रा, आर.एन. : **भौतिक भूगोल,** पंचशील प्रकाशन,जयपुर, 2007
4. तिक्खा, आर. एन. : **भौतिक भूगोल,** केदारनाथ सोमनाथ, मेरठ, 1997

5. Strahler, A.N : **Physical Geography,** John Wiley Sores, I.N.C New York, 1992
6. Spencer, E.W. : **Basic Concepts of Physical Geology**

14.10 बोध प्रश्नों के उत्तर बोध प्रश्न – 1

1. अ
2. अ
3. स
4. ब

बोध प्रश्न – 2

1. द
2. ब
3. अ
4. द

14.11 अभ्यासार्थ प्रश्न–

1. कोपेन के जलवायु वर्गीकरण को विस्तार से समझाइये ।
2. थार्नवेट द्वारा प्रस्तुत जलवायु वर्गीकरण की विस्तार से विवेचना कीजिए ।
3. कोपेन एंव थार्नवेट द्वारा प्रस्तुत विश्व जलवायु वर्गीकरण का तुलनात्मक विवरण दीजिए ।

इकाई15 : महासागरीय जल का तापमान तथा लवणता (Temperature and Salinity of Ocean Water)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 महासागरों की स्थिति एव विस्तार

15.3 महासागरीय जल के तापमान के वितरण को प्रभावित करने वाले कारक

15.4 महासागरीय तापमान का क्षैतिज वितरण

15.5 महासागरीय जल के तापमान का लम्बवत वितरण

15.6 महासागरीय जल की लवणता

15.7 महासागरीय जल का संघटन ।

15.8 महासागरों में लवणता का वितरण

15.8.1 लवणता का क्षैतिज वितरण

15.8.2 लवणता का लम्बवत (ऊर्ध्वाधर) वितरण

15.9 लवणता असमानता के कारण

15.10 सारांश

15.11 शब्दावली

15.12 संदर्भ ग्रन्थ

15.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.14 अभ्यासार्थ प्रश्न

15.0 उद्देश्य (Objective)

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ सकेंगे कि : –

- महासागरीय जल का तापमान एवं लवणता क्या होती है,
- महासागरीय जल का तापमान एवं लवणता महासागरीय वनस्पति एवं जीव जन्तुओं को प्रभावित करती है,
- महासागरीय जल के तापमान एवं लवणता एक दूसरे के क्षेतिज एवं लम्बवत् वितरण को प्रभावित करते है,
- महासागरीय जल के तापमान एवं लवणता को प्रभावित करने वाले कारकों के बारे में समझ सकेंगे ।

15.1 प्रस्तावना (Introducton)

महासागरों का भौगोलिक, जैविक एवं संसाधनों की दृष्टि से बहुत महत्व है । महासागर पृथ्वी के 71 प्रतिशत भाग पर विस्तृत हैं तथा पृथ्वी के जलवायु को बहुत प्रभावित करते हैं । पृथ्वी के तापमान को सामान्य बनाये रखने में महासागरों का महत्वपूर्ण स्थान है । महासागरों में विभिन्न किस्म के संसाधन पाये जाते हैं जो मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं । पृथ्वी की सतह एवं महासागरीय जल को तापमान सूर्य से प्राप्त होता है जिसे सूर्यातप (Insolation) कहते हैं । यह सूर्यातप हमेशा लघु तरंग के रूप में प्राप्त होता है । महासागरों को कुछ तापमान पृथ्वी के आन्तरिक भाग से तथा जल की दबाव प्रक्रिया से भी प्राप्त होता है, लेकिन इसकी मात्रा बहुत कम होती है । महासागरीय धाराओं की उत्पत्ति एवं वाष्पीकरण की क्रियाओं में तापमान का महत्वपूर्ण योगदान होता है । स्थल की अपेक्षा जल की विशिष्ट ऊष्मा । अधिक होती है जिसके कारण महासागरों का जल स्थल की अपेक्षा अधिक देर में गर्म एवं ठण्डा होता है । इस विशेषता के कारण स्थलीय एवं जलीय समीरों का जन्म होता है जिससे महासागरीय तटीय क्षेत्रों में तापमान सम (Moderate) बने रहते हैं ।

15.2 महासागरों की स्थिति एवं विस्तार (Location and Extent of Oceans)

पृथ्वी के धरातल के कुल क्षेत्रफल के 70.8 प्रतिशत भाग पर महासागरों का विस्तार है, शेष 29.2 प्रतिशत भाग पर स्थल मण्डल का विस्तार है । उत्तरी गौलार्द्ध में भूपृष्ठ के 60.7 प्रतिशत भाग पर तथा दक्षिणी गौलार्द्ध के धरातल के 80.9 प्रतिशत भाग पर जल पाया जाता है । यद्यपि दोनों गौलार्द्धों में स्थल की अपेक्षा जल का विस्तार अधिक है, तथापि दक्षिणी गौलार्द्ध में महाद्वीपों की अपेक्षा महासागरों का विस्तार अधिक है इसलिए उत्तरी गौलार्द्ध को **स्थल गौलार्द्ध** (Land hemisphere) तथा दक्षिण गौलार्द्ध को **जल गौलार्द्ध** (Water Hemisphere) के नाम से जाना जाता है ।

पृथ्वी की सतह पर एक अविच्छिन्न महासागर का फैलाव पाया जाता है, यह विश्व महासागर (Word Ocean) चार बड़े महासागरों में विभक्त है – प्रशान्त महासागर, अटलान्टिक महासागर, हिन्द महासागर एवं आर्कटिक महासागर । उपयुक्त सभी महासागरों में प्रशान्त महासागर सबसे बड़ा एवं सर्वाधिक गहरा है, इसका क्षेत्रफल लगभग 166 मिलियन वर्ग किलोमीटर तथा औसत गहराई 4282 मीटर है । क्षेत्रफल की दृष्टि से अटलांटिक महासागर दूसरे स्थान पर है, इसका क्षेत्रफल 84 मिलियन वर्ग किलोमीटर तथा औसत गहराई 3926 मीटर है । हिन्द महासागर क्षेत्रफल की दृष्टि से तीसरे स्थान पर है जिसका क्षेत्रफल 73 मिलियन वर्ग किलोमीटर तथा औसत गहराई 3963 मीटर है । आर्कटिक महासागर का क्षेत्रफल 13 मिलियन वर्ग किलोमीटर है तथा गहराई 1220 मीटर है । आर्कटिक महासागर का क्षेत्रफल एवं गहराई कम होने के कारण कई समुद्र वैज्ञानिक इसे समुद्र (Sea) भी कहते हैं । यह एक

महत्वपूर्ण तथ्य है कि सम्पूर्ण स्थल भाग का क्षेत्रफल अकेले प्रशान्त महासागर के क्षेत्रफल से भी कम है ।

15.3 महासागरीय जल के तापमान के वितरण को प्रभावित करने वाले कारक (Factors Affecting the distribution of temperature of oceans)

महासागरों का त्रिविस्तारीय आकार होने के कारण तापमान के वितरण का क्षैतिज (अक्षांशीय) एवं लम्बवत (गहराई) अध्ययन किया जाता है । महासागरीय जल के तापमान को अनेक प्रकार के कारक प्रभावित करते हैं जिनका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

1. **अक्षांश (Latitude) :** साधारण तौर पर महासागरों के जल का तापमान भूमध्य रेखा से ध्रुवों की तरफ जाने पर घटता जाता है । सूर्य की किरणें भूमध्य रेखा व आस–पास के क्षेत्रों में सीधी पड़ती है, ध्रुवों की तरफ जाने से किरणों के तिरछेपन एवं दूरी दोनों में वृद्धि हो जाती है, जिससे ध्रुवों की तरफ का तापमान तुलनात्मक रूप से कम होता जाता है । भूमध्य रेखा पर महासागरों के सतही जल का औसत तापमान 27° सै., 20° अक्षांश पर 23° सै., 40° अक्षांश पर 14° सै., 60° अक्षांश पर 01° सै. तथा ध्रुवीय क्षेत्रों में महासागरों की सतह का तापमान - 1.5 सै. तक पहुँच जाता है, जो सागरीय जल का हिमांक (Freezing Point) माना जाता है । अण्टार्कटिक हिम टोप (Ice Cap) के शीतलकारी प्रभाव के कारण दक्षिणी गौलार्द्ध के महासागरों का सतही तापमान उत्तरी गौलार्द्ध की अपेक्षा कम पाया जाता है ।
2. **महासागरीय धाराएँ (Ocean Currents) :** महासागरीय गर्म एवं ठण्डी जल धाराएँ प्रभावित क्षेत्र के तापमान में परिवर्तन लाती हैं । गर्म धाराएँ जिन क्षेत्रों में पहुँचती हैं वहां के तापमान को बढ़ा देती हैं । गल्फस्ट्रीम उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट के पास एवं उत्तर पश्चिमी यूरोप के महासागरीय क्षेत्रों का तापमान बढ़ा देती है । क्यूरोसिवो गर्म धारा एशिया के पूर्वी भाग से अलास्का में पहुँच कर वहां के तापमान को बढ़ा देती है । इसके विपरीत ठण्डी धाराएँ ध्रुवीय क्षेत्रों से भूमध्य रेखीय क्षेत्रों की ओर चल कर वहां के तापमान को कम कर देती है । लेब्रेडोर एवं क्यूराइल की ठण्डी धाराएँ क्रमश: कनाडा एवं साइबेरिया के पूर्वी तट के तापमान में गिरावट ला देती है । यदि उत्तरी एवं दक्षिणी गौलार्द्धों में गर्म जल धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो उत्तरी गौलार्द्ध के महासागरों का सतही जल दक्षिण गौलार्द्ध के जल की अपेक्षा अधिक गर्म पाया जाता है क्योंकि उत्तरी गौलार्द्ध में स्थलीय भागों की अधिकता पायी जाती है जिसके सम्पर्क में आकर महासागरीय जल का तापमान अधिक हो जाता है ।
3. **प्रचलित पवनें (Prevailing Winds) :** पवनों की दिशा का महासागरीय सतही जल के तापमान पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है । जब स्थलीय क्षेत्रों से हवाएँ सागर की ओर चलती हैं तो अपने साथ तटीय क्षेत्रों के गर्म जल को सागरीय क्षेत्रों की ओर बहा ले जाती है । इस स्थिति में क्षतिपूर्ति स्वरूप सागर के नितल से ठण्डा जल ऊपर उठ जाता है जिससे तटीय

क्षेत्रों का तापमान कम हो जाता है । इसके विपरीत जब हवाएँ सागरीय क्षेत्रों से तट की ओर चलती हैं तो तटीय क्षेत्रों में गर्म जल राशि एकत्रित हो जाने से वहाँ का तापमान बढ़ जाता है । इसी कारण व्यापारिक पवनों की पेटी में महासागरों के पूर्वी भागों में कम तापमान एवं पश्चिमी भागों में अधिक तापमान पाया जाता है । इसके विपरीत पछुआ पवनों की पेटी में विपरीत स्थिति पायी जाती है । उदाहरणार्थ – गल्फस्ट्रीम धारा यूरोप के उत्तर–पश्चिमी तट पर तथा क्यूरोसिवो धारा एशिया के उत्तर–पूर्वी तट पर तापमान में वृद्धि कर देती है ।

4. **स्थानीय मौसम (Local Weather) :** तूफान, चक्रवात, हरिकेन, वर्षा, मेघाच्छादन तथा अन्य मौसमी कारक भी महासागरीय सतही तापमान को प्रभावित करते हैं । इनसे स्थान विशेष का दैनिक तापमान अधिक प्रभावित होता है । भूमध्य रेखीय क्षेत्रों में सूर्य की लम्बवत किरणों के बावजूद आकाश में मेघों की अधिकता के कारण महासागरीय तापमान कर्क एवं मकर रेखाओं के क्षेत्रों की अपेक्षा कम पाया जाता है । उपोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों में आकाश मेघरहित होने से जल का तापमान अपेक्षाकृत अधिक पाया जाता है । भूमध्य रेखीय क्षेत्रों में प्रतिदिन होने वाली वर्षा महासागरीय तापमान को अधिक नहीं होने देती इसके विपरीत कर्क एवं मकर रेखाओं के निकट शुष्क मौसम महासागरीय तापमान में वृद्धि करता है । इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कारक जैसे – महासागरीय स्थिति, आकार, अन्त: महासागरीय कटक, वाष्पन की दर एव संघनन की प्रक्रियाएँ महासागरीय सतही तापमान के वितरण पर अपना प्रभाव डालते।

15.4 महासागरीय तापमान का क्षैतिज वितरण (Horizontal distribution of Oceanic Temperature)

महासागरों के सतही तापमान का वितरण भूमध्य रेखीय क्षेत्रों से ध्रुवों की तरफ जाने पर कम होते प्रारूप में पाया जाता है । भूमध्य रेखा के निकटवर्ती क्षेत्रों में औसत तापमान 27° सै, 20° अक्षांश पर 23° सै, 40° अक्षांश पर 14° सै., 60° अक्षांश पर 010° सै. तथा ध्रुवीय क्षेत्रों में महासागरों का सतही तापमान – 15° सै. हिमांक बिन्दु तक अंकित किया जाता है । उत्तरी गौलार्द्ध की अपेक्षा दक्षिणी गौलार्द्ध में महासागरीय तापमान तुलनात्मक रूप से कम पाया जाता है (तालिका – 15.1) ।

तालिका –15.1 : गौलार्द्धानुसार महासागरीय सतही तापमान का वितरण

(अक्षांशानुसार)

(तापमान अंश सेल्सियस में)

उत्तरी गोलार्द्ध	अटलांटिक महासागर	हिन्द महासागर	प्रशांत महासागर	दक्षिणी महासागर	अटलांटिक महासागर	हिन्द महासागर	प्रशांत महासागर
60°-70°	5.60°	–	–	60°–70°	–1.30°	–1.50°	–1.30°
50°–60°	8.66°	–	5.74°	50°–60°	1.76°	1.63°	5.00°
40°–50°	13.16°	–	9.99°	40°–50°	8.68°	8.67°	11.16°
30°–40°	20.40°	–	23.38°	30°–40°	16.90°	17.00°	11.16°

20°–30°	24.16°	26.14°	23.38°	20°–30°	21.20°	22.53°	21.53°
10°–20°	25.81°	27.23°	26.42°	10°–20°	23.16°	25.85°	25.11°
0°–10°	26.66°	27.88°	27.20°	0°–10°	25.18°	27.41°	26.01°

तालिका– 15.1 से स्पष्ट होता है कि सभी महासागरों में अधिकतम तापमान भूमध्य रेखा के उत्तर में पाये जाते हैं। इसके लिये प्रमुख कारण वायुमण्डलीय पीरसंचरण माना जाता है। उत्तरी गौलार्द्ध में स्थलीय भाग अधिक होने एव संचार पथ संकरे होने के कारण तापमान अधिक पाये जाते हैं। इसके अति रिक्त उष्णकटिबन्धीय सागरों में तापमान अधिक अंकित किये जाते हैं। ध्रुवीय क्षेत्रों में महासागरों का सतही तापमान 0° सै. एवं इससे भी कम (–1.5० सै.) तक पाये जाते हैं। ध्रुवीय क्षेत्रों में समताप रेखा लगभग वृत्ताकार होती है। महासागरीय सतह की समताप रेखाएँ सामान्यत: अक्षांश रेखाओं के समानान्तर होती है। सामान्यत: भूमध्य रेखा से ध्रुवों की तरफ दूरियाँ बढ़ने के साथ तापमान कम होता जाता है, परन्तु गर्म एवं ठण्डी जल धाराओं का तापमान पर विशेष प्रभाव पड़ता है। गल्फस्ट्रीम गर्म जलधारा के प्रभाव के कारण उत्तरी अटलांटिक महासागर के पूर्वी भाग में तापमान उच्च अक्षांशों में भी 5° सै. से अधिक बना रहता है, इस कारण से ब्रिटेन एव उत्तर पश्चिम यूरोप के बन्दरगाह शीतकाल में भी खुले रहते हैं जबकि इन्हीं उच्च अक्षांशों में अन्य महासागरों का तापमान 1°–2° सै. तक अंकित किया जाता है।

25° उत्तर अक्षांश से 40° दक्षिण अक्षांश के मध्य की पेटी में जनवरी माह में सभी महासागरों का सतही तापमान 21° से 32° सै. तक उच्च पाये जाते हैं। 10° उत्तर अक्षंश तथा मकर रेखा के बीच की पेटी में 26° से 32° सै. तक तापमान पाये जाते हैं। उत्तरी गौलार्द्ध में विशेष रूपसे शीतकाल में समताप रेखाएँ भूमध्य रेखा के समानान्तर पायी जाती हैं, जबकि दक्षिण गौलार्द्ध में विशेष रूप से अयनवर्ती क्षेत्रों में समताप रेखाओं का झुकाव भूमध्य रेखा की तरफ होता है। दक्षिण गौलार्द्ध में विशेष रूप से उच्च अक्षांशों में स्थलखण्डों के अभाव के फलस्वरूप समताप रेखाएँ अक्षांश रेखाओं के समानान्तर पायी जाती है। उल्लेखनीय है कि समताप रेखाओं की आकृति महासागरीय जल धाराओं, महाद्वीपों व महासागरों का आकार एवं उनके वितरण से प्रभावित होती है (चित्र– 15.1) ।

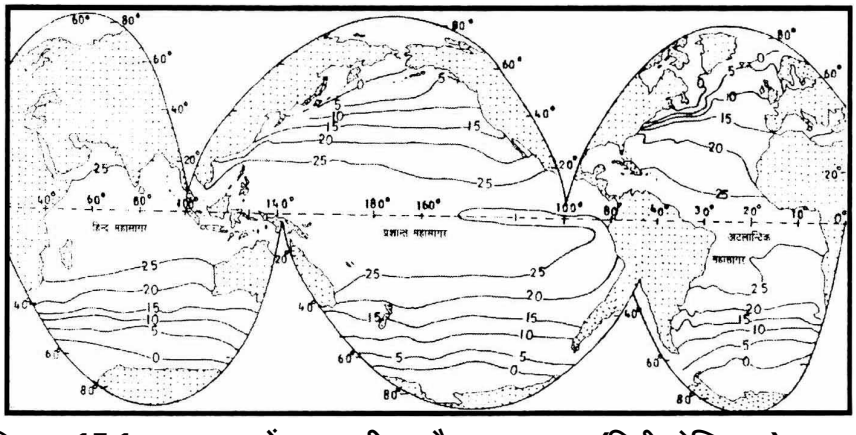

चित्र – 15.1 : महासागरों का पृष्ठीय औसत तापमान (डिग्री सेल्सियस) अगस्त

जुलाई माह में मकर रेखा से 40° अक्षांश के मध्य की पेटी में महासागरीय सतही तापमान 20° से 32° सै. तक पाया जाता है । इस माह का सबसे अधिक तापमान 32° सै. लाल सागर में पाया जाता है । इस माह में उत्तरी गौलार्द्ध में समताप रेखाओं का झुकाव उत्तरी ध्रुव की तरफ होता है तथा इनकी आकृति टेढ़ी मेढ़ी होती है जबकि दक्षिण गौलार्द्ध में समताप रेखाएँ अधिक सुडौल एव अक्षांश रेखाओं के समानान्तर होती हैं । जुलाई माह का सबसे कम तापमान (–1°सै.) 60° दक्षिण अक्षांश के पास दक्षिण अटलांटिक तथा हिन्द महासागर में अंकित किया जाता है ।

महासागरों की सतह का अधिकतम तापमान 5° उत्तर अक्षांश के निकट तथा न्यूनतम तापमान 80° उत्तर से उत्तरी ध्रुव के बीच एवं 75° से 80° दक्षिण अक्षांशों के मध्य पाया जाता है । प्रशान्त महासागर की सतह का तापमान सभी महासागरों में अधिकतम (19.1° सै.) होता है । हिन्द महासागर की सतह का तापमान 17.03° सै. एव अटलांटिक महासागर की सतह का तापमान 16.91° सै. पाया जाता है (चित्र – 15.2) ।

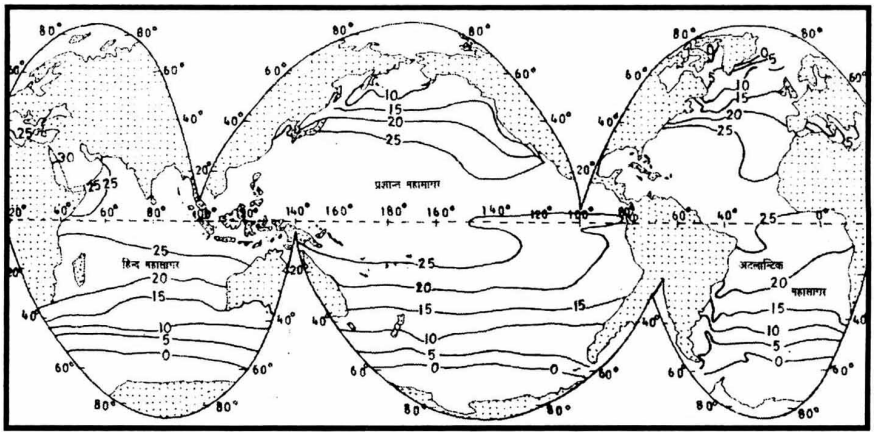

चित्र – 15.2 : महासागरों का पृष्ठीय औसत तापमान (डिग्री सेल्सियस) फरवरी

15.5 महासागरीय जल के तापमान का लम्बवत वितरण (Vertical Distribution of Oceanic Temperature)

महासागरीय जल के तापमान का प्रमुख स्रोत सूर्य है । महासागरीय जल की सतह पर सर्वाधिक तापमान पाया जाता है । सतह से नीचे गहराई में जाने से तापमान कम होता जाता है, परन्तु प्रत्येक स्थान पर तापमान की गिरावट समान नहीं होती है । सूर्य की किरणें महासागर में 200 मीटर की गहराई तक प्रवेश कर सकती है । वास्तव में सूर्य की किरणें 20 मीटर की गहराई तक सागरीय जल को गर्म करने में अधिक प्रभावशाली होती है । महासागरों में ताप का गिरना एक समान नहीं होता है । सामान्यतया 2000 मीटर तक ताप तेजी से कम होता है । इसके पश्चात ताप का गिरना नगण्य होता है । 6000 मीटर की गहराई पर ताप हिमांक बिन्दु के निकट होता है । अधिक ठण्डा जल भारी होने के कारण नीचे ही नीचे प्रवाहित होकर ध्रुवीय क्षेत्रों से आता है । मरे (Murray) नामक वैज्ञानिक ने **चैलेन्जर अन्वेषण** के दौरान महासागरों में गहराईनुसार निम्नलिखित औसत तापमान बताया है (तालिका–15.2)

तालिका - 15.2 :

गहराई (मीटर में)	तापमान (सै.)
200	15.9°
400	10.0°
1000	4.5°
2000	2.3°
3000	1.8°
4000	1.7°

भूमध्य रेखा से ध्रुवों की तरफ गहराईनुसार तापमान में गिरावट असमान दर से होती है । सामान्यत : भूमध्य रेखा से ध्रुवों की तरफ महासागरीय सतह का तापमान कम होता जाता है परन्तु सागर –नितल का तापमान भूमध्य रेखा से ध्रुवों तक समान बना रहता है । भूमध्य रेखा पर गहराई के साथ तापमान में गिरावट तीव्र गति से होती है, जबकि ध्रुवों की तरफ तापमान गिरावट की दर कम होती है । सतह व गहराई के तापमान के सम्बन्ध को निम्न तालिका में समझाया गया है -

तालिका – 15.3 :

अक्षांश	0–10	10–20	20–30	30–40	40–50	50–60	60–70
सतह का तापमान तापमान °सै.में	26.88	25.66	23.90	20.30	12.94	8.94	4.26
7.5° उत्तर अक्षांश पर गहराई (मीटर में)	00	100	200	400	800	1000	
तापमान °सै. में	26.88	18.57	10.71	7.70	5.13	4.81	

महासागरों में कुछ ऐसे क्षेत्र भी होते हैं, जहां गहराई बढ़ने के साथ तापमान भी ऊँचे पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए सारगैसो सागर, लाल सागर तथा भूमध्य सागर में गहराई के साथ तापमान बढ़ते हैं। लाल सागर में 1000 फैदम (2000 मीटर) की गहराई पर 24.4° सै. तापमान पाया जाता है, जबकि हिन्द महासागर में उसी गहराई पर 3.3° सै. तापमान पाया जाता है। इसी प्रकार भूमध्य सागर में 1200 मीटर की गहराई पर तापमान 13.3° सै. तक पाया जाता है जबकि अटलांटिक महासागर में इसी गहराई पर तापमान केवल 10° सै. अंकित किया जाता है।

बोध प्रश्न– 1

1. महासागर जल के तापमान का प्रमुख श्रोत सूर्य है। हाँ/नहीं
2. पृथ्वी तल के 29 प्रतिशत भाग पर जल पाया जाता है। हाँ/नहीं
3. महासागर लवणता प्रति हजार ग्राम (35 प्रति हजार) में अंकित की जाती है। हाँ/नहीं

4.	प्रशान्त महासागर का क्षेत्रफल समस्त स्थलीय भाग पर स्थल पाया जाता है।	हाँ/ नहीं
5.	दक्षिण गोलार्द्ध के 80.9 प्रतिशत भाग पर स्थल पाया जाता है।	हाँ/ नहीं
6.	महासागर धाराओं की उत्पत्ति में तापमान का योगदान होता है।	हाँ/ नहीं

15.6 महासागरीय जल की लवणता एवं स्रोत (Salinity and Source of Ocean Water)

महासागरों, आंशिक बन्द समुद्रों एवं स्थलबध समुद्रों का जल खारा (लवणीय) होता है। इनमें अनेक प्रकार के खनिज पाये जाते हैं, लेकिन जल की लवणता का मुख्य कारण सोडियम क्लोराइड (Sodium Chloride) की अधिकता है। वस्तुत: जल की लवणता उसमें घोल रूप में पाये जाने वाले सभी प्रकार के लवणों का योग होता है। महासागरों व समुद्रों के हजार ग्राम जल में विभिन्न प्रकार के लवणों की जितनी ग्राम मात्रा पायी जाती है उसे ही लवणता (Salinity) के नाम से जाना जाता है। इस लवणता को प्रतिशत (%) में न व्यक्त करके प्रति हजार (%) में प्रकट किया जाता है। उदाहरणार्थ यदि 1000 ग्राम महासागरीय जल में घुले हुए लवणों की मात्रा 35 ग्राम है, तो उस जल की लवणता 35% होगी। अत: स्पष्ट है कि महासागरीय जल के प्रति एक हजार भाग में घुले हुए खनिज लवणों का भाग ही उसकी लवणता कहलाती है। सरल शब्दों में, महासागरीय जल में घुले हुए लवणों की कुल मात्रा लवणता कहलाती है। स्वेरड्रॅप (Sverdrup) के मतानुसार सागरीय जल के भार तथा उसमें घुले हुए पदार्थों के भार के अनुपात को लवणता कहते हैं।

विभिन्न विद्वानों द्वारा महासागरों की लवणता की मात्रा के बारे में विभिन्न अनुमान दिये गये हैं। जोली नामक विद्वान द्वारा महासागरों में लवणता की कुल मात्रा 50 अरब टन बतायी गयी है, अगर यह अनुमान सही है तो कुल लवणों को अगर पृथ्वी सतह पर बिछाया जाये तो भूपृष्ठ पर 50 मीटर मोटी परत से ढक जायेगा। अगर महासागरों के जल से कुल लवण अलग किये जाये तो महासागरों का जल 30 मीटर नीचे हो जायेगा। मरे व क्लार्क नामक विद्वानों ने महासागरों में लवणों का अनुमान क्रमश: 5 अरब टन एंव 2.7 अरब टन बताया है।

लवणता की मात्रा द्वारा जल का स्वभाव भी प्रभावित होता है, जैसे लवणता के कारण जल का हिमांक बिन्दु बदल जाता है, यदि जल में लवणता अधिक है तो हिमांक प्राप्ति के लिए जल को अधिक गर्म होना पड़ेगा अर्थात हिमांक बिन्दु देरी से प्राप्त होगा। इसी प्रकार लवणता की मात्रा वाष्पीकरण को भी प्रभावित करती है। अधिक लवणता वाले जल में वाष्पीकरण की क्रिया धीमी गति से होती है जिससे आर्द्रता की उत्पति भी कम रहती है। अधिक लवणता वाले जल में अवशोषण की क्षमता बढ़ जाती है क्योंकि सूर्यातप का प्रकीर्णन अधिक सरलता से सम्पन्न होता है।

महासागर जल से भरे हैं तथा जल के विशाल स्रोत हैं। किन्तु इस जल का उपयोग पीने के लिए नहीं किया जाता है क्योंकि इसमें लवणता अधिक पायी जाती है। महासागरों में यह

लवणता कहाँ से आयी? इस प्रशन पर विभिन्न मत दिये गये हैं। वर्षा के जल में लवणता नहीं पायी जाती है, इसलिए महासागरों में लवणता महाद्वीपों से ही पहुँची है। लवणता खनिजों एवं रसायनों का ही स्वरूप है जिसे नदियों द्वारा महासागरों में पहुँचाया गया है। महाद्वीपों की शैलों में अनेक प्रकार के रसायन एवं लवण मिले होते हैं, जिन्हें नदियाँ बहाकर महासागरों में ले जाती हैं।

क्लार्क एफ.डब्ल्यू. नामक विद्वान की गणनानुसार संसार की सभी नदियाँ 2.73×10^{19} मैट्रिक टन घुले हुए पदार्थ प्रतिवर्ष अपने साथ बहा कर महासागरों में पहुँचाती हैं। नदियों के जल में कैल्शियम कार्बोनेट की मात्रा अधिक एव सोडियम क्लोराइड की मात्रा बहुत कम पायी जाती है। साथ ही नदियों के जल में सिलिका की प्रधानता होती है जिसकी खारे पानी में अत्यधिक न्यून मात्रा होती है।

महासागरीय जल में वाष्पीकरण क्रिया द्वारा भी लवणता की मात्रा में वृद्धि होती है। लवण की जो मात्रा नदियों द्वारा महासागरों में पहुँचायी जाती है वह महासागरों में उपस्थित कुल लवण पदार्थों का सूक्ष्म अंश होता है। किन्तु महासागरों में वाष्पीकरण क्रिया के फलस्वरूप स्वच्छ या मीठा जल वाष्प में परिवर्तित होकर वायुमण्डल में मिल जाता है तथा इसके फलस्वरूप महासागरों के जल में धीरे–धीरे लवणता की मात्रा बढ़ती जाती है। महासागरों के जल में लवण पदार्थों के भार में सर्वत्र एकरूपता पायी जाती है जिसका मुख्य कारण जल में निरन्तर गतिशीलता का बना रहना है, जिसके फलस्वरूप जल में लवण पदार्थों का मिश्रण आसानी से होता रहता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार पृथ्वी की उत्पत्ति पश्चात उसकी प्रथम ठोस पपड़ी में लवणता की मात्रा अधिक थी। इस प्रथम पपड़ी के विघटन एवं वियोजन के फलस्वरूप अपरदन के कारकों द्वारा भारी मात्रा में लवण पदार्थ महासागरों में पहुँचाये गये जिस कारण महासागरीय जल की लवणता में वृद्धि होती चली गयी। नदियाँ इस प्रक्रिया में लवण पहुँचाने वाले कारकों में सर्वप्रमुख थी। नदियों के अतिरिक्त पवनों, ज्वालामुखी उदगारों द्वारा भी महासागरों में लवणता वृद्धि की गयी है।

15.7 महासागरीय जल का संघटन (Composition of Ocean Water)

महासागरीय जल एक सक्रिय घोलक होता है, इसमें कई प्रकार के खनिज पाये जाते हैं। प्रतिवर्ष नदियों द्वारा महासागरों में लवण लाया जाता है जिससे लवणता में निरन्तर वृद्धि होती रही है। जोली, मरे एवं क्लार्क नामक विद्वानों ने महासागरों में लवणता की मात्रा क्रमश: 50 अरब टन, 5 अरब टन एंव 2.7 अरब टन बतायी है।

सन् 1884 के चैलेन्जर अन्वेषण में डिटमार (Dittmar) नामक वैज्ञानिक ने महासागरों व समुद्रों के जल में 47 प्रकार के लवणों का पाया जाना निश्चित किया। इनमें सात प्रकार के लवण सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इनमें सर्वाधिक मात्रा में साधारण नमक यानि सोडियम क्लोराइड होता है। इन लवणों के अतिरिक्त महासागरीय जल में ब्रोमाइन कार्बन, बोरान, सिलिकान स्ट्रॉन्टियम तथा फ्लोरिन आदि भी थोड़ी–थोड़ी मात्रा में पाये जाते हैं। वायुमण्डलीय गैसों की

थोड़ी मात्रा (ऑक्सीजन तथा कार्बनडाईऑक्साइड) महासागरीय जल में घुली अवस्था में पायी जाती है। इन गैसों की उपस्थिति महासागरीय जीवों व वनस्पति में पाये जाने वाले विभिन्न जैविक प्रक्रमों में विशेष महत्वपूर्ण होती है।

वैज्ञानिक ये मानते हैं कि पृथ्वी तल पर पाये जाने वाले सभी तत्व किसी न किसी रूप व मात्रा में सागर तल में भी पाये जाते हैं। सोना, चांदी, ताँबा, जस्ता, सीसा, निकेल, कोबाल्ट, मैंगनीज, एल्युमिनियम, लोहा, सिलिकन आदि बहुत थोड़ी मात्रा में महासागरों के जल में घोल के रूप में विद्यमान हैं। वैज्ञानिक गणनानुसार प्रतिघन मील महासागरों के जल में 14 पौण्ड सोना तथा 500 पौण्ड सीसा घोल रूप में विद्यमान है। जिस प्रकार महासागरों के जल से वर्तमान में सोडियम क्लोराइड (नमक) और मैगनिशियम निकाला जाता है उसी प्रकार भविष्य में अन्य खनिजों का दोहन भी सम्भव हो सकेगा।

डिटमार (Dittmar) द्वारा दिया गया विभिन्न लवणों का भार एवं प्रतिशत तालिका– 15.4 द्वारा व्यक्त किया जा रहा है, जो चैलेंजर अन्वेषण अभियान द्वारा प्राप्त आकड़ों पर आधारित है –

तालिका–15.4 : महासागरीय जल में विभिन्न लवणों का भार एवं प्रतिशत

लवण	मात्रा% (प्रति हजार ग्राम)	प्रतिशत
सोडियम क्लोराइड	27.213	77.8
मैगनिशियम क्लोराइड	3.807	10.9
मैगनिशियम सल्फेट	1.658	4.7
कैल्शियम सल्फेट	1.260	3.6
पौटेशियम सल्फेट	0.863	2.5
कैल्शियम कार्बोनेट	0.123	0.3
मैगनिशियम ब्रोमाइड	0.076	0.2
	35.000	100.0

विभिन्न महासागरों व समुद्रों में लवण की कुल मात्रा में अन्तर हो सकता है, परन्तु उसकी संरचना के अनुपात में सभी स्थानों पर समानता पायी जाती है। विभिन्न महासागरों व समुद्रों में लवण की मात्रा 33% से 37% (अर्थात 1000 ग्राम जल में 33 से 37 ग्राम लवण की मात्रा) के बीच पायी जाती है।

बोध प्रश्न –2

1. महासागरीय तापमान के वितरण का अध्ययन किस स्वरूप में किया जाता है?

   .....

   .....

2. महासागरीय तापमान के क्षैतिज वितरण का आधार बताइये।

.....

.....

3. गल्फस्ट्रीम गर्म जल धारा किस क्षेत्र को प्रभावित करती है?

.....

.....

4. लेब्रेडोर की ठण्डी जल धारा किस क्षेत्र में प्रवाहित होती है?

.....

.....

5. उत्तरी गौलार्द्ध में महासागरीय सतह का तापमान दक्षिणी गौलार्द्ध की अपेक्षा अधिक क्यों होते है?

.....

.....

15.8 महासागरों में लवणता का वितरण (Distribution of Salinity in Oceans)

महासागरों में लवणता सर्वत्र एक समान नहीं पायी जाती है। लवणता के वितरण में असमानता मुख्य रूप से तीन कारकों (1) वर्षा व नदियों द्वारा ताजे पानी की आपूर्ति (2) वाष्पीकरण की दर तथा (3) महासागरों के जल में मिश्रण से उत्पन्न होती है। लवणता का वितरण मानचित्र पर प्रदर्शित करने के लिए समलवण रेखाओं (Isohalines lines) की सहायता ली जाती है, ये समलवण रेखाएँ समान लवणता वाले स्थानों को मिलाकर खींची जाती हैं। इन रेखाओं द्वारा केवल सतही जल की लवणता का प्रदर्शन होता है। सतह से नीचे जाने पर लवणता में भिन्नता आती जाती है। महासागरों का क्षैतिज एवं लम्बवत लवणता का वितरण सदैव भिन्न होता है। महासागरों की औसत लवणता 35%है। लवणता में अन्तर क्षैतिज एवं लम्बवत दोनों रूपों में पाया जाता है, जिसके कारण महासागरों, समुद्रों आंशिक बन्द एवं बन्द समुद्रों आदि की लवणता में अन्तर पाया जाता है।

15.8.1 लवणता का क्षैतिज वितरण (Horizontal distribution of salinity)

लवणता के क्षैतिज वितरण में मुख्य रूप से अक्षांशीय एवं प्रादेशिक वितरण पर ध्यान दिया जाता है। प्रादेशिक वितरण के अन्तर्गत खुले महासागरों की लवणता का अलग–अलग वितरण प्रस्तुत किया जाता है।

(अ) अक्षांशीय वितरण

तालिका–15.5 : जॉनस्टन द्वारा दिया गया लवणता का अक्षांशीय वितरण

अक्षांश मण्डल	लवणता प्रति हजार (%)
70°–50° उत्तर	30–31

50°–40° उत्तर	33–34
40°–15° उत्तर	35–36
15° उत्तर 10° दक्षिण	34.5–3.5
10°–30° दक्षिण	35–36
30°–50° दक्षिण	34–35
50°–70° दक्षिण	33–34

तालिका – 15.5 एवं समलवण रेखाओं द्वारा बने चित्र – 15.3 के अध्ययन पश्चात यह ज्ञात होता है कि उत्तरी गौलार्द्ध की अपेक्षा दक्षिण गौलार्द्ध में लवणता अधिक पायी जाती है इसका मुख्य कारण दक्षिण गौलार्द्ध में स्थलीय विस्तार का कम पाया जाना है, जिसके फलस्वरूप जल का मिश्रण विभिन्न अक्षांशों में बिना किसी अवरोध से सुविधाजनक तरीके से होता है। उत्तरी गौलार्द्ध में स्थलीय भाग अधिक पाये जाने के कारण मिश्रण रूपी प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न होती है। उत्तरी गौलार्द्ध में 34% रख दक्षिण गौलार्द्ध में 35% औसत लवणता पायी जाती है (चित्र – 15.3)।

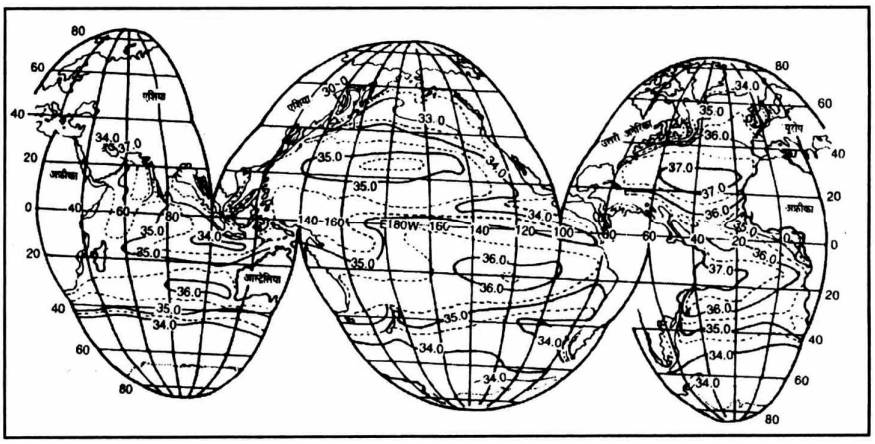

चित्र – 15.3 : महासागरों की पृष्ठीय लवणता

- महासागरों में सर्वाधिक लवणता उपोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों में 30° उत्तरी व दक्षिणी अक्षांशों के निकट पायी जाती है। इन क्षेत्रों में कम वर्षा तथा अधिक वाष्पीकरण अधिक लवणता पाये जाने का मुख्य कारण है। इसके अतिरिक्त नदियों द्वारा लाये गये जल की मात्रा भी इन क्षेत्रों में बहुत कम होती है। मेघ रहित स्वच्छ आकाश, प्रतिचक्रवाती अवस्था एव सूर्यातप अधिक पाया जाता है।
- भूमध्य रेखीय पेटी में अधिक वर्षा, कम वाष्पीकरण तथा नदियों द्वारा बहा कर लाये गये जल की मात्रा अधिक होती है, जिसके फलस्वरूप कर्क एव मकर रेखाओं से भूमध्य रेखा की ओर जाने पर लवणता में कमी आती जाती है। यहाँ वर्षा अधिक होने के कारण मीठे या लवणता रहित जल का मिश्रण होता रहता है।
- ध्रुवीय क्षेत्रों में तापमान व वाष्पन कम होने तथा गर्मी में बर्फ पिघलने से पानी की अधिकता हो जाने से लवणता न्यूनतम पायी जाती है।

- मध्य अक्षांशीय प्रदेशों में तापमान एंव वाष्पीकरण की दर अधिक होने से महासागरों में लवणता अधिक पायी जाती है।
- नदियों के मुहानों पर लवणता कम पायी जाती है क्योंकि वहां नदियों का मीठा जल सागरों में आकर गिरता है।
- महासागरों और अधखुले सागरों के जल में भली प्रकार से सम्मिश्रण न होने के कारण लवणता में अन्तर पाया जाता है। भूमध्य सागर में जिब्राल्टर जल –डमरूमध्य के पास लवणता 36.5% मिलती है। यह लवणता पूर्व की तरफ जाने पर बढ़ती चली जाती है, सीरिया तट के पास आते– आते 39% तक पहुँच जाती है। इसी प्रकार लाल सागर में दक्षिण की ओर लवणता 36.5 पायी जाती है, जो उतर की ओर जाने पर बढ़ती चली जाती है। लाल सागर में एक भी नदी आकर नहीं मिलती है। काला सागर एवं ओजीव सागर उच्च अक्षांशों में स्थित होने तथा इनमें कई नदियों के मिलने के कारण लवणता कम पायी जाती है। बाल्टिक सागर में लवणता का कम पाया जाना उसकी उच्च अक्षांशों में स्थिति, कम वाष्पन एव हिम का पिघला जल प्राप्त होने के कारण है।
- बन्द सागरों या झीलों में लवणता वितरण अलग पाया जाता है। जिन सागरों में नदियाँ गिरती हैं एवं जल का निकास है, वहाँ लवणता कम पायी जायेगी। इनमें लवणता एकत्रित नहीं हो पाती। पूर्णत : बन्द सागरों व झीलों में नदियाँ आकर गिरती तो हैं लेकिन उनका निकास नहीं होने के कारण इनमें लवणता बहुत अधिक पायी जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के यूटा राज्य में स्थित ग्रेट साल्ट लेक के जल की लवणता 220% है, इसी प्रकार एशिया माइनर में पायी जाने वाली वान झील में लवणता 330% एंव मृत सागर में 237.5% लवणता पायी जाती है। कैस्पियन सागर के उत्तरी भागों में वोल्गा एंव यूराल नदियों द्वारा मीठा जल प्राप्त होने के कारण लवणता 13% तथा दक्षिणी भागों में विशेषकर दक्षिण पूर्व में स्थित काराबोगाज़ की खाड़ी में लवणता 170% पायी जाती है। ये झीलें अर्द्धशुष्क प्रदेशों में स्थित हैं, जिससे इनमें वाष्पन की दर तीव्र पायी जाती है। इन झीलों में सोडियम क्लोराइड की मात्रा खुले महासागरों की अपेक्षा अधिक पायी जाती है।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर महासागरों में लवणता के चार मण्डल बताये गये हैं – 1. भूमध्यरेखीय क्षेत्र का अपेक्षाकृत कम लवणता का मण्डल, 2. अयनवर्ती अधिकतम लवणता का मण्डल, 3. शीतोष्ण कटिबन्धीय कम लवणता का मण्डल एवं 4. ध्रुवीय तथा उपध्रुवीय न्यूनतम लवणता का मण्डल।

(ब) प्रादेशिक वितरण (Regional distribution of salinity)

प्रादेशिक वितरण से तात्पर्य विभिन्न महासागरों के लवणता के वितरण से है। विश्व स्तर पर महासागर के विभिन्न भागों में लवणता के वितरण में एकरूपता नहीं पायी जाती है। लवणता के प्रादेशिक वितरण को समझने के लिए दो प्रकार की विधियाँ प्रयोग में लायी जाती हैं। प्रथम विधिनुसार अलग–अलग महासागरों में लवणता के वितरण की विवेचना की जाती है। दूसरी विधि जेनकिन्स (Jenkins) नामक विद्वान द्वारा दी गयी है। जेनकिन्स ने महासागरों व सागरों में पायी जाने वाली लवणतानुसार तीन वर्ग निश्चित किये हैं– 1. सामान्य से अधिक

लवणता वाले सागर (34% से 41%), 2. सामान्य लवणता वाले सागर (35% से 36%) तथा 3. तीसरा वर्ग सामान्य से कम लवणता वाले सागरों (20% से 35%) से सम्बन्धित है। लेकिन प्रथम विधि द्वारा दिया गया लवणता का प्रादेशिक वितरण अधिक सुगम एवं सर्वमान्य है। इसलिए यहाँ विभिन्न महासागरों में पाये जाने वाली लवणता का विवेचन महासागरानुसार किया गया है।

(1) अटलांटिक महासागर

20° से 30° उत्तरी अक्षांशों के मध्य (उत्तरी अटलांटिक) लवणता का स्तर 37% है जो अन्य महासागरों की तुलना में सबसे अधिक है। अटलांटिक महासागर के उत्तर में सतही जल की औसत लवणता 35.5% है, जबकि दक्षिणी अटलांटिक की औसत लवणता 34% है। उत्तरी व दक्षिणी भागों में पायी जाने वाली इस लवणता के अन्तर का मुख्य कारण भूमध्य सागर में होने वाला तीव्र वाष्पीकरण है। भूमध्य सागर का अत्यन्त खारा जल जिब्राल्टर जलडमरूमध्य से होता हुआ उत्तरी अटलांटिक के सतही जल में मिलता है, जिससे यहां की लवणता खुले महासागरों की तुलना में सर्वाधिक होती है। इस महासागर के भूमध्यरेखीय क्षेत्रों में वाष्पन की तुलना में वर्षा द्वारा स्वच्छ जल की आपूर्ति अधिक होती है, यहाँ सतही जल की औसत लवणता 35% रहती है। इसके विपरीत 20°– 25° उत्तरी तथा 20° दक्षिणी अक्षांशों के निकट वर्षा की अपेक्षा वाष्पन अधिक होता है जिससे इन क्षेत्रों में लवणता 37% पायी जाती है। अयनवर्ती क्षेत्रों में ध्रुवों की ओर जाने पर वाष्पन की अपेक्षा वर्षा अधिक होने से सतही लवणता धीरे–धीरे कम होती जाती है, इन क्षेत्रों में लवणता 35% पायी जाती है।

गल्फस्ट्रीम गर्म जल धारा अपने साथ 35% लवणता वाली जल राशि को बहाकर अटलांटिक महासागर के उत्तर–पूर्वी भाग में 78° उत्तरी अक्षांश पर स्थित स्पिट्जबर्गेन तक ले जाती है, जिससे यहा पर लवणता बढ़ जाती है। इसी जल धारा के प्रभावस्वरूप उत्तरी सागर, नार्वे के तटवर्ती सागर आदि क्षेत्रों में लवणता अधिक पायी जाती है। इसी प्रकार आर्कटिक सागर 34% लवणता वाला जल ठण्डी जलधाराओं के माध्यम से 45° उत्तर अक्षांश तक पहुँचा दिया जाता है। ध्रुवीय क्षेत्रों में लवणता की मात्रा घटकर 30% से 33% तक पायी जाती है। अटलांटिक महासागर के पश्चिमी किनारे पर लेब्रेडोर ठण्डी जलधारा के कारण लवणता कम पायी जाती है। इसी प्रकार अफ्रीका के किनारे गिनी खाड़ी में लवणता कम होती है, क्योंकि यहां व्यापारिक पवनों द्वारा सतही जल हटा दिया जाता है जिससे आन्तरिक कम लवणता वाला जल उभर आता है। इस क्रिया को उत्प्रवाह (Upwelling) कहते हैं।

अटलांटिक महासागर के तटवर्ती क्षेत्रों तथा छिछले लैगूनों में लवणता 34% से कम होती है। न्यूफाउण्डलैण्ड के निकट सतही लवणता 34% से भी कम पायी जाती है। अटलांटिक महासागर के मध्य में 25° उत्तरी अक्षांश के निकट स्थित सारगोसा सागर में ग्रीष्मकालीन लवणता 57% से भी अधिक पायी जाती है।

दक्षिणी अटलांटिक महासागर के पूर्वी भाग की अपेक्षा पश्चिमी भाग में अधिक लवणता पाई जाती है। विशेष रूप से ऐसा 10° से 30° दक्षिणी अक्षांश के मध्य देखा जाता है। इन्हीं अक्षांशों के पूर्वी तट के पास महासागर की गहराइयों से शीतल और कम खारे जल का उत्प्रवाह

होता है जिससे पूर्वी भागों में खारापन कम पाया जाता है। इस महासागर में गिरने वाली नदियों के मुहानों के निकट सतही लवणता कम पायी जाती है। अमेजन (15%), कांगो (34%), नाइजन (20%) एंव सेनेगल (34%) नदियों के मुहानों के निकट लवणता कम पायी जाती है।

(2) प्रशान्त महासागर

प्रशान्त महासागर के भूमध्यरेखीय क्षेत्रों में लवणता कम पायी जाती है। यहाँ लवणता 34% पायी जाती है। 15° उत्तरी व दक्षिणी अक्षांशों के निकट लवणता की मात्रा बढ़कर 34% से 35% तक हो जाती है। इस महासागर में अधिकतम लवणता की मात्रा 37% दक्षिण पूर्वी भाग में पायी जाती है। उत्तरी प्रशान्त महासागर में व्यापारिक पवनों के क्षेत्र में लवणता की मात्रा 36% से अधिक नहीं पायी जाती है। प्रशान्त महासागर के उत्तरी–पश्चिमी भाग में 15° से 30° उत्तरी अक्षांशों के मध्य लवणता की मात्रा 35.5% पायी जाती है।

दक्षिणी प्रशान्त महासागर में लवणता की मात्रा 36% तक पायी जाती है। अण्टार्कटिका के समीप सतही लवणता 34% से भी कम पायी जाती है। इसी प्रकार प्रशान्त महासागर के बिलकुल उत्तरी क्षेत्र में लवणता 32% से भी कम अंकित की जाती है। इस महासागर के पश्चिमी भाग में भारी वर्षा व मानसून प्रणाली के फलस्वरूप लवणता की मात्रा घटकर 31% के लगभग आ जाती है। पूर्वी एवं पश्चिमी प्रशान्त की लवणता में अन्तर मुख्य रूप से धाराओं की प्रकृति एवं मौसमी परिवर्तन होता है। उत्तरी चीन के तट के पास क्यूराइल ठण्डी धारा के कारण लवणता केवल 31% पायी जाती है, परन्तु क्यूराशिवो गर्म जलधारा के कारण पूर्वी भाग में लवणता अपेक्षाकृत अधिक पायी जाती है। कैलिफोर्निया के तट के पास उत्तर दिशा से कैलिफोर्निया धारा द्वारा हिम का पिघला जल लाने से लवणता कम होती है। कोलम्बिया और पेरू के तट के समीप लवणता क्रमश : 28% और 33% अंकित की जाती है। यहाँ ठण्डी चिली जल धारा का प्रभाव भी देखने को मिलता है। नदियों के मुहानों पर लवणता कम पायी जाती है जैसे ह्वांगहो के मुहाने पर 30% एंव यांगटिसीक्यांग के मुहाने पर 33% लवणता अंकित की जाती है।

(3) हिन्द महासागर

हिन्द महासागर में लवणता का वितरण अलग प्रकार का पाया जाता है। यहाँ भूमध्य रेखा और 10° उत्तर अक्षांशों के बीच लवणता 25% पायी जाती है। बंगाल की खाड़ी में प्रवेश करते हुए लवणता घटती जाती है तथा गंगा के मुहाने पर पहुँचते–पहुँचते यह 30% ही रह जाती है, इसी प्रकार गोदावरी, कृष्णा एवं कावेरी नदियों के मुहानों पर भी लवणता कम पायी जाती है। अरब सागर की ओर लवणता बढ़ती जाती है। लाल सागर के मुहाने पर लवणता की मात्रा 36.5% एंव फारस की खाड़ी के मुहाने पर यह बढ़कर 37% हो जाती है लाल सागर में स्वेज नहर के पास यह बढ़कर 41% और फारस की खाड़ी के आन्तरिक भाग में लवणता बढ़कर 40% हो जाती है। दजला एवं फरात नदियों के मुहानों पर लवणता मात्रा 35% ही पायी जाती है। इस महासागर के पूर्वोत्तर भाग में लवणता की मात्रा 32% से 34% तक पायी जाती है जो उत्तरी पश्चिमी भागों में पायी जाने वाली लवणता 32% से 37% की अपेक्षा कम है। उत्तरी–पूर्वी

भागों में कम लवणता यहाँ होने वाली भारी वर्षा एवं बड़ी संख्या में नदियों द्वारा मुहाने बनाने के कारण पायी जाती है।

इस महासागर में 40° दक्षिणी अक्षांश से अण्टार्कटिका महाद्वीप के किनारों तक लवणता घटती जाती है। इन क्षेत्रों में लवणता की मात्रा 35% से घटकर 33.5% तक पहुँच जाती है। इसका मुख्य कारण अण्टार्कटिका में फैली हिमचादरों एवं हिमखण्डों के पिघलने से प्राप्त स्वच्छ जल है। ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप के पश्चिमी तट के निकट जलवायु शुष्क होने से वाष्पन अधिक होता है जिसके कारण यहाँ लवणता अधिक पायी जाती है।

15.8.2 लवणता का लम्बवत् (ऊर्ध्वाधर) वितरण (Vertical distribution of salinity)

महासागरों में उपस्थित विभिन्न जलराशियों की भौतिक एवं रासायनिक विशेषताओं के कारण सतह के नीचे अलग–अलग गहराइयों में लवणता एवं तापमान आदि के वितरण में अत्यधिक जटिलताएँ पायी जाती हैं। लवणता के वितरण एवं गहराई में कोई विशेष नियम नहीं होता है।

40° उत्तर से 50° दक्षिण अक्षांशों के मध्य लवणता (लम्बवत्) में तेजी से गिरावट आती है। 800 मीटर की गहराई पर लवणता 34.3% से 34.9% तक पायी जाती है। इसी प्रकार 1600 से 2000 मीटर की गहराई पर लवणता 34.8% से 34.9% तक बढ़ती है। इसके पश्चात लवणता धीरे–धीरे कम होती जाती है।

दक्षिण अटलांटिक महासागर में सतही लवणता 33% पायी जाती है। यह 400 मीटर (200 फैदम) की गहराई में बढ़कर 34.5% हो जाती है तथा 1200 मीटर (600 फैदम) पर 34.75% हो जाती है। परन्तु 20° दक्षिण अक्षांश पर सतही लवणता 37% है जो तली में घटकर 35% हो जाती है। इसके ठीक विपरीत भूमध्य रेखा पर सतही लवणता 34% पायी जाती है जो गहराई में बढ़कर 35% हो जाती है।

हिन्द एवं प्रशान्त महासागर में लवणता के लम्बवत् वितरण में समानता पायी जाती है। लवणता में 2000 मीटर तक वृद्धि होती है उसके बाद धीरे–धीरे कम होती जाती है।

सामान्यत: यह पाया गया है कि उच्च अक्षांशों में सतही लवणता कम तथा गहराई में बढ़ती जाती है। मध्य अक्षांशों में 400 मीटर तक लवणता में वृद्धि तथा उसके पश्चात कम होती जाती है। भूमध्य रेखा पर सतही लवणता कम, गहराई में अधिक तथा तली में पुन : कम होती है।

15.9 लवणता में असमानता के कारण (Causes of inequalities in salinity)

विभिन्न महासागरों, आंशिक बन्द एव स्थलबध समुद्रों या झीलों में लवणता का वितरण बहुत असमान पाया जाता है। इतना ही नहीं एक महासागर या समुद्र के विभिन्न भागों में लवणता वितरण में अन्तर पाया जाता है। महासागरों, समुद्रों तथा झीलों में लवणता की मात्रा को प्रभावित करने वाले नियंत्रक कारक (Controlling Factors) निम्नलिखित हैं –

1. **वाष्पीकरण (Evaporation):** वाष्पीकरण सौर्यताप पर निर्भर करता है, अधिक ताप अधिक वाष्पन एवं कम ताप कम वाष्पन। वाष्पन क्रिया द्वारा जल वाष्प वायुमण्डल में विलीन हो जाती है, लवण जल में शेष रह जाते हैं, इससे लवणता का अनुपात बढ़ता जाता है। भूमध्य रेखा पर तापमान व सापेक्ष आर्द्रता दोनों अधिक पाये जाते हैं। आर्द्रता अधिक होने एवं बादलों की अधिकता के कारण यहाँ वाष्पीकरण की दर कम पायी जाती है। कर्क एवं मकर रेखाओं पर वायु के अवतलन के कारण प्रतिचक्रवातीय दशाएँ बनी रहती हैं जिससे वायुमण्डल शुष्क एवं आकाश मेघरहित पाया जाता है। इसी कारण से इन क्षेत्रों में वाष्पीकरण सर्वाधिक मात्रा में पाया जाता है जिससे लवणता की मात्रा भी यहाँ सर्वाधिक होती है। ध्रुवीय क्षेत्रों में तापमान एवं वाष्पन कम होने से लवणता की मात्रा भी बहुत कम पायी जाती है। महासागरों में वाष्पीकरण की मात्रा वुस्ट के अनुसार प्रतिवर्ष 93 सेण्टीमीटर एवं शिमिट के अनुसार 74 सेण्टीमीटर अंकित की गयी है।
2. **वर्षा (Rainfall):** वर्षा द्वारा स्वच्छ या मीठे जल की प्राप्ति होती है, अत : अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में लवणता कम एवं कम वर्षा वाले क्षेत्रों में लवणता भी अधिक पायी जाती है। इसीलिए भूमध्यरेखीय क्षेत्रों में लवणता कम एवं कर्क–मकर रेखाओं पर लवणता अधिक पायी जाती है। हिमवर्षण का प्रभाव भी जलवर्षण के समान ही होता है। ध्रुवीय एवं उपध्रुवीय क्षेत्रों में हिमवर्षा द्वारा प्राप्त जल के कारण लवणता कम पायी जाती है।
3. **नदियों का जल (River Water) :** नदियों के जल में लवण (सोडियम क्लोराइड) कम पाये जाते हैं। जिन सागरों एवं महासागरों में नदियों द्वारा मुहाने बनाये जाते हैं उन क्षेत्रों में तुलनात्मक रूप से लवणता कम पायी जाती है। गंगा, अमेजन, कांगो, मिसीसिपी आदि नदियों के मुहाने पर स्वच्छ जल की प्राप्ति के कारण लवणता की मात्रा कम अंकित की जाती है।
4. **पवन दिशा (Wind Direction) :** निरन्तर एक ही दिशा में पवन के चलने का प्रभाव भी लवणता को प्रभावित करता है। व्यापारिक पवनों द्वारा महासागरों का जल पूर्वी भाग से पश्चिमी भाग में एवं पछुआ पवनों द्वारा महासागरों का जल पश्चिमी भाग से पूर्वी भाग में ले जाया जाता है। व्यापारिक पवनें पश्चिमी भागों में तथा पछुआ पवनें पूर्वी भागों में लवणता की मात्रा में वृद्धि करती है। अत: स्थाई पवनों के क्षेत्रों में पूर्वी एवं पश्चिमी भागों में लवणता में भिन्नता देखने को मिलती है।
5. **महासागरीय गतियाँ (Movement of Ocean Water)** : महासागरीय गतियाँ जैसे धाराओं, ज्वारीय तरंगों एवं संवाहनीय धाराओं द्वारा भी लवणता में बदलाव आता है। भूमध्यरेखीय गर्म धाराएँ महाद्वीपों के पश्चिमी भागों से लवण को पूर्वी भागों में पहुँचा कर वहाँ की लवणता में वृद्धि करती है। मैक्सिको की खाड़ी में इसी कारण से लवणता अधिक पायी जाती है। गल्फस्ट्रीम एवं क्यूरोसिवो की उष्ण धाराएँ अपने साथ लवणयुक्त जल बहाकर ध्रुवों की ओर ले जाती है जिसके फलस्वरूप यहाँ पर लवणता की मात्रा अधिक पायी जाती है। ज्वारीय तरंगें भी जल में लवणता के अन्तर को प्रभावित करती हैं। संवाहनिक धाराएँ महासागरों में लम्बवत गति उत्पन्न करती हैं इससे जल का कहीं अपसरण तो कहीं

अभिसरण होता है। यह गति महासागरों में प्रत्येक स्थान पर सुचारू रूप से नहीं होने के कारण लवणता में अन्तर पाया जाता है।

6. **मौसमी परिवर्तन (Seasonal change) :** मौसमी परिवर्तन के फलस्वरुप पृथ्वी के सभी भागों पर तापमान बदलते रहते हैं, यहाँ तक एक ही अक्षांश पर शीतकाल में ठण्डा एवं ग्रीष्मकाल में गर्म मौसम पाया जाता है। तापमान बढ़ने व घटने के कारण एक ही अक्षांश पर लवणता में भी अन्तर आ जाता है, यानि ग्रीष्मकाल में लवणता अधिक एव शीतकाल में लवणता कम पायी जाती है। इसी प्रकार सूर्य के उत्तरायण एवं दक्षिणायन होने से भी उत्तरी व दक्षिणी गौलार्द्धों में लवणता की मात्रा बढ़ती–घटती रहती है।

बोध प्रश्न– 3

1. महासागरीय लवणता किस प्रतिरूप में दर्शाया जाता है?

   .....

   .....

2. भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर जाने पर लवणता में क्या बदलाव आता है?

   .....

   .....

3. उत्तरी गौलार्द्ध एव दक्षिणी गौलार्द्ध की औसत लवणता बताइये।

   .....

   .....

4. विश्व में सर्वाधिक लवणता कहाँ पायी जाती है?

   .....

   .....

5. महासागरीय लवणता में असमानता के दो प्रमुख कारण बताइये।

   .....

   .....

6. नदियों के मुहानों पर लवणता स्तर कम क्यों पाया जाता हैं?

   .....

   .....

7. गल्फ स्ट्रीम गर्म जलधारा किस प्रदेश की लवणता स्तर को बढ़ाती है?

   .....

   .....

8. स्थायी पवनें लवणता को कैसे प्रभावित करती हैं?

   .....

   .....

15.10 सारांश (Summary)

हमारी पृथ्वी जलीय ग्रह है। इस पर 71 प्रतिशत जल की उपस्थिति है। 71 प्रतिशत जल का अधिकांश भाग महासागरों, समुद्रों में पाया जाता है। महासागरीय जल में तापमान वितरण एव लवणता की मात्रा असमान होती है। महासागरों में उपस्थित खारेपन पर वैज्ञानिकों में मतभेद पाये जाते हैं। महासागरीय जल में 7 प्रकार के मुख्य खनिज लवण पाये जाते हैं जिनमें सोडियम क्लोराइड सर्वाधिक मात्रा (77.8 प्रतिशत या 27.213 प्रति हजार ग्राम) में होता है। महासागरों का औसत खारापन या लवणता 35% से 37% अंकित किया गया है। तापमान एवं लवणता का क्षैतिज एव लम्बवत प्रकार से वितरण किया जाता है। क्षैतिज वितरण में अक्षांशीय एव प्रादेशिक तरीकों से वितरण को समझा जाता है। महासागरों व समुद्रों में लवणता का प्रदर्शन समलवणता रेखाओं और तापमान को समताप रेखाओं की सहायता से किया जाता है। ये समलवण रेखाएँ समान लवणयुक्त स्थानों को जोड़ने का कार्य करती हैं। लवणता के असमान वितरण को वाष्पीकरण, वर्षा जल, नदियों का जल, पवन दिशा एवं सागरीय जल गतियाँ आदि कारक प्रभावित करते हैं।

15.11 शब्दावली (Glossary)

- **गल्फ स्ट्रीम (Gulf Stream) :** एक महासागरीय गर्म धारा जो मेक्सिको की खाड़ी से संयुक्त राज्य अमेरीका के पूर्वी तट के साथ –साथ बहती हुई तथा न्यूफ़ाउन्डलेंड के दक्षिणी–पूर्वी तट को स्पर्श करती हुई स्केंडीनेविया तक पहुँचती है।
- **गोलार्द्ध (Hemisphere) :** पृथ्वी का आधा भाग, जिसकी रचना उस समय होती है जब कि उसके पृष्ठ पर मध्य से गुजरने वाली रेखा (विषुवत रेखा) उसको द्विभाजित करती है। पृथ्वी साधारणत : उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्धों में विभक्त है। उत्तरी गोलार्द्ध विषुवत रेखा के उत्तर में तथा दक्षिणी गोलार्द्ध इसके दक्षिण में है। कभी–कभी पृथ्वी को स्थल तथा जल गोलार्द्धों (water hemisphere) में भी बाँटा जाता है। जल गोलार्द्ध प्राय : उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के लिए प्रयुक्त किया जाता है।
- **अन्त : समुद्र (Inland Sea) :** चारों ओर स्थल से घिरा हुआ एक विस्तृत विलगित जलाशय जिसका खुले सागर की ओर कोई विकास नहीं होता।
- **समलवण रेखा (Isohaline) :** मानचित्र पर वह रेखा, जो महासागरों के उन स्थानों को मिलाती है, जहाँ पर समान **लवणता (salinity) पाई जाती है।**
- **समताप रेखा (isotherm) :** वह रेखा जो उन स्थानों को मिलाती है जहाँ तापमान समान पाए जाते हैं। जब कभी भी स्थान विभिन्न ऊँचाइयों पर होते हैं तब इन रेखाओं को खींचने के लिए संशोधन करने आवश्यक हो जाते हैं क्योंकि ऊँचाई के साथ–साथ तापमान बराबर घटता जाता है। अत : प्रत्येक स्थान के ताप को माध्य समुद्र तल पर संशोधित कर लेते हैं।

- **महासागर धारा (Ocean current) :** पृथ्वी–घूर्णन, सनातनी हवाओं (prevailing winds), तापमान एवं घनत्व में विभिन्नता तथा लवणता–परिवर्तन के कारण उत्पन्न महासागर के पृष्ठीय जल का संचलन जो प्राय : निश्चित दिशा में होता है।
- **खारी झील, लवण झील (Salt Lake) :** अधिक तापमान एवं उच्च वाष्पन दर वाले क्षेत्र के अंत: स्थलीय अपवाह बेसिन में स्थित अत्यधिक खारी झील।
- **सारगैसो सागर (Sargasso Sea) :** पश्चिमी द्वीप–समूह के उत्तर पूर्व में अंधमहासागर का वह क्षेत्र जहाँ सारगैसम नामक वनस्पति पाई जाती है तथा जल सापेक्षत : शान्त रहता है।
- **व्यापारिक पवनें (Trade Wind) :** वे हवाएँ जो उपोष्ण (subtropical) उच्चदाब क्षेत्रों से भूमध्यरेखीय निम्न दाब की ओर, उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तर पूर्व ओर दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिण–पूर्व दिशाओं से चलती है। इसीलिए इनको उत्तर–पूर्वी व्यापारिक हवाएँ और दक्षिण–पूर्वी व्यापारिक हवाएँ कहते हैं।

15.12 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference Books)

1. गौतम, अलका : **जलवायु एवं समुद्र विज्ञान,** रस्तोगी एण्ड कम्पनी, मेरठ।
2. लाल, डी एस. : **जलवायु एवं समुद्र विज्ञान,** शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
3. सिंह, सविन्द्र : **भौतिक भूगोल,** वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर।
4. कुलश्रेष्ठ, कामता प्रसाद : **समुद्र विज्ञान,** किताब घर, कानपुर।
5. केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय : **भूगोल परिभाषा कोश**

15.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1. हाँ
2. नहीं
3. हाँ
4. हाँ
5. नहीं
6. हाँ

बोध प्रश्न – 2

1. क्षैतिज एवं लम्बवत स्वरूप में।
2. भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर अक्षांशीय अध्ययन।
3. उत्तर पश्चिमी यूरोपीय क्षेत्र को।
4. कनाडा के पूर्वी भाग में।
5. उत्तरी गौलार्द्ध में अधिक स्थलीय भाग एवं संकड़े जल मार्ग होने के कारण।

बोध प्रश्न – 3

1. महासागरीय लवणता को क्षैतिज एवं लम्बवत प्रतिरूप में दर्शाया जाता है;
2. भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर जाने पर तापमान एवं लवणता स्तर में कमी आती जाती है।
3. उत्तरी गौलार्द्ध 34% एवं दक्षिण गौलार्द्ध 35% (प्रति हजार ग्राम) औसत लवणता स्तर रखते हैं।
4. विश्व में सर्वाधिक लवणता लेक वॉन (एशिया माइनर) (330% प्रति हजार ग्राम) में पायी जाती है।
5. महासागरीय लवणता में असमानता वाष्पीकरण एवं वर्षा वितरण की मात्रा से प्रभावित होती है।
6. नदियों द्वारा स्वच्छ जल महासागरों में लाया जाता है जिससे मुहानों पर लवणता स्तर कम होता है।
7. गल्फस्ट्रीम गर्म जलधारा नार्वे के तटीय प्रदेशों की लवणता स्तर को बढ़ाती है।
8. स्थायी पवनें अधिक लवणता वाले जल को कम लवणता वाले क्षेत्रों में ले जाकर लवणता स्तर बढ़ाती हैं।

15.14 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. महासागरों में तापमान के वितरण की विवेचना कीजिये।
2. महासागरीय तापमान के वितरण को प्रभावित करने वाले कारकों को समझाइये।
3. लवणता का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके स्रोतों की व्याख्या कीजिये।
4. लवणता के अक्षांश एवं प्रादेशिक वितरण को समझाइये।
5. विभिन्न महासागरों में पायी जाने वाली क्षैतिज एवं लम्बवत् लवणता को स्पष्ट कीजिये।
6. महासागरीय एवं समुद्री लवणता को स्पष्ट कीजिये।

इकाई16 : महासागरीय तली के उच्चावच एवं निक्षेप (Ocean Bottom Relief and Deposits)

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 महासागरीय तली के उच्चावच

- 16.2.1 महाद्वीपीय निमग्न तट
- 16.2.2 महाद्वीपीय निमग्न ढाल
- 16.2.3 गहरे सागरीय मैदान
- 16.2.4 महासागरीय गर्त
- 16.2.5 अन्त: सागरीय कन्दराएँ
- 16.2.6 सागरीय पर्वत तथा घीहो

16.3 महासागरों की तली का विन्यास

- 16.3.1 अटलांटिक महासागरीय नितल के उच्चावच
- 16.3.2 प्रशान्त महासागरीय तली के उच्चावच
- 16.3.3 हिन्द महासागरीय तली के उच्चावच
- 16.3.4 आर्कटिक महासागरीय तली के उच्चावच

16.4 महासागरीय निक्षेप

- 16.4.1 महासागरीय निक्षेप के स्रोत एवं वर्गीकरण
  - 16.4.1.1 स्थल जात निक्षेप
  - 16.4.1.2 ज्वालामुखी पदार्थ
  - 16.4.1.3 जैविक पदार्थों का निक्षेप
  - 16.4.1.4 अजैविक पदार्थों का निक्षेप
  - 16.4.1.5 उल्का धूलि
- 16.4.1 महासागरीय निक्षेपों का वितरण

16.5 सारांश

16.6 शब्दावली

16.7 संदर्भ ग्रन्थ

16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

16.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समझ सकेंगे कि : –

- महासागरीय तली के उच्चावच क्या हैं,
- विभिन्न महासागरों की तली का विन्यास कैसा है,
- महासागरीय निक्षेपों के प्रमुख स्रोत कौन–कौन से हैं,
- महासागरीय तली पर निक्षेपित होने वाले अवसादों के प्रमुख प्रकार कौन–कौन से हैं,
- महासागरीय तली पर निक्षेपों का वितरण स्वरूप कैसा है।

16.1 प्रस्तावना (Introduction)

पृथ्वी पर महाद्वीप व महासागरों के वितरण में बहुत असमानता पायी जाती है। अनुमान है कि 71% भाग पर जलमण्डल का विस्तार है। दक्षिणी गोलार्द्ध में समुद्रों का विस्तार अधिक है। प्राचीन काल से ही इन सागरों व महासागरों के रहस्यों को जानने के प्रयास किये जा रहे हैं। वर्तमान शताब्दी में वैज्ञानिकों को महासागरों के नितलीय स्वरूप के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत जानकारी प्राप्त करने में सफलता मिली है। इस शताब्दी के प्रारंभ में अन्त: सागरीय स्थलाकृतियों के बारे में हमारा ज्ञान बहुत कम था। केवल उन उथले सागर तलों के बारे में ही ज्ञान था जिन्हें नौका संचलन द्वारा जाना जा सकता था, परन्तु आधुनिक खोजों से सागरीय नितल के बारे में प्राप्त जानकारी से अनेक महत्वपूर्ण बातों का पता चला है। अब तो सागरीय नितल (Ocean Bottom) के मानचित्र भी तैयार कर लिये गये हैं। बैथिस्केफ (Bathyscaph) नामक पनडुब्बी में बैठकर जनवरी 1960 में दो समुद्र वैज्ञानिक महासागर की सबसे गहरी खाई मैरियाना गर्त में 119 किमी. तक उतर चुके हैं। 1960 के पश्चात के दशकों में महसागरीय तली के संबंध में हुई भू–वैज्ञानिक शोधों के परिणामस्वरूप महासागरीय उच्चावच, तली की संरचना व उनकी विवर्तनिकी (Tectonics) पर महत्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त हुई हैं। अब तक किये गये शोध से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर ज्ञात होता है कि महासागरीय नितल में भी उच्चावचों में भूतल के समान विविधताएँ पायी जाती हैं। धरातल के ऊपर पाये जाने वाले भू–आकारों के समान ही महासागरीय तली पर भी असंख्य द्रोणियाँ, कटक, बेसिन, कन्दराएँ, गहरे गर्त व खाईयाँ एवं पर्वत शिखरों के होने का पता चला है। अत: इन नितलीय उच्चावचों के विस्तृत ज्ञान से समुद्र विज्ञान की अनेक समस्याओं के समाधान में सहायता मिली है।

महासागरीय तली की अन्य प्रमुख विशेषता इस पर पाये जाने वाले अवसादों के जमाव है। इन्हें महासागरीय निक्षेप कहा जाता है। तली पर ये असंगठित पदार्थों (unconsolidated) के रूप में निक्षेपित हैं। इनके प्राप्ति स्रोत भी अलग–अलग हैं– जैसे स्थलों से नदियों, पवन व हिमानियों द्वारा, ज्वालामुखी उद्भेदनों से निकले पदार्थों एवं जैविक पदार्थों के अवशेषों एवं अकार्बनिक पदार्थों तथा उल्काधूलि के निक्षेपण से प्राप्त होते हैं। सागरीय तली पर लाखों वर्षों तक होने वाली निक्षेपण (deposition) क्रिया इन्हें अत्यधिक ताप व दाब की विशिष्ट परिस्थितियों में उत्पन्न सम्पीड़न बलों की क्रियाओं के परिणामस्वरूप मोड़दार पर्वतों की अवसादी चट्टानों में बदल देती है। अत : मोड़दार पर्वतों की चट्टानों तथा महासागरीय तली के निक्षेपों के गहन

अध्ययन से हमें भूगर्भिक इतिहास, पृथ्वी के पराचुम्बकीय गुणों एवं प्राचीन जलवायु विज्ञान का विस्तृत ज्ञान होता है।

प्रस्तुत इकाई में उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए महासागरीय तली के उच्चावचों तथा उन पर निक्षेपित अवसादों के विविध पक्षों का विस्तार से विवेचन किया गया है।

16.2 महासागरीय तली के उच्चावच (Relief features of ocean bottom)

वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ में महासागरीय तली के उच्चावच के बारे में हमारा ज्ञान अधूरा था जो सागर तटों के सतही भागों से मिली सूचनाओं पर आधारित था, परन्तु 1920 के बाद से ध्वनिक गम्भीरता मापी यंत्र (sonic sounding equipment) का प्रयोग प्रारम्भ हुआ जिसमें द्रुतगामी जलयानों पर सवार होकर गहरे समुद्रों में साऊडिंग लेने का कार्य कुछ ही समय में पूरा कर लिया जाता था। इन अभियानों से सागरों व महासागरों की तली के उच्चावचों के बारे में हमारे पूर्व ज्ञान में वृद्धि हुई है। महासागरीय तली पर विशालकाय पर्वतों, कटकों, बेसिनों तथा गर्तों का पता चला है। देखने में आया है कि इन नितलीय उच्चावच के स्वरूपों में जितनी विविधताएँ पायी जाती हैं उतनी तो स्थलीय भागों पर स्थित उच्चावच में भी नहीं पायी जाती। दोनों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि:

(i) भूतल पर स्थित उच्चतम पर्वत शिखर (माउंट एवरेस्ट) 8848 मीटर ऊँचा है, जबकि महासागरों की अधिकतम गहराई (मरियाना ट्रेन्व) 11035 मीटर है।

(ii) महाद्वीपों की औसत ऊँचाई मात्र 840 मीटर है जबकि महासागरों की तली से औसत गहराई 3808 मीटर है।

(iii) जिस प्रकार महाद्वीपों पर सबसे लम्बी पर्वत श्रेणी (आल्पस–हिमालय) 10,000 किमी. लम्बी है, महासागरों की तली पर भी इस प्रकार की श्रेणियाँ जिन्हें कटक (Ridge) कहते हैं, पायी जाती हैं। आन्ध्र महासागरीय कटक की लम्बाई 40,000 किमी. है।

(iv) मरे (Murray) ने अपने अध्ययन में बताया है कि 3500 मीटर से अधिक ऊँचाई का भाग समस्त स्थलखण्ड का मात्र एक प्रतिशत है, जबकि महासागरों की तली पर 3500 मीटर से अधिक गहराई का भाग 46 प्रतिशत है।

(v) स्थल भाग के समान ही महासागरीय तली पर भी निरन्तर ज्वालामुखी उद्भेदन तथा भूकम्पीय घटनाएँ होती रहती हैं। सुनामी लहर इसका नवीनतम उदाहरण है।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि समुद्री तल के नीचे भी स्थल के समान पर्वत, पठार, मैदान व गहरी घाटियाँ पायी जाती हैं। समुद्री पैंदे से ऊपर उठी हुई निरन्तर क्रम में पाये जाने वाली पर्वत श्रेणियों को कटक (Ridge) कहते हैं। आयताकार ऊपर उठे उभार तथा चपटे उभार पठार कहलाते हैं। सागर तली पर फैली वक्राकार पहाड़ियों को चाप (Arc) कहते हैं। गहरे लम्बे गढ्ढों को ट्रेंच (Trench) व दीर्घ वृताकार गढ्ढों को द्रोणी (Basin) कहते हैं। समुद्री ढालों पर भूतल के समान पायी जाने वाली सरिताओं को सामुद्रिक कन्दराएँ (submarine canyon) कहते हैं। सागर तली पर एकल पहाड़ियों को सी माउन्ट और निमग्न

द्वीप कहते हैं। जिन निमग्न द्वीपों की चोटियां चपटी होती हैं उन्हें गीहो (Gayote) कहते हैं। वेगनर ने स्थल खण्डों की ऊंचाई तथा महासागरों की गहराई को उच्चतादर्शी आरेख (hypsographic/hypsometric graph) (चित्र–16.1) द्वारा प्रदर्शित किया है।

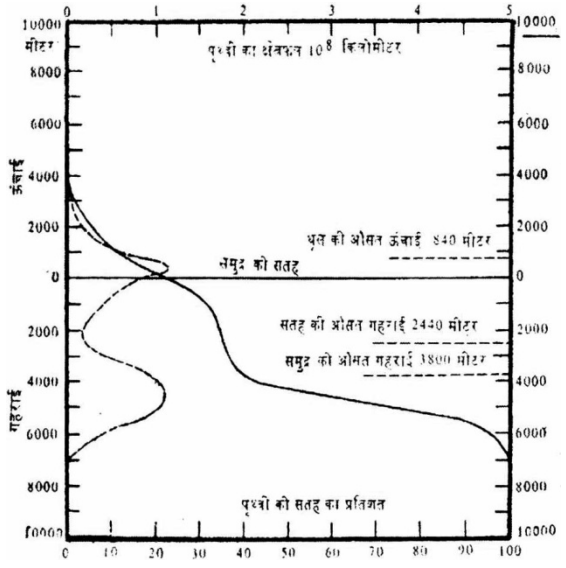

चित्र – 16.1 : उच्चतादर्शी वक्र रेखा

इसमें दर्शाये वक्र के आधार पर विविध उच्चावचीय स्वरूप लिए हुए सागर तली को चार प्रमुख उच्चावच मण्डलों (relief zones) में बांटा गया है।

1. महाद्वीपीय मग्न तट (Continental shelf)
2. महाद्वीपीय मग्न ढाल (Continental slope)
3. गहरे सागरीय मैदान (Deep sea plains)
4. महासागरीय गर्त (Oceanic deeps)
5. अन्त:सागरीय कन्दराएँ (Sub marine canyons)

16.2.1 महाद्वीपीय निमग्न तट (Continental Shelf)

महाद्वीपों के किनारे जो समुद्र के जल में डूबे रहते हैं महाद्वीपीय निमग्न तट कहलाते हैं, इनकी सामान्य विशेषताएँ निम्न हैं :

(i) महासागरीय नितल के ये भाग समुद्र तल से 120 से 180 मीटर की गहराई तक फैले होते हैं तथा इनका ढाल मन्द होता है। मग्न तटों के अन्तिम भाग में समुद्र की गहराई 100 फैदम या 600 फीट होती। मग्न तटों का औसत ढाल 0.2 प्रतिशत अथवा 1° होता है।

(ii) मग्न तटों की प्रकृति तथा उससे संलग्न महाद्वीपीय चबूतरे की बनावट में विभिन्नता के फलस्वरूप ढाल में अन्तर पाया जाता है। उदाहरणार्थ जहाँ समुद्र तटों पर पर्वत अथवा पठार होते हैं। वहाँ मग्न तटों का ढाल अधिक होता है।

(iii) मग्न तटों पर वेदिकाओं, कटकों, पहाड़ियों व गर्तों के पाये जाने के कारण इनके ढाल में क्रमबद्धता नहीं पायी जाती।

(iv) कहीं–कहीं निमग्न तटों पर सागरीय कैनियन अथवा गम्भीर खड्ड भी पाये जाते हैं।

(v) हिम अपरदित निमग्न तटों के उच्चावच में भी विषमता पायी जाती है। हिमयुग के समय समुद्र तल के नीचा होने के कारण निमग्न तटीय भाग में हिमानी अपरदन से यहाँ के नितल उबड़ खाबड़ हो गये।

(vi) निमग्न तटों की चौड़ाई सर्वत्र एक जैसी नहीं है। उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तटों पर प्रशान्त महासागरीय निमग्न तटों की चौड़ाई मात्र 16 किलोमीटर है जबकि पूर्वी तटों की चौड़ाई 360 किमी. तक पायी जाती है। साइबेरिया के आर्कटिकवर्ती निमग्न तटों की चौड़ाई 1350 किमी. तक पायी जाती है। वलित (Folded) पर्वतीय भागों के पास स्थित निमग्न तटों की गहराई इतनी अधिक होती है कि वहाँ इनकी चौड़ाई नाम मात्र की होती है।

(vii) निमग्न तटों का फर्श भी सर्वत्र सपाट नहीं है कहीं –कहीं यह समतल है तो कई स्थानों पर इन तटों पर टीले, नदी घाटियाँ व गड्ढे पाये जाते हैं।

(viii) महासागरीय नितल के कुल क्षेत्रफल के केवल 8.6 प्रतिशत भाग पर ही निमग्न तटों का विस्तार है। इनका विस्तार लगभग 1.75 करोड़ वर्ग किमी. क्षेत्र पर माना जाता है। विभिन्न महासागरों में समान रूप से इनका विस्तार नहीं है। महासागरीय नितल के कुल क्षेत्रफल के 4.2 प्रतिशत पर हिन्द महासागर में, 5.7 प्रतिशत पर प्रशान्त महासागर में व 13.3 प्रतिशत पर अन्ध महासागर में इन निमग्न तटों का विस्तार है।

(ix) महाद्वीपीय निमग्न तटों की विशिष्टताओं के आधार पर इनके तीन प्रमुख रूप पाये जाते हैं–

(1) **ग्लेशयरीकृत निमग्न तट (Glaciated Shelf)**

(i) इन तटों पर हिमानी अपरदन का अधिक प्रभाव है।

(ii) इनका फर्श विषम होता है।

(iii) इनकी चौड़ाई 150 किमी. तक होती है।

(iv) इन पर हिमोढ़ व ड्रमलिन प्राय: बने हुए दिखालाई पड़ते हैं।

(2) **चौड़े नदी निमग्न तट (Broad River Shelf)**

जब नदी के मुहाने के पास डेल्टा का निर्माण नहीं होता तो वह एक चौड़े महाद्वीपीय निमग्न तट के रूप में विकसित हो जाता है। इन तटों के आन्तरिक किनारे सपाट होते हैं, परन्तु बाहरी किनारों पर ऊँची पहाड़ियां बन जाती है। पीत सागर व श्याम की खाड़ी इसके उदाहरण हैं।

(3) **प्रवाल निमग्न तट (Coral Shelf)**

(i) ये निमग्न तट प्रवालों द्वारा निर्मित है।

(ii) इनके बाहरी किनारों की गहराई 20 मीटर तक होती है।

(iii) ये निमग्न तट छिछले होते हैं।

(iv) आस्ट्रेलिया के पूर्वी भाग में इसी प्रकार के तट पाये जाते हैं।

निमग्न तटों की उत्पत्ति (Origin of Continental Shelf)

निमग्न तटों के विस्तार व इनकी संरचना में पायी जाने वाली विविधताओं के आधार पर विद्वानों ने इनकी उत्पत्ति अनेक प्रकार से मानी है। इस सम्बन्ध में प्रचलित मत निम्न प्रकार से हैं:–

1. डेली (Daly) का इनकी उत्पत्ति के बारे में मत है कि प्लीस्टोसीन हिमयुग में हुए हिमवारण (Glaciation) के कारण सागरीय तल में 38 फैदम/228 फीट तक की गिरावट आ गई थी। समुद्र तल के नीचा हो जाने के कारण महाद्वीपों के किनारे के जलमग्न भाग स्थल रूप में बदल गये। जहाँ हिमानी अपरदन के कारण विस्तृत चौड़े क्षेत्र बन गये। हिमकाल के अन्त में हिम के पिघलने से समुद्रों में जल का तल बढ़ गया। इससे स्थलीय चबूतरे जलमग्न हो गये। वही भाग आज महाद्वीपीय मग्न तट हैं। आर्कटिक महासागर का निमग्न तट, मेन की खाड़ी, हड़सन नदी की घाटी का समुद्रवर्ती भाग इसके उदाहरण हैं।
2. कुछ विद्वानों के अनुसार महाद्वीपों तथा महासागरीय तली के नीचे चलने वाली संवहन धाराएँ महाद्वीपों व महासागरों की सीमा के समीप मिलकर नीचे की ओर अवरोही तरंगों के रूप में चलती है तो सम्पीडन के कारण महाद्वीपीय किनारे का अवतलन होता है। इससे मग्न तट की उत्पत्ति होती है।
3. कभी–कभी महाद्वीपीय किनारों पर समानान्तर भ्रंशन की क्रिया चलती रहती है। इस कारण लम्बी–लम्बी दरारें उत्पन्न हो जाती हैं व महाद्वीपीय किनारों का भाग लम्बवत रूप से धंसक जाता है जो जल मग्न होकर निमग्न तटों का रूप ले लेता है। आस्ट्रेलिया में क्वीन्सलैण्ड तट तथा लाल सागर तट पर बने मग्न तट की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है।
4. कुछ विद्वानों ने सम्पीड़न बलों के प्रभाव से सम्पन्न वलन क्रिया को मग्न तटों की उत्पत्ति का कारण माना है। भू अभिनति (Syncline) में निक्षेपण से भी मग्न तटों की उत्पत्ति मानी गई है। अल्जीरिया तथा ट्यूनीशिया के मग्न तटों की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है।
5. इनकी उत्पत्ति के बारे में पूर्व स्थापित सामान्य मान्यता है कि मग्न तट महाद्वीपों के ही विस्तृत चबूतरे (Platform) हैं। लहरों के अपरदन द्वारा चबूतरे का निर्माण होता है तथा नदियाँ इस पर अवसाद बिछाती हैं।
6. कुछ विद्वानों का मत है कि मग्न तटों का निर्माण लम्बे समय तक निक्षेपण क्रिया का परिणाम है। हिमानी, नदियाँ तथा पवन आदि अपरदन कर अवसाद को सागरीय भाग में जमा करते रहते हैं, इस प्रकार का शैल चूर्ण समुद्र तटों के समीप जमा हो जाता है। जिससे तटों का निर्माण होता है। नोवास्कोशिया तथा न्यूफाउंडलैण्ड के दक्षिण में क्रिटेशियस से क्वार्टरनरी युग तक अवसादों के निक्षेप से वहाँ के मग्न तटों की रचना हुई है।
7. एक मत यह भी है कि जहां सागरीय तरंगे अत्यधिक सक्रिय व वेगवती होती हैं वहां अपघर्षण द्वारा अधिक कटाव होने से भृगु (Cliff) का निर्माण हो जाता है। कालान्तर में भृगु के आधार तल पर अपरदन क्रिया के बढ़ते प्रभाव से इसका अग्र भाग टूट कर अलग हो जाता है व वहाँ पर अपरदित प्लेटफार्म का निर्माण हो जाता है जिस पर सागरीय जल का विस्तार हो जाता है और मग्न तटों का निर्माण हो जाता है।

8. कभी–कभी यह भी पाया गया है कि विवर्तनिक शक्तियों (Tectonic forces) के अधिक सक्रिय होने पर महाद्वीपीय भागों का झुकाव (Tilting) सागरों की ओर हो जाता है। ऐसे धरातलीय भागों पर सागरीय जल के फैल जाने से निमग्न तटों का निर्माण होता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि निमग्न तट केवल अपरदन अथवा निक्षेपण क्रिया का ही परिणाम नहीं हैं, अपितु अनेक धरातली उत्थानों, धँसाओं, विवर्तनिक क्रियाओं एवं जलीय व स्थलीय शक्तियों के सम्मिलित प्रभावों का परिणाम है।

16.2.2 महाद्वीपीय मग्न ढाल (Continental Slope)

महाद्वीपीय निमग्न तटों के समुद्रवर्ती किनारों पर ढाल अचानक तीव्र हो जाता है, महाद्वीपीय निमग्न तट व गहरे सागरीय मैदान के मध्य पाये जाने वाले इस तीव्र ढाल वाले भाग को महाद्वीपीय मग्न ढाल कहते हैं। इस भाग की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं –

1. इस भाग का औसत ढाल 2° से 5° के मध्य पाया जाता है।
2. इसकी चौड़ाई कम होती है तथा गहराई 100 फैदम से 1700 फैदम तक होती है।
3. इस भाग में ढाल में गिरावट 35 से 61 मीटर प्रति किमी तक दर्ज की गई है। यह गिरावट तटों पर स्थित पर्वतों के पास अधिक दर्ज की गई है, जबकि तटीय मैदानों के पास कम पायी जाती है। कालीकट तट के पास महाद्वीपीय ढाल 5° से 15° के बीच देखा गया है। "सैण्ट हैलेना" द्वीप के पास 40° तथा "सैण्ट पाल" के निकट 62° तक पाया जाता है, जबकि औसत महाद्वीपीय ढाल 4°17' है। यदि महासागरों के अनुसार उनमें स्थित महाद्वीपीय मग्न ढालों की औसत ढाल प्रवणता देखी जावे तो यह प्रशान्त महासागर में 5°20', आन्ध महासागर में 2°34', तथा हिन्द महासागर में 2°55' पायी जाती है।
4. महाद्वीपीय मग्न ढाल, महाद्वीपीय पर्पटी (Continental Crust) तथा महासागरीय पर्पटी (Oceanic Crust) के मध्य सीमा रेखा का निर्माण करते हैं।
5. महाद्वीपीय मग्न ढालों पर जल की गहराई 200 मीटर से 2000 मीटर के मध्य पायी जाती
6. इन ढालों पर महाद्वीपों से बहाकर लाये अवसाद का अभाव होता है, केवल बारीक कण ही यहाँ पहुंच पाते हैं। दूसरा प्रकाश की कमी व पोषक पदार्थों के अभाव में यहा वनस्पति व समुद्री जीवों की मात्रा भी काफी कम होती है।
7. महासागरों के कुल क्षेत्रफल के 8.5 प्रतिशत भाग पर मान ढाल पाये जाते हैं, किन्तु विभिन्न महासागरों में इनका प्रतिशत अलग–अलग है। यह आन्ध्र महासागर में 12.4%, प्रशान्त महासागर में 7% तथा हिन्द महासागर में 6.5% है। महाद्वीपीय निमग्न ढाल का कुल क्षेत्रफल 5 करोड़ वर्ग किमी. है।
8. निमग्न ढालों के उच्चावच की प्रमुख विशेषता यहा पाये जाने वाले कैनियन तथा गहरी खाईयां (Canyon and deeptranches) है। इनकी उत्पत्ति के बारे में तीन प्रकार के मत हैं –प्रथम मत के अनुसार अपरदनात्मक प्रक्रमों के कारण इनकी उत्पत्ति हुई है जिनमें महासागरीय तरंगों द्वारा किये गये अपरदन की प्रमुख भूमिका मानी गई है। विवर्तनिक

उत्पत्ति सिद्धान्त में इन क्षेत्रों में विवर्तनिक भ्रंशन क्रियाओं (Tectonic faulting activities) को इनके निर्माण के लिए उत्तरदायी माना है जबकि कुछ सिद्धान्त मानते हैं कि महाद्वीपीय मग्न ढालों का निर्माण महाद्वीपीय मग्न तटों पर सम्पीडन व वलन क्रियाओं द्वारा हुए झुकाव व तत्पश्चात् निक्षेपण के कारण हुआ है।

16.2.3 गहरे सागरीय मैदान (Deep Sea Plain)

महासागरीय तली के कुल क्षेत्रफल के करीब 75% भाग पर फैले गहरे सागरीय मैदान, महासागरों के सर्वाधिक विस्तृत भाग होते हैं। परन्तु इनका विस्तार समस्त महासागरों में एक समान नहीं है। प्रशान्त महासागर के कुल क्षेत्रफल के 80.3 प्रतिशत भाग पर, हिन्द महासागर के 80.1 प्रतिशत भाग पर तथा आन्ध महासागर के 54.9 प्रतिशत भाग पर इनका विस्तार है। आन्ध महासागर में सागरीय मैदानों का कम विस्तार होने का कारण वहां महाद्वीपीय निमग्न तटों तथा मध्य महासागरीय कटक का अधिक क्षेत्र पर विस्तृत होना है। ये गहरे सागरीय मैदान नितल के सर्वाधिक समतल भाग होते हैं। इनका ढाल सामान्यत: मन्द होता है, किन्तु इनमें भी कहीं–कहीं कटक (Ridges), गहरी खाइयाँ तथा द्वीप आदि पाये जाते हैं। तीव्र ढाल सतह युक्त महासागरीय कटक (Sub–marine ridges) कभी–कभी सागर की सतह से उपर उठकर द्वीपों के रूप में नजर आने लगते हैं। इन गहरे समुद्री मैदानों की एक विशेषता यहां नदियों द्वारा बहाकर लाये गये तलछटों का पूर्ण अभाव है। परन्तु अन्य प्रकार के निक्षेपों जैसे सिन्धुपंक (Oozes), सागरीय जीवों व वनस्पतियों के अवसाद से बने पेलेजिक निक्षेप पाये जाते हैं। कहीं–कहीं महासागरीय तली के इस भाग पर ज्वालामुखी उद्भेदन से प्राप्त अवसाद के निक्षेपों की भी उपस्थिति का पता चला है। इस मैदानी भाग का अधिकांश विस्तार 20° उत्तरी अक्षांश से 60° दक्षिणी अक्षांश के मध्य पाया जाता है।

16.2.4 महासागरीय गर्त (Oceanic Deeps)

महासागरीय तली पर पायी जाने वाली ये सबसे महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इनका विस्तार कुल महासागरीय क्षेत्रफल के 7 प्रतिशत भाग पर विस्तृत है। अधिकांश गर्त महाद्वीपीय तटों के समानान्तर पर्वत मेखलाओं के सामने या ज्वालामुखी द्वीपों के पास स्थित है। आकार की दृष्टि से इन्हें दो भागों में बाटा जाता है –

(अ) महासागरीय खाईयां (Oceanic Tranches)

(ब) द्रोणियाँ या गर्त (Oceanic Trough or deep)

महासागरों की तली पर स्थित गहरी, संकरी, लम्बी तथा चापाकार (Arc Shaped) आकृतियों को खाईयां (Tranches) कहते हैं। ये 6100 मीटर से भी अधिक गहरी तथा विविध चौड़ाई की होती हैं। इनके पार्श्ववर्ती भाग तीव्र ढाल वाले होते हैं। ऐसी अधिकांश खाईयां महासागरों के किनारों के पास स्थित पर्वत श्रृंखलाओं के सामने मिलती हैं। इनकी लम्बाई हजारों किमी. व चौड़ाई औसतन 200 किमी. होती है। ये खाईयां सक्रिय ज्वालामुखियों के द्वीपीय चाप से सम्बद्ध हैं। द्वीपीय चाप इन खाईयों तथा निमग्न तटों के मध्य स्थित होते हैं। भूगर्भिक दृष्टि

से ये खाईयां भूतल के सर्वाधिक सक्रिय भाग हैं। अधिकांश भूकम्पों तथा सुनामियों की उत्पत्ति इन्हीं में होती है।

महासागरीय तली पर खाईयों की अपेक्षा कम क्षेत्रफल पर विस्तृत एवं अधिक गहरे खड्डों को गर्त (Deeps) कहते हैं। सम्पूर्ण विश्व में इस समय कुल 57 गर्त ज्ञात हो चुके हैं जिनमें से सर्वाधिक (32) प्रशान्त महासागर में पाये जाते हैं जबकि आन्ध्र व हिन्द महासागर में इनकी संख्या क्रमश: 19 व 6 है। विश्व के उल्लेखनीय गर्तों का विवरण तालिका– 16.1 में दिया गया है।

तालिका– 16.1 : विश्व के विभिन्न गर्तों की स्थिति, क्षेत्रफल व गहराई

क्र.सं.	गर्त	स्थिति	क्षेत्रफल (1000 वर्ग किमी.)	गहराई (मीटर)
1.	मैरियाना	फिलीपीन्स के निकट	–	11035
2.	टस्कारोरा	जापान के निकट	2352	10344
3.	टोंगा	म.द.प्रशांत महासागर	1588	9184
4.	स्वायर	उ.प.प्रशांत महासागर	1428	8718
5.	पोर्टोरिको	प.द्वीप समूह	1287	8526
6.	चैंलेजर	उ.प्रशान्त महासागर	334	7807
7.	रोमशे	द.एटलांटिक महासागर	1212	7370
8.	सुण्डा	पूर्वी हिन्द महासागर	2287	7000
9.	वाल्डीविया	द.अटलांटिक महासागर	2942	5731

1960 में जयक्यू पिकार्ड (Jacques Piccard) तथा डोनाल्ड वाश (Donald Walsh) ने मेरियाना ट्रेन्च का अध्ययन करते हुए इसकी गहराई 10900 मीटर समुद्र तल से नीचे बताई है। इन्होंने यह रोचक तथ्य भी उजागर किया कि यदि दुनिया के सर्वोच्च पर्वत शिखर माउण्ट एवरेस्ट को इसमें समाहित किया जावे तो वो इसमें डूब जावेगा तथा उसके बाद भी 1.6 किमी. जल की गहराई इसके ऊपर शेष रहेगी। चित्र–16.2 में विभिन्न महासागरों के नितल पर स्थित कटक व खाईयों को दर्शाया है।

मध्य महासागरीय कटकों की भांति इन खाईयों व गर्तों का भी पृथ्वी के भूगर्भिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्लेट विवर्तनिकी सिद्धान्त (Plate tectonic theory) से प्रमाणित होता है कि महासागरीय कटकों के सहारे निर्मित हो रही पर्पटी (Earth crust) इन खाईयों व गर्तों के माध्यम से अन्तरतम में प्रवेश कर रही है। इनकी उत्पत्ति के बारे में भूगर्भविदों का मत है कि इनका जन्म उपरी पपड़ी (Upper crust) में सम्पीड़न होने तथा विर्वतनिक प्लेट्स (Tectonic plates) में गति होने के कारण हुआ है।

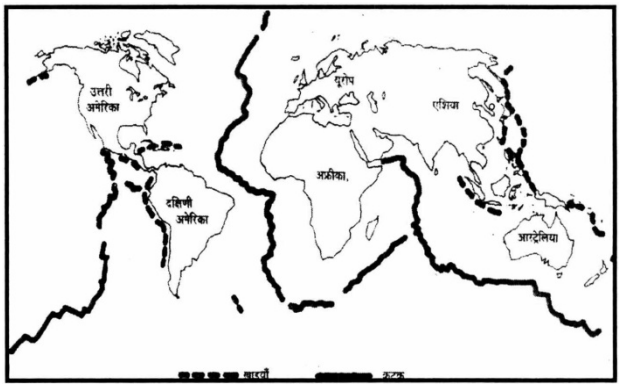

चित्र 16.2. महासागरों के नितल पर स्थित कटक एवं खाईयाँ

16.2.5 अन्त:सागरीय कन्दराएँ (Sub–marine canyon)

महाद्वीपीय मग्न तटों तथा ढालों पर महासागरों के अन्दर स्थित लम्बी संकरी एव "V" आकर की गहरी घाटियों जैसी रचनाओं को अन्त: सागरीय कन्दराएँ या कैनियन कहते हैं। इनके पार्श्व तीव्र ढाल वाले होते हैं। ये कन्दराएँ नदियों द्वारा शुष्क अथवा अर्द्धशुष्क स्थलीय भागों पर अपरदन द्वारा बनी कन्दराओं के ही समान होती हैं। अन्त: सागरीय कन्दराएँ हिम घर्षित एवं जल घर्षण दोनों ही प्रकार की क्रियाओं द्वारा निर्मित होती हैं। हिमानियों के घर्षण से निर्मित कन्दराएँ हिमावरण के कारण कम विकसित हो पायी है, जबकि जल घर्षण एव अन्य प्रक्रमों द्वारा निर्मित कन्दराएँ संख्या में अधिक पायी जाती हैं। इनका आकार अति विशाल व लम्बी खाई के समान होता है। अधिकांशत: ये कन्दराएँ तटों के लम्बवत एव बड़ी –बड़ी नदियों के डेल्टा के सामने पायी जाती हैं। गंगा, गोदावरी, इरावदी, कांगों, सिन्धु, मिसीसिपी, हड़सन कन्दरा आदि नदियों के मुहाने पर ऐसी कन्दराएँ पायी जाती हैं।

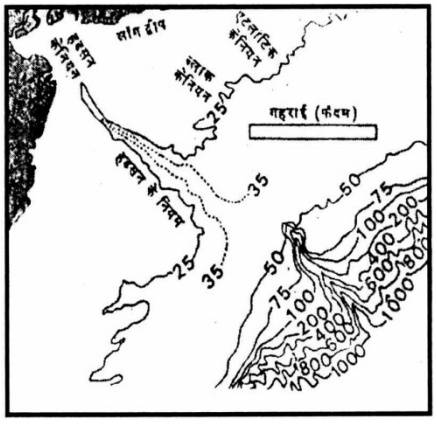

चित्र– 16.3 : हड़सन कन्दरा

इन कन्दराओं की अन्य प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं:

(i) इन कन्दराओं के पार्श्व खड़े ढाल वाले होते हैं।

(ii) स्थलीय कन्दराओं के समान ही इनमें भी सहायक कन्दराएँ पायी जाती हैं।

(iii) इनकी आकृति टेढ़ी–मेढ़ी (zig–zag) होती है।

(iv) विभिन्न कन्दराओं के आकार, विस्तार तथा प्रकृति में पर्याप्त विषमता पायी जाती है। जो कन्दराएं नदियों के मुहाने के समक्ष स्थित होती हैं उनकी लम्बाई अधिक व ढाल कम होता है परन्तु द्वीपों के पास स्थित कन्दराओं की गहराई अधिक मिलती है व ढाल भी अधिक होता है। क्वेनेन (Kuenen), वुडफोर्ड (Wood ford) तथा क्रॉवेल (Crowell) के अनुसार समुद्री कन्दराओ में विसर्प नहीं पाये जाते हैं, अपितु इनकी घाटियां सीधी होती हैं तथा इनके आसपास विषम धरातल होता है।

(v) बियर्ड तथा शेपर्ड (Beard & Shepard) ने विश्व की 102 समुद्री कन्दराओं का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि कन्दरा के ऊपरी भाग में औसत ढाल 11.62 प्रतिशत, मध्य भाग में 6.63 प्रतिशत व निचले भाग में 4.7 प्रतिशत होता है।

(vi) समुद्रों के भीतर ये कन्दराएँ 600 से 900 मीटर तक गहरी होती हैं तथा कहीं–कहीं इनकी गहराई 3050 मीटर तक मिलती है। इनकी चौड़ाई में भी पर्याप्त असमानता देखने को मिलती है। अफ्रीका में कांगों नदी के मुहाने पर स्थित अन्त: सागरीय कन्दरा की चौड़ाई 5 किमी. व गहराई 333 फैदम है। जबकि मुहाने से 56 किमी. की गहराई में इसकी चौड़ाई 9 किमी. व गहराई 1000 फैदम है।

(vii) भारत के पश्चिमी तटों के पास, आस्ट्रेलिया के तटों व मैक्सीको की खाड़ी के पश्चिमी भाग संयुक्त राज्य अमेरिका में केप हेटरस के दक्षिण में तथा कोलम्बिया नदी के मुहाने के उत्तर में इन कन्दराओं का अभाव है।

अन्त: समुद्री कन्दराओं की उत्पत्ति (Origin of Sub–marine canyon)

अन्त समुद्री कन्दराओं की प्रकृति, वितरण तथा विशेषताओं के अध्ययन से पता चलता है कि इनका निर्माण हाल ही में हुआ है। भूगर्भविद् मानते हैं कि इन कन्दराओं का निर्माण कैनॉजोईक युग में हुआ है तथा क्वार्टरनरी भूगर्भिक काल में भी यह क्रम जारी रहा है। अनेक कन्दराएँ अभी भी निर्माण की अवस्था में हैं। अन्त: महासागरीय कन्दराओं की उत्पत्ति के बारे में प्रमुख मत निम्न हैं : –

(अ) पटल विरूपण सिद्धान्त (Diastrophism Theory) : इस मत के अनुसार इनके निर्माण के लिए भूगतियों (Earth monuments) को उत्तरदायी माना जाता है। भूसंचलन के कारण महाद्वीपीय मग्न तटों (Continental Shelf) तथा ढालों (Slope) पर द्रोणिकाओं या ग्रेबेन (Graban) का निर्माण होता है। इसी प्रकार संवलन (warping) क्रिया से अभिनतिय बेसिन व तीव्र वलन के कारण अभिनतिय खाईयां बन जाती हैं। डी एन्ड्राडे (De andrade) मानते हैं कि अन्त: समुद्री कन्दराएँ सोपानी दरार (Step like faults) है। लासन (Lawson) ने केलिफोर्निया केनियन की, ग्रेगरी (Gregory) ने हड़सन केनियन तथा योनासाकी ने जापान केनियन की उत्पत्ति इसी प्रकार से मानी है। बोरकार्ट (Bourcart) इन्हें क्वार्टनरी युग में निर्मित नदियां मानते हैं जो सागर तटीय भागों के नीचे धंसने से सागर के नीचे पहुंच गई। निष्कर्षत: कुछ विद्वान कैनियन की उत्पत्ति इस प्रकार

पटल निरूपण कारी बलों को मानते हैं परन्तु सभी अन्त: सागरीय कन्दराओं की उत्पत्ति की व्याख्या इस आधार पर नहीं की जा सकती।

(ब) भू–पृष्ठीय अपरदन सिद्धान्त द्वारा (Sub–aerial Erosion Theory) : महाद्वीपीय मग्न तटों पर स्थित कन्दराओं के निर्माण के लिए कुछ विद्वान अनाच्छादनकारी शक्तियों (Denudational Forces) को उत्तरदायी मानते हैं। डाना (Dana) कैनियन के निर्माण में भू–पृष्ठीय अपरदन को महत्वपूर्ण मानते हैं। शेपार्ड (Shepard) का मानना है कि स्थल भाग में उत्थान (Emergence) होने से उस पर नदियों ने निमवर्ती अपरदन द्वारा गहरी घाटियों का निर्माण किया, तत्पश्चात उन स्थलों का निमज्जन (Submergence) हो जाने के कारण उन पर निक्षेपित अवसादों ने घाटियों को लुप्त कर दिया। कालान्तर में इन निक्षेपित अवसादों का नीचे की ओर सर्पण हो जाने से ये घाटियाँ पुर्नजीवित (Rejuvenate) होकर कैनियन के रूप में दृष्टिगोचर होने लगी। हाल (Hall) ने भी इस मत का समर्थन किया है, परन्तु डेविस (Davis) इससे सहमत नहीं है। उनका मानना है कि इतने अल्प भूगर्भिक काल में इतने बड़े पैमाने पर निर्गमन (Emergene) तथा निमज्जन (Sub–emergence) सम्भव नहीं है जिससे ऐसी विशालकाय कन्दराओं का निर्माण हो सके।

इर्मरी तथा शेपर्ड ने भूवैज्ञानिक साक्ष्यों के आधार पर माना है कि चतुर्थ महाकल्प (Quarternary Period) में प्लीस्टोसीन हिमकाल के समय सागर तल में 1000 मीटर की गिरावट कैनियन के निर्माण के लिए आदर्श थी। हिमकाल के कारण स्थल खण्ड, सागर तल से ऊपर उठ गये। इन स्थल खण्डों पर अपरदनात्मक क्रियाओं से कन्दराओं का निर्माण हुआ। हिमकाल के उपरान्त पुन: सागर तल के ऊपर उठ जाने से ये स्थल खण्ड जलमग्न हो गये, जिससे इनमें निर्मित ये कन्दराएँ भी निमग्न हो गई। परन्तु जानसन (Johnson) ने इस मत से असहमत होते हुए बताया है कि वर्तमान अन्त: सागरीय कन्दराएँ इतनी गहरी व विशाल हैं, कि अपरदनकारी शक्तियों द्वारा स्थल खण्डों पर कन्दराओं के निर्माण के लिए सागर तल में कम से कम 3048 मीटर की गिरावट आनी चाहिए थी जिसके कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ कैनियन की उत्पत्ति इस सिद्धान्त के अनुरूप ही हुई होगी।

(स) पंक तरंग सिद्धान्त (Turbidity Current Theory): डेली, रिदर तथा डेविस मानते हैं कि तट की ओर चलने वाली तीव्र हवा के कारण तट के पास अपार जल राशि एकत्रित हो जाती है, जिसमें पंक (mud) मिली होती है। तटों के पास अत्यधिक जल राशि के कारण सागर की ओर अन्त: सागरीय तरंगें चलने लगती हैं। इनके साथ पंक (mud) व अन्य पदार्थ भी मिले होते हैं, अत: इन तरंगों को पैक तरंग कहते हैं। इन तरंगों द्वारा ही अन्त: सागरीय कन्दराओं का निर्माण होता है।

(द) अन्त: सागरीय घनत्व तरंग सिद्धान्त (Submarine Density Current Theory): सैलिस तथा फ्लौरेल के अनुसार सागरीय भागों में तापक्रम एवं घनत्व में भिन्नता के कारण तरंगें उठती हैं। इन तरंगों द्वारा जलमग्न तट तथा ढाल से ढीले पदार्थ सागर की ओर सरका दिये जाते हैं। जिस कारण से अन्त सागरीय कन्दराओं का निर्माण होता है। फ्तोरेल ने कांगो नदी के तट पर स्थित कांगों कैनियन का निर्माण घनत्व तरंग के कारण ही बताया है। इस सिद्धान्त के विपरीत बताया जाता है कि सामान्यत: कैनियन का निर्माण जलमग्न तट के कम गहरे भाग पर होता है जहाँ घनत्व तरंगों का आविर्भाव नहीं हो पाता है।

16.2.6 सागरीय पर्वत तथा गीहो निमग्न द्वीप (Sea Mounts and Guyots)

सागर तली पर 915 मीटर से ऊँचे जलमग्न पर्वत सागरीय पर्वत (Sea mounts) कहलाते हैं। प्रमुख सागरीय पर्वतों में पेटन (Patten), प्रेट (Pratt), व फैरिस (Faris) उल्लेखनीय हैं। गीहो (Guyots) भी एक प्रकार से जलमग्न पर्वत ही है परन्तु इनके शीर्ष भाग चपटे होते हैं। इनका सर्वप्रथम पता A.H.Guyots नामक स्विस वैज्ञानिक ने लगाया था। इन्हीं के नाम पर इन्हें गीहो (Guyots) कहा जाता है।

इन दोनों ही रचनाओं की उत्पत्ति अन्त: सागरीय ज्वालामुखी उद्गारों से होती है। जब ये अन्त: सागरीय ज्वालामुखी उद्गारों से निर्मित पर्वत शिखरे लहरों की अपरदन क्रिया से सपाट या चौरस हो जाती है तथा उनकी आकृति पठार जैसी हो जाती है तथा बाद में वो जलमग्न हो जाती है, तब इन्हें गीहो कहते हैं। इनके जलमग्न होने के दो प्रमुख कारण हैं – (i) सागर तल में उत्थान या, (ii) ज्वालामुखी द्वीपों का धंसना। मेनाड के अनुमान के अनुसार प्रशान्त महासागर में लगभग 10000 गीहो उपस्थित हैं। इनमें से अनेक की ऊँचाई 3000 मीटर है। एटलांटिक महासागर में भी इस प्रकार के कुछ द्वीप पाये जाते हैं।

बोध प्रश्न – 1

1. महाद्वीपीय निमग्न तटों पर द्वीपों की भाँति उभरी हुई हिमानी आकृतियाँ पायी जाती हैं, जिन्हें कहते हे?

   .....

   .....

2. स्थल की ऊँचाई तथा महासागरों की गहराई को प्रदर्शित करने वाले वक्र को क्या कहते है?

   .....

   .....

3. महाद्वीपीय मग्न तटों का औसत ढाल होता है–

   (अ) 4° से 5°के बीच (स) 1° से 3°के बीच

   (ब) 0° से 5°के बीच (द) 8° से 10°के बीच

4. किस महासागर में निमग्न तटों के अन्तर्गत क्षेत्रफल अधिक पाया जाता है?

(अ) हिन्द महासागर (स) आर्कटिक महासागर

(ब) प्रशान्त महासागर (द) आन्ध महासागर

5. आस्ट्रेलिया के पूर्वी भाग में पाये जाने वाले निमग्न तटों का निर्माण हुआ है।

.....

.....

6. मेरियाना ट्रेन्च स्थित है

(अ) द. आन्ध महासागर में (स) उ.प्रशान्त महासागर में

(ब) उ.हिन्द महासागर में (द) आर्कटिक महासागर में

7. दक्षिण भारत के किन तटों के समीप अन्त: समुद्री कन्दराओं का अभाव पाया जाता है?

.....

.....

8. सागर तली पर स्थित सपाट शीर्ष वाले निमग्न पर्वतों को कहते हैं –

.....

.....

16.3 महासागरों की तली का विन्यास (Configuration of Oceanic Floor)

महासागरों की तली पर निर्मित आकृतियों में भी महाद्वीपों की ही भांति पर्याप्त विषमता पायी जाती है। अत: यहाँ पर विश्व के प्रमुख महासागरों की तली के विन्यास की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किया गया है।

16.3.1 अटलांटिक महासागर के नितल के उच्चावच (Bottom Relief of the Atlantic Ocean)

आन्ध्र महासागर के किनारे के सागरों को छोड़ दें तो यह विश्व के कुल क्षेत्रफल के 16.5 प्रतिशत भाग पर फैला हुआ है। इसका क्षेत्रफल प्रशान्त महासागर के क्षेत्रफल का लगभग 50 प्रतिशत है। इसके पश्चिम में उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका एवं पूर्व में यूरोप तथा अफ्रीका महाद्वीप इसकी सीमायें–निर्धारित करते हैं। उत्तर में यह डेविस ट्रस्ट तथा डेनमार्क ट्रस्ट द्वारा आर्कटिक महासागर से जुड़ा हुआ है, जबकि अफ्रीका के दक्षिण में यह हिन्द महासागर एव एन्टार्कटिका महासागर में खुलता है। इस महासागर की सामान्य रूपरेखा अंग्रेजी वर्णमाला के "S" अक्षर के समान है। आज भी इस महासागर के पूर्व में स्थित अफ्रीका महाद्वीप की गिनी की खाड़ी तथा पश्चिम में ब्राजील के उभार की तटीय संरचनाओं में एकरूपता पायी जाती है जो प्रमाणित करती है कि ये महाद्वीपीय किनारे सुदूर अतीत में एक दूसरे से जुड़े हुए थे।

आन्ध्र महासागर की चौड़ाई इसके मध्य भाग में विषुवत रेखा के पास संकरी हो गई है, जबकि दक्षिण में इसकी चौड़ाई सर्वाधिक है। 35° द. अक्षांश पर इसकी पूर्व–पश्चिम चौड़ाई 5920 किमी. है। उत्तर की ओर बढ़ने पर पुन: इसकी चौड़ाई 4800 किमी. हो जाती है। इस महासागर के दोनों ओर विश्व के सर्वाधिक साधन सम्पन्न और समृद्ध राष्ट्र स्थित हैं। अत: इस महासागर का सर्वाधिक अध्ययन किया गया है। इसकी तटीय विशेषताओं के साथ–साथ इसके नितल की बनावट के सम्बन्ध में भी आधुनिकतम उपकरणों के द्वारा अध्ययन किया गया है। आन्ध्र महासागरीय नितल में चार उच्चावचीय स्वरूप देखने को मिलते हैं।

16.3.1.1 महाद्वीपीय मग्न तट (Continental Shelf)

आन्ध्र महासागर के कुछ भागों को छोडकर इसके चारों और चौड़े मग्न तट पाये जाते हैं। उत्तरी अटलांटिक में मग्न तट प्राय: चौड़े व सपाट हैं। उदाहरणार्थ उत्तरी अमेरिका के उ.पूर्वी भाग तथा उ.प.यूरोप के मग्न तट जो कि 240 से 400 किमी. तक चौड़े हैं। न्यूफाउडलैण्ड तथा ब्रिटिश द्वीपों के निकट चौड़े व विस्तृत मग्न तट पाये जाते हैं। ग्रीनलैण्ड व आईसलैण्ड के मग्न तट भी चौड़े है।

मध्यवर्ती भाग में बिस्के की खाड़ी से लेकर उत्तमाशा अन्तरीय (cape of good hope) तक मग्न तटों की चौड़ाई कम है। ब्राजील के पठारी तटों के समीप मग्न तटों की चौड़ाई संकरी हो गई है। दक्षिणी आन्ध्र महासागर में बाहिया ब्लैंका तथा अण्टार्कटिका के बीच चौड़े मग्न तट पाये जाते हैं। दक्षिणी आन्ध्र महासागर में प्राय: मग्न तटों का अभाव है।

इन मग्न तटों पर असंख्य द्वीप व अनेक सीमान्त सागर व आन्तरिक सागर पाये जाते हैं। मग्नतटीय प्रमुख द्वीपों में ब्रिटिश द्वीप समूह, न्यूफाउण्डलैण्ड, पश्चिमी द्वीप समूह चाप, फाकलैण्ड, साउथ आर्कनीच, शटलैण्ड, सैण्डविच द्वीप, सैण्ट हैलेना, ट्रिनीडाड तथा फॉकलैण्ड प्रमुख हैं। सीमान्त सागरों में हड्सन की खाड़ी, बाल्टिक सागर, उत्तरी सागर तथा डेनमार्क स्ट्रीट प्रमुख हैं एवं आन्तरिक सागरों में कैरिबियन तथा भूमध्यसागर प्रमुख हैं।

16.3.1.2 मध्य अटलांटिक कटक (Mid Atlantic Ridge)

एटलांटिक महासागरीय तली की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भू–आकृतिक संरचना जो इसके उत्तर में आइसलैण्ड से दक्षिण में बोवेट (Bouvet) द्वीप तक "S" के आकार का कटक (Ridge) है, जिसकी कुल लम्बाई 14400 किमी. है, पाया जाता है। इस कटक की स्थिति अटलांटिक महासागर के लगभग मध्य में होने से इसे मध्य अटलांटिक कटक (Mid Atlantic Ridge) कहा जाता है। इस मध्यवर्ती कटक के उत्तरी भाग को डाल्फिन राइज (Dalfin Rise) तथा दक्षिणी भाग को चैलेन्जर राइज (Challenger Rise) कहते हैं। इसके दोनों ओर तीव्र ढाल पाये जाते हैं। इस कटक के ऊपर समुद्र की गहराई लगभग 1700 फैदम है।

उत्तरी अटलांटिक महासागर में इस कटक का विस्तार आयरलैण्ड से लेब्राडोर तक है। ग्रीनलैण्ड के दक्षिण में कटक चौड़ा हो जाता है जहाँ इसे टेलीग्राफ पठार कहते हैं। इस टेलीग्राफ पठार से एक चौड़ी श्रेणी उत्तर पश्चिम की ओर उत्तरी स्कॉटलैण्ड से दक्षिणी पूर्वी ग्रीनलैण्ड तक फैली

है। इस श्रेणी पर समुद्र तल की गहराई 550 फैदम है। उत्तरी स्कॉटलैण्ड और आइसलैण्ड के मध्य स्थित अन्तः सखी श्रेणी को वीविल टामसन कटक (Wyville Thomson Ridge) कहा जाता है।

दक्षिणी एटलांटिक में इस कटक के पूर्व तथा पश्चिम में अनेक श्रेणियाँ निकली हुई हैं। यहाँ ट्रिस्टन द कुन्हा (Triston da cunha) के क्षेत्र से निकली वाल्विस श्रेणी (Walvis Ridge) का विस्तार अफ्रीका के पश्चिमी तटों तक है, जबकि यहीं मध्य कटक से एक अन्य श्रेणी पश्चिम को निकल कर दक्षिण अमेरिका के तटों तक पहुंचती है, इसे रियो ग्रान्दे श्रेणी (Rio Grande Ridge) कहते हैं।

इस कटक के मध्य भाग में भूमध्य रेखा पर सियरालिओन उभार उ.पूर्व की ओर तथा पारा उभार उत्तर–पश्चिम की ओर निकल कर क्रमश: यूरोप व उत्तरी अमेरिका के तटों तक विस्तृत है।

दक्षिणी अटलांटिक में 40° द. अक्षांश के पास मध्य एटलांटिक कटक की चौड़ाई लगभग 960 किमी. हो गई है। उत्तरमाशा अन्तरीप (Cape of Goode Hope) से आगे जाने पर मध्य अटलांटिक कटक को अटलांटिक अण्टार्कटिका श्रेणी कहा जाता है।

इस कटक का अधिकांश भाग जल मग्न है। भूमध्य रेखा पर स्थित कटक के मध्य भाग को इसका मेरूदण्ड कहा जाता है। इसकी नितल से औसत ऊँचाई 5000 से 10000 फीट तक है। यहीं पर स्थित रोमांश गर्त जिसकी गहराई करीब 4030 फैदम नापी गई है, इस कटक को दो भागों में बाँटता है। इस कटक के दक्षिण में भी सैण्डविच द्वीप पुंज (South Sandwich Islands) के निकट दक्षिणी सैण्डविच गर्त स्थित है जिसकी गहराई 4575 फैदम है।

मध्य अटलांटिक कटक की उत्पत्ति के बारे में पर्याप्त मतभेद हैं। वेगनर का "महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त" इसकी उत्पत्ति तनाव के कारण व पश्चिम दिशा में प्रवाह के कारण मानता है जबकि "प्लेट विवर्तनिकी सिद्धान्त" (Plate Tectonic Theory) इसकी उत्पत्ति का कारण उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका तथा यूरोप व अफ्रीका प्लेट के रचनात्मक किनारों (Constructive Plate Margines) पर अलगाव तथा नीचे से मैगमा के ऊपर की ओर उद्वेलित होने व जमने को मानता है।

16.3.1.3 बेसिन (Basins)

अटलांटिक महासागर में कटक के दोनों ओर अनेक गहरी द्रोणियां स्थित हैं जिन्हें नीचे तालिका में दर्शाया गया है :–

तालिका – 16.2 : एटलांटिक महासागर की प्रमुख द्रोणियाँ व उनकी स्थिति

क्र.सं	नाम द्रोणी	गहराई (मीटर)	स्थिति
1.	लेब्राडोर	4000 मीटर	लेब्राडोर व न्यूफाउण्डलैण्ड के मध्य उ.अट लौ टिक में 12^0 से 40^0 उ.अक्षाशों पर स्थित सबसे बड़ी श्रेणी
2.	ब्राजील	6000 मीटर	द.अटलांटिक में भूमध्य रेखा से 30^0

			द.अक्षांश तक
3.	उ.पू.अटलांटिक बेसिन	5000 मीटर	उ.अटलांटिक में 12^0 से 40^0 उ.अक्षांश तक स्थित सबसे बडी बेसिन
4.	उ.पू अटलांटिक बेसिन	5000 मीटर	38°उ. से 50° अक्षांशों के मध्य स्थित दीर्घाकार बेसिन
5.	केपवर्ड बेसिन	5000–7000 मी.	मध्य अटलांटिक कटक व अफ्रीका के मध्य 10° से 231/2° उ. अक्षांश
6.	गिनी बेसिन	5000–7000 मी.	अफ्रीका के गिनी तट के निकट द.पूर्व से उ.पश्चिम को विस्तृत
7.	गयाना बेसिन	4000–5000 मी.	गयाना कटक तथा सिपरा लियोन के मध्य उ.पूर्व से द.पश्चिम दिशा में
8.	अगोला बेसिन	5000 मीटर	अफ्रीकी तट से प्रारंभ होकर उ.पूर्व से द.पूर्व में बालविस कटक तक
9.	अगुल्हास बेसिन	–	उत्तर माशा अन्तरीय के मध्य में 40° द. से 50° द. के मध्य स्थित चौड़ी बेसिन है।
10.	अटलांटिक हिन्द–अण्टार्कटिका बेसिन	–	80° द. अक्षांश रेखा पर पूर्व से पश्चिम में विस्तृत है।

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि आन्ध्र महासागर में स्थित अधिकांश श्रेणियों की गहराई 4000 से 6000 मीटर के मध्य है।

16.3.1.4 महासागरीय गर्त (Oceanic Deeps)

अटलांटिक महासागर में रैखिक महासागरीय गर्तों की संख्या कम पायी जाती है जिसका प्रमुख कारण एटलांटिक तटों पर अभिनव वलन की रेखाओं का अभाव रहना माना गया है। मुरे ने इस महासागर में छोटे–बड़े 3000 फ़ैदम की गहराई तक के 19 गर्तों की उपस्थिति दर्ज की है। इनमें प्रमुख गर्त निम्न तालिका में दर्शाये गये हैं:–

तालिका–16.3 : एटलांटिक महासागर के प्रमुख गर्त व उनकी स्थिति

नाम गर्त	गहराई (फैदम)	स्थिति
1. पोर्टोरीको गर्त (पुएटोरिकों)	4812 फैदम	30° उ.अक्षांशों में प. तटों के पास
2. सैन्डविच गर्त (Sandwich Trench)	4545 फैदम	45° द.अक्षांशों में सैण्डविच द्वीपों के पास
3. रोमांश गर्त	4030 फैदम	भूमध्य रेखा पर स्थित हैं

16.3.2 प्रशान्त महासागरीय तली के उच्चावच (Bottom Relief of Pacific Ocean)

1. **स्थिति एवं विस्तार :** प्रशान्त महासागर तथा उसके तटवर्ती सागर सम्मिलित रूप से पृथ्वी के एक तिहाई भाग को घेरे हुए हैं। यह संसार का सबसे बड़ा महासागर है। त्रिभुज की

आकृतिनुमा प्रशान्त महासागर की पूर्व से पश्चिम चौड़ाई विषुवत रेखा पर अधिकतम 16000 किमी. है तथा उत्तर से दक्षिण लम्बाई 14880 किमी. है। इसमें महासागर के दोनों तटों पर वलयाकार पर्वतों की श्रृंखलाएँ पायी जाती हैं तथा संसार के अधिकतम द्वीप (लगभग 2000) इसमें स्थित हैं। इसके पश्चिमी तटों पर इन द्वीपों की संख्या अधिक होती है। जबकि पूर्वी तटों पर यह संख्या सीमित है।

2. **महाद्वीपीय मग्न तट:** प्रशान्त महासागर के मग्न तटों की स्थिति, आकार व चौड़ाई पर वहाँ की संरचना व धरातल का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। महासागर के पूर्वी तटों के पास स्थित रॉकीज व एण्डीज पर्वतमालाओं के कारण मग्न तट प्राय: संकरे हो गये हैं। इनकी औसत चौड़ाई 80 किमी. पायी जाती है, जबकि पश्चिमी महासागरीय तटों के पास एशिया महाद्वीप व आस्ट्रेलिया महाद्वीप के पूर्वी तटवर्ती भागों पर पर्वतों व पठारों की समानान्तर श्रृंखलाओं का अभाव होने से मग्न तट ज्यादा विस्तृत पाये जाते हैं। यहाँ इनकी चौड़ाई 160 से 1600 किमी. तक पायी जाती है। इन्हीं मान तटों पर प्रशान्त महासागर के असंख्य द्वीप व तटवर्ती सागर विद्यमान है। इन मान तटों की गहराई कहीं भी 100 मीटर से अधिक नहीं है।

3. **नितल पर स्थित कटक तथा श्रेणियाँ :** इस महासागर में अटलांटिक अथवा हिन्द महासागर की तली की भाँति किसी मध्यवर्ती कटक (Central Ridge) का अभाव है। परन्तु कुछ कटक बिखरे रूप में पाये अवश्य जाते हैं।

   (i) **पूर्वी प्रशान्त कटक अथवा एलबाट्रास पठार :** यह कटक प्रशान्त महासागर के द०पूर्वी भाग में स्थित है। इसकी चौड़ाई 1600 किमी है। 25° से 35° द.अक्षांशों के पास इसकी दो शाखाएँ हो जाती है। पूर्वी शाखा चिली तट की ओर चली जाती है, जबकि पश्चिमी शाखा ईस्टर्न आइसलैण्ड राइज के नाम से दक्षिण में चली जाती है।

   (ii) **न्यूज़ीलैण्ड कटक (Newziland Ridge) :** यह सागर तल से 200 से 2000 मीटर तक गहरा है। आस्ट्रेलया के ग्रेट बेरियर द्वीप के पश्चिम में क्वीन्सलैण्ड पठार प्रमुख कटक है।

   (iii) मध्य प्रशान्त का प्रमुख कटक हवाइन उभार है, यह 960 किमी. चौड़ा तथा 2640 किमी. लम्बा है।

   (iv) **जलमग्न श्रेणियाँ (Sub–mersed ridges) :** प्रशान्त महासागर में अनेक कटक या श्रेणियाँ जलमग्न रूप में भी पायी जाती हैं, जहाँ जल की गहराई 33 फैदम से अधिक नहीं है। इन श्रेणियों में एल्यूशियन श्रेणी (उ०प्रशान्त), क्यूराईल, बेनिन,मटियानास, याथ व पाटू प्रमुख हैं । प्रशान्त महासागर के पूर्वी भाग में पायी जाने वाली जलमग्न श्रेणियों में बिस्मार्क, सालोमन, सान्ताकूज प्रमुख हैं ।

4. **द्रोणियाँ (Basins):** प्रशान्त महासागर की प्रमुख द्रोणियाँ, उनकी स्थिति व गहराई को तालिका – 16.4 द्वारा दर्शाया गया है :

तालिका – 13.4 : प्रशान्त महासागर की प्रमुख द्रोणियाँ (Basins) तथा स्थिति

क्र.सं.	नाम द्रोणी	गहराई मीटर में	स्थिति
1.	फिलीपाइन द्रोणी	6000 मीटर	फिलीपीन्स के पूर्व में, जापान के दक्षिण से प्रारभ होकर 5^0 उत्तरी अक्षांश तक
2.	पूर्वी आस्ट्रेलियन	5000 मीटर	आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट व न्यूज़ीलैण्ड कटक के मध्य वृत्ताकार रूप में पायी जाती है ।
3.	द0आस्ट्रेलियन	5000 मीटर	आस्ट्रेलिया के दक्षिण में लम्बी व गहरी होती है ।
4.	फिजी द्रोणी	4000 मीटर	फिजी द्वीप के दक्षिण में 22^0-32^0 दक्षिण अक्षांशों के मध्य पायी जाती है ।
5.	पीरू चिली	1000 मीटर	पीरू तट के पश्चिम में यह एक विशाल व चौड़ी द्रोणी है ।

5. महासागरीय गर्त (Ocean deep and trenches): प्रशान्त महासागर में विश्व के सर्वाधिक 32, मध्यम से विशालकाय गर्तों की खोज की जा चुकी है । ये गर्त या तो द्वीपीय चापों (Island Arc) अथवा वलनाकार पर्वत श्रृंखलाओं (Folded Mountain) के समानान्तर पाये जाते है । अधिकांश द्वीपों का जमाव पश्चिमी प्रशांत महासागर मे है ।

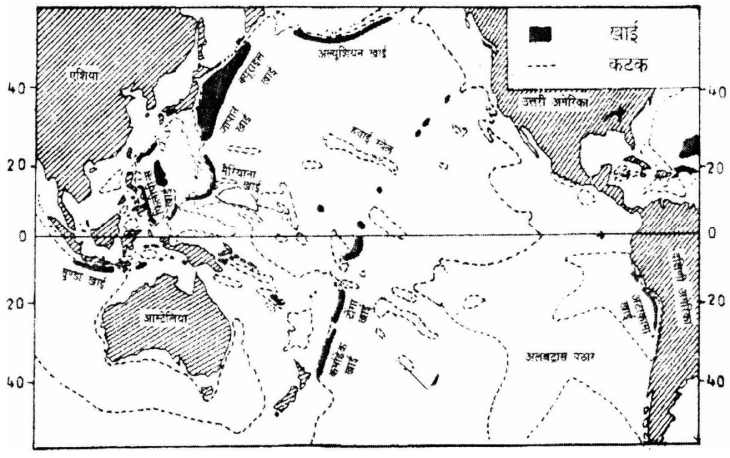

चित्र 16. 4 : प्रशान्त महासागर – पठार तथा खाइयाँ

प्रशान्त महासागर में पाये जाने वाले प्रमुख गर्त व खाईयों में एल्यूशियन (7679 मीटर) महासागरीय तली के उच्चावच एवं निक्षेप एल्यूशियन द्वीपों के पास, क्यूराईल गर्त (10377 मीटर) जापान द्वीप समूह के समानान्तर, जापान गर्त (10375 मीटर), मरियाना गर्त (11035 मीटर) गुआना द्वीपों के समीप, एक्डेन गर्त (5502 फैदम), टस्करोरा गर्त (4655 फैदम), रमपो गर्त (5771 फैदम), जापान ट्रेन्च में स्थित टोगा–कारमाडेक–टेन्च में स्थित एन्ड्रिच गर्त (5155 फैदम) हैं । इन गर्तों की स्थिति को चित्र संख्या– 16.4 में दर्शाया गया है ।

प्रशान्त महासागर के मध्यवर्ती भाग में गर्तों व ट्रेन्वेच का अभाव है । केवल द. अमेरिका के तट से दूर प्रशान्त महासार में एण्डीज पर्वतों के समान्तर एक ट्रेन्च पायी जाती है जिसकी गहराई 4175 फैदम है ।

6. **प्रशान्त महासागर की द्वीपमालाएँ :** प्रशान्त महासागर में लगभग 2000 द्वीप स्थित हैं । इनका अधिकतम जमाव प्रशान्त महासागर के द. प. भाग में स्थित है । इन्हें तीन वर्गों में बांटा गया है –

प्रशान्त महासागरीय द्वीप

मैलानेशिया	**माइक्रोनेशिया**	**पोलीनेशिया**
बिस्मार्क द्वीप समूह	मेरियाना	फीनिक्स द्वीप समूह
सालोमन	मार्शल	समोआ
न्यूहेब्रीडीज	कैरोलिना	टोंगा
केलीडोनिया	गिलबर्ट तथा	कुक द्वीप पुंज
फिजी	एलिस द्वीप समूह	सोसायटी द्वीप समूह
न्यूगिनी		टुआमोटू तथा मारकिंसास

प्रशान्त महासागर की तली पर स्थित उपरोक्त द्वीपों का वितरण भी असमान है । अधिकांश द्वीप कर्क व मकर रेखाओं के मध्य स्थित हैं । प. प्रशान्त में द्वीपों की संख्या सर्वाधिक है ।

7. **तटवर्ती समुद्र (Marginal Sea) :** प्रशान्त महासागर के अधिकांश तटवर्ती समुद्र उसके पश्चिमी किनारे के पास पाये जाते हैं । पूर्वी तटों के पास इनका अभाव है । यहाँ केवल केलीफोर्निया की खाड़ी तथा ब्रिटिश कोलम्बिया और चिली के समीप निमग्न तटवर्ती सागर पाये जाते हैं ।

प्रशान्त महासागर के पश्चिमी तट व एशिया की मुख्य भूमि तथा द्वीपमालाओं के मध्य अनेक तटवर्ती समुद्र पाये जाते हैं । इनमें बेरिंग सागर, आखोटस्क सागर, जापान सागर, पीला सागर, पूर्वी चीन सागर, दक्षिणी चीन सागर प्रमुख हैं । आस्ट्रेलिया के पास कार्पेन्टीरया की खाड़ी, अराफुश सागर व बास जलडमरूमध्य आदि महाद्वीपीय मग्न तट पर स्थित है । इनकी गहराई अपेक्षाकृत कम है ।

16.3.3 हिन्दमहासागर के नितल के उच्चावच (Bottom Relief)

1. स्थिति एवं विस्तार

आन्ध्र महासागर एवं प्रशान्त महासागर की तुलना में हिन्द महासागर की तली का अभी तक उतना गहन अध्ययन नहीं हो पाया है । यह चारों ओर से महाद्वीपों से घिरा हुआ विश्व का तीसरा बड़ा महासागर है । विश्व के समस्त महासागरों के क्षेत्रफल का 20 प्रतिशत भाग इसमें सम्मिलित है । इस महासागर के उत्तर में एशिया, दक्षिण पूर्व में आस्ट्रेलिया व दक्षिण में

अण्टार्कटिका महाद्वीप है । अण्टार्कटिका के समीप इसका सम्बन्ध प्रशान्त व आन्ध्र महासागर से हो जाता है । इस महासागर की औसत गहराई 4000 मीटर है ।

उत्तर में इस महासागर को भारतीय उपमहाद्वीप की उपस्थिति अरब सागर व बंगाल की खाड़ी दो भलों में विभक्त कर देती है । जबकि दक्षिण में यह अधिक चौड़ा व खुला हुआ है । पूर्वी द्वीप समूहों के तट के सहारे इसमें वलित पर्वतों की श्रृंखलाएँ व द्वीपमालाएँ पायी जाती हैं । हिन्द महासागरीय तली के उच्चावच का विवरण चित्र – 16.5 में दर्शाया गया है –

2. हिन्द महासागरीय तली की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं :

(i) इस महासागर में निमग्न तट अलग–अलग चौड़ाई के पाये जाते हैं । क्योंकि इनके चारों ओर स्थित तटों का निर्माण अलग–अलग भूगर्भिक युगों में हुआ है । महासागर के उत्तर में स्थित गोण्डवाना लैण्ड के भाग प्रायद्वीपीय भारत, अफ्रीका का पठार व आस्ट्रेलिया के पश्चिमी भाग हैं । इनके तटों के समीप बहुत ही कम चौड़े महाद्वीपीय मग्न तट पाये जाते हैं । जबकि मालागासी द्वीप व बंगाल की खाड़ी के उत्तरी छोर के पास अपेक्षाकृत अधिक चौड़े निमग्न तट पाये जाते हैं ।

(ii) हिन्द महासागर के मध्य पश्चिमी भाग में एक 4800 कि.मी. लम्बी व 2200 फैदम ऊँचाई वाली तीक्ष्ण शीर्षों युक्त पृथ्वी की सबसे बड़ी अंग्रेजी के "Y" अक्षर के आकार वाली जलमग्न कटक पायी जाती है । यह चाप के आकार में पश्चिम की ओर अदन से प्रारम्भ होकर सोकोतरा होती हुई मलागासी के पूर्व से अगुल हास बेसिन होकर अंटार्कटिका महाद्वीप तक विस्तृत है । इस श्रेणी को मध्य महासागरीय कटक (Mid Oceanic Ridge) के नाम से जानते हैं ।

इस कटक व इसकी शाखायें अधिकांशतया जलमग्न हैं, परन्तु जहाँ कहीं भी इसके शीर्ष जल से ऊपर दिखलाई पड़ते हैं, वे द्वीपों के रूप में जाने जाते हैं । इस कटक का प्रारंभ भारतीय प्रायद्वीप के जलमग्न तटों से होता है जहाँ इसकी औसत चौड़ाई 320 कि.मी. है । कटक के इस भाग को लकादीव–चागौस या मालदीव कटक कहते हैं । यही कटक पुन: दक्षिण में भूमध्य रेखा के पास अधिक चौड़ा हो जाता है । भूमध्य रेखा से 30^0 दक्षिण अक्षांशों के मध्य जहाँ इसकी औसत चौड़ाई 320 कि.मी है, इसे चागोस–सैन्टपाल कटक के नाम से जाना जाता है । यह कटक पुन : 30^0 क्षिण से 50^0 दक्षिण अक्षांशों के मध्य लगभग 1600 कि.मी. चौड़ा हो जाता है, वहाँ इसे एमस्टरडम–सेन्टपाल पठार के नाम से जाना जाता है ।

50^0 दक्षिण अक्षांशों के दक्षिण में यह कटक पुन : दो भागों में बंट जाता है । इसकी पश्चिमी शाखा को करगुलेन–गॉसबर्ग कटक है जो (Kerguelen–Gaussberg Ridge) 48^0 से 63^0 दक्षिण तक विस्तृत है, कहते हैं तथा पूर्वी शाखा इन्डियन–अंटार्कटिका के नाम से जानी जाती है। मुख्य कटक से अनेक शाखाएँ निकल कर हिन्द महासागर के समीप स्थित महाद्वीपीय तटों की ओर चली गई हैं । इनमें महत्वपूर्ण शाखाएँ निम्न हैं : –

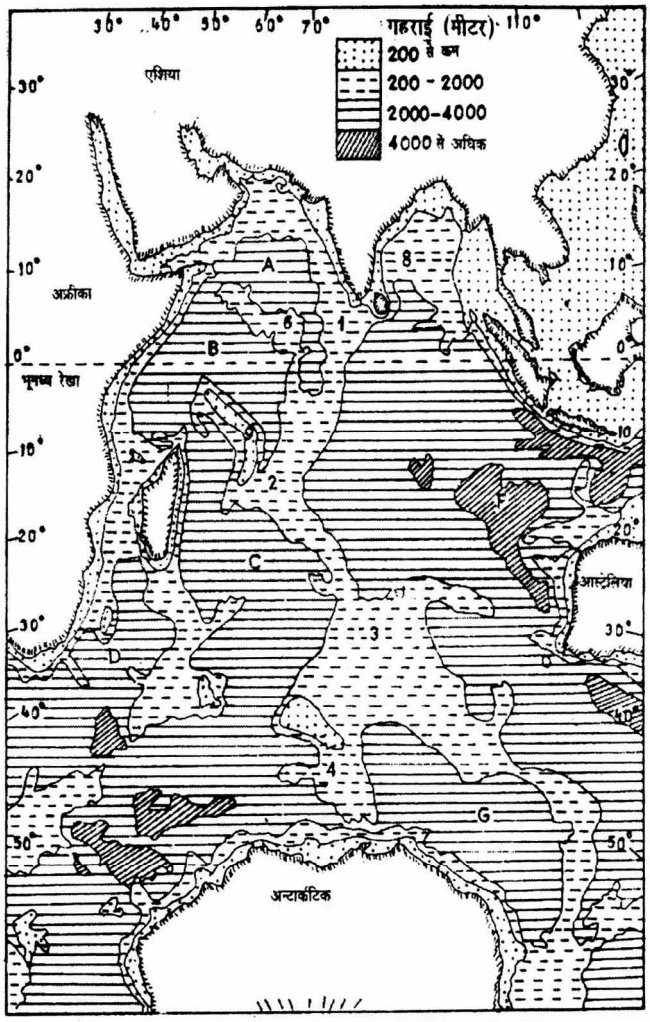

1. लक्कादिव-चागोस श्रेणी
2. चागोस-सेन्ट पॉल श्रेणी
3. एम्सटर्डम-सेन्टपॉल पठार
4. करगेलेन-गासबर्ग श्रेणी
5. इन्डियन अन्टार्कटिक श्रेणी
6. सोकोत्रा-चागोस श्रेणी
7. मेडागास्कर श्रेणी
8. अण्डमान-नीकोबार श्रेणी
9. सेशेल्स श्रेणी

A– अरब बेसिन B– सोमाली बेसिन C– मारीशस बेसिन
D– नेटाल बेसिन E– भारत-अन्टार्कटिका बेसिन
F– काकोस – कीलिंग बेसिन G– पूर्वी भारत-अन्टार्कटिका बेसिन

चित्र – 16.5: हिन्द महासागरीय नितल के उच्चावच

(a) सोकोतरा चागोस कटक : यह श्रेणी मुख्य कटक से 5^0 दक्षिण अक्षांश के पास से अलग होकर उ0पश्चिम दिशा में पूर्वी अफ्रीका के गुदीफुई अन्तरीय तक चली गई है । इसे कार्ल्सबर्ग कटक (Carlesberg Ridge) भी कहते हैं ।

(b) सैचलीज – मारीशस कटक (Seychelles–Mauritius Ridge) : 18^0 दीक्षण अक्षांशों के पास से यह श्रेणी मुख्य कटक से मारीशस द्वीप के पास से अलग होकर उत्तर पश्चिमी दिशा में चापीय रूप लिए हुए सैचलीज व एमीरेण्टी (Amirante) द्वीपों तक विस्तृत है ।

(c) मैडागास्कर कटक (Madagascar Ridge) : मैडागास्कर (मालागासी) मग्न तट से प्रारंभ होकर दक्षिण दिशा में फैल गया है । जहाँ 48^0 दक्षिण अक्षांशों के पास इसे प्रिन्स एडवर्ड क्राजेट कटक (Prince Edward Ceozet Ridge) के नाम से जानते हैं ।

(d) अण्डमान निकोबार कटक (Andman–Nicobar Ridge) : यह कटक बंगाल की खाड़ी में इरावदी नदी के मुहानों से प्रारंभ होकर निकोबार द्वीप समूहों तक विस्तृत है। जो 90^0 पूर्वी देशान्तर के समानान्तर है तथा 40^0 दक्षिण अक्षांशों के पास पहुँच कर यह कटक एमस्टरडम –सैन्टपाल कटक में मिल जाता है ।

कटक पर स्थित द्वीप (Island on the Ridge) : मुख्य कटक के वे अंश जो जल से उपर दिखाई पड़ते हैं, द्वीप कहलाते हैं । श्रीलंका, अण्डमान, निकोबार तथा चौगोस, कटक पर स्थित द्वीप हैं । लक्षद्वीप तथा मालदीव प्रवाल द्वीप हैं, जिनके नीचे कटक हैं । क्रोजेट–सेन्टपॉल तथा कार्ग्युलेन द्वीप समुद्री चबूतरे पर स्थित द्वीप हैं ।

3. द्रोणियाँ (Basins)

मध्य महासागरीय कटक हिन्द महासागर को पूर्वी तथा पश्चिमी दो प्रमुख द्रोणियों में विभक्त करता है । इन द्रोणियों को पुन : उपश्रेणियों (Sub basins) में बांटा गया है । हिन्द महासागर की प्रमुख द्रोणियों का ब्यौरा तालिका – 16.5 में दर्शाया है ।

तालिका – 16.5: हिन्द महासागर की प्रमुख द्रोणियाँ (Basins) व उनकी स्थिति

क्र.म.	द्रोणी का नाम	गहराई (मीटर)	स्थिति
1.	ओमान द्रोणी	3658	ओमान की खाड़ी के सामने
2.	अरेबियन द्रोणी	3600–5486	अफ्रीका तथा भारतीय प्राय : द्वीप के मध्य चैगोस व सोकोत्रा चैगोस कटक के मध्य ।
3.	सोमानी द्रोणी	3600	सौकोत्रा, चत्रोस, सैण्ट पॉल तथा सेचलीज कटकों के मध्य ।
4.	मॉरीशस द्रोणी	3600–5486	10^0 द. से 50^0 द. अक्षांश के मध्य मालागासीव सेन्टपॉल कटक के मध्य मालागासी कटक तथा द. अफ्रीका के पूर्वी तट के मध्य
5.	नेटाल द्रोणी	3600	मालागासी कटक तथा द0अफ्रीका के पूर्वी तट के मध्य ।
6.	अण्डमान द्रोणी	1800–3600	बंगाल की खाड़ी में अण्डमान कटक के पूर्व में ।
7.	भारत आस्ट्रेलिया द्रोणी	3600–5486	सर्वाधिक विस्तृत द्रोणी जो मध्यवर्ती कटके के पूर्व में 10^0 उत्तर से 50^0 दक्षिण अक्षांश तक विस्तृत है ।
8.	इंडियन अंटार्कटिका द्रोणी	3600–4800	तीन ओर से मुख्य कटक से घिरी व अंटार्कटिका के उत्तर में स्थित ।

4. **महासागरीय गर्त व सीमान्त सागर (Ocean Deeps and Marginal Sea) : हिन्द** महासागर में बहुत कम गर्त व खाईयाँ पायी जाती हैं । सागरीय तली के लगभग 60 प्रतिशत भाग पर अगाध सागरीय मैदान व बेसिन फैले हुए हैं, जिनकी गहराई 3600 मीटर से 5487 मीटर के मध्य है । इसकी तली पर स्थित प्रमुख खाईयों में जावा या सुण्डा ट्रेन्च (Java or Sunda Trenches) जिसकी गहराई 7450 मीटर, ओब ट्रेन्च (Ob Trench) 6875 मीटर, तथा मोरीशस व एमीरेन्टी गर्त हैं । हिन्द महासागर में बहुत कम सीमान्त सागर हैं । बड़े सीमान्त सागरों में बंगाल की खाड़ी और अरब सागर है । छोटे सीमान्त सागरों में पर्शिया की खाड़ी, लाल सागर, अदन की खाड़ी, अण्डमान सागर, आदि उल्लेखनीय हैं ।

16.3.4 आर्कटिक महासागर की तली के उच्चावच (Ocean Bottom Relief of Arctic Ocean)

1. **स्थिति व आकार :** यह सबसे छोटा महासागर है । इसकी सीमाएं एशिया, यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका महाद्वीपों द्वारा निर्धारित हैं । यह देखने में लगभग गोलाकार लगता है । इसका क्षेत्रफल 14 लाख वर्ग कि.मी. है जो प्रशान्त महासागर के कुल क्षेत्रफल का 1/12 वाँ भाग है । इस महासागर के जल का अधिकांश भाग जमा रहता है । इसकी सतह पर अधिकतर 4 मीटर बर्फ की मोटी तह जमी रहती है । महासागर की औसत गहराई 400 मीटर मानी गई है जबकि इसका गहनतम भाग 6132 मीटर गहरा है ।
2. **द्वीप व सीमान्त सागर (Island and Marginal Sea) :** आर्कटिक महासागर में धंसान की क्रिया के कारण द्वीपों का निर्माण हुआ है । इसके किनारों के धंसने से जलमग्न तटों पर अनेक द्वीप बने हैं । जिनमें नोवाया (Novaya), जैमलिया (Zemlya) प्रमुख हैं । जलमग्न कटकों पर स्थित द्वीपों में स्पिट्सबर्जर (Spitzberger), बीयर (Bear) तथा जॉन मेयन (Jan_Mayen) द्वीप प्रमुख हैं । आर्कटिक महासागर के चारों ओर अनेक सीमान्त सागर स्थित हैं जिनमें बियूफोर्ट सागर (Beaufort_sea), पूर्वी साइबेरिया सागर, कारा (Kara) सागर तथा बेरण्ट (Barents) सागर हैं ।
3. **महाद्वीपीय शैल्फ, जलमग्न कटक तथा बेसिन (Continentals Shelf, Submerged Ridge & Basins) :** आर्कटिक महासागर के सामने संसार की सबसे चौड़ी जलमग्न शैल्फ है । बेरिंग सागर की शैल्फ 1200 कि.मी. चौड़ी व 200 से 400 मीटर गहरी है । इस शैल्फ में "z" आकार की ट्रेन्वेज हैं जो सम्भवतया हिम क्रिया द्वारा उत्पन्न हुई हैं । उस समय समुद्र का तल वर्तमान काल की अपेक्षा नीचा था । उत्तरी यूरोप से 75^{0} उत्तरी अक्षांशों तक फराओं आईसलैण्ड कटक विस्तृत है । स्पिट्सबर्जर यहाँ दूसरा कटक है जिसकी सह तल से चोटी 1000 मीटर गहरी है । आर्कटिक महासागरीय द्रोणियों के बारे में अभी तक पूर्ण ज्ञान नहीं है । स्पिटस बरजन, जॉन मेयन तथा ग्रीनलैण्ड से घिरा हुआ ग्रीनलैण्ड बेसिन जिसकी गहराई 2000 से 4000 मीटर है । उत्तरी ध्रुव के चारों ओर उत्तरी ध्रुव

बेसिन है । इसका मुख्य प्रसार अमेरिका में ब्यूफोर्ट सागर की तरफ है तथा यह 1000 से 3000 मीटर गहरा है ।

बोध प्रश्न – 2

1. डोलफिन राइज तथा चैलेन्जर राइज क्या है?

   .....

   .....

2. संसार के अधिकतम द्वीप किस महासागर में पाये जाते हैं?

   .....

   .....

3. प्रशान्त महासागर में स्थित सर्वाधिक गहरे गर्त का नाम बताओ ।

   .....

   .....

4. एमस्टरडम–सेन्टपॉल पठार कहाँ स्थित है?

   (अ) हिन्द महासागर (स) आन्ध्र महासागर

   (ब) प्रशान्त महासागर (द) आर्कटिक महासागर ( )

16.4 महासागरीय निक्षेप (Ocean Deposits)

महासागरीय तली पर अवसादों के जमाव को महासागरीय निक्षेप (Ocean Deposits) कहते हैं। महासागरों में स्थित कुछ प्रवाल भित्तियों व दृश्य चट्टानों (Exposed Rocks) को छोड़ दें तो समस्त महासागरीय नितल अवसादों से निक्षेपित है । महासागरीय निक्षेप कई प्रकार के पदार्थों से प्राप्त होते हैं तथा इनके प्राप्ति स्रोत भी अलग – अलग होते हैं, परन्तु इनका बहुत बड़ा भाग स्थल खण्डों से प्राप्त होता है । आशिक रूप से कुछ समुद्री जीवों व वनस्पतियों के अवशेष, ज्वालामुखी उद्भेदन से प्राप्त पदार्थ एवं उल्का पदार्थ भी सागर तली के निक्षेपों का निर्माण करते हैं । धरातलीय भाग से प्राप्त अवसादों को नदियाँ, पवनें व हिमानियाँ, अपरदन व परिवहन क्रियाओं द्वारा सागर तली पर लाकर जमा करती है । यहाँ यह स्पष्ट किया जाता है कि महासागरीय निक्षेपों के अन्तर्गत उन तलछटों (Sediment) अथवा असंगठित पदार्थों (Unconsolidated) का ही अध्ययन सम्मिलित है जो चट्टान के रूप में परिवर्तित नहीं हुए हैं। ट्वेनहोफेल (Twenhofel) मानते हैं कि "महासागरीय निक्षेपों के अध्ययन में इनके प्राप्ति स्रोत, उत्पत्ति स्थान से निक्षेपण स्थल तक परिवहन की विधि तथा उनमें क्षैतिज एवं लम्बवत अन्तर की जानकारी सम्मिलित है" । भूगर्भविदों की ऐसी मान्यता है कि समस्त मोड़दार पर्वतों में पायी जाने वाली अवसादी शैलों का जन्म, महासागरीय तली पर विभिन्न भूगर्भिक कालों में निक्षेपित होते रहे अवसाद में अत्यधिक ताप एंव दाब की विशिष्ट परिस्थितियों से उत्पन्न हुई भू–हलचलों का परिणाम है । अत : महासागरीय निक्षेपों के अध्ययन से हमें पृथ्वी की भूगर्भिक पुर्नसंरचना व प्राचीन जलवायु शास्त्र के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है ।

महासागरीय निक्षेपों के वैज्ञानिक अध्ययन का प्रारंभ सर जॉन मुरे (Sir John Murray) तथा ए. एफ. रेनार्ड (A. F. Renard) द्वारा 1894 में प्रकाशित रिपोर्ट के साथ हुआ जिसमें इन्होंने अपने द्वारा 1872 से 1876 के मध्य किये गये चैलेन्नर जल अभियान में प्राप्त उपलब्धियों का विवरण प्रस्तुत किया है । इस अभियान में महासागरीय फर्श के निक्षेप को ढक्कनदार बाल्टियों द्वारा ऊपर निकाल कर उसका अध्ययन किया गया, साथ ही समुद्री निक्षेपों का मानचित्रांकन भी किया गया । 1940 के दशक के बाद से महासागरों में अत्यधिक गहराई तक लिए जाने वाले प्रेक्षणों के लिए विकसित उपकरणों तथा प्राविधिकी में विकास के कारण सागरीय निक्षेपों के अध्ययन में तीव्र गति से विकास हुआ है ।

सागरीय अवसादों का परिवहन (Transportation of Marine Sediments)

प्रसिद्ध समुद्र वैज्ञानिक दवेल होफेल के अनुसार निम्नलिखित प्रमुख कारक सागरीय अवसादों के परिवहन के लिए उत्तरदायी हैं ।

(अ) नदियाँ (Rivers): विश्व की प्रमुख नदियाँ स्थल का अपरदन करती हैं तथा अवसादी एवं आग्नेय शैलों को शिला चूर्ण में बदलती हैं तथा इस मलबे को अन्तत : सागर तली पर पहुँचाती हैं । सरिताओं द्वारा सागर तली पर पंक (Mud), मृतिकाएँ (Clay), सिल्ट, बजरी व रेत आदि पदार्थ विभिन्न रूपों में निमग्न तटों (Continental Selves) पर निक्षेपित होते हैं । होली मैन (Holeman, 1986) के अनुमान के अनुसार विश्व की कुल नदियाँ प्रतिवर्ष सागरों में 20 अरब टन अवसाद जमा करती हैं ।

(ब) हिम : मुरे (Murray) तथा ब्रेडले (Bradlen, 1940) के मतानुसार हिम अथवा हिमनदों (Glacier) द्वारा बड़ी मात्रा में स्थलीय पदार्थों को उच्च अक्षांशीय क्षेत्रों में अपरदन कर उसे सागर तली में पहुँचाया जाता है ।

(स) वायु (Wind) : दवेनहोफेल (Twenhofel) मानते हैं कि समुद्रों में अवसाद के निक्षेपण में वायु का भी महत्वपूर्ण योगदान है । स्थल के सूक्ष्म पदार्थ (रेत, चीका आदि) का वायु परिवहन कर उसे समुद्र में जमा कर देती है । समुद्र तटों के पास स्थित विशाल मरूस्थलों से चलने वाली पवनों ढीली बालू के कणों को उड़ा कर दूर समुद्रों में बिछा देती है । स्थल भागों से सरों की ओर निरन्तर एक ही दिशा में बहने वाली वायु द्वारा पदार्थों के निक्षेपण में क्रमबद्धता पायी जाती है । इसमें बड़े कणों युक्त पदार्थ तटों के पास एवं बारीक पदार्थ समुद्रों में अधिक दूरी तक पहुंच जाते हैं ।

(द) सागरों के भीतर परिवहन: लहरें तथा धाराएँ अवसादों का परिवहन करती हैं । तत्पश्चात् ये पदार्थ अपने आकार तथा घनत्व के अनुसार समुद्र की तली में बैठ जाते हैं तथा सूक्ष्म कण जल में लटके हुए (Suspended) रूप में स्थित होते हैं । भँवर तथा उर्ध्व धाराएँ भी पदार्थों का परिवहन करती हैं ।

16.4.1 महासागरीय निक्षेप के स्रोत एवं वर्गीकरण:

महासागरों की तली पर पाये जाने वाले निक्षेपों के अवसाद विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होते हैं तथा तली पर शुद्ध अवस्था में ये कहीं भी नहीं मिलते । प्रत्येक स्थान के निक्षेप में कई वर्ग के

निक्षेप मिश्रित होते हैं । एक स्थान के निक्षेप धीरे – धीरे दूसरे स्थान के निक्षेप में मिश्रित हो जाते हैं । महासागरीय अवसादों के तीन प्रमुख प्राप्ती स्रोत हैं – (1) स्थलीय (Terrigenous) (2) ज्वालामुखी उद्भेदन तथा (3) सागरीय जीव एव वनस्पतियाँ । इस आधार पर महासागरीय निक्षेपों को निम्न वर्गों में विभक्त किया गया है (चित्र – 16. 6) ।

16.4.1.1 स्थलजात निक्षेप (Terrigenous Deposits)

स्थल खण्डों पर पायी जाने वाली आग्नेय व अवसादी चट्टानों का अपक्षय की क्रियाओं के द्वारा विघटन (Disintegration) तथा विकीर्णन (Decomposition) होता रहता है । इसमें चट्टानें बारीक से लेकर बड़े–बड़े टुकड़ों में टूटकर बिखर जाती हैं । इन्हें भूमिज पदार्थ या स्थलजात अवसाद कहते हैं । अपरदन के कारक (पवन तथा नदियाँ) इन पदार्थों को सागरीय तली पर जमा करती रहती हैं । भूमिज पदार्थों के आकार में पर्याप्त भिन्नता होती है, अत : सागरों में इनके निक्षेपण में श्रेणीकरण (Gradation) पाया जाता है । अर्थात् बड़े–बड़े पदार्थ सागर तटों के पास जमा होते हैं तथा सागर की ओर गहराई में जाने पर इनका आकार घटता जाता है । कणों के आकार, उनकी बनावट तथा रासायनिक संगठन के आधार पर इन भूमिज पदार्थों को बजरी (Gravel), रेत (Sand) तथा पक (Mud) तीन प्रकारों में विभक्त करते हैं : –

(अ) बजरी (Gravel): अवसाद की इस श्रेणी में चट्टानों के बड़े–बड़े टुकड़ों से लेकर 2 मिमी. व्यास तक के कण सम्मिलित किये जाते हैं । इनके कणों के आकार में पर्याप्त श्रेणीकरण पाया जाता है । लहरों के थपेड़े खाकर तटवर्ती चट्टानों के पास विखण्डन से बजरी (Gravel) के विविध रूप यहां देखने को मिलते हैं, जो सामान्यत : भारी होने के कारण तटों के पास ही जमा हो जाते हैं । इनके आकार के अनुसार पाये जाने वाले विविध रूप हैं:

गोलाश्म (Boulder) (व्यास 256 मिमी. से अधिक)

गोलाश्मिका (Cobble) (व्यास 64 से 256 मिमी.)

गुटिका (pebble) (व्यास 4 से 64 मिमी.)

कणिका (Granule) (व्यास 2 से 4 मिमी.) । पुन : विघटन द्वारा इनका आकार छोटा होता रहता है, इन पदार्थों का आयात नदियों द्वारा होता है ।

(ब) रेत (Sand) : 1 मिमी. से 1/16 मिमी. व्यास वाले कणों को रेत (Sand) कहा जाता है। रेत भी आकार की दृष्टि से कई वर्गों में विभक्त की जाती है । कणों के आधार पर रेत के पांच प्रकार होते हैं । (i) अत्यधिक मोटी रेत (Very Cloarse Sand) (व्यास 1 मिमी.), (ii) मोटी रेत (Coarse Sand) (1/2 मिमी.), (iii) मध्यम रेत (Medium Sand) (1/4 मिमी.), (iv) बारीक रेत (Fine Sand) (1/8 मिमी.), (v) अत्यधिक बारीक रेत (Very Fine Sand) (1/16 मिमी.) ।

रेत के कणों को या तो नदियाँ अपने जल में निलम्बित (Suspended) अवस्था में समुद्र तट तक ले जाती है, अथवा तट के निकट जमा हुए पदार्थों के पुन :विखण्डन से इनका निर्माण होता है । इनमें अवसादी, आग्नेय तथा रूपान्तरित सभी प्रकार की शैलों के कण

मिश्रित रूप में पाये जाते हैं । इन कणों में क्वार्टज नामक खनिज कीं प्रधानता होती है, क्योंकि इनका विखण्डन अथवा रासायनिक परिवर्तन आसानी से नहीं हो पाता । लगभग सभी समुद्री तटों पर रेत का निक्षेप होता है, परन्तु नदियों के मुहानों के पास इसकी अधिकता होती है । तट से दूरी बढ़ने के साथ–साथ इनके कणों का आकार घटता जाता है।

(स) गाद, मृतिका एवं पैक (Slit, Clay, and Mud) : गाद (Slit) अत्यधिक बारीक शैल चूर्ण को कहते हैं इसमें कणों का व्यास 1/32 मिमी. से 1/256 मिमी. होता है जबकि 1/512 मिमी. से 1/8192 मिमी. व्यास वाले कणों को मृतिका (Clay) कहते हैं । मृतिका कणों से भी छोटे आकार वाले कणों को पंक (Mud) कहते हैं । मृतिका (Slit) एक संयोजक तत्व (Cementing Element) है । गाद, मृतिका व पंकों का निर्माण धरातल पर विघटन के कारण होता है तथा नदियां इनका परिवहन करके सागर में निक्षेपित करती है । मृतिका (Clay) तथा पैक का निक्षेप शान्त जल में होता है । यही कारण है कि इनका जमाव 100 से 1000 फैदम की गहराई में पाया जाता है । मुरे (Murray) ने पंकों (Muds) को उनकी विशिष्टताओं व रंगों के आधार पर तीन प्रकारों में विभक्त किया है ।

(i) नीली पैक (Blue Mud)

(ii) लाल पैक (Red Mud)

(iii) हरी पैक (Green Mud)

(i) **नीली पैक (Blue Mud) :** जिन शैलों में आयरन सल्फाइड तथा जैविक पदार्थ होते हैं उनके नियोजन तथा विखण्डन से प्राप्त अवसादों से ऐसे पैक का निर्माण होता है । इनका रंग कुछ नीलापन लिए काला होता है । लोहे के अवसाद की उपस्थिति के कारण इस पंक की ऊपरी पर्त का रंग रक्ताभ होता है । इसमें चूने का अंश 35 प्रतिशत तक पाया जाता है । इस पंक के अधिकांश निक्षेप अटलांटिक महासागर, भूमध्य सागर, व आर्कटिक सागर में मिलते हैं । प्रशान्त व हिन्द महासागर के भी अधिकांश भागों में ऐसा पंक मिलता है । इस पंक का विस्तार 232 लाख वर्ग कि.मी. में पाया जाता है ।

(ii) **लाल पैक (Red Mud) :** लोहे के ऑक्साइड से युक्त चट्टानों के विघटन से प्राप्त अवसादों के जमाव से लाल पैक का निर्माण होता है । इस पैक में कैल्शियम कार्बोनेट की मात्रा औसतन 32 प्रतिशत होती है । इसमें लोह तत्व अत्यधिक ऑक्सीकृत रूप में उपस्थित रहते हैं, जो इसके लाल रंग का प्रमुख कारण है । इस पंक का जमाव नीली पंक की तुलना में कम पाया जाता है । इसके निक्षेप मुख्यत: पीत सागर, ब्राजील के तटवर्ती सरों तथा एटलांटिक महासागर के बहुत बड़े क्षेत्र पर पाया जाता है ।

(iii) **हरी पैक (Green Mud) :** इस पंक के हरे रंग होने का मुख्य कारण ग्लॉकोनाइट नामक खनिज के कण हैं । ग्लॉकोनाइट लोहे का सिलिकेट होता है, जिसका निर्माण जैविक पदार्थों के नियोजन की उपस्थिति में ही सम्भव है । फोरामिनिफेरा की खोलों में यह खनिज पाया जाता है और जब इन जीवों के खोल घुल जाते हैं तब ग्लॉकोनाइट के छोटे –छोटे गोल कण बच जाते हैं । रेत में कभी–कभी ग्लॉकोनाइट के कणों की मात्रा अधिक होने से उनका

रंग हरा हो जाता है । यह पैक 100–900 फैदम की गहराई पर मिलता है । महासागरों में गिरने वाली बड़ी नदियों तथा उनके द्वारा निक्षेपित पदार्थों में इसका आधार होता है । ठण्डी व गर्म जल धाराओं के मिलन स्थलों पर ऐसा पैक अधिक मिलता है । उत्तमाशा अन्तरीय के समीप सागरीय नितल पर हरा पक पाया जाता है । इस पैक में पोटेशियम 7 प्रतिशत, सिलिकेट 50 प्रतिशत तथा लोहे के अंश पाये जाते हैं ।

उत्तरी अमेरिका के प्रशान्त तट, अटलांटिक महासागर के निमग्न तट, जापान के तटवर्ती सागरीय नितल तथा आस्ट्रेलिया व दक्षिण अफ्रीका के मग्न तटों पर हरे पंकों के निक्षेप उल्लेखनीय है ।

16.4.1.2 ज्वालामुखी पदार्थ (Volcanic Deposits)

ज्वालामुखी उद्‌गार से प्राप्त पदार्थों का निक्षेपण सागरों में दो स्रोतों से होता है –

(i) धरातलीय भागों पर ज्वालामुखी के उद्‌गार से प्राप्त पदार्थों में विघटन होने से उनका आकार बारीक हो जाता है तथा वे पवन द्‌वारा उड़ा कर सागर में ले जाये जाते हैं । वर्षा का जल भी इन्हें नदियों के सहारे सागर में पहुँचाता है ।

(ii) महासागरों के अर्न्तगत ज्वालामुखी के उद्भेदन के कारण ज्वालामुखी पदार्थ सीधे सागरों में जमा कर दिये जाते हैं । सागर तटों के पास बड़े कणों वाले ज्वालामुखी पदार्थ मिलते हैं, जिन्हें ज्वालामुखी रेत कहते हैं । इसमें क्वार्टज के स्थान पर लावा के कण अधिक पाये जाते हैं । ज्वालामुखी का जमाव नीली पंक (Blue Mud) के समान होता है । इसका रंग भूरा तथा काला होता है ।

16.4.1.3 जैविक पदार्थों के जमाव (Deposits of Organic Material)

इन्हें कार्बनिक पदार्थ (Carbonic Deposits) भी कहा जाता है । इसके अन्तर्गत सागरीय जीवों व वनस्पतियों के अवशेष को सम्मिलित किया जाता है । महासागरों में प्रवाल कटि तथा चूना प्रधान जीव अधिक पाये जाते है । मरणोपरान्त इनके कंकाल व खोल लहरों द्‌वारा निरन्तर विखण्डित होकर रेत व पंक में परिवर्तित होते रहते हैं । इस प्रकार के निक्षेपों में कैल्शियम कार्बोनेट की मात्रा अधिक पायी जाती है । जबकि स्थल जात अवसादों से निर्मित निक्षेपों में इनका अभाव मिलता है । जैविक पदार्थों से बने अवसादों को दो वर्गों में रखा गया है।

(1) नेरेटिक निक्षेप (Neritic Deposits): इस वर्ग में सागरीय जीव–जन्तुओं की हड्डियों, मछलियों के अवशेष, अस्थिपंजर, सीप, स्पंज आदि के निक्षेप सम्मिलित है । इनका जमाव मुख्य रूप से महाद्‌वीपीय मान तटों पर पाया जाता है, जिनके ऊपर प्राय : भूमिज जमाव का आवरण पाया जाता है । तापक्रम, लवणता व धाराओं आदि स्थानीय कारणों का इन पर प्रभाव पड़ता है ।

(2) पेलेजिक या गहरे सागरीय निक्षेप : ये निक्षेप गहरे समुद्रों में पायी जाने वाली शैवाल (Algae) से उत्पन्न होते हैं । इनमें प्रोटोजोआ (Protozoa), डायटम (Diatom), एम्फीपोड्स (Amphipods), का मुख्य योगदान है । ये पदार्थ कीचड़ के रूप में होते हैं

तथा सिन्धु पंक (Ooze) कहलाते हैं । इनकी उत्पत्ति दो भिन्न प्रकार के जीवों से होती है। इस आधार पर इन्हें दो उप प्रकारों में बांटा जाता है ।

(i) चूना प्रधान ऊज (Calcarious Ooze) : चूना प्रधान ऊज गर्म तथा छिछले (Shalow) सागरों में निम्न अक्षांशों में पाये जाते हैं । इनमें चूने की मात्रा अधिक होती है, इसलिए इन्हें चूना प्रधान ऊज कहते हैं । चूने के पदार्थ की अधिकता के कारण ये पदार्थ अधिक गहराई पर नहीं पाये जाते हैं । क्योंकि ये शीघ्र ही घुल जाते हैं । इनकी उपस्थिति 1000 से 2000 फैदम के बीच महासागरीय तली पर पायी जाती है । इनमें पाये जाने वाले प्रमुख जीव के अवशेषों के आधार पर चूना प्रधान ऊज दो प्रकार के होते हैं ।

(अ) टेरापोड ऊज (Pteropod Ooze): सामान्य विशेषताएँ :–

(i) महत्वपूर्ण मोलस्क जीव टेरोपोड द्वारा इस ऊज का निर्माण होता है ।

(ii) इसमें कैल्शियम की मात्रा 80 प्रतिशत पायी जाती है ।

(iii) इन जीवों के कोश पतले होते हैं, जिनका व्यास 1.5 इन्च होता है तथा आकृति शंक्वाकार होती है ।

(iv) यह ऊज उष्ण तथा उपोष्ण कटिबन्धीय सखी तली के छिछले सागरों में समुद्री कटकों के सहारे 800 से 1000 फैदम की गहराई पर पाये जाते हैं । अधिक गहराई पर ये अदृश्य होने लगते हैं ।

(v) इनके जमाव क्षेत्र प्रमुख रूप से प्रशान्त महासागर के पश्चिम व पूर्वी भागों में अजोर्स के पास, कनारी द्वीप, एण्टीलीस, भूमध्य सागर के अन्त सागरीय कटक के पास तथा हिन्द महासागर में पाये जाते हैं ।

(ब) ग्लोबिजेरिना ऊज (Globigerina Ooze) : सामान्य विशेषताएँ :

(i) यह ऊज फोरामिनिफेरा (Foraminifera) नामक जीव के खोल से निर्मित होती

(ii) इसका रंग प्राय : सफेद होता है, परन्तु इसके अलावा इसका रंग नीला, भूरा पीला तथा हरा भी होता है ।

(iii) इस ऊज में चूना 64.44 प्रतिशत, सिलिका 1.64 प्रतिशत तथा अन्य खनिज 33.89 प्रतिशत होते हैं । खनिजों में ग्लाइकोनाइट प्रमुखता से मिलता है । इसके अतिरिक्त क्वार्ट्ज एवं अभ्रक खनिज भी मिलते हैं ।

(iv) ये ऊज अधिकतर उष्ण एवं समशीतोष्ण कटिबं धीय सागरों में 1500 से 2500 फैदम की गहराई पर पाये जाते हैं । इससे अधिक गहराई पर ये नहीं पाये जाते हैं ।

(v) इनका विस्तार एटलांटिक, प्रशान्त व हिन्द महासागर में लगभग 12.8 करोड़ वर्ग कि.मी. सागरीय क्षेत्र में मिलता है ।

(ii) सिलिका प्रधान ऊज (Siliceous Ooze) : चूने की बजाय सिलिका प्रधान जीवों के अवशेषों से ये ऊज निर्मित होते हैं । चूने की कमी के कारण ये जल में जल्दी नहीं

(iii) घुलते अत : ये ठण्डे तथा गर्म दोनों प्रकार के सागरों में अधिक गहराई तक पाये जाते हैं। इनमें पाये जाने वाले जीवों की विशिष्टताओं के आधार पर इन्हें दो भागों में बाटा गया है।

(अ)रेडियोलेरियन ऊज (Radiolarian Ooze). सामान्य विशेषताएँ

(i) इस ऊज का निर्माण रेडियोलेरिया, डायटम तथा फोरामिनिफेरा जीवों के अवशेषों से होता है ।

(ii) ये ऊज गहरे समुद्रों में 4000 से 10000 मीटर की गहराई पर पाये जाते हैं ।

(iii) इस ऊज में सिलिका अंश अधिक तथा कैल्शियम कार्बोनेट का अंश कम मात्र 15 प्रतिशत होता है ।

(iv) इस ऊज का वितरण प्रशान्त महासागर में अधिक पाया जाता है । इसके अलावा हिन्द महासागर के पूर्वी भाग में तथा अटलांटिक महासागर में छिटपुट रूप में पाये जाते हैं ।

(ब) डायटम ऊज (Diatom Ooze): सामान्य विशेषताएँ:

(i) इस ऊज का निर्माण स्पंज जैसे अत्यंत सूक्ष्म वनस्पति के अवशेषों से होता है । इसमें सिलिका का अंश अधिक होता है तथा कैल्शियम का अंश केवल 3 से 30 प्रतिशत तक ही होता है ।

(ii) इसका रंग हल्का पीला या मटमैला होता है तथा सूखने पर सफेद हो जाता है ।

(iii) यह ऊज उच्च अक्षांशों में गहरे सागरीय भागों में पायी जाती है । इसका वितरण मुख्यत : अण्टार्कटिका महाद्वीप के चारों ओर एवं उत्तरी तथा दक्षिणी प्रशान्त महासागर में 1200 से 4000 मीटर की गहराई तक पायी जाती है ।

6.4.1.4 अजैविक पदार्थ (Inorganic Material)

महासागरों के जल के तापमान में निरन्तर परिवर्तन होते रहने के कारण, रासायनिक परिवर्तन होते रहते हैं । अत : रासायनिक क्रियाओं के परिणामस्वरूप पदार्थों का रासायनिक रूपान्तरण होने से कई अकार्बनिक पदार्थ तथा तत्व महासागरों में जमा हो जाते हैं । इनमें मुख्य रूप से डोलोमाइट्स, सिलिका, लोहा, मैंगनीज, ऑक्साइड, फॉस्फेट तथा पाइराइट प्रमुख है । सागर तली पर इन अकार्बनिक तथा कार्बनिक पदार्थों का मिश्रण इतना गहन हो जाता है कि इन्हें अलग करना कठिन हो जाता है । महासागरीय तली पर इन पदार्थों का जमाव अत्यधिक विस्तृत क्षेत्रों में पाया जाता है । अकार्बनिक पदार्थों में लाल मृतिका (Red Clay) सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है । इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्न है -

(i) महासागरीय तली पर यह करीब 10 करोड़ वर्ग किमी. क्षेत्र पर विस्तृत है जिसका क्षेत्र अगाध सागरीय निक्षेपों में सर्वाधिक है ।

(ii) इसके निर्माण में एल्यूमिनियम के सिलिकेट तथा लोहे के ऑक्साइड की मात्रा सर्वाधिक होती है।

(iii) इसमें ज्वालामुखी के उद्भेदन से प्राप्त पदार्थों का अंश भी होता है तथा कुछ मात्रा में सागरीय जीवों के कम घिसने वाले भाग भी पाये जाते हैं ।

(iv) लाल मृतिका, कोमल, लचीली तथा चिकनी होती है एव सूखने पर लाल भूरे पाउडर में बदल जाती है ।

(v) इसमें कैल्शियम का अंश 6.70 प्रतिशत, सिलिका युक्त जीवों का अंश 239 प्रतिशत व अन्य तत्व (एल्यूमिनियम, सिलिकेट एव लोहांश) 85.35 प्रतिशत तक पाये जाते हैं ।

(vi) समस्त सागरों के गहराई वाले भागों में लाल मृतिका पायी जाती है ।

(vii) लाल मृतिका का वितरण अटलांटिक महासागर में 40^0 उ. से 40^0 द. अक्षांशों के मध्य, पूर्वी हिन्द महासागर व उत्तरी प्रशान्त महासागर के विस्तृत क्षेत्रों पर मिलता है ।

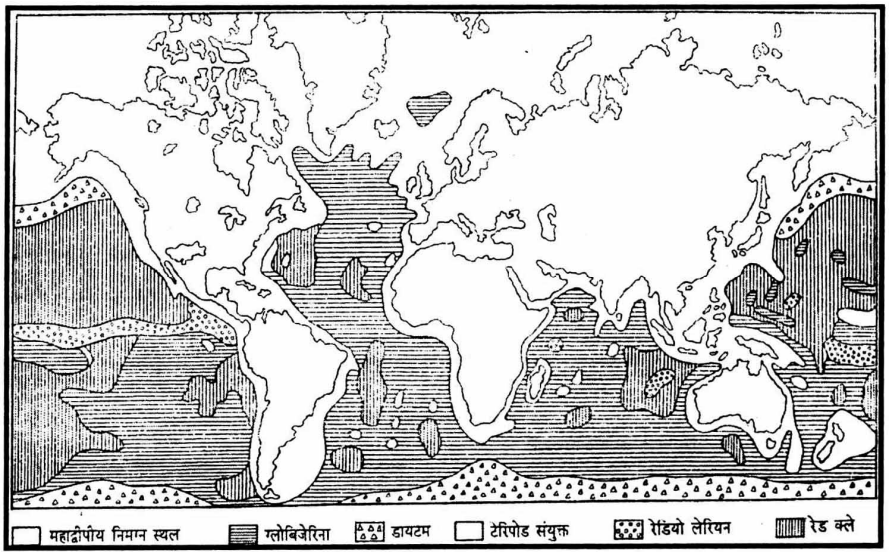

चित्र – 16.6 : महासागरीय तली के निक्षेप

16.4.1.5 उल्का धूलि (Meteoritic Dust)

महासागरीय निक्षेपों में यह भी महत्वपूर्ण अवसाद है । अन्तरिक्ष में उल्काओं के विखण्डन से प्राप्त यह पदार्थ सूक्ष्म धूल के रूप में स्थल व जल पर गिरते रहते हैं । इनमें लौह खनिजों की प्रधानता के कारण इनका रग लाल व काला होता है । इनके जमाव की दर इतनी धीमी होती है कि ये कहीं भी परत के रूप में नहीं पाये जाते बल्कि अन्य प्रकार के अवसादों के साथ अलग कणों के जमाव के रूप में मिलते हैं । एक अनुमान के अनुसार अन्तरिक्ष से प्रतिदिन 1000 से 50000 मैट्रिक टन उल्का धूलि समुद्रों में गिरती रहती है । उल्का धूलि लोहा एव लोहांश युक्त खनिजों के अति बारीक चूर्ण के रूप में होती है, जो सागरीय तली पर पहुंचने से पूर्व जल में घुल जाती है । कभी–कभी इन पदार्थों में शीशे के कण भी पाये जाते हैं, जिन्हें टैक्टाइट्स (Tektites) कहते हैं । ये जल में आसानी से नहीं घुलते तथा इसी रूप में सागर तली पर निक्षेपित हो जाते हैं ।

16.4.2 महासागरीय निक्षेपों का वितरण (Distribution of Ocean Deposits)

महासागरीय निक्षेपों के उर्ध्व तथा क्षैतिजिय वितरण में पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है । महाद्वीपों से दूरी, महासागरीय ताप, लवणता आदि कारकों का निक्षेपों के वितरण पर प्रभाव पड़ता है । यहां मरे तथा जनकिन्स के वर्गीकरण का विवरण प्रस्तुत है ।

1. मुरे का विभाजन : मुरे ने सागरीय निक्षेपों को दो प्रकारों में विभाजित किया है –

(अ) **स्थलीय या भूमिज निक्षेप**

(i) ये जलमग्न तटों तथा ढालों पर पाये जाते हैं ।

(ii) ये निक्षेप मोटे कणों से निर्मित होते हैं ।

(iii) इनका रंग नीला, पीला या लाल होता है ।

(ब) **अगाध सागरीय या पैलेजिक निक्षेप**

(i) महासागरीय तली पर अधिक गहराई में पाये जाते हैं ।

(ii) ये बारीक कणों युक्त होते हैं ।

(iii) इनका रंग लाल व भूरा होता है ।

2. जेनकिन्स का वर्गीकरण : इसने सागरीय निक्षेपों को तीन प्रकारों में बांटा है –

(अ) **तटीय जमाव**

(i) उच्च तथा निम्न ज्वार तल के बीच पाये जाते हैं ।

(ii) ये जमाव स्थलीय तटों के पास पाये जाते हैं ।

(iii) इन निक्षेपों में रेत, बजरी, पक आदि पाये जाते हैं ।

(ब) **छिछले जल के जमाव**

(i) ज्वार की निचली रेखा से 100 फैदम गहराई तक ।

(ii) इसमें भी रेत, बजरी, पंक प्रमुख हैं ।

(स) **अगाध गहराई के जमाव**

(i) पैलेजिक जमाव के स्थल से दूर गहरे सागरों में पाये जाते हैं । इनके पुन : दो रूप हैं । एक में लाल मृतिका, रेडियोलेरियन ऊज, डायटम ऊज, ग्लोबिजोरिना ऊज तथा टेरीपॉड ऊज की अधिकता है जबकि दूसरे में नीली पंक, लाल पंक, हरी पंक, मूंगे की पंक तथा ज्वालामुखी पंक आदि पाये जाते हैं ।

3. स्वेरडुप के अनुसार निक्षेपों का क्षैतिज वितरण : स्वेरडुप ने हिन्द महासागर, प्रशान्त तथा आन्ध्र महासागरीय निक्षेपों के वितरण चित्र 16.7 एव 16.8 में दर्शाए है

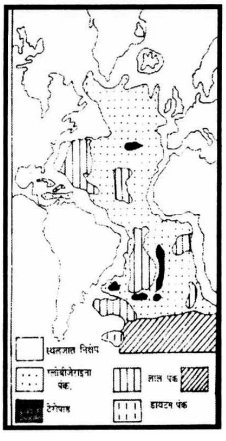

चित्र 16.7 : अन्ध महासागरीय तली के निक्षेप

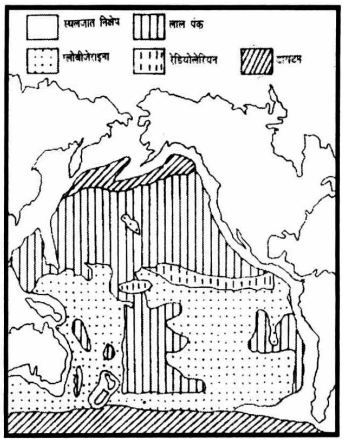

चित्र 16.8 : प्रशान्त महासागरीय तली के निक्षेप के निक्षेप

उपरोक्त मानचित्रों द्वारा प्रशान्त महासागर एवं आन्ध्र महासागरीय एवं हिन्द महासागर की तली के निक्षेपों के विविध तत्वों को स्पष्ट किया है। इन महासागरों की तली पर निक्षेपित विभिन्न अवसादों का विस्तृत विवरण तालिका– 16.6 द्वारा दर्शाया गया है ।

तालिका - 16.6 : महासागरों में निक्षेपों का वितरण (दस लाख वर्ग किमी.)

महासागरों में निक्षेपित पदार्थ	आन्ध्र महासागर		प्रशांत महासागर		हिन्द महासागर		कुल	
	क्षेत्र	%	क्षेत्र	%	क्षेत्र	%	क्षेत्र	%
1.कैल्सियमी पंक								
ग्लोबीजेराइना	40.1	_	51.9	_	34.4	_	_	_
टेरोपॉड	1.5		_	_	_	_	_	_
कुल	41.6	67.5	51.9	36.2	34.4	54.3	127.9	47.7
2.सिलिकायम पंक								
डायटम	4.1	_	_	_	12.6	_	_	_
रेदियोलेरिया		_	_	_	0.3	_	_	_
कुल	4.1	6.7	14.7	14.7	12.9	20.4	38.0	14.2
3.लाल चीका	15.9	25.8	19.1	19.1	16.0	25.3	25.3	38.1
कुल	61.1	100.00	143.2	100.00	63.3	100.00	268.1	100.00

महासागरीय निक्षेपों का उर्ध्व वितरण (Vertical Distribution of Ocean Deposits)

सागरीय निक्षेपों को उर्ध्वाधर वितरण के बारे में फिलिपी (Philippi) ने अपने "गॉस" अभियान के दौरान लिए गए प्रेक्षणों में पाया कि इनमें एक क्रमबद्धता पायी जाती है । तटों के समीप स्थलजात पदार्थ व आगे गहराई में गहन सागरीय निक्षेप पाये जाते हैं। मोन्क हाउस (Monk House) ने महासागरीय निक्षेपों का उर्ध्वाधर वितरण निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है। इसे यहां चित्र– 16.9 द्वारा दर्शाया गया है ।

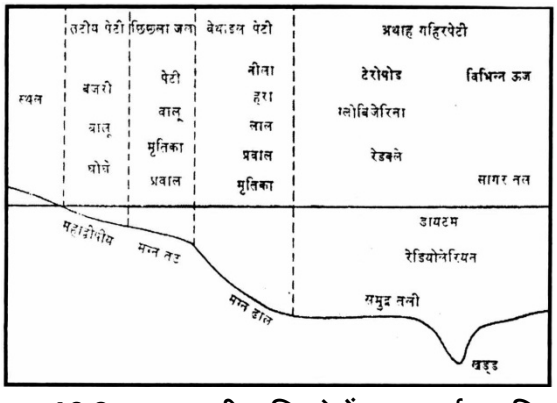

चित्र – 16.9: महासागरीय नि क्षेपों का उर्ध्वाधर वितरण

1. तटीय निक्षेप (Littoral Deposits)

(i) उच्च व निम्न ज्वार रेखा के मध्य बड़े शिलाखण्ड, कंकड़, रेत आदि के निक्षेप स्थित होते हैं ।

(ii) शान्त खाड़ियों में मिट्टी के भी निक्षेप पाये जाते हैं ।

(iii) पदार्थो के निक्षेप में आकार की क्रमबद्धता पायी जाती है अर्थात् तटों के समीप बड़े खण्ड व कण तथा तटों से दूर क्रमश : सूक्ष्म कण पाये जाते हैं ।

2. उथले जल के निक्षेप (Shallow Water Deposits)

(i) मुरे के अनुसार ये निक्षेप उथले सागरों में लगभग 10 मिलियन वर्ग मील क्षेत्र में विस्तृत हैं जो निम्न ज्वार रेखा से 100 फैदम की गहराई तक पाये जाते हैं ।

(ii) ये जमाव सूक्ष्म रेत के रूप में होते हैं जिसमें प्रवालीय निक्षेप, मृतिका एवं पंक भी सम्मिलित हैं ।

(iii) निम्न अक्षांशीय सागरों में कैल्शियम भी जीव युक्त पदार्थों के निक्षेपों की अधिकता पायी जाती है ।

(3) बेथाइल पेटी के निक्षेप (Bathyal Zone Deposits) :

(i) 100 फैदम की गहराई के नीचे महाद्वीपीय मग्न ढाल पर ये निक्षेप पाये जाते हैं । इनमें सूक्ष्म पंक व मूंगे के खोलों के अवशेष प्रमुख हैं ।

(4) अथाह गहराई के जमाव (Abyssal Deposits) : गहन सागरीय मैदानों व गर्तों आदि में पैलेजिक निक्षेप विविध प्रकार की ऊज (Ooze) के रूप में स्थित होते हैं । इनमें क्रमबद्धता पायी जाती है । पैलेजिक निक्षेपों में टेरोपॉड 0.4 प्रतिशत, ग्लोबीजेटिना 29.2 प्रतिशत, डायटम 6.4 प्रतिशत, रेडियोलोरियन 3.4 प्रतिशत तथा लाल चीका 36.1 प्रतिशत क्षेत्र पर विस्तृत है तथा घुलनशील चूना युक्त जैव निक्षेप कम गहराई पर पाये जाते हैं । इसके विपरीत कम घुलनशील सिलिकायुक्त निक्षेप (डायटम, स्पंज आदि) अधिक गहराई पर मिलते हैं । लाल चीका सबसे कम घुलनशील है तथा सर्वाधिक गहराई पर पायी जाती है ।

बोध प्रश्न – 3

1. महासागरीय निक्षेप क्या है?

   .....

   .....

2. सागर के भीतर अवसादों का परिवहन करने वाली प्रमुख शक्तियाँ क्या हैं?

   .....

   .....

3. बजरी के विविध रूप क्या हैं?

   .....

   .....

4. पंकों के प्रमुख रूप क्या है?

.....

.....

5. जैविक या कार्बनिक पदार्थों के अवसाद से बने दो निक्षेप कौन से हैं?

.....

.....

6. सिलिका प्रधान ऊज के कोई दो नाम बताइये ।

.....

.....

7. अकार्बनिक पदार्थों से बने निक्षेप का प्रमुख उदाहरण दीजिए ।

.....

.....

16.5 सारांश (Summary)

महासागरीय नितल के गूढ रहस्यों को जानने की लालसा प्राचीन काल से ही वैज्ञानिकों के लिए अध्ययन का विषय रहा है। 1920 के बाद से नवीनतम तकनीकी ज्ञान व आधुनिक उपकरणों के प्रयोग से इस दिशा में अत्यधिक सफलता मिली है तथा महासागरीय तली अब एक रहस्य ना रहकर गहन अध्ययन का विषय बन गया है । स्थल खण्डों की भांति महासागरीय तली पर भी विशाल पर्वत श्रेणियाँ, पठार, कटक, गहरे समतल मैदान, घाटियां तथा गर्त व गहरी खाईयां पायी जाती है । इन विभिन्न अन्त सागरीय खाका से का विस्तार से अध्ययन किया गया है ।

संसार में चार प्रमुख महासागर व अनेक सीमान्त सागर तथा खाडिया पायी जाती हैं । प्रमुख सागरों में प्रशान्त महासागर, हिन्द महासागर, आन्ध्र महासागर तथा आर्कटिक महासागर है । इनकी तलीय सरंचना में एकरूपता नहीं पायी जाती है, क्योंकि इन महासागरों के तटों पर स्थित महाद्वीप, द्वीपमालाएं तथा इनमें गिरने वाली नदियां, महासागरीय तली पर स्थित विशालकाय कटक (Ridge), जलमग्न पर्वत (Sea Mounts), अन्त :सागरीय कन्दराएँ (Sub Marine Canyaons), महासागरीय तली पर उद्भवित होते रहने वाले ज्वालामुखी तथा भूकम्पीय घटनाएँ व विवर्तनीय शक्तियाँ इन महासागरों की तली का निर्माण व रूपान्तरण करती रहती हैं । इस इकाई में उपरोक्त समस्त सागरीय तली की रचनाओं व घटनाओं का विस्तार से विश्लेषण किया गया है ।

महासागरीय तली पर अनेक रूपों में असंगठित पदार्थों का भी निरन्तर निक्षेपण होता रहता है जिसे स्थलीय भागों से नदियां, पवन व हिमानियाँ बहाकर समुद्र की तली पर पहुंचाती हैं तथा सागरों के आन्तरिक भागों में कार्बनिक तथा अकार्बनिक पदार्थो के विखण्डन व विनियोजन से निर्मित अवसादों का निक्षेपण होता रहता है । सागरीय तली पर एव धरातल पर उद्भेदित होने वाले ज्वालामुखियों से निकले पदार्थ एवं उल्का धूल भी वर्षा के जल के साथ घुलकर समुद्रों की तली में निक्षेपित होती रहती हैं । परन्तु इन निक्षेपों का वितरण समान रूप से सभी महासागरों में नहीं पाया जाता बल्कि जलवायु तथा अन्य भौगोलिक दशायें इसे प्रभावित करती हैं ।

उपरोक्त समस्त जानकारी होने के बाद भी हमारा ज्ञान महासागरों के नितल के उच्चावचों व इन पर निक्षेपित पदार्थों के बारे में अपूर्ण है । अत : इस दिशा में और शोध की आवश्यकता है।

16.6 शब्दावली (Glossary)

- **आर्कटिक महासागर :** उ. अमेरिका तथा यूरेशिया के उत्तर में स्थित बर्फ से ढका महासागर।
- **बैथियल जोन :** महासागरीय तली का 200 से 400 मीटर की गहराई वाला भाग ।
- **चैंलेजन्जर अभियान :** महासागरीय तली के उच्चावचों व अन्य तलों की जानकारी प्राप्त करने के लिए 1872–76 के बीच आधुनिक यंत्रों से सुसज्जित जलयान का नाम ।
- **गोलाभिका :** शैल चूर्ण जिसमें कणों का आकार 64 मिमी. का होता है । ये गोलाश्म से छोटे तथा गुटिका से बड़े होते हैं ।
- **जलमग्न तट :** महाद्वीपीय तटों के पास से 120 मीटर गहराई तक पाये जाने वाले जलमग्न किनारे जिनका ढाल 10 से 30 के मध्य होता है ।
- **विसर्प :** सरिता प्रवाह क्षेत्र में विषम धरातल के कारण असमान निक्षेपण व अपरदन क्रिया से निर्मित मोड़ ।
- **महाद्वीपीय मग्न ढाल :** जलमग्न तट तथा गहरे सागरीय मैदान के बीच तीव्र ढाल वाले मण्डल को "महाद्वीपीय मग्न ढाल" कहते हैं ।
- **कैनियन :** महाद्वीपीय मग्न तटों व ढालों पर संकरी, गहरी तथा खड़ी दीवार युक्त घाटियाँ।
- **वलन :** सम्पीडन बल के प्रभाव से चट्टानों में पड़ने वाले लहरदार मोड़ ।
- **भ्रंशन :** तनाव बलों के प्रभाव से शैलों के क्षैतिज तल का विस्थापन ।
- **पेलेजिक :** महासागरीय तली के गहराई वाले वो भाग जहाँ धरातलीय क्रियाओं का प्रभाव शून्य होता है ।
- **पेलेजिक निक्षेप :** गहरे जलीय निक्षेप या ऊज (Ooze) जिनका निर्माण गहरे जल में पाये जाने वाले जीवों के अवशेषों से होता है ।
- **क्वार्टज :** सिलिका का क्रिस्टलीकृत रूप ।
- **लाल मृतिका :** प्रशान्त, हिन्द महासागर व आन्ध्र महासागरीय तली या एबीसल प्लेन पर 5000 मीटर की गहराई पर पाये जाने वाले निक्षेप । ये ऊज निक्षेपों से भिन्न होते हैं तथा अकार्बनिक प्रकृति के होते हैं ।
- **जलमग्न कटक :** महासागरीय तली के एबीसल मैदान (Abysal Plain) पर स्थित उभार जो जलमग्न रहते हैं ।
- **हिमोढ़ :** हिमानियों के अपरदन से प्राप्त अवसादों के निक्षेपण ।
- **ड्रमलिन :** हिमनदों द्वारा निक्षेपण से निर्मित उल्टी नाव या कटे अण्डों जैसी आकृतियाँ ।

16.7 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference BOOK)

1. सिंह, रविन्द्र : **भौतिक भूगोल,** वसुन्धरा प्रकाशन 2007
2. गौतम, अल्का: **जलवायु एवं समुद्र विज्ञान,** रस्तोगी पब्लिकेशन्स 2006
3. लाल. डी. एस. : **जलवायु एवं समुद्र विज्ञान,** शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद 2001
4. शर्मा, एच. एस., शर्मा, एम. एल. व मिश्रा, आर. एन. : **भौतिक भूगोल,** पंचशील प्रकाशन, जयपुर 2006
5. नेगी, बलबीर सिंह : **जलवायु एवं समुद्र विज्ञान,** केदारनाथ रामनाथ, मेरठ 1991
6. तिक्खा, आर. एन. : **भौतिक भूगोल,** केदारनाथ रामनाथ, मेरठ 1999
7. साईवाल, स्नेह एवं सिंहल : **भौतिक भूगोल,** कॉलेज बुक हाउस, जयपुर 2006
8. Husain, Majid : **Fundamental of Physics Geography;** Rawat Publications, Jaipur 2001
9. Garrison, T. : **Essentials of Oceanography,** Wards worth Publication Co. London 1995
10. King C.A.M. : **Oceanography for Geographers**
11. Macdonal, K. C. : **"The Mid Oceanic Ridge"** Scientific American, June 1990, 72–79
12. Emery, K.O. : **" The Conational Shelves"** Scientific American, June 1969, 107–22

16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न - 1

1. ड्रमलिन
2. उच्चतादर्शी वक्र
3. (स)
4. (द)
5. प्रवालों द्वारा
6. (स)
7. पश्चिमी तटों पर
8. गीहो (Guyots)

बोध प्रश्न – 2

1. मध्य एटलांटिक कटक का भूमध्य रेखा से उत्तर का भाग डोलफिन राइज है तथा दक्षिणी भाग चैंलेजन्जर राइज है ।
2. प्रशान्त महासागर में

3. मेरियाना गर्त
4. (अ)

बोध प्रश्न – 3

1. महासागरीय तली पर अवसादों के जमाव को महासागरीय निक्षेप कहते हैं ।
2. लहरे तथा तरंगें
3. गोलाश्म, गोलाश्मिका, गुटिका, कणिका
4. नीली पंक, लाल पंक, हरी पैक
5. निरेटिक तथा पैलेजिक
6. (i) रेडियो लेरियन ऊज (ii) डायटम ऊज
7. लाल मृतिका

16.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. महासागरीय तली के उच्चावच का वर्णन कीजिए ।
2. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए –
   (i) मध्य अटलांटिक महासागर
   (ii) हिन्द महासागर की तली के उच्चावच
3. अन्त:सागरीय कन्दराओं को समझाइये तथा इनकी उत्पत्ति सम्बधी विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
4. महासागरीय निक्षेप किसे कहते हैं? महासागरीय निक्षेपों का वर्गीकरण कीजिए एवं उनके महासागरीय नितलों पर वितरण का भी संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिए ।
5. संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिए –
   (i) पेलेजिक निक्षेप
   (ii) महाद्वीपीय निमग्न तट

इकाई17 : महासागरीय जल का परिसंचरण : ज्वार एवं धाराएँ (Ocean Water Movement :Tides and Currents)

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 ज्वारभाटा

17.2.1 ज्वारोत्पादक शक्ति

17.2.2 ज्वार के प्रकार

17.2.3 ज्वार की पुनरावृत्ति

17.2.4 ज्वारभाटों का विश्व वितरण प्रतिरूप

17.2.5 ज्वारभाटा उत्पत्ति के सिद्धान्त

17.3 महासागरीय धाराएँ

17.3.1 महासागरीय धाराओं की उत्पत्ति

17.3.2 अन्ध (अटलांटिक) महासागर की धाराएँ

17.3.3 प्रशान्त महासागर की धाराएँ

17.3.4 हिन्दमहासागर की धाराएँ

17.3.5 महासागरीय धाराओं का प्रभाव

17.4 सारांश

17.5 शब्दावली

17.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

17.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

17.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप समझ सकेंगे :

- महासागरीय जल में होने वाली गति परिसंचरण व उनके प्रकार,
- महासागरीय जल में गति / परिसंचरण के कारण
- ज्वारभाटा व उसके विभिन्न रूपों के बारे में,
- ज्वारभाटा पर चन्द्रमा की विभिन्न अवस्थितियों का प्रभाव,
- ज्वारभाटा पर पृथ्वी की सूर्य के सापेक्ष अवस्थियों का प्रभाव,
- महासागरीय जल का प्रवाह / धारा तथा उनका स्थानीय नामकरण,

- महासागरीय धाराओं का प्रभाव ।

17.1 प्रस्तावना (Introduction)

महासागरीय जल के भौतिक गुणों यथा ताप, लवणता एवं घनत्व आदि के वितरण में जल की गतिशीलता का भी योगदान रहता है, जबकि यह गतिशीलता स्वयं अनेक कारकों द्वारा नियंत्रित होती है । महासागरीय जल का परिसंचरण महासागरों के अध्ययन की एक अहम कड़ी है ।

महासागरीय जल तीन प्रकार से गति करता है : – (1) लहरें (Waves) (2) ज्वार भाटा (Tides) एवं धारायें (Currents) । इन तीनों प्रकार की जल गतियों की उत्पत्ति के कारण एवं प्रकृति अलग – अलग हैं, तथापि मोटे तौर पर यह कहना उचित होगा कि जब बाह्य कारक (पवन घर्षण) अथवा आन्तरिक हलचल के परिणामस्वरूप सागरीय जल गति उत्पन्न होती है तो वे सागरीय लहरें है, जबकि बाह्य (वायुमण्डलीय) एंव आन्तरिक कारकों के परिणामस्वरूप विशाल जलराशि में उत्पन्न क्रमिक जल प्रवाह, जिसका विशाल प्रभाव क्षेत्र होता है, सागरीय धाराएँ (Ocean arrests) कहलाती हैं । इनके अतिरिक्त सूर्य एवं चन्द्रमा की गुरूत्वाकर्षण शक्तियों के प्रभाव से विशाल जल क्षेत्र में उत्पन्न आवर्त जल गति ज्वार – भाटा कहलाती हैं । इन जल गतियों में से सागरीय धाराओं एवं ज्वार – भाटा का विशद वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है ।

17.2 ज्वार भाटा (Tides)

सूर्य एवं चन्द्रमा, दोनों ही पिण्डों के आकर्षण प्रभाव से पृथ्वी का जल प्रभावित होता है । चन्द्रमा की अपेक्षाकृत अधिक निकटता होने के कारण इसका आकर्षण प्रभाव भी अपेक्षाकृत अधिक होता है । इन आकाशीय पिण्डों के आकर्षण प्रभाव से पृथ्वी पर स्थित विशाल जल क्षेत्रों के जल स्तर में उतार चढ़ाव उत्पन्न होता है । अत : **"सूर्य एवं चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति के प्रभाव से पृथ्वी के सागरों, महासागरों एवं अन्य जल क्षेत्रों के जल स्तर में उतार–चढ़ाव की इस घटना को ही ज्वार – भाटा कहते है ।"** जल स्तर में उठाव जिसके परिणामस्वरूप जल सागर तट की ओर अग्रसर होता है, को ज्वार (Tide) कहते हैं, जबकि जल स्तर में गिरावट, जिसके परिणामस्वरूप सागरीय जल सागर की ओर लौटता है, को भाटा कहते हैं

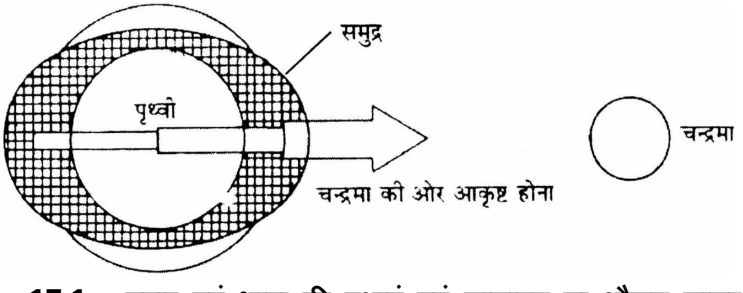

चित्र – 17.1 : ज्वार एवं भाटा की दशाएं एवं सामान्य या औसत सागर तल

यहाँ यह स्पष्टत : समझ लेना चाहिये कि **'ज्वार'** शब्द से अभिप्राय यह है कि किसी बाह्य शक्ति (मुख्यत : आकर्षण) के प्रभाव से वस्तु के पदार्थ की मात्रा में परिवर्तन हुए बिना शक्ति स्रोत के सम्मुख भाग पर पदार्थ में उठाव या उत्थान । इस घटना में सूर्य एवं चंद्रमा दोनों

बाह्य पिण्ड हैं तथा आकर्षण शक्ति के स्रोत हैं । इधर पृथ्वी पर उपस्थित जलराशि की मात्रा में भी कोई परिवर्तन नहीं होता है, तथापि इन दोनों पिण्डों (सूर्य एवं चंद्रमा) की आकर्षण शक्ति के प्रभाव से इनके सम्मुख वाले भाग के जल स्तर में उठाव होने को 'ज्वार' से सम्बोधित किया गया है । एक ओर तथ्य को समझ लेना आवश्यक है कि पृथ्वी पर सम्मुख भाग (सूर्य अथवा चन्द्रमा अथवा दोनों की ओर वाला भाग) में तो ज्वार की दशा उत्पन्न होती है परन्तु इसके एकदम प्रतिकूल बिन्दु (180^0) वाले भाग पर भी इसी प्रकार की ज्वारीय दशा उत्पन्न होती है, जिसके लिए उत्तरदायी कारणों का उल्लेख इसी अध्याय के आगामी पृष्ठों में किया गया है । इसी प्रकार **'भाटा'** की स्थिति ज्वारीय स्थिति के समकोणिक होती है (चित्र – 17.1) ।

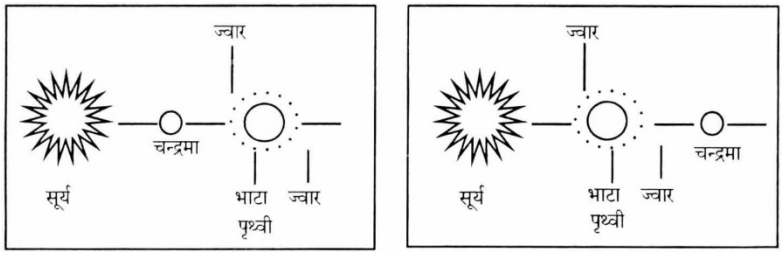

चित्र – 17.2 : (अ) युति की दशा (ब) वियुति की दशा

जल स्तर में उठाव को ज्वार या 'उच्च ज्वार' (High Tides) कहा जाता है तथा जल स्तर में गिरावट को भाटा या 'निम्न ज्वार' (Low Tides) कहते हैं । जहां कहीं भी ज्वार की उत्पत्ति होती है, वहाँ उच्च ज्वार व निम्न ज्वार की दशाऐं एकान्तर पर उत्पन्न होती है । विश्व में अलग –अलग क्षेत्रों यथा आस्ट्रेलिया के दक्षिणी–पश्चिमी भाग में, सुमात्रा, जावा तथा न्यूगिनी के उत्तरी तट के सहारे तथा जापान के पश्चिमी तट पर दिन में एक बार ज्वार की उत्पत्ति होती है जबकि पश्चिमी बंगाल तट,पाकिस्तान के तट, यू.एस.ए. का पूर्वी तट, कनाडा, ब्राजील रण अर्जेन्टीना के तटों पर दिन में दो बार ज्वार आते हैं । इससे हटकर कुछ स्थान ऐसे भी है जहाँ कभी दिन में एक बार तो कभी दो बार ज्वार आते हैं ।

सागरीय किनारे रहने वाले लोगों को आनुभविक आधार पर ज्वार–भाटा के आने का समय ज्ञात रहता है तथा वे इसके अनुरूप अपनी गतिविधियाँ यथा मछली पकड़ना, नौकायन आदि निर्धारित कर लेते हैं ।

17.2.1 ज्वारोत्पादक शक्ति (Tide founding forces or Causes of tides)

सामान्यत : सूर्य एवं चन्द्रमा की आकर्षण शक्तियों को ही ज्वारोत्पादक शक्ति के रूप में जाना जाता हैं । इन पिण्डों का तो ज्वार की उत्पत्ति में मूल योगदान है ही तथापि कुछ एक अन्य कारण भी है जो प्रत्यक्षत : ज्वार उत्पन्न तो नहीं करते परन्तु अप्रत्यक्षत : ज्वार उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है एवं साथ ही ज्वार के परिमाण को प्रभावित करते हैं । ज्वार उत्पत्ति से सम्बन्धित शक्ति या कारक निम्न हैं –

1. गुरूत्वाकर्षण बल
2. केन्द्र पसारी एवं गुरूत्वाकर्षण बल में अन्तर, तथा
3. सूर्य, चन्द्रमा एव पृथ्वी की सापेक्ष स्थिति ।

1. **गुरूत्वाकर्षण बल (Gravitation Force) :** न्यूटन के गुरूत्वाकर्षण के नियमानुसार प्रत्येक पिण्ड में आकर्षण का गुण निहित होता है एव दो अथवा अधिक पिण्डों के मध्य आकर्षण बल कार्य करता है । इन पिण्डों में से किन्ही दो पिण्डों के बीच कार्यरत परस्पर आकर्षण बल अन्य पिण्डों की तुलना में कम ज्यादा हो सकता हैं, जो कि स्वयं पिण्डों में निहित गुणों व सापेक्ष स्थितियों द्वारा निर्धारित होता है । न्यूटन के नियमानुसार किन्हीं दो पिण्डों के मध्य कार्यरत परस्पर आकर्षण बल उन दोनों पिण्डों के द्रव्यमान के गुणनफल के समानुपाती एव दोनों पिण्डों के बीच दूरी के वर्ग के व्युत्क्रमानुपाती होता है, जिसे निम्नानुसार सूत्र रूप में व्यक्त कर सकते हैं :-

$$F\alpha = \frac{m_1 m_2}{r_2} \quad \text{या} \quad F = G\frac{m_1 m_2}{r_2}$$

यहाँ F = दोनों पिण्डों के बीच कार्यरत आकर्षण बल का परिमाण

m_1 = प्रथम पिण्ड का द्रव्यमान

m_2 = द्वितीय पिण्ड का द्रव्यमान

r = दोनों पिण्डों के बीच की दूरी एव

G = गुरूत्व स्थिरांक हैं ।

यहाँ दो स्थितियाँ स्पष्ट हैं–

1. जब दो या अधिक पिण्ड एक तंत्र में विद्यमान हों तो उन दो पिण्डों के मध्य कार्यरत बल का सर्वाधिक परिमाण होगा जिनके कि द्रव्यमानों का गुणनफल सर्वाधिक होगा । परन्तु यह स्थिति तब ही लागू होगी जबकि सभी पिण्ड परस्पर समान दूरी पर स्थित हों (देंखे चित्र – 17.3) ।

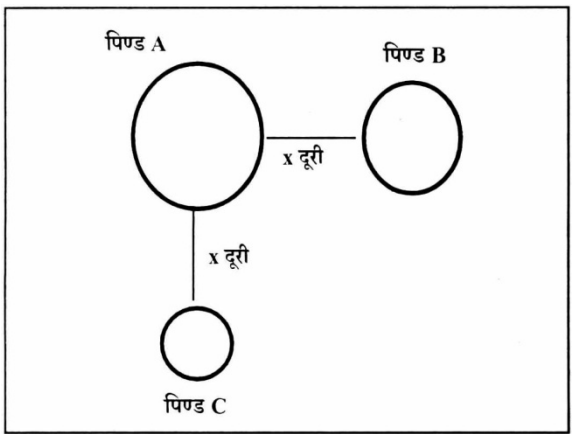

चित्र – 17.3:

यहा इस चित्र में पिण्ड A> पिण्ड B> पिण्ड C परन्तु पिण्ड A की पिण्ड B से तथा पिण्ड A की ही पिण्ड C से दूरी समान है ।

2. दूसरी स्थिति यह है कि पिण्डों के बीच कार्यरत परस्पर आकर्षण बल का मान दूरी के वर्ग के व्युक्रमानुपात में परिवर्तित होता है, अर्थात यदि दो पिण्डों के बीच की दूरी घटाकर आधी

कर दी जाये तो उनके बीच कार्यरत बल का मान चार गुना बढ जायेगा, वहीं यदि दूरी को बढ़ाकर दो गुना कर दिया जाये तो कार्यरत बल केवल एक चौथाई ही रह जायेगा ।

यहाँ यह समझ लेना आवयक है कि सूर्य, चन्द्रमा व पृथ्वी तीनों पिण्डों के सन्दर्भ में सूर्य व पृथ्वी तथा चन्द्रमा व पृथ्वी दो अलग – अलग पिण्ड युग्मों के बीच कार्यरत आकर्षण बल की तुलना पृथ्वी पर उत्पन्न ज्वारीय दशा के सम्बन्ध में की जाती है । निश्चित ही सूर्य पिण्ड सर्वाधिक बड़ा व अधिक द्रव्यमान वाला है तथा पृथ्वी भी चन्द्रमा की तुलना में बड़ी है । अत : प्रथम उपबन्धों के अनुसार तो इन दोनों के मध्य कार्यरत बल का मान द्वितीय युग्म (पृथ्वी व चन्द्रमा) की अपेक्षा अधिक होना चाहिये, परन्तु इन दोनों युग्मों में द्वितीय उपबन्ध (दूरी) के कारण ऐसा नहीं होता है । सूर्य जो कि चन्द्रमा की तुलना में पृथ्वी से लगभग 389 गुणा अधिक दूर है, अत : इसकी आकर्षण शक्ति भी क्षीण हो जाती है । यही कारण है कि उपरोक्त दोनो पिण्ड युग्मों में से पृथ्वी व चन्द्रमा के बीच कार्यरत आकर्षण बल अधिक है । अत : पृथ्वी पर उत्पन्न ज्वार में चन्द्रमा का गुरूत्वाकर्षण बल अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी रहता है । मोटे तौर पर चन्द्रमा का गुरूत्वाकर्षण बल अपेक्षाकृत लगभग 2.171 गुणा अधिक है, परिणामत : चन्द्रमा व सूर्य की ज्वारोत्पादक शक्तियाँ क्रमश :11:5 के अनुपात में कार्यरत हैं ।

गुरूत्वाकर्षण नियम के उपरोक्त दोनों उपबन्धों (द्रव्यमान व दूरी) के अतिरिक्त एक और आवश्यक तत्व है, प्रथ्वी की सतह व केन्द्र पर सक्रिय आकर्षण शक्ति का अन्तर । चन्द्रमा, पृथ्वी व सुर्य के सन्दर्भ में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार हैं –

(अ) चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है व निकटस्थ आकाशीय पिण्ड है, जिसका व्यास लगभग 3490 किमी. व द्रव्यमान पृथ्वी की तुलना में 1781 वां भाग है ।

(ब) चन्द्रमा की पृथ्वी से औसत दूरी लगभग 3.84 लाख किमी. है, परन्तु यह पृथ्वी के चारों ओर एक अण्डाकार वृत में परिक्रमा करता है, जिसके कारण यह अपनी एक परिक्रमा पूर्ण करने में एक बार पृथ्वी के निकटस्थ स्थिति (लगभग 3.5 लाख किमी.) में आता है, जिसे उपभू (Perigee) कहते हैं, तथा एक बार पृथ्वी के सापेक्ष दूरस्थ स्थिति (लगभग 4.04 लाख किमी.) में पहुँचता है, जिसे अपभू (Apigee) कहा जाता है । चन्द्रमा की पृथ्वी के सापेक्ष ये दोनों स्थितियां ज्वार की तीव्रता में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं, जिनका वर्णन आगे किया गया है ।

(स) सूर्य का द्रव्यमान चन्द्रमा की अपेक्षा लगभग 2.6×10^7 गुणा अधिक है, परन्तु सूर्य, चन्द्रमा की तुलना में पृथ्वी के लगभग 389 गुना अधिक दूर है । इन दोनों (द्रव्यमान रख दूरी) के कारण चन्द्रमा एवं सूर्य की पृथ्वी पर कार्यरत गुरूत्वाकर्षण शक्ति अलग–अलग है तथा इसका अनुपात 11:5 है ।

2. केन्द्रापसारी एवं गुरूत्वाकर्षण बल में अन्तर : पृथ्वी पर उपस्थित जल में उत्पन्न ज्वार का एक अन्य कारण पृथ्वी व चन्द्रमा की केन्द्रीयसारी शक्ति भी है, सामान्य स्थिति में पृथ्वी की सतह पर आकर्षण एवं केन्द्रोपसारी शक्तियों में संतुलन रहने के कारण जल सतह में

सामान्य दशा बनी रहती है । परन्तु पृथ्वी का वह भाग जो चन्द्रमा के सम्मुख होता है, वहां पर आकर्षण अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी हो जाती है जबकि इसके ठीक प्रतिकूल बिन्दु पर पृथ्वी की केन्द्रापसारी शक्ति अधिक सक्रिय हो जाती है । इस प्रकार पृथ्वी के केन्द्र से चन्द्रमा के केन्द्र को मिलाने वाली रेखा के सहारे पृथ्वी पर सम्मुख एवं विमुख (चन्द्रमा के सापेक्ष) भागों में ज्वार उत्पन्न हो जाता है, जो कि पृथ्वी के घूर्णन के साथ–साथ आगे की ओर खिसकता रहता है । ज्ञात रहे कि पृथ्वी एवं चन्द्रमा दोनों ही गुरूत्व के एक ही केन्द्र के चारों ओर अपनी धुरी पर परिक्रमण करते हैं । यह सामान्य गुरूत्व केन्द्र पृथ्वी की सतह के लगभग 100 किमी. नीचे स्थित है ।

3. **सूर्य, चन्द्रमा एवं पृथ्वी की सापेक्ष स्थिति :** मूलत : यह कारण ज्वार की तीव्रता को प्रभावित करने वाला कारक है । क्योंकि जब सूर्य, चन्द्रमा एवं पृथ्वी एक ही रेखा के सहारे स्थित होते हैं (युति–वियुति की दशाऐं), तो दीर्घ ज्वार उत्पन्न होते हैं । इन आकाशीय पिण्डों के इस प्रभाव को इस प्रकार समझा जा सकता हैं । अमावस्या एव पूर्णिमा के दिन सूर्य, चन्द्रमा एवं पृथ्वी एक सीधी रेखा के सहारे निम्न चित्रानुसार अवस्थित होते हें (चित्र– 17. 4)

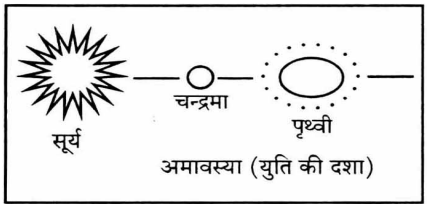

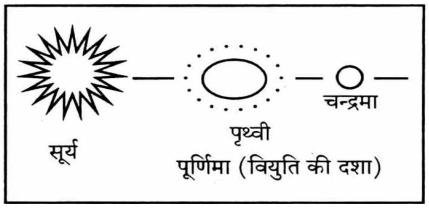

चित्र – 17.4: अमावश्या की दशा चित्र – 17. 5 : पूर्णिमा की दशा

इनमें से अमावस्या के दिन (चित्र 17.4) जब सूर्य एवं चन्द्रमा दोनों ही पृथ्वी के एक ओर होते हैं तो दोनों की आकर्षण शक्ति सामूहिक रूप से एक ही रेखा के सहारे सक्रिय होती है । परिणामत : पृथ्वी पर इनका प्रभावी सक्रिय प्रभाव का परिमाण बढ़ जाता है । अत : सामान्य से अधिक ऊँचा ज्वार उत्पन्न होता है । इसी प्रकार पूर्णिमा के दिन (चित्र 17.5) जब सूर्य, चन्द्रमा व पृथ्वी एक ही रेखा के सहारे स्थित होते हैं परन्तु सूर्य एव चन्द्रमा की अवस्थिति परस्पर विपरीत दिशाओं में होती है । इस स्थिति में सूर्य एवं चन्द्रमा की आकर्षण शक्तियां विपरीत दिशाओं से एक उभयनिष्ठ रेखा के सहारे सक्रिय होती है । परन्तु पृथ्वी पर दोनों ही ओर कार्यरत प्रभावी सक्रिय बल का मान समान होता है । यहा न्यूटन का तीसरा नियम प्रभावी होता है । सूर्य जिस शक्ति से अपना आकर्षण बल पृथ्वी पर आरोपित करता है । उसके समान परिमाण का बल विपरीत दिशा में पृथ्वी के दूसरी ओर सक्रिय हो जाता है । इसके विपरीत यदि सूर्य, चन्द्रमा एवं पृथ्वी परस्पर समकोणिक अवस्था में स्थित होते हैं तो लघु ज्वार उत्पन्न होता है (चित्र –17.6) ।

कृष्ण पक्ष की सप्तमी– अष्टमी के दिन शुक्ल पक्ष की सप्तमी– अष्टमी के दिन

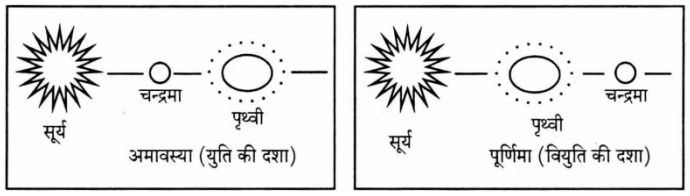

(अ) **(ब)**

चित्र – 17.6 : (अ) कृष्ण पक्ष की सप्तमी– अष्टमी के दिन
(ब) शुक्ल पक्ष की सप्तमी– अष्टमी के दिन

17.2.2 ज्वार के प्रकार (Types of Tides)

पृथ्वी, चन्द्रमा एवं सूर्य की सापेक्ष स्थितियों रण दूरियों के आधार पर ज्वारों के निम्न प्रकार होते हैं –

(i) दीर्घ एवं लघु ज्वार

(ii) उपभू एवं अपभू ज्वार

(iii) उपसौर एवं लघु ज्वार

(iv) अयन वृतीय एवं विषुव ज्वार

जबकि ज्वार की अवधि या पुनरावृत्ति के आधार पर ज्वारों के प्रकार निम्न हैं –

(v) दैनिक ज्वार

(vi) अर्द्ध दैनिक ज्वार

(vii) मिश्रित ज्वार

(i) **दीर्घ एवं लघु ज्वार (Spring and Neap Tides)**

दीर्घ एव लघु ज्वारों का परिचय पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है । जब पृथ्वी सूर्य एवं चन्द्रमा परस्पर सीधी रेखा के सहारे स्थित होते हैं तो इस दशा को संयुक्त रूप से युति–वियुति (Syzygy) कहा जाता है । इसमें से अमावस्या को सूर्य व चन्द्रमा दोनों ही पृथ्वी के एक ओर स्थित होते है, इस दशा को युति कहा जाता है । जबकि पूर्णिमा को सूर्य व चन्द्रमा परस्पर विपरीत दिशाओं में अवस्थित होते हैं, अर्थात् पृथ्वी के एक ओर सूर्य एवं दूसरी ओर चन्द्रमा अवस्थित होता है । सूर्य, चन्द्रमा एवं पृथ्वी के इस विन्यास को वियुति (apposion) कहा जाता है । इन दोनों ही दशाओं में परिणामी सक्रिय आकर्षण बल का परिमाण सामान्य से अधिक होता है और परिणामत : सामान्य से लगभग 20 प्रतिशत अधिक ऊँचे ज्वार उत्पन्न होते हैं । इन्हें दीर्घ अथवा वृहत ज्वार कहते हैं । जबकि, सप्तमी – अष्टमी के दिन जब सूर्य व चन्द्रमा पृथ्वी के सापेक्ष समकोणिक अवस्था में स्थित होते हैं तो उपरोक्त वर्णनानुसार सामान्य से 20 प्रतिशत नीचे ज्वार की उत्पत्ति होती है । इन्हें लघुज्वार कहा जाता है । यहां यह तथ्य उल्लेखनीय है कि दीर्घ ज्वार की दशा में ज्वार परिसर में वृद्धि हो जाती है, जबकि लघु ज्वार की दशा में ज्वारीय परिसर कम हो जाता है, अर्थात् ज्वार की ऊँचाई कम एवं भाटा की गहराई भी कम हो जाती है ।

(ii) **उपभू एवं अपभू ज्वार (Parigean and Apogean Tides)**

पृथ्वी के परिक्रमण पथ की भांति चन्द्रमा का परिक्रमण पथ भी अण्डाकार है । इसलिए चन्द्रमा, पृथ्वी की परिक्रमा करते हुए परिक्रमण अवधि में एक बार पृथ्वी के निकटतम एवं एक बार दूरस्थ दशाओं में पहुंचता है, जिन्हें क्रमश : उपभू एवं अपभू कहा जाता है । उपभू की दशा में इसकी आकर्षण शक्ति बढ जाती है, परिणामत : सामान्य से ऊंचे ज्वार आते हैं । इसी प्रकार अपभू दशा में जबकि चन्द्रमा और पृथ्वी के बीच की दूरी बढ़ जाती है तो चन्द्रमा का आकर्षण बल कम हो जाता है एवं परिणामत : सामान्य से कम ऊँचे ज्वार उत्पन्न होते हैं ।

जब उपभू एवं युति–वियुति को दशाएँ साथ–साथ आती हैं तो अति उच्च ज्वारों की उत्पत्ति होती है । जबकि उपभू व चन्द्र समकोणिक (Lunar Quadrature) की दशाएँ साथ–साथ आती हैं तो सामान्य से थोड़े ऊँचे ज्वारों की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार जब अपभू व युति–वियुति की दशाऐं साथ–साथ आती है तो सामान्य से थोड़े ऊँचे ज्वारों की उत्पत्ति होती है । जबकि अपभू व चन्द्र समकोणिक के सामूहिक प्रभाव से अति लघु ज्वारों की उत्पत्ति होती है । साराशत : यह कह सकते हैं कि जब दो अनुकूल दशाएँ (यथा–युति–वियुति एवं उपभू ,उपभू एवं उपसौर आदि) एक साथ उत्पन्न होती हैं तो ज्वारीय तीव्रता एवं ज्वार परिसर अधिकतम होते हैं, जबकि दो प्रतिकूल दशाओं (अपभू – अपसौर, अपभू–चन्द्र समकोणिक दशाऐं आदि) के साथ–साथ उपस्थित होने पर ज्वारीय तीव्रता एवं ज्वार परिसर न्यूनतम होते हैं ।

यही प्रक्रिया चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति द्वारा होती है । यहाँ यह मान लिया जाये कि सूर्य की आकर्षण शक्ति का परिमाण s_1 तथा चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति का परिमाण m_1 हो तो इनकी प्रतिक्रियाकारी शक्तियां क्रमश : $(-)\, s_1$ तथा $(-)\, m_1$ होगी । जिनका परिमाण तो समान होगा परन्तु दिशाएँ विपरीत होगी । इस प्रकार दोनों की आकर्षण शक्तियों का पृथ्वी के दोनों ओर प्रभाव समान हो जाता है और पुन : अमावस्या की भांति ही सामान्य से उच्च ज्वार उत्पन होता है, क्योंकि दोनों ओर कार्यरत पीरणमी आकर्षण बल का मान सूर्य एवं चन्द्रमा की आकर्षण शक्तियों का योग होता है ।

$$s_1 + (-m_1) = m_1 + (-s_1)$$

उपरोक्त अवस्थाओं के विपरीत सूर्य, चन्द्रमा एवं पृथ्वी की समकोणिक अवस्थिति में ज्वार की तीव्रता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । सप्तमी एवं अष्टमी के मध्य की स्थिति में सूर्य, चन्द्रमा एवं पृथ्वी की अवस्थिति इस प्रकार होती है कि वे परस्पर 900 का कोण बनाते हैं (चित्र – 17.6) । इन दिशाओं में सूर्य व चन्द्रमा की आकर्षण शक्तियां भी समकोणिक दिशाओं के सहारे कार्य करती हैं । जिसके परिणामस्वरूप ये एक–दूसरे के प्रभाव को कम करती हैं । चन्द्रमा, पृथ्वी के अधिक निकट होने के कारण उसका आकर्षण प्रभाव पृथ्वी पर अधिक होता है, परन्तु सूर्य के आकर्षण व समकोणिक क्रियान्वयन के प्रभाव से चन्द्रमा की परिणामी आकर्षण शक्ति का मान सामान्य से कम रह जाता है और इस प्रकार घटी हुई आकर्षण शक्ति के प्रभाव से कमजोर ज्वार उत्पन्न होता है, जिसे लघु ज्वार कहा जाता है ।

(iii) **उपसौर एवं अपसौर ज्वार (Perihelean and Apogean)**

पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करते हुये एक बार सूर्य के निकटस्थ तथा एक बार दूरस्थ स्थिति में पहुंचती है । पृथ्वी पीरक्रमण की क्रिया में एक दीर्घ वृताकार पथ का अनुसरण करती है । इसलिये इसकी सूर्य के सापेक्ष दूरी में परिवर्तन होता रहता है । पृथ्वी की सूर्य से निकटतम दूरी की अवस्था उपसौर या सूर्य नीच अवस्था कहलाती है, जबकि इसकी सूर्य से अधिकतम दूरी की स्थिति को अपसौर या सूर्य उच्च की अवस्था कहते हैं ।

उपसौर की अवस्था में पृथ्वी व सूर्य के बीच की दूरी घटने के कारण सूर्य की ज्वारीय शक्ति में वृद्धि हो जाती है और परिणामत : सामान्य से उच्च ज्वार उत्पन्न होते हैं । यदि यह दशा उप–भू की दशा के साथ उत्पन्न हो जाये तो असामान्य ऊँचे ज्वार उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार अपसौर की दशा में चूँकि सूर्य व पृथ्वी के बीच की दूरी बढ़ जाती है अत : सूर्य की ज्वारीय शक्ति का हास होता है और सामान्य से कम ऊँचे ज्वार उत्पन्न होते है । इस अवस्था में ज्वारीय परिसर कम हो जाता है ।

(iv) **अयनवृत्तीय एवं विषुव ज्वार (Tropical and Equatorial Tides)**

चन्द्रमा को पृथ्वी की एक पीरक्रमा पूरी करने में लगने वाले समय की दो अलग – अलग अभिव्यक्तियाँ हैं । तारे की स्थिति के अनुसार चन्द्रमा की परिक्रमण अवधि $27\frac{1}{2}$ दिन है । इस अवधि को नक्षत्र मास (Sidereal Month) कहा जाता है, जबकि सूर्य के सन्दर्भ में चन्द्रमा को पृथ्वी की एक परिक्रमा करने में $29\frac{1}{2}$ दिन का समय लगता है । इस अवधि को संयुति मास (Synodic Month) कहा जाता है । इन दोनों अवधियों में अन्तर इसलिये होता है क्योंकि जब चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा होता है तो उस अवधि में पृथ्वी भी अपने परिक्रमण पथ पर आगे बढ़ रही होती है और नक्षत्र मास की अवधि में पृथ्वी लगभग 27^0 से थोड़े अधिक की कोणीय दूरी तय कर चुकी होती है । इस अतिरिक्त दूरी को तय करने में चन्द्रमा को लगभग 2 दिन का समय लगता है ओर इस प्रकार संयुति मास $29\frac{1}{2}$ दिन का हो जाता है ।

चन्द्रमा अपनी परिक्रमण अवधि में विषुवत रेखा के उत्तर व दक्षिण की ओर विस्थापित होता रहता है । जब इसका झुकाव विषुवत रेरवा के उत्तर में अधिक होता है तथा इसकी ज्वारीय शक्ति कर्क रेखा के साथ अधिकतम सक्रिय होती है तो इस स्थिति में कर्क रेखा पर उच्च ज्वार उत्पन्न होता है, जो इस रेखा के पश्चिम की ओर अग्रसर हो जाता है । ठीक इसी समय कर्क रेखा के विपरीत मकर रेखा पर भी उच्च ज्वार उत्पन्न होता है, जो कि सन्तुलनकारी शक्तियों का प्रभाव होता है । 15 दिन की अवधि के बाद चन्द्रमा जब विषुवत रेखा के दक्षिणी भाग में विस्थापित हो जाता है, तो इसकी ज्वारीय शक्ति मकर रेखा के सहारे सक्रिय होती है, परिणामत : मकर रेखा पर उच्च ज्वार उत्पन्न होता है, जो कि पश्चिम की ओर गतिशील होता है । ठीक इसी समय सन्तुलनकारी शक्तियों के प्रभाव से कर्क रेखा पर भी उच्च ज्वार उत्पन्न होता है । इन कर्क एवं मकर रेखाओं पर उत्पन्न होने वाले ज्वारों को अयनवृत्तीय ज्वार कहते हैं । ये एक महीने में दो बार आते हैं । कर्क रेखा से मकर रेखा की ओर तथा पुन : मकर रेखा

से कर्क रेखा की ओर लौटते हुये चन्द्रमा के विस्थापन की विभिन्न दशाओं के प्रभाव से अयनवृत्तीय ज्वार परिसर में क्रमागत परिवर्तन होता जाता है । जब चन्द्रमा कर्क अथवा मकर रेखा के ठीक ऊपर होता है तो अयनवृत्तीय ज्वार अधिक ऊँचा होता है तथा ज्वारीय परिसर अधिक होता है । अयनवृत्तों से भूमध्य रेखा की और विस्थापन के साथ –साथ ज्वार की उच्चता एवं ज्वारीय परिसर में कमी होती जाती है । इसके विपरीत जब चन्द्रमा का विस्थापन विषुवत रेखा से अयन वृत्तों की ओर होता है तो ज्वारीय उच्चता एवं ज्वारीय परीसर दोनों में ही क्रमश : वृद्धि होती जाती है ।

इस विस्थापन प्रक्रिया में एक माह की अवधि में चन्द्रमा दो बार विषुवत रेखा पर अवस्थित होता है । इस दशा में विषुवत रेखा पर सामान्य से ऊँचे ज्वार उत्पन्न होते हैं, इन्हें विषुवत ज्वार कहा जाता है ।

17.2.3 ज्वार भाटे की पुनरावृत्ति (Recurrence of Tides)

सामान्यत : यह अपेक्षा की जाती है कि जिस स्थान पर उच्च अथवा निम्न ज्वार आता है, तो उसी स्थान पर 12 घण्टे पश्चात ज्वार की समान दशा की पुन : उत्पत्ति अथवा पुनरावृत्ति होनी चाहिये । ऐसा इसलिए अपेक्षित समझा जाता है क्योंकि पृथ्वी को अपनी धुरी पर एक घूर्णन पूर्ण करने में 24 घण्टे का समय लग जाता है । किसी स्थान पर ज्वार की जो भी दशा होती है, इसके ठीक प्रतिध्रुवीय स्थान पर भी संतुलनकारी बलों के प्रभाव से वही दशा उत्पन्न होती है । अत : 24 घण्टे की अवधि में दो बार समान ज्वारीय दशा की उत्पत्ति अपेक्षित होती है । इसलिए दो क्रमागत उच्च ज्वार अथवा निम्न ज्वार की दशाओं के मध्य 12 घण्टे एव क्रमागत उच्च एवं निम्न ज्वार की दशाओं के मध्य 6 घण्टे का अन्तराल अपेक्षित रहता है ।

परन्तु वास्तविकता यह है कि पृथ्वी तो अपनी धुरी पर एक परिक्रमण 24 घण्टे में पूर्ण कर लेती है तथा चन्द्रमा, जो कि पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा होता है, भी अपने परिक्रमण पथ पर कुछ दूरी तय कर चुका होता है । चन्द्रमा, पृथ्वी की एक परिक्रमा $27\frac{1}{2}$ दिन में पूरी करता है, अत : वह पृथ्वी की एक परिक्रमण अवधि (24 घण्टे अथावा एक दिन) में अपने परिक्रमण पथ का $\frac{1}{27}.5$ वां भाग कर लेता है जो कि घूर्णन वेग के 52 मिनट की अवधि के बराबर है । इसलिए पृथ्वी पर स्थित किसी स्थान को चन्द्रमा की सम्मुख स्थिति में पहुँचने में प्रत्येक घूर्णन के बाद 52 मिनट का अतिरिक्त समय लगता है । परन्तु 24 घण्टे में दो बार समान ज्वारीय दशा वाले स्थानों पर यह अन्तर मात्र 26 मिनट ही रह जाता है, क्योंकि उन स्थानों पर चन्द्रमा के सम्मुख एवं विमुख दोनों ही दशाओं में ज्वार उत्पन्न होता है । चन्द्रमा के परिक्रमण पथ का $\frac{1}{27}.5$ वां भाग पृथ्वी के घूर्णन वेग से 52 मिनिट की अवधि के बराबर होने की गणना निम्न प्रकार समझी जा सकती है –

$$24 \text{ घंटे} = 6 \times 24 \text{ मिनट} = 1440 \text{ मिनट}$$

$$1440 \text{ मिनट} \times 27\frac{1}{2} \text{ वां भाग } 52.36 \text{ मिनिट (लगभग 52 मिनट)}$$

अत : पृथ्वी पर जिस स्थान पर दिन में केवल एक ही ज्वार की उत्पत्ति होती है वहां पर ज्वार की उच्च अथवा निम्न दशाओं की पुनरावृत्ति 24 घंटे 52 मिनिट बाद ही होती है तथा जहां पर दिन में दो बार ज्वार की उत्पत्ति (सम्मुख एवं विमुख स्थितियों के कारण) होती है वहां पर 12 घंटे 26 मिनिट बाद ज्वार की समान दशा (उच्च अथवा निम्न) की पुनरावृत्ति होती है ।

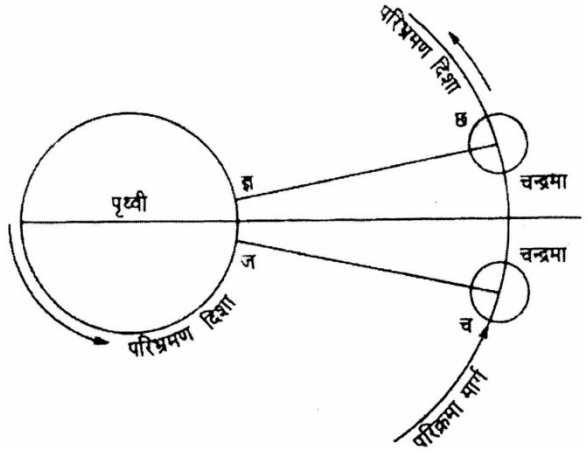

चित्र– 17-7 : चन्द्रमा तथा पृथ्वी की परिभ्रमण दशा

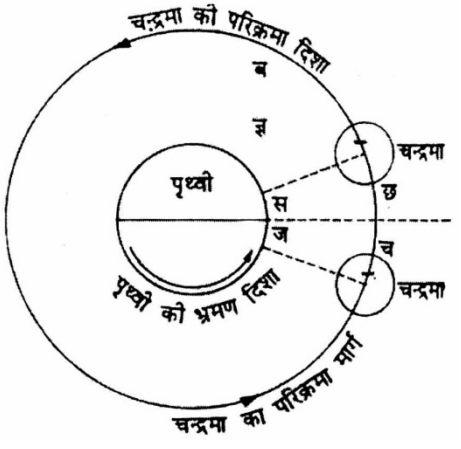

चित्र– 17–7 : ज्वार आने का समय

17.2.4 ज्वार–भाटों का विश्व वितरण (World distribution of tides)

विश्व में अलग–अलग भागो में अलग–अलग प्रकार के ज्वार–भाटे अनुभव किए जाते हैं जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि चन्द्रमा व पृथ्वी के बीच की दूरी दोनों पिण्डों की गतियों तथा सापेक्ष स्थितियों, सूर्य की दूरी व सागरीय विस्तार आदि कारकों का ज्वार – भाटा के प्रकार पर प्रभाव पड़ता है । विश्व में ज्वार – भाटों के निम्न तीन प्रारूप बताए गए हैं, जो कि निम्न प्रकार हैं –

1. **दैनिक ज्वार (Types of Tides) :** ये ज्वार दिन में केवल एक बार आते हैं । दो क्रमागत उच्च अथवा निम्न ज्वारों के बीच 24 घंटे 52 मिनिट का समय रहता है । हिन्द महासागर में ऑस्ट्रेलिया के दक्षिणी –पश्चिमी भाग, प्रशान्त महासागर में जावा, सुमात्रा तथा न्यूगिनी के उत्तरी तट, वियतनाम के पूर्वी तट, जापान सागर में जापान के पश्चिमी तट, बोर्नियों के दक्षिणी तट, श्याम की खाड़ी आदि, इसी प्रकार हिन्द महासागर में मैक्सिको की खाडी में फ्लोरिडा तट से लेकर पनामा तट तक दैनिक ज्वार आते हैं ।
2. **अर्द्ध–दैनिक ज्वार (Semi durinal tide) :** जब दिन में दो बार ज्वार की उत्पत्ति होती है तो ज्वार का यह प्रकार अर्द्ध दैनिक ज्वार कहलाता है । अर्द्ध दैनिक ज्वार विषुवतीय क्षेत्र में आते हैं तथा यह प्रवृत्ति ध्रुवों की ओर चलने पर घटती जाती है । यहाँ यह भी स्पष्ट है कि सम्पूर्ण विषुवतीय क्षेत्र में अर्द्ध दैनिक ज्वार नहीं आते हैं । इस प्रकार के ज्वार हिन्द महासागर में पश्चिमी बंगाल तट, पाकिस्तान के पश्चिमी तट, पूर्वी अफ्रीकी तट, प्रशान्त महासागर में न्यूजीलैण्ड द्वीपों के समीप तथा अन्ध महासागर में कनाडा, हडसन की खाड़ी, वेनेजुएला के उत्तरी तट, यू.एस.ए. के पूर्वी तट, अफ्रीकी पश्चिमी तट, यूरोपीय पश्चिमी तट, अर्जेन्टीना तथा ब्रिटिश द्वीप समूहों के समीप इस प्रकार के ज्वार आते हैं । इन स्थानों पर दो क्रमागत उच्च ज्वारों या निम्न ज्वारों के बीच 12 घंटे 26 मिनट का अन्तर रहता है ।

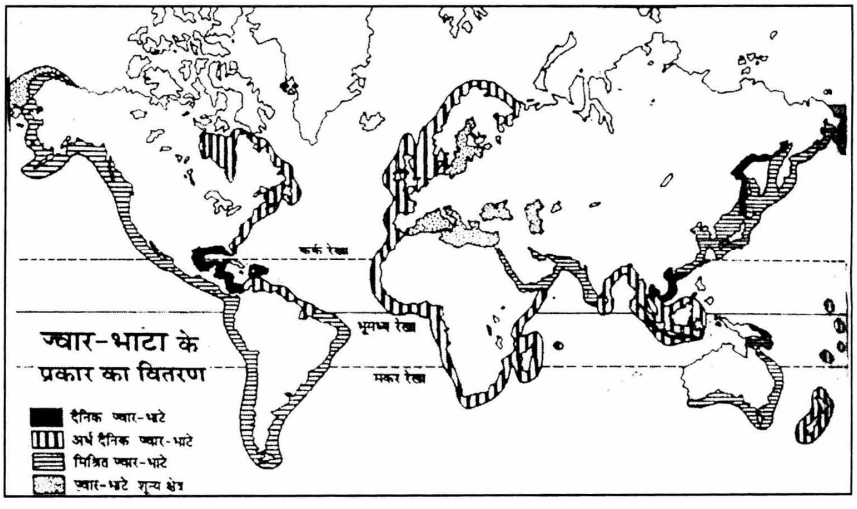

चित्र – 17–9 : ज्वार भाटा के प्रकार का वितरण

3. **मिश्रित ज्वार (Mixed Tides)** : विश्व में कुछ ऐसे भी स्थान हैं जहाँ दिन में कभी एक बार तो कभी दो बार ज्वार की उत्पत्ति होती है, अर्थात् ये क्षेत्र दैनिक व अर्द्ध दैनिक दोनों ही प्रकार के ज्वार अनुभव करते हैं । हिन्द महासागर में अरब सागर तट, भारतीय क्षेत्र में आंध्रप्रदेश तट व तमिलनाडु तट, जावा व सुमात्रा के दक्षिणी–पश्चिमी तट, श्रीलंका तट व मॉरीशस द्वीपों के चारों ओर, प्रशान्त महासागर में जापान का पूर्वी तट, कोरिया, चीन तट, बेरिंग सागर, ओखोटस्क सागर, कनाडा, यू.एस.ए., मध्य अमेरिका, पीरू व चिली के पश्चिमी तटों, ऑस्ट्रेलिया के पूर्वी तट तथा हवाई द्वीपों के समीप, अंध महासागर में

फाकलैण्ड, आर्कनीज, ब्राजील के पूर्वी तट एवं अर्जेण्टीना के उत्तरी–पूर्वी तट पर इस प्रकार के ज्वार आते हैं ।

उपरोक्त के अतिरिक्त विश्व में ऐसे भी स्थान है जहाँ ज्वार या तो नहीं आते या अति क्षीण ज्वार आते हैं । कैरेबियन सागर, बाल्टिक सागर, भू–मध्य सागर, काला सागर, कैस्पियन सागर तथा अलास्का का उत्तरी तट ऐसे ही क्षेत्र हैं ।

17.2.5 ज्वार–भाटा उत्पत्ति के सिद्धान्त (Theory of origin of tide)

ज्वारभाटा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्न 4 मत प्रचलित हैं –

1. **न्यूटन का सन्तुलन सिद्धान्त (Newton's Equilibrium theory) :** न्यूटन के अनुसार प्रत्येक पिण्ड में गुरूत्वाकर्षण की प्रकृति होती हैं । पृथ्वी, चन्द्रमा और सूर्य के बीच भी आकर्षण की शक्ति कार्यरत है । सूर्य का आकर्षण बल उसके आकार व द्रव्यमान के अनुरूप चन्द्रमा की अपेक्षा अधिक है, परन्तु पृथ्वी से इसकी अधिक दूरी के कारण चन्द्रमा का आकर्षण बल अपेक्षाकृत अधिक है । पृथ्वी व चन्द्रमा दोनों ही एक ही आकर्षण केन्द्र के चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं । इनकी इस गति के कारण दो प्रकार के बल उत्पन्न होते हैं– (1) अपकेन्द्री बल–जो कि केन्द्र से बाहर की ओर कार्य करता है । (2) अभिकेन्द्री बल–जो कि केन्द्र की ओर कार्य करता है । पृथ्वी पर अपकेन्द्री बल व अभिकेन्द्री बल दोनों में संतुलन रहता है । अपकेन्द्री बल का मान सर्वत्र समान रहने के कारण जल संतुलन स्थिति में रहता है । परन्तु पृथ्वी का वह भाग जो कि चन्द्रमा के सम्मुख होता है, पर चन्द्रमा के गुत्वाकर्षण प्रभाव से उस भाग का जल चन्द्रमा की ओर आकर्षित हो जाता है तथा उसमें उभार उत्पन्न होता है, यही ज्वार है । पृथ्वी पर चन्द्रमा के विमुख वाले भाग में अपकेन्द्री शक्ति अधिक प्रभावी हो जाती है तथा वहां पर भी ज्वार की दशा (जल में उभार) उत्पन्न हो जाता है । सारांशत: पृथ्वी पर चन्द्रमा के सम्मुख भाग में चन्द्रमा की गुरूत्वाकर्षण शक्ति तथा विमुख वाले भाग में अपकेन्द्री बल की सक्रियता के कारण ज्वार उत्पन्न होता है । पृथ्वी पर इस ज्वारीय रेखा (दोनों ज्वारीय बिन्दुओं को मिलाने वाली रेखा) के समकोणिक बिन्दुओं/स्थलों पर भाटा (जल तल में गिरावट) उत्पन्न होता है । इन भाटा वाले स्थानों पर एक अन्य शक्ति/बल (कर्षण शक्ति) कार्य का रहा होता है जो कि जल को क्षैतिजीय फैलाने का कार्य करता है ।
2. **लाप्लास का गतिक सिद्धान्त (Dynamic theory of Laplas) :** सन् 1755 मैं लाप्लास महोदय ने अपना मत प्रतिपादित किया । इनके अनुसार पृथ्वी का वह भाग जो कि चन्द्रमा के सम्मुख होता है, पर ज्वार उत्पन्न होता है । चन्द्रमा की ओर वाले भाग के जल में क्षैतिजीय गति उत्पन्न होने के कारण उसके सम्मुख बिन्दु पर उभार उत्पन्न हो जाता है । इसी कारण इस ज्वार बिन्दु के समकोणिक बिन्दुओं पर भाटा उत्पन्न होता है । चूंकि पृथ्वी घूर्णन करती है, अत: पृथ्वी के विभिन्न भाग चन्द्रमा के सम्मुखीय दशा में आते रहते हैं । पृथ्वी की घूर्णन के साथ–साथ यह ज्वारीय दशा भी विस्थापित होती रहती है तथा यह सदैव चन्द्रमा के सम्मुख बनी रहती है ।

3. **वेबेल का प्रगामी तरंग सिद्धान्त (Wevel's theory of Progressive waves) :** एयरी महोदय ने इस सिद्धान्त को नहर सिद्धान्त की संज्ञा दी, परन्तु विलियम वेबेल (1833) ने इसे प्रभारी तरंग का नाम दिया ।

   इस सिद्धान्त के अनुसार ज्वार की उत्पत्ति तरंगों के रूप में होती है । तरंगीय शृंग को ज्वार तथा गर्त को भाटा कहते हैं । घूर्णन व चन्द्रमा के सम्मुखीय आकर्षण प्रभाव से ये तरंगें पूर्व से पश्चिम की ओर अग्रसर होती हैं । इन तरंगों की लम्बाई तथा वेग पर महासागरीय जल की गहराई व अन्य कारकों का प्रभाव रहता है ।

   दक्षिणी गोलार्द्ध में अण्टार्कटिका महासागर में निर्बाध तरंग गति रहती है । इन तंरगों की उत्पत्ति भी यहीं होती है । यहां उत्पन्न इन तंरगों को प्राथमिक तरंगें कहते हैं । ये तरंगें, चन्द्रमा के आकर्षण के प्रभाव से पश्चिम की ओर (चूंकि पृथ्वी का घूर्णन पश्चिम से पूर्व की ओर होता है अत: पृथ्वी के सापेक्ष चन्द्र अवस्थिति पूर्व से पश्चिम की ओर विस्थापित होती जाती है) अग्रसर होती है । जब स्थलीय बाधा (द्वीप अथवा महाद्वीप) इन तरंगों के मार्ग में आते हैं, तो ये तरंगें द्वितीयक तरंगें कहलाती हैं । इन तरंगों के उत्तरोतर ऊपर की ओर चलने पर अन्य गौण तरंगें भी उत्पन्न होती हैं । इस प्रकार दक्षिणी गोलार्द्ध में उत्पन्न ज्वार उत्तर की ओर अग्रसर होता जाता है, परन्तु शनै: शनै: ज्वारीय तीव्रता का हास होता जाता है । इन तरंगों की गीत महाद्वीपीय किनारों की अपेक्षा महासागरीय क्षेत्र में अधिक होती है । अर्थात् तरंगों का बीच वाला भाग अधिक तीव्रता से अग्रसर होता है ।

4. **हैरिस का स्थिर तरंग सिद्धान्त (Stationary wave theory of Harris) :** इस सिद्धान्त के अनुसार ज्वारीय उत्पत्ति तंरगों के रूप में होती है परन्तु ये तरंगें केवल दक्षिणी अन्टार्कटिक सागर में ही उत्पन्न नहीं होती हैं वरन इन तरंगों की उत्पत्ति उत्तरी महासागरों में भी स्थानीय रूप से होती है ।

   विभिन्न सागरों में चन्द्रमा व सूर्य की आकर्षण शक्ति के कारण जल में दोलन उत्पन्न होते हैं जबकि सागरीय मध्यवर्ती भागों में जल तल स्थिर बना रहता है । कुछ सागरों में केवल एक निस्पन्दन रेखा (एक ज्वारीय उभार वाली दशा) तथा कुछ अन्य सागरों में द्विनिस्पन्दन रेखा (दो ज्वारीय दशा) उत्पन्न होती है । निस्पन्दन रेखा दो से अधिक भी हो सकती हैं । ज्वारीय तीव्रता चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति के परिमाण पर निर्भर करती है एवं तद्रुरूप ज्वारीय उच्चता होती है । पृथ्वी की घूर्णन गति के कारण ज्वारीय दोलन एक निस्पन्दन रेखा के सहारे तो होते है परन्तु ये एक बिन्दु के चारों ओर घड़ी की सुई के विपरीत दिशा में होते हैं । ये दोलन जिस बिन्दु के चारों ओर होते हैं उसे भंवर बिन्दु कहते हैं । ज्वारीय तरंग की ऊँचाई गहरे सागरों में अधिक होती है, जबकि छिछले सागरों एवं खाड़ियों में कम ऊंची तरंगें उत्पन्न होती हैं । किसी सागर में भंवर बिन्दुओं की संख्या एवं अवस्थिति सागरीय विस्तार पर निर्भर होती है ।

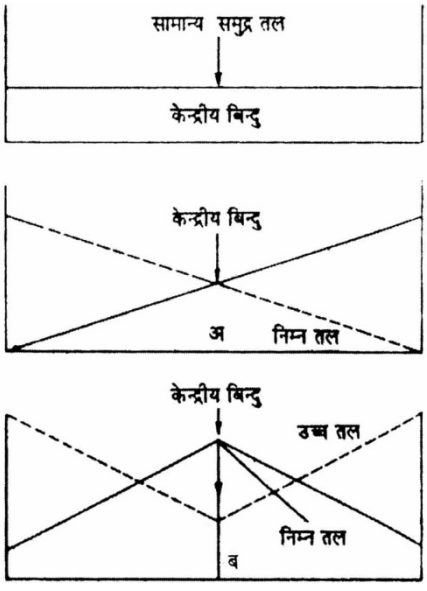

चित्र–17–10 : दोलन क्रियाएँ (अ) सम केन्द्रीय दोलन क्रिया, (ब) केन्द्रीय दोलन क्रिया

बोध प्रश्न – 1

1. किस आकाशीय पिण्ड का ज्वार उत्पादन मे सर्वाधिक योगदान है?

   .....

   .....

2. उप–भू की दशा में चन्द्रमा की पृथ्वी के सापेक्ष अवस्थिति दूरी किमी. में क्या होगी?

   .....

   .....

3. पूर्णिमा की तिथि को सूर्य, चन्द्रमा व पृथ्वी का विन्यास (अवस्थिति) क्रम बताइये ।

   .....

   .....

4. यदि चन्द्रमा की परिक्रमण गति रुक जाये तो पृथ्वी पर उत्पन्न ज्वार पर क्या प्रभाव होगा?

   .....

   .....

5. अयन वृतीय ज्वार कहाँ आते हैं?

   .....

   .....

6. लघु ज्वार कब उत्पन्न होते हैं?

.....

.....

7. संयुति मास की अवधि क्या हे?

.....

.....

8. पृथ्वी पर चन्द्रमा के विमुख (प्रति ध्रुवीय) भाग में उच्च ज्वार उत्पत्ति का कारण क्या हे?

.....

.....

9. सूर्य एवं चन्द्रमा की ज्वारोत्पादक शक्तियों में अनुपात का मान बताइये ।

.....

.....

10. अर्द्ध दैनिक ज्वार में दिन में कितनी बार ज्वार आते हैं?

.....

.....

11. प्रगामी तरंग सिद्धान्त का प्रतिपादन किसने किया?

.....

.....

12. अपसौर अवस्था का दूसरा नाम तथा इसमें सूर्य से पृथ्वी की स्त्री की स्थिति बताइये ।

.....

.....

17.3 महासागरीय धाराएँ (Ocean Currents)

महासागरीय धाराएँ विशाल जल राशि क्षेत्रों में जल के स्पष्ट प्रवाह हैं जो धरातल पर प्रवाहित नदी जल की भांति सागर सतह पर प्रवाहित होते नजर आते हैं। यद्यपि इनकी प्रवाह गति धीमी होती है, तथापि ये महासागरीय जल संचरण का एक महत्वपूर्ण अंग हैं, जिनका महासागरीय जल के गुणों को नियंत्रित करने, मौसमीय दशाओं पर प्रभाव एव अन्य कई रूपों में महत्वपूर्ण योगदान है। इनका प्रवाह एक निश्चित दिशा में होता है । तापमान के आधार पर इनका दो रूपों - 1. उष्ण धारा, व 2. ठण्डी धारा में विभाजन किया जाता है । धारा वेग, प्रवाह सीमा आदि के आधार पर धाराओं के तीन रूपों को चयनित किया गया है, जो कि 1. प्रवाह (Drift), 2. धारा (Current), 3. विशाल धारा (Stream) हैं । इनमें से महासागरीय जल का वह प्रवाह जिसकी दिशा व गति पवन से प्रवाहित होती है तथा प्रवाह वेग अति मंद होता है को प्रवाह या ड्रिपट कहते हैं, जैसे कि उत्तरी अटलांटिक ड्रिपट, पश्चिमी पवन प्रवाह आदि । जब जल राशि की प्रवाह गति एवं दिशा निश्चित होती है तो वह धारा कहलाती है ।

जैसे कि विषुवतीय धाराएँ, कैलिफोर्निया धारा, पीरू धारा, ब्राजील धारा आदि । इसी प्रकार निश्चित दिशा व गति वाले तीव्र महासागरीय जल प्रवाह को विशाल धारा या स्ट्रीम कहा जाता है, उदाहरण गल्फ स्ट्रीम ।

17.3.1 महासागरीय धाराओं की उत्पत्ति (Origin of Ocean Currents)

महासागरीय धाराओं की उत्पत्ति के कारणों को निम्न चार वर्गो में विभक्त किया जा सकता है–

1. **पृथ्वी का स्वभाव (प्रकृति) :** इस वर्ग में पृथ्वी का घूर्णन एवं गुरूत्वाकर्षण बल को सम्मिलित किया जाता है । ये दोनों ही कारक महासागरीय जल प्रवाह को प्रेरित करने रच सतत बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं ।
2. **सामुद्रिक कारक :** इस वर्ग में सागरीय जल की स्वयं की दशाओं अथवा भौतिक गुणों यथा–दाब, ताप, घनत्व एवं लवणता आदि के प्रभावों को सम्मिलित किया जाता है । इन्हें अन्त: सामुद्रिक कारक भी कहा जाता है ।
3. **वायुमण्डलीय कारक :** इस वर्ग में वायुमण्डलीय कारकों यथा पवन, वायुदाब, वर्षा एवं वाष्पीकरण आदि को सम्मिलित किया जाता है । इन्हें बाह्य सामुद्रिक कारक भी कहा जाता है।
4. **रूपान्तरणकारी कारक :** ये कारक – यथा तट रेखा की प्रकृति, आकृति, मौसमीय परिवर्तन (विशेषत : मानसून) तथा सागर तली की रचना आदि, प्रत्यक्षत: सागरीय धाराओं की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी नहीं होते तथापि धाराओं के रूपान्तरण एवं मुख्य धारा का विभाजन करके नयी धाराओं या उपधाराओं का निर्माण करने में सहायक होते हैं ।

विश्व के तीनों महासागरों में प्रवाहित होने वाली प्रमुख धाराओं का विवरण निम्न प्रकार है –

17.3.2 अन्ध (अटलांटिक) महासागर की धाराएँ (Ocean Currents of Atlantic Ocean)

अन्ध महासागर की आकृति अंग्रेजी के "S" अक्षर की भांति है, क्योंकि इसका उत्तरी भाग अपेक्षाकृत संकरा है एवं आर्कटिक महासागर में खुलता है । जबकि इसका दक्षिणी भाग चौड़ा है तथा यह अन्टार्कटिक महासागर में मिल जाता है । मध्यवर्ती भाग (विषुवत रेखा के निकट) संकरा तथा वक्राकार है । भूमध्यरेखा द्वारा विभाजित होने के कारण इसके दोनों गोलार्द्धो में स्थित भागों में प्रवाहित धाराओं का प्रवाह प्रतिरूप भिन्न–भिन्न है । अंध महासागर में प्रवाहित धाराऐं निम्न हैं (चित्र – 17.11)

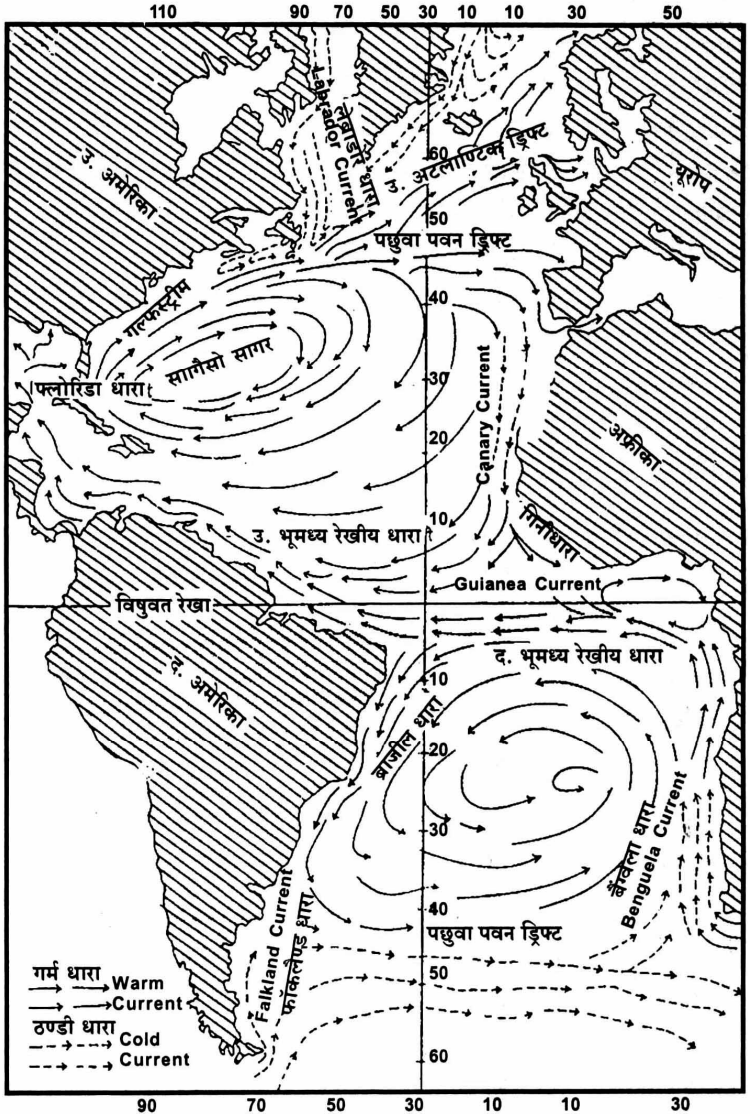

चित्र - 17.11 : अटलाण्टिक महासागर की धाराएँ

विषुवत् रेखीय धाराएं (Equatorial Currents)

इन धाराओं का सामान्यत: प्रवाह विषुवत् रेखीय क्षेत्र में 5° से 2° अक्षांशों के बीच में होता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि 0° से 5° के बीच इन धाराओं का प्रवाह संभव नहीं है, क्योंकि इस शांत कटिबंध (डोलड्रम) क्षेत्र में प्रतिविषुवत् धारा का प्रवाह होता है एवं पवन संचार की दिशा भी पश्चिम से पूर्व में होती है ।

इन विषुवत् रेखीय धाराओं की उत्पत्ति व्यापारिक पवनों के प्रभाव से मानी गयी है, साथ ही पृथ्वी के घूर्णन का प्रभाव भी सम्मिलित है । दोनों गोलार्द्धों में इन धाराओं को अलग–अलग नाम से जाना जाता है जो निम्न हैं-

उत्तरी विषुवत् रेखीय धारा (Northern Equatorial Current)

यह धारा 0° उत्तर से 20° उत्तर अक्षांशों के बीच प्रवाहित होती है । इस धारा का प्रवाह पूर्व से पश्चिम की ओर होता है, तथा यह दक्षिणी विषुवत रेखीय धारा की अपेक्षा कमजोर है । इस धारा के बारे में सबसे पहले उल्लेख 1853 में फिण्डले ने किया । पश्चिम की ओर प्रवाहित होते हुए ब्राजील तट के समीप इस धारा में दक्षिणी विषुवत रेखीय धारा की एक शाखा आकर मिलती है । इन दोनों धाराओं का सम्मिलित जल एकल रूप में दक्षिणी अमेरिकी तट के सहारे–सहारे उत्तर पश्चिम की ओर प्रवाहित होते हुए दो शाखाओं में बट जाता है, जिनमें से एक शाखा एन्टिलीज धारा तथा दूसरी कैरेबियन धारा के नाम से जानी जाती है । एन्टिलीज धारा पश्चिम द्वीप समूह (वेस्टइण्डीज) के पूर्व में बहती है तथा आगे चलते हुए उत्तर पूर्व की ओर मुड़कर सारगेसो सागर के भँवर का रूप धारण करती है । इस धारा का यह विशेष प्रवाह प्रतिरूप पृथ्वी के घूर्णन से उत्पन्न विक्षेपक बल के कारण है । दूसरी शाखा कैरेबियन सागर की ओर मुड़ जाती है तथा युकाटन चैनल तक होते हुए आगे मैक्सिको की खाड़ी में प्रवेश कर उत्तर की ओर प्रवाहित होती है ।

दक्षिणी विषुवत् रेखीय धारा (Sourthern Equatorial Current)

यह धारा 0° से 12° दक्षिणी अक्षांशों के बीच दक्षिणी अमेरिका तथा अफ्रीका महाद्वीपों के मध्य प्रवाहित है । विषुवत रेखीय क्षेत्र में इस धारा का प्रवाह भी पश्चिम की तरफ ही होता है। 30° पश्चिमी देशान्तर पर कैपसॉन रॉक की उठी हुई तटकृति के कारण इस धारा का दो भागों में विभाजन हो जाता है । इसकी उत्तरी पश्चिमी शाखा दक्षिणी अमेरिका के उत्तरी तट के समीप प्रवाहित होते हुए ब्राजील तट के निकट उत्तर विषुवत् रेखीय धारा में मिल जाती है, जबकि दूसरी शाखा दक्षिण की ओर मुड़कर ब्राजील धारा के रूप में बहती है ।

प्रतिविपुवतीय धारा (Counter Equatorial Current)

0° से 5° अक्षांशों के मध्य प्रवाहित धाराएं, जो कि पश्चिम से पूर्व की ओर प्रवाहित होती है, प्रतिविषुवतीय धाराएं कहलाती हैं । पवन पेटियों में खिसकाव के साथ–साथ इन धाराओं के प्रवाह क्षेत्र में आशिक परिवर्तन होता रहता है । पश्चिम की अपेक्षा पूर्व में ये धाराएं अधिक विकसित हैं । गिनी के निकट प्रवाहित होने वाली प्रतिविषुवतीय धारा को गिनी धारा के नाम से जानते हैं । इस धारा की सामान्य गति 30 किमी. प्रतिदिन रहती है । इस धारा के जल का तापमान विषुवतरेखीय धाराओं की अपेक्षा गर्म रहता है ।

उत्तरी अंध महासागर की धाराएं (North Atlantic Currents)

गल्फ स्ट्रीम क्रम (Gulf Stream System)

आइसोलिन ने इस क्रम का सर्वप्रथम उल्लेख किया । यह 20° उत्तर से 60° उत्तर तथा अमेरिका के पूर्वी तट से यूरोप के पश्चिमी तट तक विस्तृत है । इस क्रम के तीन मुख्य खण्ड निम्न हैं –

(i) फ्लोरिडा धारा : उत्तरी विषुवतीय धारा का जो भाग युकाटन चैनल से होकर मैक्सिको की खाड़ी में प्रवेश करता है, वह फ्लोरिडा धारा के रूप में जाना जाता है । तेज गति से बहकर यह फ्लोरिडा स्ट्रेट से खुले समुन्द्र में आती है । इस धारा की औसत गति 115 किमी.

प्रति दिन है । स्ट्रेट के निकट यह 50 किमी., कैपसॉन रॉक के निकट 100 किमी. तथा चार्ल्सटन के निकट 200 से 240 किमी. तक चौड़ी है ।

(ii) उत्तरी अटलांटिक ड्रिपट (धारा) : ग्राण्ड बैंक के पूर्व में गल्फ स्ट्रीम की कई शाखाएं हो जाती है । पूर्व में इस प्रवाह को 'ड़िपट' कहा जाता है । इस धारा का जल गर्म व खारा है। पछुआ पवनों द्वारा इसे गति प्राप्त होती है । यह धारा दो शाखाओं में बंट जाती है । उत्तरी शाखा 45° उत्तरी अक्षांश पर उत्तर पूर्व की ओर बहती है तथा इसके पश्चिम में लैब्रेडोर की ठण्डी धारा बह रही होती है । दूसरी शाखा उत्तर व उत्तर पश्चिम की ओर इरमिंगर धारा के नाम से आईसलैण्ड के दक्षिण में प्रवाहित है ।

इस ड्रिफ्ट की दूसरी प्रमुख शाखा 45° उत्तरी अक्षांश के सहारे–सहारे बहती है । इसका कुछ जल भूमध्य सागर में प्रवेश करता है । रेनेल द्वारा इस धारा को सबसे पहले उल्लेखित करने के कारण इसे रेनेल धारा भी कहा जाता है । इस ड्रिफ्ट का औसत तापमान 16°C रहता है । यह धारा भी दो भागों में विभक्त हो जाती है, जिसमें से एक भाग इंगलिश चैनल में तथा दूसरा भाग आयरलैण्ड के दक्षिण से होते हुए स्पेन के उत्तर भाग में प्रवाहित होती है ।

कनारी धारा (Canary Currnet)

यह धारा व्यापारिक पवनों के प्रभाव से उत्पन्न होती है । इस धारा का प्रवाह उत्तरी अफ्रीका के पश्चिमी तट पर स्थित भेड़ीरा से केप वर्डे द्वीपों के बीच है । जब गल्फ स्ट्रीम गर्म धारा का जल यहा तक पहुंचता है, तो वह ठण्डा हो चुका होता है और वह यहा ठण्डी धारा में परिवर्तित हो जाता है । इस धारा की सामान्य गति 12–40 किमी. प्रतिदिन है । अन्ततः इस धारा का उत्तरी विषुवतीय धारा में विलय हो जाता है ।

लैब्रेडोर धारा (Labrador Current)

यह एक ठण्डी धारा है । यह बैफिन की खाड़ी से डैविस स्ट्रेट तक दक्षिण की ओर प्रवाहित होती है । लैब्रेडोर सागर व अटलांटिक महासागर के मध्य निर्बाध सम्पर्क होने के कारण यह धारा दक्षिण की ओर निर्बाध रूप से बहती है ।

गल्फ स्ट्रीम धारा (Gulf Stream Current)

इस तीव्र धारा की खोज पोंसडिलियो ने की थी । यह धारा मैक्सिको की खाड़ी में उत्पन्न होती है, जबकि गन्तव्य आर्कटिक सागर है । यह सारगेसो सागर के बायीं ओर प्रवाहित होती है । यह धारा उच्च अक्षांशों में गर्म जल पहुँचाती है । इस धारा की सामान्य गति 15–25 किमी. प्रतिदिन है, जबकि न्यूयार्क के निकट इसकी गति 115 किमी. प्रतिदिन तक पहुंच जाती है । इस धारा में चेसापीक खाड़ी के निकट ठण्डी लैब्रेडोर धारा का मिलन होता है ।

सारगेसो सागर (Sargaso Sea)

उत्तरी अटलांटिक महासागर के लगभग मध्य में तीन प्रमुख उत्तरी अटलांटिक धाराओं से घिरे सागरीय क्षेत्र में इन धाराओं के प्रभाव से एक प्रतिचक्रवातीय संचार उत्पन्न होता है । इस भंवर के मध्य में एक शांत एवं गतिहीन सागर स्थित है, जिसे सारगेसो सागर कहते हैं । इस सागर में सारगेसम नाम की एक **समुद्री** घास पायी जाती है, जिसके कारण इसका नामकरण सारगेसो

किया गया है । इस सागर का विस्तार 20° से 40° उत्तरी अक्षांश तथा 35° से 75° पश्चिमी देशान्तरों के बीच है । इस सागर की औसत लवणता 37 ग्राम प्रति किलोग्राम है ।

दक्षिणी अन्ध महासागर की धाराएँ (South Atlantic Currents)

इस महासागर की प्रमुख धाराएं निम्नलिखित हैं –

ब्राजील धारा (Brazalian Current) :

दक्षिणी विषुवतीय धारा पश्चिम की ओर प्रवाहित होते हुए दक्षिणी अमेरिकी तट के समीप पहुंचकर दक्षिण की ओर मुड़कर मध्य अक्षाशो में पेटागोनिया तक प्रवाहित होती है । लगभग 40° दक्षिणी अक्षांश तक पंहुचने के उपरांत यह धारा कुछ पूर्व की ओर विक्षेपित हो जाती गैर। इस विक्षेपित धारा को ही ब्राजील धारा कहते हैं । यह धारा ब्राजील तट के समीप प्रवाहित होती है । इस धारा की औसत गति 30 से 40 किमी. प्रतिदिन है ।

फॉकलैण्ड धारा (Folkland Current) अर्जेन्टीना तट के सहारे 30° अ क्षांश तक प्रवाहित होने वाली धारा फॉकलैण्ड धारा है । दक्षिणी पूर्वी व्यापारिक पवनें इस धारा को गति प्रदान करती हैं । इस धारा के साथ –साथ हिमशिलाएं (आइसबर्ग) भी विस्थापित होते हैं ।

दक्षिणी अटलांटिक ड्रिक्ट (South Atlantic drift) : यह धारा वास्तव में ब्राजील धारा का ही पूर्वी विस्तार है, जो कि 40° से 60° दक्षिणी अक्षांशो के मध्य पश्चिम से पूर्व की ओर प्रवाहित होती है । यह एक छिछली धारा है जिसकी औसत गति 10 से 55 किमी. प्रतिदिन है ।

बैंग्युला धारा (Bengula Current): यह धारा अफ्रीका के दक्षिणी–पश्चिमी तट के सहारे उत्तर की ओर प्रवाहित होती है । उत्तमाशा अंतरीप से लेकर 17° दक्षिणी अक्षांश तक इस धारा का सक्रिय प्रवाह है । आगे बढ़कर 20° दक्षिणी अक्षांश के निकट यह धारा पश्चिम की ओर मुड़कर दक्षिणी विषुवतीय धारा में विलीन हो जाती है ।

17.3.3 प्रशांत महासागर की धाराएं (Ocean Currents of Pacific Ocean)

मध्य प्रशांत महासागीय धाराएं

उत्तरी विषुवतीय धारा (Northern Equatorial Current) :अंधमहासागरीय विषुवतीय धारा की भांति इस धारा की उत्पत्ति में भी उत्तरी –पूर्वी व्यापारिक पवनों एवं घूर्णन गति का योगदान रहता है । रैवल गिगेडो द्वीप (मैक्सिको) से फिलीपीन्स द्वीपों तक इस धारा का प्रवाह है, जो कि लगभग 1200 किमी. की दूरी तक पूर्व से पश्चिम की ओर है । हवाई द्वीप तथा अमेरिकी तट के मध्य उत्तरी प्रशान्त जलराशि इसमें सम्मिलित होती है । पश्चिमी छोर पर पहुंचकर यह धारा द्विभाजित हो जाती है । इसकी उत्तरी शाखा –बालिंगताग चैनल से होकर चीन सागर में प्रविष्ट होती है, जबकि दक्षिणी शाखा मुड़कर उत्तर प्रशान्त प्रतिविषुवतीय धारा का निर्माण करती है । पवन पेटियों के खिसकाव के अनुरूप इस धारा का विस्थापन होता रहता है ।

दक्षिणी विषुवतीय धारा (Southern Equatorial Current) :इसकी उत्पत्ति दक्षिणी–पूर्वी व्यापारिक पवनों के प्रभाव के फलस्वरूप होती है । इस धारा का प्रवाह लगभग 13700 किमी. तक रहता है । इस धारा की गति 30 से 160 किमी. प्रतिदिन है । पश्चिम की ओर

महासागरीय तल की विषम आकृति के कारण यह धारा कई भागों में बंट जाती है। इसकी उत्तरी सीमा 3° उत्तरी अक्षांश है।

प्रति विषुवतरेखीय धारा (Counter Equatorial Current) : इसकी उत्पत्ति धरातलीय ढाल, विषुवतीय पछुआ पवनों एवं विषुवतीय धाराओं के सम्मिलित पीरणामस्वरूप होती है। यह एक छिछली धारा है, जो केवल ऊपरी सतह पर प्रवाहित होती है। दोनों विषुवतीय धाराओं (उत्तरी एव दक्षिणी) के जल का महाद्वीपीय पूर्वी तटों पर संग्रहण होने से उत्पन्न संतुलनकारी धाराएं, जिन्हें विषुवतीय पछुआ पवनों से प्रेरक शक्ति मिल जाती है, के प्रभाव से ये धाराएं उत्पन्न होती है। ये धाराएं 5° से 10° उत्तरी अक्षांशों के मध्य बहती हैं। इनका औसत तापमान 27.5°C एवं लवणता 5 ग्राम प्रति किलोग्राम है।

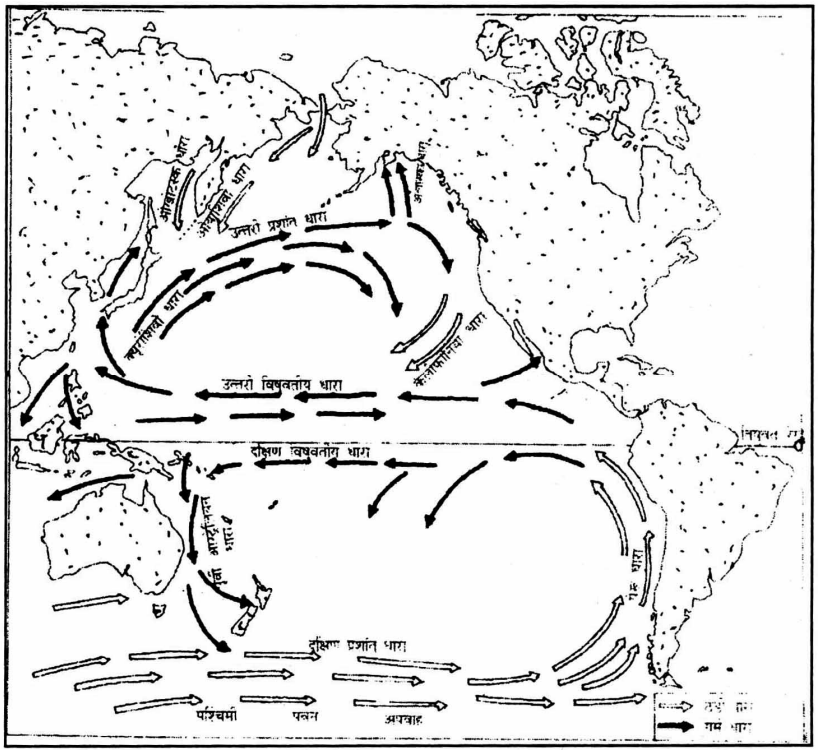

मानचित्र–17–12 : प्रशांत महासागर की प्रमुख धाराऐं

उत्तरी प्रशांत महासागर की धाराएं (North Pacific Currents)

कुरोशियो प्रवाहक्रम : यह प्रवाह क्रम कई धाराओं का संयुक्त रूप है। इस प्रवाह क्रम में कई स्थानीय प्रवाह जुड़कर सतत प्रवाह रूप प्रदान करते हैं। फारमोसा तट के 30° उत्तरी भाग में बहने वाली धाराओं को बुस्ट ने यह नाम दिया। यह धारा आगे चलकर पूर्व की ओर मुड़ जाती है तथा जापान तट से अमेरिका तट तक प्रवाहित होती है। इस प्रवाह क्रम की मुख्य शाखाऐं इस प्रकार हैं:–

कुरोशियो धारा (Kurushio Current) :जब उत्तरी विषुवतीय धारा का एशियाई पूर्वी द्वीपों से टकराने रण पृथ्वी के घूर्णन के कारण दाहिनी ओर विक्षेपण होता है तो यह धारा फिलिपिन्स व चीन की तट रेखा के सहारे प्रवाहित होने लगती है । इसी जगह से यह कुरोशियो धारा कहलाती

है । इस धारा को व्यापारिक पवनों गति प्रदान करती हैं । इस धारा का सतही औसत तापमान 8°C तथा लवणता 35 ग्राम प्रति किग्रा. है ।

कुरोशियो विस्तार (Kurushio Extension) :35° उत्तरी अक्षांशों से आगे पछुआ पवनों के कारण कुरोशियो धारा जापान तट को छोड़कर दो शाखाओं में बंट जाती है । इनमें से पहली शाखा पूर्व की ओर 160° पूर्वी देशान्तर तक जबकि दूसरी शाखा उत्तर पूर्व की ओर 42 उत्तरी अक्षांश तक बहकर पुन: पूर्व की ओर अग्रसर होती है ।

उत्तरी प्रशान्त धारा (Northern Pacific Current) : उत्तरी अमेरिकी तट तक पहुंचने के उपरान्त इससे आगे चलने पर कुरोशियो धारा जब 150° पश्चिमी देशान्तर पर पहुँचती है तो इसका काफी जल दक्षिणी दिशा में विक्षेपित हो जाता है, जबकि थोडी मात्रा में जल (छोटी धारा के रूप में) हवाई द्वीपों तक पहुंचता है और आगे चलने पर यह धारा कई शाखाओं में विभक्त हो जाती है । इन शाखाओं का आगे चलने पर और विभाजन होता है ।

सुशिया धारा (Sushia Current) : कुरोशियो धारा की एक शाखा 30° उत्तरी अक्षांश के समीप जापान सागर में प्रवेश करती है, तथा जापान के पश्चिमी तट के सहारे उत्तर की ओर अग्रसर होती है । यह धारा सुशिया धारा कहलाती है ।

कुरोशियो प्रति धारा (Kurushio Counter Current) : प्रशान्त महासागर के मध्य हवाई द्वीपों के पूर्व में कुरोशियो धारा के विपरीत दिशा में जल का एक प्रवाह मौजूद है । इसकी प्रवाह स्थिति पवन पेटियों में विस्थापन के अनुसार विस्थापित होती रहती है । इस प्रति प्रवाह धारा को कुरोशियो प्रति धारा कहते है ।

आयोशियो धारा (Aoshio Current) : बेरिंग सागर से आर्कटिक महासागर का ठण्डा जल कमचट का तट के सहारे प्रशान्त महासागर में मिलता है । जब यह धारा 50° उत्तरी अक्षांशों के पास पहुँचती है तो इसका कुछ जल एल्यूशियन तथा कुरोशियो धाराओं में मिलता है । जबकि मुख्य धारा आयोशियो धारा के रूप में जापान के पूर्वी तट के सहारे दक्षिण की ओर बहती है ।

कैलिफोर्नियाई धारा (Californian Current) : यह धारा अमेरिकी तट के सहारे 48° उत्तरी अक्षांश से 23° उत्तरी अक्षांशों तक बहती है । यह धारा उत्तरी प्रशान्त धारा का ही दक्षिणी विस्तार है । इस धारा की गति मन्द है तथा यह दक्षिण की ओर बढ़ने पर विषुवतीय धारा में मिल जाती है ।

दक्षिण प्रशान्त महासागर की धाराऐं :(South Pacific Currents)

पीरूधारा (Peeru Current) : दक्षिण अमेरिका तट पर उत्तर की ओर प्रवाहित होने वाले धाराक्रम को पीरू धारा के नाम से जाना जाता है । इसी धारा को हमबोल्ट धारा भी कहा जाता है ।

एल–निनो Al–Nino (प्रतिधारा) (Counter Current) : पीरू तट के सहारे प्रति विषुवतीय धारा का जल गहराई तक प्रवाहित होता है । जिसकी दिशा दक्षिण की तरफ है । इस एल–निनो धारा कहा जाता है । यह 30° – 36° दक्षिण अंक्षाशों तक प्रवाहित होती है ।

पूर्वी आस्ट्रेलिया धारा (Eastern Austrelian Current) : दक्षिणी विषुवतीय धाराओं की पश्चिमी शाखाओं में से आस्ट्रेलिया तट के सहारे न्यूज़ीलैण्ड द्वीपों को घेरते हुए प्रवाहित होने वाली धारा को पूर्वी आस्ट्रेलिया धारा के नाम से जानते हैं ।

पश्चिमी पवन प्रवाह (West Wind Drift): दक्षिणी प्रशान्त महासागर के निर्बाध क्षेत्र में गरजते चालीसा पवन प्रवाह क्षेत्र में प्रवाहित होने वाली पूर्वमुखी धारा को पश्चिमी पवन प्रवाह कहते हैं । इस धारा की दिशा इस क्षेत्र में प्रचलित पवनों की भांति पश्चिम से पूर्व होने के कारण इसे यह नाम दिया गया है । पश्चिमी भाग में पूर्वी आस्ट्रेलियाई धारा का इसमें विलय होता है वहीं पूर्व में पीरू तट पर पहुँचकर इसकी शाखा पीरू धारा में मिल जाती है, जबकि इससे पहले भी इसकी एक शाखा कैपहॉर्न अन्तरीय का चक्कर लगाते हुए अन्ध महासागर में पहुँच जाती है ।

17.3.4 हिन्द महासागर की धाराएँ (Ocean Currents of Indian Ocean)

अन्ध व प्रशान्त महासागर की तुलना में हिन्द महासागर अधिक स्थल आबद्ध होने के कारण इस महासागर में धाराओं का प्रवाह क्रम अपेक्षाकृत भिन्न है । इस महासागर में धाराओं पर मानसून प्रभाव स्पष्टत: परिलक्षित होता है । हिन्द महासागर की प्रमुख धाराएँ निम्न हैं –

उत्तरी हिन्द महासागर की धाराएँ (North Indian Ocean Currents)

हिन्द महासागर के इस भाग में महासागरीय धाराओं की दिशा मानसून पर निर्भर करती है । अत: मानसून के अनुरूप इन धाराओं की दिशा में परिवर्तन होता रहता है । शीत ऋतु में उत्तरी –पूर्वी मानसून सक्रिय होता है । अत: बंगाल की खाड़ी व अरब सागर में धाराएँ पवन के घर्षण के प्रभाव से पश्चिमी अफ्रीकी तट की ओर अग्रसर होती हैं वहीं उत्तरी विषुवतीय धारा, जो कि 5° उत्तरी अक्षांश के समीप अण्डमान व सोमाली तट पर उत्पन्न होती है, प्रचलित पवनों के साथ–साथ बंगाल की खाड़ी व अरब सागर की ओर प्रवाहित होती है । यह धारा "उत्तरी–पूर्वी मानसून ड्रिफ्ट" कहलाती है ।

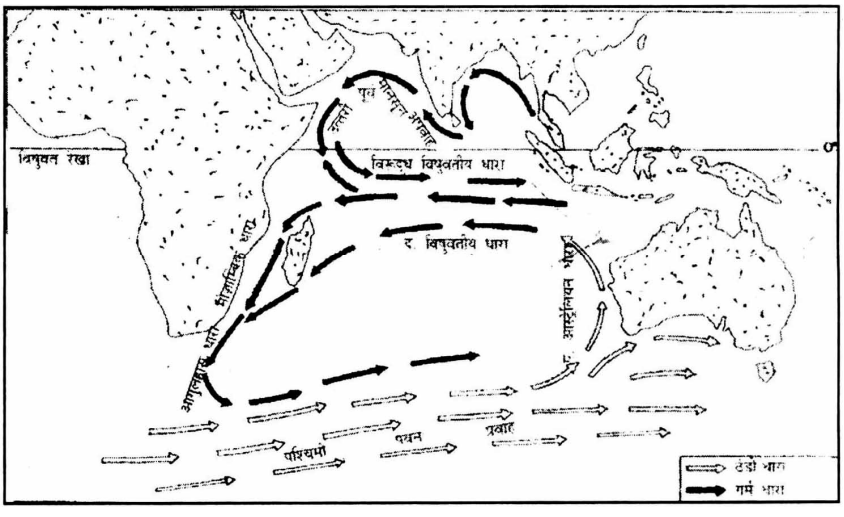

चित्र – 17.13 : हिन्द महासागर की धाराएँ (शीत ऋतु)

ग्रीष्म काल में भारतीय उपमहाद्वीप में मानसून उत्क्रमण होता है तथा यहाँ दक्षिणी–पश्चिमी मानसून स्थापित हो जाता है । इस अवधि में उत्तरी विषुवतीय धारा समाप्त हो जाती है तथा दक्षिणी–पश्चिमी मानसून धारा (ड्रिफ्ट) प्रवाहित होती है, जिसका प्रवाह पश्चिम से पूर्व की ओर होता है (चित्र – 17.12, 17.13) ।

दक्षिणी हिन्द महासागर की धाराएँ (South Indian Ocean Currents)

दक्षिणी विषुवतीय धारा (South Equatorial Current): यह धारा 20° दक्षिणी अक्षांशों के समीप अफ्रीका व ऑस्ट्रेलिया के बीच प्रवाहित होती है । चूंकि दी क्षणी हिन्द महासागरीय क्षेत्र में मौसमीय परिवर्तन अधिक प्रभावी नहीं होते हैं अत: इस क्षेत्र में धाराओं की प्रवाह दिशा एवं अवस्थिति यथावत बने रहते हैं ।

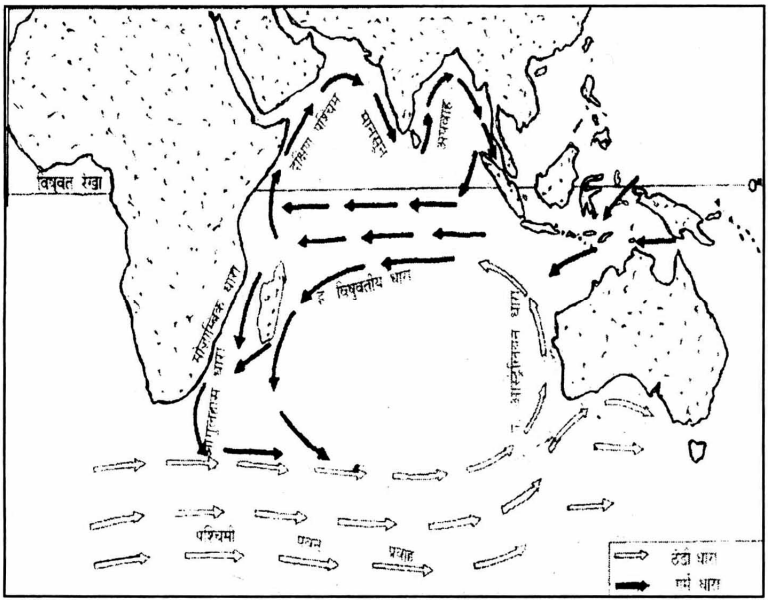

चित्र – 17.14 : हिन्द महासागर की धाराएँ (ग्रीष्म ऋतु)

अगुलास धारा (Aghulas Current) : अफ्रीका के तट पर मेडागास्कर के समीप दक्षिणी विषुवतीय धारा दो शाखाओं में विभक्त हो जाती है । इनमें से प्रमुख धारा, जो कि दीक्षण की ओर प्रवाहित होती है, को अगुलास धारा कहते हैं ।

मोजाम्बीक धारा (Mozambic Current) : दक्षिणी विषुवतीय धारा की दूसरी शाखा, जो कि मोजाम्बीक चैनल से होकर गुजरती है को मोजाम्बीक धारा के नाम से जाना जाता है । 30° दक्षिणी अक्षांश तक यह धारा मोजाम्बीक धारा ही कहलाती है ।

पश्चिमी पवन प्रवाह (West Wind Drift) : पछुआ हवाओं के घर्षण प्रभाव से प्रेरित होकर 40° दक्षिणी अक्षांश पर सागरीय ठंडा जल पूर्व की ओर प्रवाहित होता है इसे पश्चिम पवन प्रवाह कहते हैं । 110° पूर्वी देशान्तर पर पहुँचकर यह धारा दो भागों में बंट जाती है । एक शाखा उत्तर की ओर आस्ट्रेलिया तट के सहारे प्रवाहित होती है जिसे पश्चिमी–ऑस्ट्रेलिया धारा कहते हैं । जबकि इस धारा की मुख्य शाखा आस्टेलिया के दक्षिण में प्रवाहित होते हुए प्रशान्त महासागर में पहुँचती है ।

पश्चिमी आस्ट्रेलिया धारा (Weat Austrelian Current) : हिन्द महासागरीय पश्चिमी पवन प्रवाह की वह शाखा जो पश्चिमी आस्ट्रेलिया तट के सहारे प्रवाहित होती है, तथा उससे आगे उत्तर की ओर बढ़ते हुए दक्षिणी विषुवतीय धारा में मिलती है, पश्चिमी आस्ट्रेलिया धारा कहलाती है ।

17.3.5 महासागरीय धाराओं का प्रभाव (Effects of Ocean Currents)

वर्षा पर प्रभाव (Effect on Rainfall)

ठण्डी धाराएँ वर्षा की मात्रा को प्रतिकूल प्रभावित करती हैं । ये धाराएं तटवर्ती क्षेत्र में शुष्कता बढ़ाती हैं । जबकि गर्म धाराएं वर्षा की मात्रा में वृद्धि करती हैं । गर्म धाराओं के ऊपर होकर प्रवाहित होने वाली पवनों ऊष्ण आर्द्र हो जाती हैं तथा ये पवनें तटवर्ती क्षेत्र में वर्षा करती हैं । हालांकि गर्म क्षेत्र (निम्न अक्षांशों) में प्रवाहित होने वाली गर्म धाराएँ भी तटवर्ती भागों के तापमान में वृद्धि करती हैं परन्तु आर्द्रता अधिक होने के कारण वर्षा में भी सहायक होती हैं ।

वायुमण्डलीय तापमान पर प्रभाव (Effect on atmospheric temperature)

धाराएं अपनी प्रकृति के अनुरूप ही तटवर्ती क्षेत्रों के तापमान को प्रभावित करती हैं । गर्म धाराएं ठण्डे क्षेत्रों में तापमान को सामान्य बनाती हैं तो वहीं दूसरी ओर ठण्डी धाराएं भी गर्म प्रदेशों में ऐसा ही प्रभाव डालती हैं । जबकि ठण्डी धाराएं ठण्डे प्रदेशों में अतिशीत स्थितियाँ उत्पन्न करती हैं तो वहीं दूसरी ओर गर्म धाराएं गर्म प्रदेशों में तापमान को और बढ़ा देती हैं । एक ही अक्षांश पर गर्म व ठण्डी धाराओं की अलग–अलग अवस्थिति के कारण तापमान में भिन्नता पाई जाती है । धाराओं के प्रभाव को स्पष्टत: समझने के लिए कुछ धाराओं को उदाहरण के रूप में ले सकते हैं । ठण्डी लेब्राडोर धारा समीपवर्ती तटवर्ती क्षेत्र के तापमान को शून्य से भी नीचे पहुँचा देती है तो दूसरी ओर नार्वे तट के समीप उत्तरी अटलांटिक गर्म धारा तट को परिवहन योग्य (हिमाच्छादन रहित) रखती है । इसी प्रकार कैलिफोर्नियाई, क्यूराईल एवं फाकलैण्ड ठण्डी धाराएं अपने समीपवर्ती तटीय भागों को हिमाच्छादित रखती हैं, तो दूसरी ओर गल्फस्ट्रीम एवं क्यूरोशिवो की गर्म धाराएं अपने प्रभाव क्षेत्र में तापमान में गिरावट लाती हैं ।

इनके अतिरिक्त धाराओं का वातावरण पर प्रभाव (कोहरा, वायुमण्डलीय दृश्यता आदि), नौसंचालन, व्यापार एवं सामुद्रिक जीवन तथा संसाधनों पर भी प्रभाव पड़ता है । गर्म एव ठण्डी धाराओं के मिलन स्थल मस्त पालन हेतु आदर्श क्षेत्र माने जाते हैं क्योंकि तापमान नियंत्रण के साथ–साथ ये धाराएं मछलियों के लिए आवश्यक खाद्य पदार्थ (प्लांक्टन) की आपूर्ति (परिवहन) में सहायक होती हैं । नौ संचालन में ये धाराएं साधक व बाधक दोनों ही रूपों में हो सकती हैं। यदि धारा प्रवाह की दिशा का अनुसरण करें तो ये धाराएं गति प्रदान करती हैं वही धारा के विपरीत चलने पर गति में बाधा उत्पन्न करती हैं ।

बोध प्रश्न– 2

1. प्रति विषुवतीय धाराएँ जिस कटिबन्ध में प्रवाहित होती हैं, उसका नाम क्या है?

   .....

   .....

2. उत्तरी हिन्द महासागर में जून है? महीने में प्रवाहित वाली धारा की दिशा क्या होती है।

.....

.....

3. विषुवत रेखीय धाराओं का प्रवाह किस दिशा में होता है ।

.....

.....

4. क्यूरोशियो धारा किस महासागर में प्रवाहित होती है?

.....

.....

5. सारगेसो सागर में पायी जाने वाली धारा का नाम क्या है?

.....

.....

6. जिस धारा का नार्वे तट को हिमाच्छादन रहित कर परिवहन योग्य बनाये रखने में महत्वपूर्ण योगदान है, उसका नाम बताइये ।

.....

.....

7. सागरीय जल की लवणता प्रदर्शन की इकाई बताइये ।

.....

.....

8. इरमिंगर धारा कहा प्रवाहित होती है?

.....

.....

9. मोजाम्बीक धारा किस धारा की शाखा के रूप में उत्पन्न होती है?

.....

.....

10. सारगेसो सागर के पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण में प्रवाहित धाराओं के नाम लिखिये ।

.....

.....

11. पश्चिमी पवन प्रवाह किस पवन पेटी में प्रवाहित होती है?

.....

.....

12. कैलिफोर्नियाई धारा किस प्रकार की धारा हैं?

.....

.....

17.4 सारांश (Summary)

महासागरीय जल के परिसंचरण के बारे में उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि महासागरीय जल में होने वाली विभिन्न प्रकार की गतियों के लिए अलग–अलग कारक उत्तरदायी होते हैं । साथ ही इन गतियों के स्थानीय व विश्वव्यापी प्रभाव भी होते हैं । ज्वार–भाटा की उत्पत्ति का कारण सूर्य व चन्द्रमा की आकर्षण शक्तियाँ है तो वहीं महासागरीय धाराएँ मुख्यत : पृथ्वी की घूर्णन गति एवं पवन प्रवाह का परिणाम है । महासागरीय धाराओं का स्थानीय (तटीय क्षेत्र) मौसमीय दशाओं पर प्रत्यक्ष प्रभाव होता है । ठण्डी धाराएँ तापमान में कमी तथा गर्म धाराएँ तापमान में वृद्धि करती हैं । परिणामत: उच्च अक्षांशों में ठण्डी धाराएँ हिमाच्छादन व गर्म धाराएँ तटीय क्षेत्रों को हिम रहित करती हैं । इसी प्रकार निम्न अक्षांशों में ठण्डी धाराएँ तापमान में कमी व गर्म धाराएँ तापमान में वृद्धि कर जनजीवन व अन्य आर्थिक –व्यापारिक गतिविधियों को तद्नुकूल प्रभावित करती है ।

17.5 शब्दावली (Glossary)

- **युत–वियुति :** सूर्य, चन्द्रमा एवं पृथ्वी का एक सीधी रेखा के सहारे विन्यास । इसमें सूर्य व चन्द्रमा का पृथ्वी के एक ही ओर अवस्थिति युति तथा पृथ्वी सापेक्ष परस्पर विपरीत दिशाओं में अवस्थिति वियुति ।
- **उप–भू :** चन्द्रमा की पृथ्वी के निकटतम दूरी की स्थिति ।
- **अप–भू :** चन्द्रमा की पृथ्वी से दूरस्थ स्थिति ।
- **उपसौर :** पृथ्वी की सूर्य से निकटतम् दूरी की स्थिति ।
- **अपसौर :** पृथ्वी की सूर्य से दूरस्थ स्थिति ।
- **नक्षत्र मास :** 27½ दिन की अवधि, जिसमें चन्द्रमा पृथ्वी की एक परिक्रमा पूर्ण करता है ।
- **संयुति मास :** 29½ दिन की अवधि, जिसमें चन्द्रमा पृथ्वी की एक वास्तविक परिक्रमा पूर्ण करता है ।

17.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (Reference Books)

1. गौतम, अलका : **जलवायु एवं समुद्र विज्ञान,** रस्तोगी पबिन्तकेशन्स, मेरठ, 2005
2. शर्मा एच.एस., शर्मा एम.एल., मिश्रा, आर.एन. : **भौतिक भूगोल,** पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2004
3. मामोरिया, चतुर्भुज, जोशी, रतन : **भौतिक भूगोल,** साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2003
4. उपाध्याय, डी.पी., सिंह, रामाश्रय : **जलवायु विज्ञान और समुद्र विज्ञान,** वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर, 2004
5. सिंह, सविन्द्र : **भौतिक भूगोल,** वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर, 2004

6. कौल, एम.एन., गंजू आर. के., मिश्रा, आर.पी. : **भौतिक भूगोल के मूल सिद्धान्त,** एन. सी.ई. आर.टी., नई दिल्ली, 2003

17.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. चन्द्रमा
2. निकटतम 3.5 लाख किमी.
3. सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा
4. ज्वार की पुनरावृत्ति ठीक 12 घण्टे के अन्तराल पर (अर्द्ध दैनिक ज्वार के सन्दर्भ में) होगी न कि 12 घण्टे 26 मिनट
5. कर्क एवं मकर रेखाओं पर
6. कृष्ण एवं शुक्ल पक्ष की सप्तमी–अष्टमी
7. 29½ दिन
8. पृथ्वी के परिक्रमण के कारण उत्पन्न केन्द्रापसारी बल
9. 5 : 11 (सूर्य: चन्द्रमा)
10. दोबार
11. विलियम वेवेल
12. सूर्य उच्च, दूरस्थ

बोध प्रश्न– 2

1. शांत कटिबन्ध (डोल ड्रम)
2. पश्चिम से पूर्व
3. पूर्व से पश्चिम
4. प्रशान्त महासागर (उत्तरी प्रशान्त)
5. सारगेसम
6. उत्तरी अटलांटिक धारा
7. ग्राम/किग्रा. (या %)
8. आइसलैण्ड के दक्षिण में
9. दक्षिण विषुवतीय धारा
10. कनारी धारा, फ्लोरिडा धारा, उत्तरी अटलांटिक ड्रिफ्ट, उत्तरी विषुवतीय धारा
11. पछुआ पवन पेटियाँ (गरजते चालीसा)
12. ठण्डी धारा

17.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. ज्वार–भाटा के प्रकारों का वर्णन कीजिये ।
2. ज्वार –भाटा की तीव्रता सूर्य, चन्द्रमा एवं पृथ्वी की सापेक्ष स्थितियों से किस प्रकार प्रभावित होती है, समझाइये ।

3. महासागरीय धाराओं की उत्पत्ति के कारणों को समझाइये ।
4. प्रशान्त महासागर की धाराओं का वर्णन कीजिये ।
5. महासागरीय धाराओं के प्रभाव को समझाइये ।

इकाई18 : प्रवाल भित्तियाँ तथा द्वीप (Coral Reefs and Islands)

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 प्रवाल के विकास हेतु उपयुक्त दशाएं

18.3 प्रवाल भित्तियों के प्रकार :

18.3.1 उत्पत्ति के आधार पर

18.3.2 अवस्थिति के आधार पर

18.4 प्रवाल भित्तियों की संरचना

18.5 प्रवाल भित्ति की उत्पत्ति से संबंधित सिद्धांत

18.5.1 अवतलन सिद्धांत

18.5.2 स्थिर स्थल सिद्धांत

18.6 प्रवाल भित्तियों का महत्व

18.7 सारांश

18.8 शब्दावली

18.9 संदर्भ ग्रंथ

18.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

18.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के सारांश अध्ययन के उपरांत आप प्रवालों से संबंधित निम्न पक्षों को

- प्रवाल भित्तियों का परिचय उनके विकास हेतु उपयुक्त भौगोलिक दशाएं,
- प्रवाल भित्तियों के प्रकार और उनकी संरचना,
- इनकी उत्पत्ति से संबंधित सिद्धांतों का अवलोकन,
- प्रवाल भित्तियों का पारिस्थिकीय और आर्थिक महत्व ।

18.1 प्रस्तावना (Introduction)

प्रवाल भित्तियों तथा द्वीपों का निर्माण सागरीय जल में प्रवाल (मूँगा) पोलिप्सर नामक जीवों के क्रियाओं के फलस्वरूप होता है । ये जीव बहुत बड़ी संख्या में समुदाय में रहते हैं । वे प्रवाल पोलिप्स लाल हरे, पीले, बैंगनी, सफेद इत्यादि रंगों के होते है । प्रवाल पोलिप को ये रंग इनके उत्तकों में पलने वाले **जूजैन्थिल** नामक सूक्ष्म एक कोशिका वाले शैवाल से मिलते हैं । ये सूक्ष्म जीव प्रवालों के लिए प्रकाश संश्लेषण की क्रिया से उनको ऊर्जा (भोजन) और ऑक्सीजन

उपलब्ध कराते हैं । अपने जीवन काल मे प्रवाल पोलिप्स, सागरीय जल तथा अपने खाद्य पदार्थो से चूना तथा डोलोमाइट संग्रहित कर अपने लिए खोलों का निर्माण करते है । इनकी मृत्यु के उपरांत संग्रहित चूने और डोलोमाइट से बने खोल, जो आपस में समय के साथ जुड़ जाते है, के द्वारा प्रवाल भित्तियों और द्वीपों का निर्माण होता है, जिसे प्रकृति की अनमोल रचना कहा जा सकता है । प्रवाल भित्तियों और द्वीपों के निर्माण में सिर्फ प्रवाल पोलिप का अकेला योगदान नहीं होता वरन इसमें मोलस्का, इकाइनोडर्म, फोरमिनिफेरा, तथा चूना स्थलित करने वाले अन्य जीवों और कई प्रकार के शैवाल भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है । ये सभी जीव प्रवाल पोलिप्सों के मध्य रहते हैं और प्रवाल पोलिप्स के खोलों को जोड़ने में सीमेन्ट की भूमिका निभाते हैं जिससे अंतत: प्रवाल चट्टानों का निर्माण होता है ।

आमतौर पर प्रवाल भित्तियों और द्वीपों का निर्माण उष्ण कटिबंधीय सागरों में (25° उत्तर से 25° दक्षिण अक्षांश तक) किसी द्वीप या तट के सहारे उपयुक्त गहराई पर स्थित अंत: सागरीय चबूतरों पर होता है ।

सामान्यत: प्रवाल भित्ति की अधिकतम ऊँचाई सागर जल सतह तक ही होती है क्योंकि जल के बाहर ये प्राणी जीवित नहीं रह सकते किन्तु कई परिस्थितियों में उनकी ऊँचाई भूगतियों के कारण जल सतह से सौ मीटर ऊपर तक भी पाई गई है । प्रवाल पोलिप्स की संख्या वृद्धि नर एवं मादा पोलिप्स के संसर्ग से या इसके बिना भी होता है । संसर्ग के बाद ये बहुत अधिक संख्या में अंडे जल में छोड़ते है । निषेचित अंडों से लार्वा और इसके पश्चात् समरूपी पोलिप्स का जन्म होता है । विश्व के अनगिनत द्वीप समूह प्रवाल जनित है जिनमें फुनाफुती ग्रेट बैरियर रिफ, लक्षद्वीप, मालदीव, फीजी, बारमुदा, सोसाइटी द्वीप इत्यादि प्रमुख हैं ।

18.2 प्रवाल के विकास हेतु उपयुक्त दशाऐं (Ideal Conditions for the Developments of Coral Reefs

प्रवाल जीवों का विकास उष्ण कटिबंधीय सागरों में होता है किन्तु उष्ण कटिबंधीय सागरों के उन्हीं भागों में प्रवालों का विकास संभव हो पाता है जहाँ उनके जीवन की कुछ अन्य आवश्यक भौगोलिक दशाऐं भी उपलब्ध हों, जो निम्नलिखित हैं : –

(i) तापमान (Temperature) : प्रवाल बहुत अधिक गर्म या बहुत अधिक ठंडे सागरों में नहीं पाए जाते । इनके लिए 20° से 210° का तापमान उपयुक्त होता है जो उष्ण कटिबंधीय सागरों में पाया जाता है ।

(ii) गहराई तथा जल तल (Depth and Water Level) : प्रवालों का विकास छिछले समुद्रों में होता है । 200 से 250 फीट तक की गहराई इनके लिए उपयुक्त होती है क्योंकि, इस गहराई तक सूर्य का प्रकाश पहुँचता है । सूर्य का प्रकाश शैवाल (जूजैन्थिल) तथा प्लैंकटन के लिए आवश्यक होता है जिनसे प्रवाल का सहजीविता का संबंध होता है । जल मे ऑक्सीजन की पर्याप्त मात्रा भी पादप जगत के द्वारा प्रकाश संश्लेषण की मात्रा पर निर्भर करती है जो प्रवाल के लिए आवश्यक है । गार्डिनर ने कुछ विशेष प्रवालों की गहराई 150 से 170 फैदम (1 फैदम = 6 फीट) तक बताई है किन्तु इतनी गहराई मे पाये जाने वाले

प्रवालों के कोशिकाओं में प्लैंकटन या शैवाल नहीं पाया जाता है और इस तरह ये सूर्य के प्रकाश पर आश्रित नहीं रहते हैं । प्रवाल पोलिप्स जल के बाहर अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकते है, इसलिए प्रवाल भित्तियों की अधिकतम ऊँचाई जल तल तक ही सीमित होती है । जल तल से अधिक ऊँचाई पर प्रवाल भित्तियों के पाये जाने का कारण उन्मज्जन हो सकता है ।

(iii) लवणता (Salinity) : गुएलचर के अनुसार 27% से 40 % तक लवणता वाले जल प्रवालों के विकास के लिए उपयुक्त होता है । अधिक खारापन वाले जल मे चूने का अभाव होता है, जो चूना स्त्रावित करने वाले प्रवालों के भोजन का अभिन्न अंग होता है ।

(iv) स्वच्छ जल और अत्यधिक वर्षा (Soft Water Heavy Rainfall) : स्वच्छ जल तथा वर्षा के जल में प्रर्याप्त लवणता का अभाव पाया जाता है और अत्यधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में प्रवालों का विकास संभव नहीं हो पाता बल्कि उनकी मृत्यु हो जाती है । (होडले) नदियों के मुहाने पर भी समुद्र में लवणता की कमी हो जाती है । जिस कारण यहाँ प्रवाल नहीं पाए जाते है । विषुवतरेखीय क्षेत्र में अत्यधिक वर्षा के कारण यहाँ प्रवालों का विकास देखने को नहीं मिलता ।

(v) जल में अवसाद का आधिक्य (Excess Sediment in Water) : जल मे अत्यधिक अवसाद होने पर प्रवालों की मृत्यु होने लगती है क्योंकि यह अवसाद उनके मुँह में चला जाता है । कुछ प्रवालों की प्रजातियाँ अपने ऊपर के अवसाद को हटाने में समर्थ होती है तथा वो एक हद तक अवसाद युक्त पानी में भी विकसित होती रहती है । नदियों के मुहाने पर भी अवसाद की मात्रा अधिक होने के कारण वहाँ प्रवाल नहीं पाऐ जाते हैं ।

(vi) सागरीय तरंगें और धाराएं (Ocean Waves and Currents) : सागरीय तले प्रवालों के लिए आवश्यक पोषण अनवरत रूप से लाता रहता है जिससे प्रवालों का विकास अवरूद्ध नहीं होता । इनके विपरीत बैंगनों में, जहाँ सागरीय तरंगें नहीं पहुँचती हैं, प्रवाल का अभाव पाया जाता है । महाद्वीपों के पश्चिमी तटों पर ठंडी धाराओं के कारण तापक्रम में कमी के कारण प्रवालों का विकास सामान्यत: नहीं देखा जाता जबकि महाद्वीपों के पूर्वी तटों पर गर्म धाराओं के कारण–इन्हें उपयुक्त तापक्रम और पर्याप्त पोषण मिल पाता है और ये तेजी से विकसित हो पाते हैं ।

(vii) मग्नतट तथा अंत: सागरीय चबूतरे (Continental Shelf and Plateforms) : प्रवाल भित्ति के निर्माण के लिए अत: सागरीय चबुतरों का होना भी आवश्यक है किन्तु चबूतरों की गहराई जल सतह से 50 फैदम (300 फीट) से अधिक नहीं होनी चाहिए । यह देखा गया है कि प्रवाल भित्ति कैम्बियन काल के प्राचीन संरचना पर या आधुनिक अस्थिर बालू पर भी विकसित हो सकते हैं किन्तु ठोस चट्टानी चबूतरों पर इनका विकास बेहतर होता है क्योंकि आधार में अस्थिर संरचना के खिसकने पर प्रवाल भित्ति भी नष्ट होने लगते हैं ।

18.3 प्रवाल भित्तियों के प्रकार (Types of Coral Reef)

प्रवाल भित्तियों को दो आधारों पर विभाजित किया जा सकता है ।

18.3.1 उत्पत्ति तथा सरंचना के आधार पर प्रवाल भित्तियों के प्रकार (Types of Coral Reef according to origin and Structure)

उत्पत्ति तथा संरचना के आधार पर प्रवाल भित्तियों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :

(i) तटीय या अनुतटीय प्रवाल भित्ति (Fringing Reef) : महाद्वीपों अथवा द्वीपों के तटों के सहारे इनका विकास होता है इसलिए इन्हें तटीय प्रवाल भित्ति कहते है । इनका सागरवर्ती ढाल तीव्र होता है जबकि स्थलोन्दुख भाग का ढाल मंद होता है । भित्ति की सतह ऊबड़ - खाबड़–होती है तथा भाटे वाले जल सतर से ऊपर होती है । साधारणत: तट तथा भित्ति के बीच लैगून नहीं पाया जाता और यदि पाया भी जाता है तो वह समय के साथ समाप्त हो जाता है (चित्र – 18.1) । तटीय प्रवाल भित्तियों की चौड़ाई 0.5 कि.मी. से 2.5 कि.मी. तक होती है । तटीय प्रवाल भित्तियाँ न्यू हैब्रिड, सोसाइटी द्वीप समुद्र दक्षिणी फ्लोरिडा तट इत्यादि पर पाया जाता है । भारत में मन्नार की खाड़ी में रामेश्वरम् के निकट भी तटीय प्रवाल भित्ति पाई जाती है ।

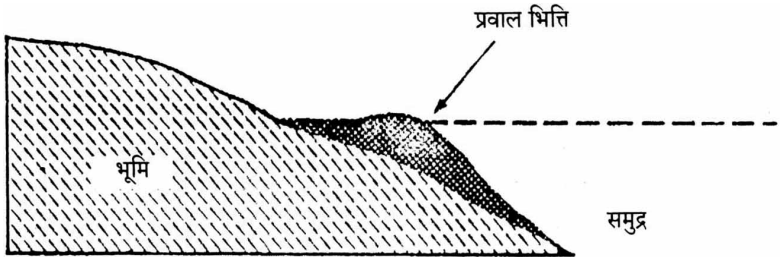

चित्र – 18.1 : तटीय प्रवाल भित्ति

(ii) प्रवाल रोधिका या अवरोधक प्रवाल भित्ति (Barrier Reef) : इस प्रकार की प्रवाल भित्ति सबसे बड़ी और विस्तृत होती है । ये कई किलोमीटर चौड़ी तथा सैकड़ों किलोमीटर लम्बी होती है । इनकी अवस्थिति तट या द्वीप से कुछ हटकर किन्तु तट या द्वीप के समानान्तर होती है । तट तथा भित्ति को एक चौड़ा लैगून पृथक करता है । इनका सागरवर्ती ढाल 45° तक होता है । परन्तु कतिपय उदाहरणों में इनका ढाल 15° से 20° तक होता है । अवरोधक भित्तियाँ बीच–बीच में टूटी होती है तथा ये टूटे हुए भाग लैगून को समुद्र से जोड़ने का काम करते हैं । इन टूटे भागों को ज्वारीय प्रवेश मार्ग (Tidalinlet) कहते हैं जिनसे जलयानों का आना जाना भी संभव हो पाता है । इन भित्तियों का आधार काफी गहराई में (प्रवाल विकास सीमा से अधिक) होता है । भित्तियों का विकास सागरवर्ती भागों में तेजी से होता है जिस कारण भित्ति की ऊँचाई स्थलोन्दुख भाग की अपेक्षा अधिक होती है तथा अवरोध का काम करती है । सागरवर्ती भाग में भित्तियों का तेज विकास वहाँ उपलब्ध पोषक तत्वों के आधिक्य के कारण होता है जबकि लैगून वाले भागों में पोषक तत्वों की कमी, जल का गंदला होना इत्यादि के कारण भित्तियों की ऊँचाई कम होती है (चित्र – 18.2)

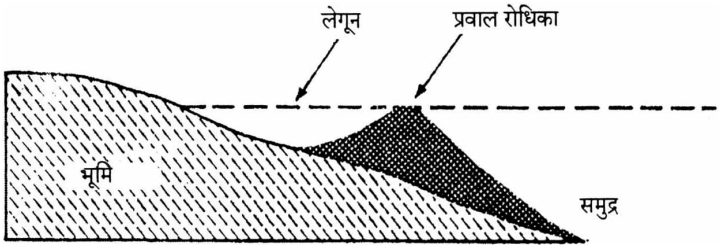

चित्र– 18.2 : प्रवाल रोधिका

ऑस्ट्रेलिया के उत्तर–पूर्वी तट के समीप स्थित ग्रेट बैरियर रीफ संसार की सबसे बड़ी प्रवाल रोधिका जिसकी लम्बाई 1900 कि.मी. है । इसका उत्तरी भाग तट से 130 कि.मी. दूर तथा दक्षिणी भाग तट से 11 कि.मी. दूर है । पूरे विश्व के पर्यटकों का आकर्षण केन्द्र यह प्रवाल रोधिका बेहद ही संकट ग्रस्त है ।

(iii) वलयाकार प्रवाल भित्ति (Atoll) : इसकी आकृति वलयाकार या घोड़े की नाल जैसी होती है। इनकी स्थिति किसी द्वीप के चारों ओर होती है, किन्तु इसका कोई न कोई भाग खुला अवश्य होता है । वलयाकार भित्ति के बीच में लैगून अवस्थित होती है जिसकी गहराई 40 से 70 फैदम तक होती है । भित्ति का विकास सागरीय भाग की ओर तीव्र होता है जबकि लैगून वाले भाग में मंद । सागरीय लहरों तथा ज्वार भाटों के द्वारा इन भित्तियों का लगातार अपरदन होता रहता है तथा अपरदित पदार्थ अनवरत लैगून में जमा होता रहता है। लैगून के छिछलेपन का कारण भी अपरदित पदार्थों का अनवरत निक्षेपण है ।

वलयाकार प्रवाल भित्तियों को उनकी प्रकृति के आधार पर पुन: तीन भागों में विभाजित किया जाता है

(a) बिना द्वीप वाले वलयाकार प्रवाल भित्तियाँ

(b) द्वीप वाले वलयाकार प्रवाल भित्तियाँ

(c) वे एटॉल जिनके बीच प्रारंभ में द्वीप नहीं होता किन्तु बाद में सागरीय अपरदन तथा निक्षेपण के प्रभाव से द्वीप का निर्माण हो जाता है जिसे प्रवाल द्वीप कहा जाता है

एटॉल दक्षिणी चीन सागर, लाल सागर, इत्यादि में बहुतायत से मिलते हैं । प्रशांत महासागर में फुनाफती (Funafuti) एटॉल एक प्रसिद्व एटॉल है ।

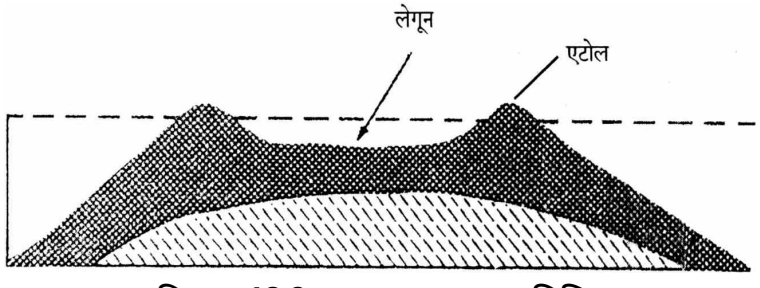

चित्र – 18.3 : वलयाकार प्रवाल भित्ति

18.3.2 अवस्थिति के आधार पर प्रवाल भित्तियों के प्रकार (Types of Conral reef according to locations)

अवस्थिति के आधार पर प्रवाल भित्तियाँ दो प्रकार की होती हैं ।

(i) उष्ण कटिबंधीय प्रवाल भित्तियाँ (Tropical Coral Reef) : ये प्रवाल भित्तियाँ भूमध्यरेखा से 25° उत्तर तथा 25° दक्षिण के बीच पाई जाती है किन्तु अयन रेखा वाले क्षेत्रों में बेहतर विकास की दशाओं के कारण प्रवालों की बस्तियां सघन मिलती हैं । इस क्षेत्र में भी महाद्वीपों के पूर्वी भागों में ये सघन रूप से मिलते है जबकि इन्ही अक्षांशों में महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में ठण्डी जलधारा के कारण प्रवाल भित्तियाँ नहीं पनप पाती ।

(ii) सीमांत प्रदेशीय प्रवाल भित्तियाँ (Marginal Coral Reef) : 25° से 30° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों के मध्य पाये जाने वाले प्रवाल समूह इस श्रेणी में आते हैं । इस क्षेत्र में प्लीस्टोसीन हिमयुग के पूर्व प्रवालों का विकास हो रहा था किन्तु हिमयुग के कारण इस क्षेत्र के सागरीय जल का तापमान बेहद कम हो गया तथा प्रवाल जीवों की मृत्यु हो गई । सागर के जल सतह के नीचे हो जाने के कारण भित्तियाँ जल सतह से काफी ऊपर आ गई और सागरीय अपरदन के कारण विस्तृत सागरीय चबूतरे तथा उथले बैंक में परिणत हो गई। जिन सागरों में हिमयुग के दौरान प्रवाल पूरी तरह नष्ट नहीं हुए वहाँ भित्ति निर्माण का द्वितीय चक्र आरम्भ हुआ । बहामा द्वीप, लघु एंटिलीस, बारमुडा द्वीप इत्यादि इस श्रेणी के प्रवाल भित्तियों के उदाहरण हैं ।

बोध प्रश्न – 1

1. प्रवाल के विकास हेतु चार उपयुक्त भौगोलिक कारकों को बताऐं ।

   .....

   .....

2. क्या प्रवाल स्वयं प्रकाशसंश्लेषण की क्रिया कर सकता हे?

   .....

   .....

3. सागर का कौन सा कटिबन्ध प्रवालों के विकास के लिए उपयुक्त होता है?

   .....

   .....

4. जूंजैन्थिलं क्या है तथा प्रवालों से उनका क्या' संबंध हैं?

   .....

   .....

5. तटीय प्रवाल भित्ति तथा प्रवाल रोधिका में अंतर स्पष्ट 'करें ।

   .....

   .....

6. वलयाकार प्रवाल भित्ति क्या होते हे?

   .....

   .....

18.4 प्रवाल भित्तियों की संरचना (Structure of Coral Reef)

विभिन्न प्रवाल भित्तियों के पार्श्वचित्रों का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनकी संरचना में बहुत हद तक समरूपता है । हालाँकि सभी प्रवाल भित्तियों आकार–प्रकार और प्रकृति मे भिन्न होते हैं और इसलिए इनकी संरचना भी विशिष्ट होती है ,किन्तु मोटे तौर पर सभी प्रवाल भित्तियों की संरचना में समरूपता होती है । प्रवाल भित्तियों की सामान्य संरचना में निम्नलिखित स्थलाकृतियाँ दृष्टिगत होती है (चित्र – 18.4) ।

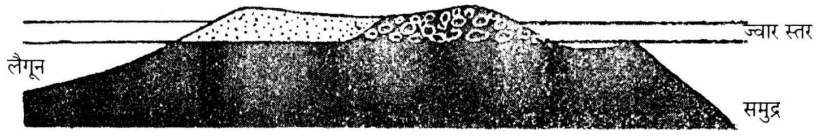

चित्र – 18.4 : प्रवाल भित्ति संरचना

(i) लैगून (Lagoon) : प्रवाल भित्ति तथा तट के बीच लैगून स्थित होता हैं । इनकी तली में चूने का जमाव मिलता है जो प्रवाल भित्ति के दीवारों से अपरदित होकर लैगून की तली में जमा हो जाता है । लैगून में अपरदित पदार्थ न सिर्फ चूना होता है बल्कि सागरीय लहरों के द्वारा तटीय अपरदन से प्राप्त तलछट भी इसमें अनवरत जमा होता जाता है । तलछट के जमा होने से यहाँ प्रवाल की मृत्यु हो जाती है और सामान्यत: लैगून के अंदर भित्तियों का विकास बंद हो जाता है । तलछट के कारण लैगून की गहराई कम होती जाती है जबकि सागरोन्दुख भित्ति का विकास तेजी से होता रहता है । यही भित्ति सागरीय जल को रोके रहती है जिससे लैगून का निर्माण होता है । भित्तियों के टूटे हुए भाग से सागरीय जल लैगून तक पहूंचती रहती है और उनका निकास भी होता रहता है । इन्हे बोट चैनल (Boat Channel) भी कहते है क्योंकि लैगून से सागर के बीच का रास्ता यही टूटे फूटे भाग होते हैं ।

(ii) प्रवाल भित्ति (Coral Reef) : लैगून की बाहरी (सागरीय) सीमा पर प्रवाल भित्ति निम्न ज्वार की ऊँचाई तक विकसित होता है । इसकी सतह उबड़ खाबड़ और दरारयुक्त होती है । समुद्र विज्ञानियों के द्वारा प्रवाल भित्ति में कई अपरदित और निक्षेपित क्षेत्र बताए गए है :

(अ) बालू की पट्टी (Sand Belt) : लैगून से सटे हुए भाग में बालूकी पट्टी होती है जो भित्ति से ऊपर अवस्थित होती है । इस पट्टी में बालू के साथ प्रवाल भित्ति के टुकड़े, चूना युक्त शैवाल, फोरमीनीफेरा, लैगून के तली से अपरदित बालू तथा पास के स्थलीय भाग के अपरदित पदार्थ आदि मिश्रित होते हैं ।

(ब) बदिटका पट्टी (Gravel Belt): बालू की पट्टी के उपरान्त. सागरोन्मुख भाग में अपेक्षाकृत मोटी बदिटकाऐं सागरीय अपरदन के कारण जमा हो जाती है । उनकी औसत ऊँचाई समुद्र तट से 10 से 30 फीट तक होती है । इनकी प्रकृति और चौड़ाई अलग–अलग भित्तियों में अलग–अलग होती है ।

(स) प्रवाल भित्ति (Coral Reef): बदिटका पट्टी के बाद सागर की तरफ का क्षेत्र प्रवाल भित्ति का होता है । यह कटी–फटी, सपाट तथा चूने की चट्टानों से निर्मित होती है

जिसकी अधिकतम ऊँचाई सागरीय जल के निम्न स्तर से कुछ इंच तक ऊँची होती है। भित्ति के किनारे जो आसपास के क्षेत्र से एक फीट तक ऊँची होती है, चूना युक्त स्पगाई, पोरोलिथॉन से बनी होती है।

18.5 प्रवाल भित्ति की उत्पत्ति से संबंधित सिद्धांत (Theories related with Origin of कोरल Reef)

प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति के संदर्भ में विद्वानों के मत एक नहीं है । तटीय या अनुतटीय प्रवाल भित्ति (Frnging reef) की उत्पत्ति के संदर्भ में ज्यादा विवाद नहीं है । विद्वानों के अनुसार, किसी द्वीप या महाद्वीप के स्थल भाग के चारों ओर जलमग्र चबूतरों पर प्रवाल भित्तियों का निर्माण शुरू हुआ । शनै: शनै: इन चूना युक्त चट्टानों के ऊपर प्रवाल पोलिप परत दर परत ऊपर उठते और सागर के निम्न ज्वार तल तक ही ऊँचाई पर आ गए । प्रवालरोधिका, एवं प्रवाल वलय की उत्पत्ति के संदर्भ में जो भी व्याख्यायें की गई हैं, वो सभी प्रश्नों के उत्तर दे सकने में समर्थ नहीं दिखती । लैगून की गहराई कहीं –कहीं 60 मीटर से भी अधिक पाई गई है तो कहीं प्रवाल भित्तियों की गहराई 150 फैदम से भी अधिक है । इस गहराई पर प्रवाल पोलिप का जीवित रह पाना ही संभव नही है, फिर भित्तियों का निर्माण कैसे संभव हो पाया? जहाँ भी प्रवाल भित्तियाँ पाई गई है उन सभी जगहों पर आदर्श गहराई पर जलमग्न चबूतरे मिल गए होगें यह भी संदेह का विषय है । प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति से संबंधित सिद्धांतों को दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है : (1) अवतलन सिद्धान्त (11) स्थिर स्थल सिद्धान्त ।

18.5.1 डार्विन का अवतलन सिद्धांत (Subsidence Theory of Darwin)

प्रवाल भित्ति की उत्पत्ति से संबंधित पहला तार्किक और वैज्ञानिक सिद्धांत चार्ल्स डार्विन ने 1837 में प्रतिपादित किया तथा अपने बीगल द्वीप के प्रवाल भित्तियों के अन्वेषण के उपरांत 1842 में इस सिद्धान्त का परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया । डार्विन के पहले कैमिसो (Chamisso) महोदय ने भी प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति से संबंधित परिकल्पना प्रस्तुत की थी किन्तु पर्याप्त वैज्ञानिक साक्ष्यों का इसमें अभाव था ।

डार्विन ने अपने सिद्धांत में यह बताया कि प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति निमज्जित (Subsidence) होते हुए द्वीपों अथवा तटों पर होती है । चूँकि प्रवाल पोलिप समुद्र तल से कुछ गहराई तक जीवित रह सकते है इसलिए जैसे जैसे द्वीपों का अवतलन होता गया, प्रवाल उसी गति से भित्तियों का निर्माण करते रहे जिससे जीवित प्रवाल पोलिप की गहराई 30 फैदम से अधिक गहरी नहीं हो पाई । डार्विन महोदय की मान्यता थी कि सभी प्रवाल भित्तियाँ सबसे पहले किसी द्वीप के चारों तरफ प्रवाल भित्ति (Fringing reef) के रूप में विकसित होने लगी। उन द्वीपों के अवतलन के साथ प्रवाल पोलिप अपने आपको समुद्र के (Photic Zone) में रखने हेतु लगातार भित्तियों का निर्माण करते रहे तथा उनकी ऊँचाई मृत प्रवालों की भित्तियों के ऊपर बढ़ती रही । प्रवाल भित्तियों की वृद्धि स्थलोन्मुख भाग की अपेक्षा

सागरोन्मुख भाग में ज्यादा तीव्र रही, क्योंकि प्रवाल पोलिप के जीवन के लिए अनुकूल दशाऐं सागरोन्मुख भाग में बेहतर रही । प्रवाल भित्तियों के बाहय (सागरोन्मुख) भागों की तीव्र वृद्धि के कारण ये तटीय प्रवाल भित्तियाँ **प्रवाल रोधिका (Barrier reef)** में बदलते गए । इन द्वीपों के चारों ओर विकसित इन प्रवाल रोधिकाओं और द्वीप के बीच लैगून **(Lagoon)** का विकास हुआ । चूँकि प्रवाल भित्तियों का स्थलोन्दुख भाग प्रवाल पोलिप के जीवन हेतु अनुपयुक्त थे, (पोषण की कमी, जल में चूने की कम मात्रा तथा अवसाद) इसलिए स्थलोन्मुख भाग में भित्तियों का निर्माण बंद हो गया और पुराने भित्ति सागरीय तरंगों, ज्वार–भाटाओं आदि से अपरदित होते रहे । ये अपरदित पदार्थ तथा स्थलीय भाग के अवसाद इन लैगूनों की गहराई को कम करते रहे तथा सागरोन्मुख प्रवाल भित्तियों की सतत वृद्धि से इनका विस्तार बढ़ता रहा । इन प्रक्रियाओं के बीच द्वीप का निमज्जन भी होता रहा और इस प्रकार कात्मंतर में द्वीप के पूरी तरह निमज्जित होने के बाद प्रवाल रोधिका प्रवाल **वलय (Atoll)** के रूप में परिणत हो गए । निमज्जित वृद्धि पर लगातार अवसाद के परत बिछते गए जिससे लैगून हमेशा छिछला बना रहा । इस प्रकार प्रत्येक प्रवाल वलय निमज्जित द्वीप के ऊपर बने है (चित्र–18.5) ।

सिद्धांत के पक्ष में प्रमाण (Evidence in favour of Theory)

डार्विन के सिद्धांत के प्रबल समर्थक जे एच डाना रहे । उन्होंने अपनी कई यात्राओं तथा अन्वेषणों के बाद डार्विन के अवतलन सिद्धांत को और अधिक पुष्ट किया । इनके सिद्धांत को मजबूती प्रदान करनें वाले कुछ तथ्य निम्नलिखित है :

(i) ग्रेट बैरियर रिफ के निकटवर्ती क्वींसलैंड तट तथा इंडोनेशिया सागर का तट तथा कई अन्य स्थानों पर निमज्जित घाटी के प्रमाण मिले है जो डार्विन के सिद्धांत की पुष्टि करते हैं ।

(ii) प्रवाल भित्तियों से संबंधित द्वीपों के तट पर या तो भृगु (Cliff) का अभाव मिला है जलमग्र भृगु दृष्टिगत है । दोनों ही बिन्दु द्वीपों के अवतलन को सिद्ध करते हैं क्योंकि मृगु स्थिर क्षेत्रों में ही दिखते हैं ।

(iii) प्रशांत महासागर के कई क्षेत्र जो उन्मग्न (Emerged) हुए है वहाँ प्रवाल रोधिका या प्रवाल वलय नहीं दिखते तथा जहाँ ये दिखते है वहां स्थल या द्वीप के उन्मग्र होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। यह इस बात को साबित करता है कि प्रवाल भित्तियों का निर्माण निमजित होते हुए द्वीपों पर ही हुआ।

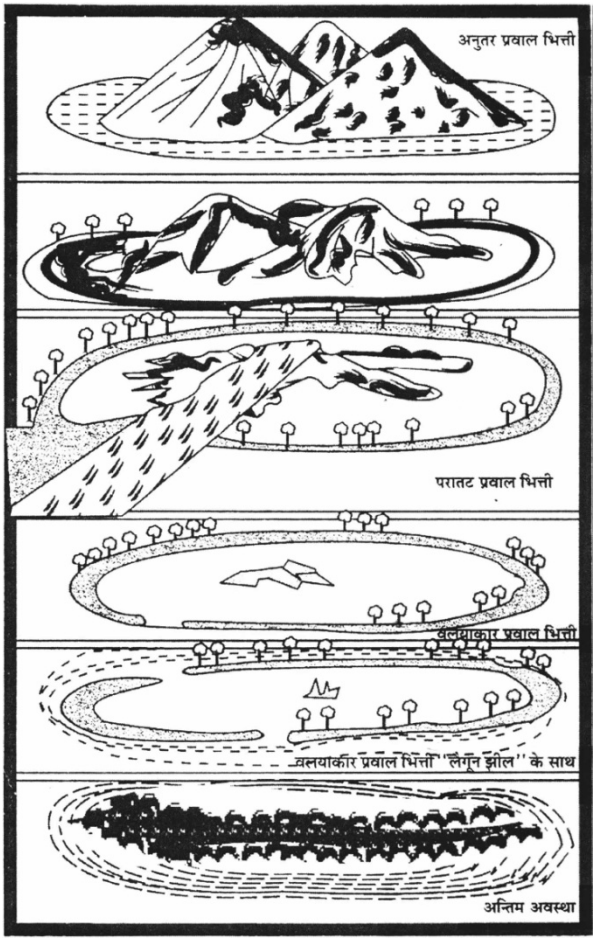

चित्र – 18.5 : डारविन डाना का स्थल धैसाव मत

(iv) प्रवाल पोलिप के जीवित रहने और भित्तियों के निर्माण हेतु अधिकतम 30 फैदम की गहराई आदर्श मानी गई है क्योंकि इससे अधिक गहराई में ये जीवित नहीं रह सकते । कई स्थानों पर भित्तियों की गइराई 90 से 100 फैदम तक पाई गई है । इतनी गहराई तक भित्तियों का पाया जाना द्वीप के सतत् निमग्र होने को प्रमाणित करते हैं ।

(v) 1896 में सर एगवर्थ डेविड तथा सोलास के द्वारा फुनाफती एटॉल का अध्ययन किया गया। प्रवाल भित्तियों पर कई जगह किए गए वेधनों, (Boring) से अलग–अलग गहराई से निकले हुए पदार्थो के नमुने लिए गए कुल 1114 फीट तक किए गए वेधन से प्राप्त नमूने में धरातल से 150 फीट तक की गहराई से प्रवाल जीवाशेष, 750 फीट तक की गइराई से प्रवाल चट्टानों के चूर्ण तथा उसके नीचे चूना पत्थर तथा इसके कायांतरण से बने डोलोमाइट के चूर्ण प्राप्त हुए । भू–वैज्ञानिकों के अनुसार चूना पत्थर से कायांतरित डोलोमाइट का पाया जाना यह बताता है कि कायांतरण की क्रिया छिछले सह में हुई होगी किन्तु द्वीप के अवतलन के साथ डोलोमाइट इतनी गहराई तक पहुँच गया । कई अन्य प्रवाल भित्तियों के वेधन से प्राप्त नमूने भी इसी बात को पुष्ट करते हैं ।

सिद्धांत के विपक्ष में प्रमाण (Evidence against Theory)

(i) डार्विन के अनुसार तीनों प्रकार की प्रवाल भित्तियाँ समय के साथ एक के बाद दूसरे और तीसरे रूपों (तटीय–रोधिका–वलय) में परिवर्तित हो जाती हैं । किन्तु एक ही तट पर तटीय प्रवाल भित्ति और प्रवाल रोधिका पाऐ गए है जिसकी व्याख्या इस सिद्धांत से नहीं हो पाती

(ii) टिमुर क्षेत्र में निमज्जन का कोई प्रमाण नहीं मिलता किन्तु वहाँ प्रवाल रोधिका और वलयाकार प्रवाल देखने को मिलता है, जो डार्विन के अवतलन सिद्धांत के विपरीत है । (अगासीज तथा सैम्पर)

(iii) प्रशांत महासागर में प्रवाल भित्तियों के सैकड़ों उदाहरण हैं और उन सभी जगहों पर अवतलन हुआ, इस बात पर विवाद है ।

(iv) डार्विन के द्वारा सेम्पर और अगासीन को लिखे पत्र में उन्होने स्वयं स्वीकार किया है कि जलमग्र क्रेटर झील के चारों ओर विकसित प्रवाल भित्ति भी वलयाकार प्रवाल के समान दिखेंगे । इससे यह साबित होता है कि प्रवाल वलय, बिना अवतलन के भी संभव है ।

(v) सान्ता अन्ना प्रवाल द्वीप में भित्ति की मोटाई मात्र 60 मीटर है । यह एक उन्मग्र (emeged) द्वीप है । जावा के दक्षिण में क्रिसमस द्वीप में भी अवतलन के बजाय उन्मजन के प्रमाण मिले है ।

डार्विन के सिद्धांत के विरूद्ध इतने सारे तर्कों और वैज्ञानिक तथ्यों के बाद भी यह सिद्धांत अपनी जगह अडिग है तथा प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति की वैज्ञानिक व्याख्या में सक्षम है ।

18.5.2 मुरे, आगासीज, गार्डिनर, रीन, हार्टन इत्यादि विद्वानों का स्थिर स्थल सिद्धांत (stand still Theory)

अवतलन या निमज्जन सिद्धांत के आलोचक विद्वानों की विचारधारा जो स्थिर स्थल विचारधारा कहलाती है, को दो वर्गो में रखा जा सकता है :

हिमयुग के कारण सागर जल स्तर में परिवर्तन :

डेली का हिमनद नियंत्रण सिद्धान्त (Glacial Control Theory of Daly)

डेली ने 1909 मे हवाई द्वीप के मौना कीया प्रवाल का अध्ययन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि प्रवाल भित्तियों का विकास प्लीस्टोसीन, हिमयुग के बाद शुरू हुआ । 1915 में उन्होंने हिमनद नियंत्रण सिद्धांत का प्रतिपादन किया और यह बताया कि स्थलखंड या द्वीप अपनी जगह स्थिर रहे किन्तु हिमयुग के कारण समुद्र के जल तल और तापमान में परिवर्तन आया और इस परिवर्तन के अनुरूप ही प्रवाल भित्तियों का विकास हुआ ।

डेली महोदय के अनुसार प्लीस्टोनसीन हिमयुग मे सागर जल का बहुत बड़ा भाग स्थलखंडों पर हिम में परिवर्तित हो गया जिससे सागर जल स्तर 33 से 38 फैदम तक नीचे चला गया । इस समय सागरीय जल का बेहद कम तापमान प्रवाल जीवों के अनुपयुक्त था इसलिए इन जीवों की मृत्यु हो गई । इस समय समुद्र के जल तल से ऊपर उठे हुए द्वीपों का सागरीय तरंगों के द्वारा अपरदन कर दिया गया । हिमयुग की समाप्ति के साथ बर्फ के पिघलने से पुन: समुद्र का जल स्तर तथा तापमान बढ़ने लगा । तरंगों के द्वारा काटे गए द्वीप पर पुन : जीवित बचे या नए प्रवाल पोलिप के द्वारा भित्ति का निर्माण शुरू हुआ जिसकी विकास दर

सागर के बढ़ते हुए जलस्तर के अनुरूप थी । सँकड़े अपरदित चबूतरों पर रोधिका प्रवाल तथा वृहत चबूतरों पर प्रवाल वलय का विकास हुआ । भित्तियों के मध्य छिछले लैगून का निर्माण हुआ (चित्र – 18.6) । क्लिफ खे जल तल –

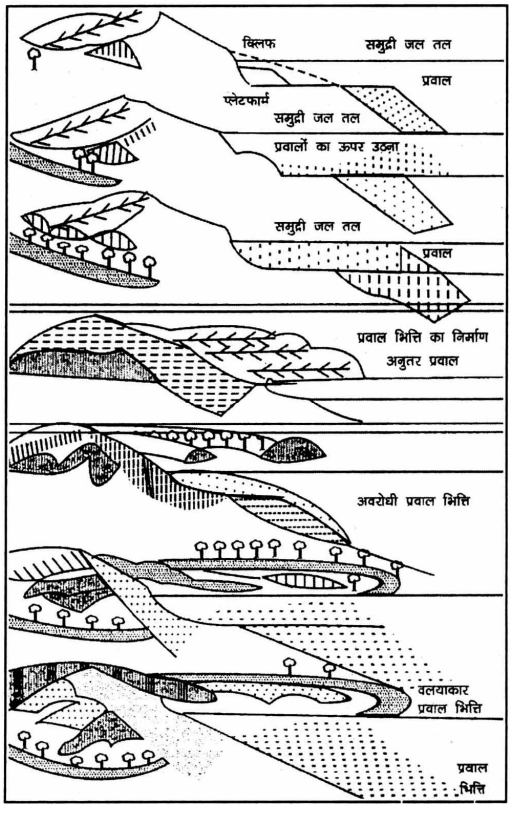

चित्र – 18.6 : डेली का हिमनद नियंत्रण सिद्धान्त

सिद्धांत के पक्ष में प्रमाण (Evidence in favour of Theory)

(i) मार्शल द्वीप के बिकनी वलयाकार प्रवाल भित्ति तथा फुनाफुटी प्रवाल द्वीप पर किए गए वेधनों से प्राप्त नमूने इस सिद्धांत के पक्ष में जाते हैं ।

(ii) हिमयुग की समाप्ति के बाद सागर जल स्तर में वृद्धि के साथ प्रवाल भित्ति भी विकसित होते गए जिसकी गति एक मीटर प्रति तीस वर्ष थी, यह वैज्ञानिक तथ्यों से पुष्ट होता है ।

(iii) प्लीस्टोसीन हिमयुग के समय सागरीय लहरों के द्वारा जल तल से ऊपर उठे हुए सभी द्वीपों, कंटकों आदि को जल स्तर तक अपरदित कर दिया गया जिससे जलमग्र सभी चबूतरों की गहराई लगभग समान रही । अन्वेषणों से इस तथ्य की सत्यता सिद्ध होती है ।

सिद्धांत के विपक्ष में तर्क (Evidence against Theory)

(i) डेली के अनुसार समान गहराई वाले जलमग्र चबूतरों पर विकसित सभी वलयाकार प्रवाल के लैगून की गहराई समान होनी चाहिए, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है ।

(ii) डेली ने लैगून के चौरस तल का कारण भृगुओं, द्वीपों आदि को लहरों द्वारा अपरदित समतल सतह बताया है किन्तु लैगून का चौरस सतह तलछट के निक्षेप के कारण है ।

(iii) अपरदित भृगुओं और वेदिकाओं के निकट ही उन्मग्र द्वीप स्थित हैं – उनका अपरदन हिमयुग में क्यों नहीं हुआ, इसके विषय में डेली ने कुछ नहीं बताया ।

(iv) मालदीव के समीप नजारेथ प्लेटफार्म 350 कि॰मी. लम्बा तथा 100 मीटर चौड़ा है । इतना विस्तृत चबूतरा लहरों द्वारा अपरदित होना संभव नहीं दिखता ।

(v) यदि निम्न जल स्तर के साथ लहरों के अपरदन के फलस्वरूप चबूतरों का निर्माण हो जाता है तो निश्चय ही उन बलवती लहरों से भृगुओं की रचना भी होनी चाहिए किन्तु भृगु प्रवाल भित्तियों में बहुत कम ही देखे गए । डार्विन तथा डेली ने प्रवाल द्वीपों के निर्माण की व्याख्या करने में अलग अलग आधार लिए हैं । दोनों ही सिद्धांत बेहद ही तार्किक और वैज्ञानिक हैं। प्रवाल भित्ति के जन्म से संबंधित प्रश्नों का हल ढूँढने में इन दोनों सिद्धांतों का मेल आवश्यक लगता है । क्योंकि दोनों ही सिद्धांत अकेले में बहुत सारे प्रश्नों के उत्तर देने में सक्षम नहीं हैं ।

मुरे का स्थिर स्थल सिद्धांत (Stand Still Theory– Murray)

1872 – 76 के दौरान अपने चैलेन्जर अभियान के दौरान इन्होंने प्रशांत महासागर में चूना के निक्षेपण युक्त कई निम्नग्त ज्वालामुखी चोटियों का अवलोकन किया और 1880 में इन अवलोकनों के आधार पर अपने सिद्धांत का प्रतिपादन किया । यह सिद्धांत दो मान्यताओं पर आधारित था:

- समुद्र का जल तल अपरिवर्तित
- स्थिर स्थल

स्पेन्सर महोदय का विचार भी मुरे से काफी मिलता जुलता है । इनके अनुसार सागर में कई चोटियाँ सागर जल स्तर से ऊपर उठी होती है तथा कई जल स्तर से नीचे । ऊपर उठी हुई चोटियों पर अनवरत लहरों के द्वारा अपरदन होता रहा जिससे ये चोटियाँ जल स्तर से नीचे उस गहराई उस दी गई जो प्रवाल भित्तियों के विकास हेतु अनुकूल थीं । दूसरी ओर अधिक गहरी चोटियों सामुद्रिक ऊज जमा होता रहा तथा उनकी ऊँचाई भी प्रवाल भित्ति के विकास आदर्श ऊँचाई पहुँच । इन चक्षरों पर प्रवाल भित्ति का विकास ज्यादा तेज हुआ जिससे ये होती गई जबकि आंतरिक भाग में चुनायुक्र ' पर लगातार घोलन क्रिया (Solution) होती रही और लैगून की गइराई बढ़ती । मुरे ने तटीय प्रवाल भित्ति के क्रमिक विकास के कारण प्रवाल रोधिका के निर्माण की बात । वलयाकार प्रवाल भित्ति के विकास में उन्होंने घोलन क्रिया को महत्वपूर्ण बताया जिससे लैगून छिछला और विस्तृत होता रहा तथा भित्ति सागरोन्मुख भाग उपयुक्त दशाओं में तेजी से विकसित हुआ (चित्र– 18.7) ।

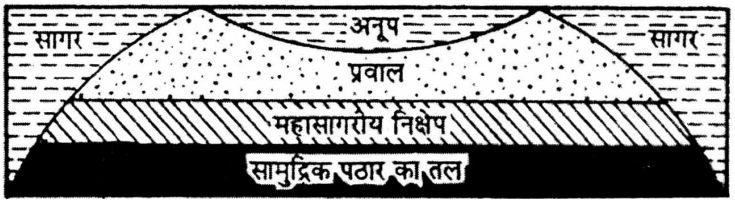

चित्र – 18.7 : मुरे के अनुसार प्रवाल की रचना

सिद्धांत के पक्ष में प्रमाण (Evidence in favour of Theory)

(i) चूने का पत्थर समुद्री जल से प्रतिक्रिया कर अवश्य घुल है तथा इससे लैगून का विकास संभव है ।

(ii) जल सतह से ऊपर उठे हुए चोटियों के अपरदन से संबंधित भी साबित हुए हैं ।

(iii) सागर में निमग्न चोटियों पर सागरीय ऊज का प्रभाव तार्किक है

(iv) वाघन, गुप्पी डा मेयर, ली काटे आदि विद्वानों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है ।

सिद्धांत के विपक्ष में प्रमाण (Evidence against Theory)

(i) जलस्तर से ऊपर उठे हुए चोटियों का अपरदन तो तार्किक है किन्तु निमग्न चोटियों का अपरदन जल स्तर के नीचे भी होता रहा वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं ।

(ii) जलमग्र चोटियों की तेज ढाल पर ऊजों के निपेक्षण से चबूतरा भी तार्किक नहीं है क्योंकि ढाल पर ऊज टिक नहीं सकते ।

(iii) चोटियों पर उन्होंने अपरदन और निक्षेपण की बात कही । जल से 30 फैदम नीचे के चोटियों पर अपरदन और अन्यत्र निक्षेपण का होना भी संभव प्रतीत नहीं होता है ।

(iv) मुरे द्वारा वर्णित प्रवाल वलय के अंदर विलय लैगून की उत्पत्ति पर कई विद्वान असहमत हैं ।

(v) यदि स्थल स्थिर है तो लैगून अवसाद द्वारा भर दी जाएगी और उसका अस्तित्व समाप्त हो

(vi) मुरे के अनुसार प्रवाल की गहराई 180 फीट से अधिक नहीं हो सकती किन्तु इससे बहुत अधिक गहराई तक प्रवाल भित्तियाँ पायी जाती हैं ।

कुछ अन्य सिद्धांत/मत (Some other theories/hypothesis)

गार्डिनर (1903) का मत (Gardinar's Hypothesis)

हिन्द महासागर में लक्षद्वीप तथा मालदीव के अन्वेषण के बाद इन्होंने स्थिर स्थल तथा स्थिर जल स्तर को आधार बनाते हुए प्रवालभित्तियों के विकास से संबंधित अपना मत दिया । इन्होंने बताया कि बहुत अधिक गहराई की प्रवाल भित्तियाँ गहरे सागर के प्रवालों के द्वारा निर्मित हुई (40 से 170 फैदम की गहराई तक) इन प्रवालों ने तरंगों द्वारा अपरदित चबूतरों पर भित्तियों की रचना की । जब इन भित्तियों की ऊँचाई जल तल से 30 फैदम रह गई तो गहरे सागर के मृत प्रवालों और उनकी भित्तियों पर साधारण प्रवालों ने भित्तियों का निर्माण शुरू किया ।

आलोचना : भूगर्भ शास्त्रियों के अनुसार तरंगों द्वारा सागर की उस गहराई तक (40–170 फैदम) अपरदन कर पाना असंभव है फलत: गार्डिनर द्वारा कल्पित, अपरदित चबूतरे वैज्ञानिक तथ्यों के विपरीत हैं । दूसरे ,गहरे सागर की प्रवालों की प्रजाति पर भी उन्होंने समुचित प्रकाश नहीं डाला है ।

अगासीज का अपरदन सिद्धांत (Agasiz's erosion theory)

समुद्री लहरों द्वारा स्थिर स्थल और द्वीपों को काटकर जलमग्र प्लेटफार्मो की रचना कर दी जाती है । इन प्लेटफार्मो पर प्रवालों के द्वारा भित्तियों की रचना शुरू कर दी जाती है । तटीय प्रवालों के विस्तार से प्रवाल रोधिका बनती है तथा प्रवाल रोधिका के मध्य स्थित लैगून में भी

सागरीय लहरों द्वारा मध्य में अपरदन जारी रहता है जिससे लैगून का विकास होता है । उसी अपरदन के कारण लैगून के मध्य स्थित द्वीप भी अंतत: अपरदित कर दिए जाते हैं (चित्र - 18.8) ।

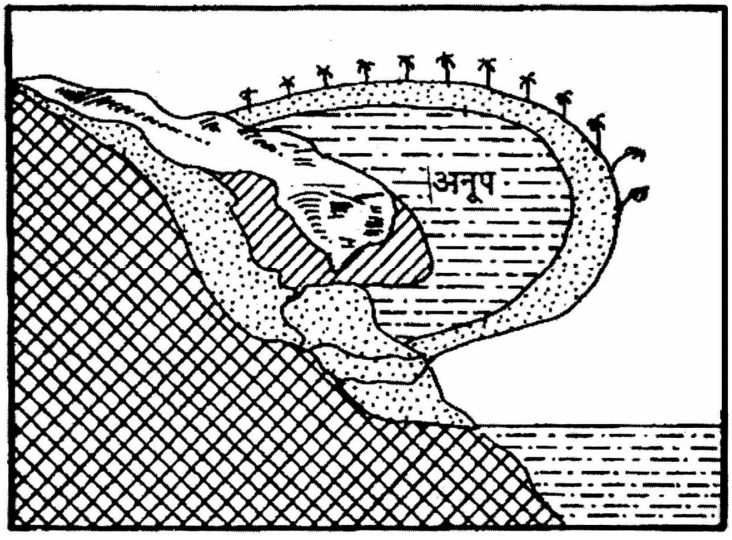

चित्र - 18.8 : अगासाज क अनुसार प्रवाल रचना का विकास

आलोचना

प्रवाल रोधिका के विकसित होने के बाद भी सागरीय लहरों द्वारा रोधिका के अंदर स्थित लैगून का कटाव करती रहती है – अवैज्ञानिक है । अगासीज ने प्रवाल सागरों के सीमांत प्रदेशों में भृगु पाये जाने की बात कही है, जबकि ज्यादातर प्रवाल सागरों के सीमांत प्रदेशों में मृगु का अभाव पाया गया है ।

डेविस की परिकल्पना (Davis's Hypothesis)

डेविस (1914–18) ने भौतिक कृति (Physiography) के प्रमाणों के आधार पर प्रवालों का अध्ययन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि प्रवाल स्थल कृतियों की उत्पत्ति में प्रथम अवतलन (निमज्जन) या उन्मज्जन (Subsidence or emmergence) एवं द्वितीय, जल तल में बदलाव; दोनों ही कारकों का योगदान होता है । उनका सिद्धान्त कोई नवीन सिद्धान्त नहीं था अपितु उन्होंने डार्विन के अवतलन सिद्धांत को ही नये तथ्यों एवं प्रमाणों के संदर्भ में वैज्ञानिक रूप प्रदान किया । इन्होंने अवतलन और जल स्तर में परिवर्तन, दोनों के आलोक में प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति की व्याख्या की । डेविस के संकल्पना के बाद डार्विन के अवतलन सिद्धांत को फिर से एक नई गति मिली ।

डेविस ने यह बताया कि प्रवाल सागरों में कटी फटी तट रेखा स्थल या द्वीप के निमज्जन या अवतलन (Subsidence) के प्रमाण हैं । यदि इन क्षेत्रों में स्थलखंड स्थिर रहे होते है तो भृगु (Cliff) अवश्य ही दृष्टिगत होते जो साधारणत: प्रवाल सागरों में अनुपस्थित हैं । डेविस ने यह भी बताया कि लैगून की तली असली नहीं है बल्कि यह अवसादों से बनी है । चूंकि अवतलन के साथ लैगून भी नीचे धँसती रही इसलिए अवसाद से यह भरा नहीं, बल्कि इस कारण लैगून छिछली बनी रही । स्थिर स्थल सिद्धांतों को सच माना जाये तो ये लैगून अनवरत

अवसादीकारण से भर जायेंगे और अवसादयुक्त जल की अधिकता से सागरोन्मुख भाग के भित्ति पर अवस्थित जीवित प्रवाल पोलिपों की भी मृत्यु हो जाऐगी और भित्ति निर्माण की प्रक्रिया बंद हो जाएगी ।

मोलेन्ग्राफ तथा गार्डिनर ने भी यह बताया कि प्रवालों के निरंतर विकास से भित्ति के भार में वृद्धि होगी जो अतत: संतुलन बनाए रखने की दृष्टि से अवतलन का पोषक है । समस्थिति (Isostasy) का सिद्धान्त भी अवतलन सिद्धान्त की पुष्टि करता है ।

उपर्युक्त सभी सिद्धांतों और परिकल्पनाओं पर चर्चा के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि स्थलखंड का निमज्जन या उन्मग्रन तथा सागर तल मे परिवर्तन प्रवाल भित्तियों के विकास में सहायक रही ।

डार्विन का अवतलन सिद्धांत तथा डेली का हिमनद नियंत्रण सिद्धांत का मिला जुला रूप प्रवाल भित्ति समस्या को बेहतर ढग से व्याख्या करता है ।

18.6 प्रवाल भित्तियों का महत्व (Importance of Coral Reefs)

प्रवाल भित्तियाँ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से बेहद ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं । भित्तियों में स्थित असंख्य छिद्र तथा दरारों में सागर की 25% प्रजातियाँ निवास करती हैं । यह विश्व की सबसे पुरानी तथा बेहद ही उत्पादक पारिस्थितिकी तंत्र (ecosystem) है । दूसरे शब्दों में कहें तो जैव विवधता का भंडार यह परितंत्र सागर का वर्षावन कहा जाता है । यह तंत्र सागर के जल में घुले हुए कार्बन डाई ऑक्साइड के एक भाग को लम्बे समय के लिए अवशोषित कर कार्बन चक्र में भी भाग लेता है । यह तटीय भागों के कवच के रूप में भी काम करता है तथा इन्हें अपरदन से बचाता है ।

इसके अनगिनत आर्थिक लाभ भी हैं । ये हमें मछलियाँ, दवाईयाँ, भवन निर्माण सामग्री आदि भी उपलब्ध कराता है । पर्यटकों का आकर्षण केन्द्र यह पारिस्थिकीय तंत्र उस देश को समुचित आर्थिक लाभ भी देता है ।

वर्तमान में अत्यधिक पर्यटन, प्रदूषण तापमान वृद्धि, आर्थिक दोहन इत्यादि के कारण विश्व का यह अनमोल धरोहर खतरों से जूझ रहा है ।

बोध प्रश्न – 2

1. प्रवाल भित्ति की उत्पत्ति से संबंधित अवतलन सिद्धांत के प्रतिपादक कौन हैं?

   .....

   .....

2. हिमनदों नियंत्रण सिद्धांत के प्रतिपादक कौन थे

   .....

   .....

3. किस विद्वान ने भौतिकाकृति के प्रमाणों के आधार पर प्रवाल भित्ति की उत्पत्ति की व्याख्या की?

   .....

   .....

4. विश्व की सबसे बड़ी प्रवाल रोधिका का नाम बताऐं ।

.....

.....

5. किन प्रकार की भित्तियों में लैगून अवस्थित होता है?

.....

.....

6. भित्तियों के निर्माण में सबसे प्रमुख समुद्री जीव की प्रजाति कौन सी है?

.....

.....

18.7 सारांश (Summary)

प्रवाल भित्ति प्रकृति के अनमोल धरोहर हैं । सागरीय जैवविवधता का बहुत बड़ा भाग प्रवाल भित्तियों से संबंधित है । यह साधारणत: उष्ण कटिबंधीय छिछले सागरों में विकसित होते हैं । इनकी उत्पत्ति से संबंधित अनेक सिद्धान्त है किन्तु वैज्ञानिक व्याख्या के दृष्टिकोण से डार्विन के "अवतलन सिद्धान्त" तथा डेली के "हिमनद नियंत्रण सिद्धांत" को ज्यादा मान्यता मिली । वर्तमान में यह कई प्रकार के पारिस्थितिकीय समस्याओं से जूझ रहा है जिनका निदान आवश्यक है ।

18.8 शब्दावली (Glossary)

- **प्रवाल भित्ति :** समुद्र में चूना पत्थर से बनी एक भित्ति, जिसमें प्रवाल पोलिप कॉलनियों के संचित कंकाल पाये जाते हैं ।
- **प्रवाल पोलिप :** (जा समुद्री लघु जीव (आधा इंच व्यास) जो समूह में रहते हैं तथा समुद्र के जल से कैल्सियम कार्बोनेट प्राप्त कर अपने लिए खोलों की रचना करते हैं जो कालांतर में भित्तियों का रूप ले लेती हैं ।
- **अंत: सागरीय चबूतरा :** सागर के अंदर द्वीपों, कटकों इत्यादि को सागरीय लहरों द्वारा काटकर बनाया गया चबूतरा ।
- **तटीय प्रवाल भित्ति :** तटों से सटी हुई प्रवाल पोलिप के द्वारा निर्मित चूने पत्थर और डोलोमाइट् से बनी भित्ति जिसमें लैगून नहीं पाया जाता इनका सागरोन्मुख किनारा अत्यधिक ढाल तथा स्थलोन्मुख भाग कम ढाल वाला होता है ।
- **प्रवाल रोधिका :** तटों के किनारे फैली हुई विस्तृत प्रवाल भित्ति जिसमें भित्ति और तट के बीच छिछला लैगून पाया जाता है ।
- **वलयाकार प्रवाल भित्तियाँ या एटॉल** : गोल, अंडाकार या घोड़े की नाल के आकार की प्रवाल भित्ति जिसके मध्य छिछला लैगून अवस्थित होता है ।
- **बोट चैनल :** वलयाकार प्रवाल भित्तियों के टूटे फूटे भाग जो नाव के लिए रास्ता का काम करते है, बोट चैनल कहलाते हैं ।

- **हिमयुग :** पृथ्वी के इतिहास में वह काल जब तापमान की कमी के कारण महाद्वीपों और महासागरों का बहुत बड़ा भाग हिम से ढक गया था । सबसे अधःतन हिमयुग 10 से 15 हजार वर्ष पूर्व तक (प्लीस्टोसीनय काटरनरी) रहा ।

18.7 संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. शर्मा, एच.एस, शर्मा, एम.एल. व मिश्रा, आर. एन. : **"भौतिक भूगोल"** पंचशील प्रकाशन,जयपुर, 2007
2. सिंह, सविन्द्र : **"भौतिक भूगोल"** वसुंधरा, प्रकाशन गोरखपुर, 1995
3. लाल, डी.एस. : **"जलवायु तथा समुद्र विज्ञान"** शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2001
4. गौतम, अलका : **"जलवायु एवं समुद्र विज्ञान",** रस्तोगी प्रकाशन, मेरठ, 2003
5. King C.A.M : **"Oceanography"** Arnold, London, 1975
6. Sharma R.C. and M.Vatal : **"Oceanography for Geographers"** Chaitanya Publishing House, Allahbabad,1992

18.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1. (i) तापमान 20° से 21°C
   (ii) 200 से 250 फीट गहराई ।
   (iii) 270/0 से 40/0 जल लवणता ।
   (iv) स्वच्छ जल तथा अत्यधिक वर्षा ।
2. नहीं
3. उष्ण कटिबंध
4. प्रवाल पोलिप के रंग इनके उत्तकों में पलने वाले जूजैचिल नामक सूक्ष्म एक कोशिका वाले शैवाल से मिलता है ये सूक्ष्म जीव प्रवालों के लिए प्रकाश संश्लेषण की क्रिया से उनको ऊर्जा (भोजन) और ऑक्सीजन उपलब्ध कराते हैं ।
5. तटीय प्रवाल भित्ति महाद्वीपों तथा द्वीपों के तटों के सहारे होती है प्रवाल रोधिका की स्थिति तट के कुछ हटकर होती है ।
6. इनकी आकृति वलयाकार या घोड़े की नाल जैसी होती है तथा ये किसी द्वीप के चारों ओर होती है ।

बोध प्रश्न - 2

1. चाल्स डार्विन
2. आर.ए डेली
3. डब्ल्यू.एम.डेविस
4. प्रवाल रोधिका तथा वालायाकार प्रवाल भित्ति
5. प्रवाल पोलिप

18.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्रवाल भित्तियाँ है? कितने प्रकार की होती है तथा काहां–काहां पाई है?
2. प्रवाल भित्तियों के विकास हेतु उपयुक्त भौगोलिक कारकों की समीक्षा करते हुए इनकी उत्पत्ति के संदर्भ में डार्विन के सिद्धांत की सचित्र व्याख्या कीजिए।
3. प्रवाल भित्तियों से संबन्धित किन्ही तीन प्रमुख सिद्धांतों को समझाऐं ।
4. प्रवाल भित्तियों के वितरण का वर्णन करें तथा इसके महत्व की विवेचना करें।

ISBN No. - 13/978-81-8496-036-5